प्रकाशक : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२४ वि०

मूल्य

Post Box, No 69,

Chowk, Varanasi-1. (INDIA)

1967

Phone 3076

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

67

Hindi Translation of J. Muir's

ORIGINAL SANSKRIT TEXTS

BY

RAM KUMAR RAI

Vol. IV

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1967

भूमिका

प्रस्तुत भाग में मेरा उद्देश्य वैदिक सूक्तों और ब्राह्मणों में मिलनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र नामक भारतीय देवताओं तथा अम्बिका नामक देवी से सम्बद्ध विवरण की इतिहास और पुराणों में मिलनेवाले विवरणों के साथ तुलना करना तथा यह दिखाना है कि इनमें से प्रत्येक की दशा में किस सीमा तक तथा किन उत्तरोत्तर स्तरों से होकर आरम्भिक धारणायें बाद की कृतियों में परिवर्ति हुई।

प्रथम अध्याय (पृ० ५–५६) में उस देवता का विवेचन है जिसका ऋग्वेद के बाद के सूक्तों, और अथर्ववेद में विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, तथा प्रजापति आदि नामों से वर्णन है और जो अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक पौराणिक ग्रन्थों में ब्रह्मा की धारणा के अनुरूप है।

यद्यपि यह देवता मूलतः विष्णु और रुद्र से असम्बद्ध था जब कि एक परवर्ती काल में व्यवस्थित पुराकथाशास्त्र में उस त्रयी का पहला देवता माना जाने लगा जिसके ये (विष्णु और रुद्र) दूसरे तथा तीसरे देवता हैं, तथापि इससे सम्बद्ध सामान्य विचारों में इसके इतिहास-प्रवाह के अन्तर्गत अन्य दोनों देवताओं की अपेत्ता कम परिवर्तन हुआ है। बाद के समय में ब्रह्मा के बहुत थोडे से उपासक ही बच रहे। राजस्थान का पुष्कर तीर्थ ही एक मात्र ऐसा स्थान है जहाँ आज भी इनकी समय-समय पर पूजा होती है।[1] पहले के आख्यानों में वर्णित इनके दो कार्यों को बाद की कृतियों में विष्णु पर स्थानान्तरित कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में, सर्वप्रथम, ऋग्वेद के सूक्तों के अनुसार विष्णु की मौलिक धारण का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार इनका विशेष गुण, जिसके आधार पर इनका अन्य सभी देवताओ से विभेद किया गया है, तीन पगों में आकाश को नापना है। प्राचीन भाष्यकारों में से एक ने इस कार्य को प्रकाश के त्रिविध प्राकट्य, अर्थात् पृथिवी पर

---

१ देखिये प्रो० एच० एच० विलसन का जएसो० न० १०, पृ० ३०९ मे प्रकाशित 'एसे ऑन दि पद्म-पुराण, तथा इसी लेखक के ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स, पृ० २१।

के चरित्र को दिव्यत्व से युक्त माना था या नहीं। महाभारत से उद्धृत कृष्ण से सम्बद्ध स्थलो में अक्सर महादेव का भी उल्लेख है। इस प्रकार ये स्थल भारतीय इतिहास के महाभारत के समय में इस देवता की धारणा के स्वरूप पर भी प्रकाश डालते हैं। इस खण्ड में अनेक ऐसे स्थलों को भी उद्धृत किया गया है जो इन दोनों देवताओं के अनुयायियो के वीच तीव्र प्रतिद्वन्द्विता की ओर संकेत करते है। यहाँ उद्धृत अनेक स्थलो में विष्णु और रुद्र, दोनों को उनके उपासकों ने अपना-अपना परमात्मा ही माना है; जब कि कुछ स्थलों पर दोनों को परस्पर समीकृत भी किया गया है।

तीसरे अध्याय में ऋग्वेद, वाजसनेयी संहिता, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदो, तथा पुराणों-इतिहासों में व्यक्त रुद्र के पुराकथाशास्त्रीय इतिहास को प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थों में उद्धृत स्थलों के आधार पर इस देवता की धारणा की प्रगति, तथा दक्षयज्ञ के विध्वंस-सम्वन्धी आख्यानों से व्यक्त इस देवता की उपासना को प्रचलित करने के इसके अनुयायियों के प्रयासों का विवेचन किया गया है। इसके बाद इस अध्याय के विभिन्न खण्डों के विवेचन पर आधारित निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर लिङ्ग-पूजा की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है, यद्यपि इसका परिणाम नकारात्मक ही निकला है। इस अध्याय को केन और मुण्डक उपनिषदों, तैत्तिरीय आरण्यक, रामायण, हरिवंश, महाभारत, तथा मार्कण्डेय पुराण में मिलनेवाले अम्बिका, उमा, काली, कराली, पार्वती, दुर्गा आदि देवियों के विवरण के विवेचन के साथ समाप्त किया गया है।

संस्कृत के सभी विद्वानों को यह प्रतीत होगा कि विष्णु, रुद्र और अम्बिका के सम्वन्ध में मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ वे नवीन नहीं हैं। रोजेन (ऋग्वेद के अपने अनुवाद की टिप्पणियों, पृ० li में), वर्नफ (भाग० पुराण, भाग ३, भूमिका, पृ० xxii में) और विलसन (ऋग्वेद के अनुवाद की भूमिका. पृ० xxiv में) यास्क के शब्दों तथा दुर्ग के भाष्य की ओर पहले ही ध्यान आकर्षित कर चुके हैं, जिनके आधार पर यह दिखाया गया है कि विष्णु के तीन पगों की प्रचलित व्याख्याकारों ने वही व्याख्या की है जिसका मैंने संकेत किया है।

इसी प्रकार विलसन, वेबर, और ह्निट्ने ने इस बात की ओर संकेत किया है कि ऋग्वेद के रुद्र पुराणों के रुद्र अथवा महादेव से

अग्नि. अन्तरिक्ष में विद्युत, और आकाश में सूर्य के रूप में प्राकट्य का द्योतक माना है। एक अन्य भाष्यकार ने इससे सूर्य की दैनिक गति के तीन स्तरों, उदय, माध्यन्दिन और अस्त, का तात्पर्य माना है। यह बाद की व्याख्या ही इस गति को व्यक्त करनेवाले विचारों का सर्वश्रेष्ठ समाधान प्रस्तुत करती है। फिर भी, यह स्वीकार करना होगा कि इस धारणा में कुछ न कुछ अस्पष्टता रह ही जाती है। कुछ उच्चतम दिव्य कर्मों और गुणों को भी विष्णु से सम्बद्ध किया गया है, और इस प्रकार हम यह मानने की ओर प्रेरित हो सकते है कि इन सूक्तों के प्रणेता इन्हें परमेश्वर मानते थे। परन्तु यह मान्यता इस तथ्य से अप्रमाणित हो जाती है कि कभी-कभी इन त्रार्यों को सम्पन्न करने में इन्द्र को भी विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया है, और साथ ही, अनेक अन्य देवों को भी प्रायः इसी प्रकार के कार्यों से सम्बद्ध किया गया है। इस अध्याय के तीसरे खण्ड में विष्णु के अदिति के एक पुत्र होने के तथ्य की विवेचना की गई है। यहाँ इस देवता की जो उत्पत्ति बताई गई है वह हमें इस निष्कर्ष की ओर प्रेरित करती है कि इस देवता को मूलतः अन्य आदित्यों से श्रेष्ठ नहीं माना जाता था। चौथे खण्ड में विष्णु से सम्बद्ध ब्राह्मणों के आख्यानों का विवेचन किया गया है, जिनमें इस देवता को यज्ञ के साथ समीकृत किया गया है। साथ ही, एक ब्राह्मण में इसे वामन भी कहा गया है। तदनन्तर रामायण, महाभारत, विष्णु और भागवत पुराणों में मिलनेवाले वामन-सम्बन्धी बाद के आख्यानों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। पाँचवें खण्ड में निरुक्त से एक ऐसे स्थल को उद्धृत किया गया है जिसमें देवों का वर्गीकरण है, तथा सर्वाधिक प्रमुख स्थान अग्नि, वायु अथवा इन्द्र, और सूर्य को दिया गया है। इस स्थल का लेखक इन्हीं तीन देवताओं को वह देवत्रयी मानता प्रतीत होता है जिनके माध्यम से परमात्मा अपने को प्रगट करता है; जब कि वह विष्णु और रुद्र का केवल ऐसे ही देवताओं के रूप में उल्लेख करता है जिनकी क्रमशः इन्द्र और सोम के साथ संयुक्त रूप से उपासना की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद की ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की त्रयी इस समय अभी अज्ञात थी। इस खण्ड के शेष अंश और परिशिष्ट के कुछ अंशों में उन राम तथा कृष्ण से सम्बद्ध रामायण और महाभारत के अनेक स्थलों को उद्धृत किया गया है जिन्हें अन्ततोगत्वा विष्णु का अवतार माना जाने लगा। तदनन्तर इन स्थलों की समीक्षा के आधार पर इस समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि इन दो महाकाव्यों के लेखकों ने मूलतः इन दोनों लोकनायकों

के चरित्र को दिव्यत्व से युक्त माना था या नहीं। महाभारत से उद्धृत कृष्ण से सम्बद्ध स्थलो में अक्सर महादेव का भी उल्लेख है। इस प्रकार ये स्थल भारतीय इतिहास के महाभारत के समय में इस देवता की धारणा के स्वरूप पर भी प्रकाश डालते हैं। इस खण्ड में अनेक ऐसे स्थलों को भी उद्धृत किया गया है जो इन दोनों देवताओं के अनुयायियो के बीच तीव्र प्रतिद्वन्द्विता की ओर संकेत करते है। यहाँ उद्धृत अनेक स्थलों में विष्णु और रुद्र, दोनो को उनके उपासकों ने अपना-अपना परमात्मा ही माना है; जब कि कुछ स्थलों पर दोनों को परस्पर समीकृत भी किया गया है।

तीसरे अध्याय में ऋग्वेद, वाजसनेयी सहिता, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, तथा पुराणों-इतिहासों में व्यक्त रुद्र के पुराकथाशास्त्रीय इतिहास को प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थों में उद्धृत स्थलों के आधार पर इस देवता की धारणा की प्रगति, तथा दक्षयज्ञ के विध्वंस-सम्बन्धी आख्यानों से व्यक्त इस देवता की उपासना को प्रचलित करने के इसके अनुयायियों के प्रयासो का विवेचन किया गया है। इसके बाद इस अध्याय के विभिन्न खण्डों के विवेचन पर आधारित निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर लिङ्ग-पूजा की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है, यद्यपि इसका परिणाम नकारात्मक ही निकला है। इस अध्याय को केन और मुण्डक उपनिषदों, तैत्तिरीय आरण्यक, रामायण, हरिवंश, महाभारत, तथा मार्कण्डेय पुराण में मिलनेवाले अम्बिका, उमा, काली, कराली, पार्वती, दुर्गा आदि देवियों के विवरण के विवेचन के साथ समाप्त किया गया है।

संस्कृत के सभी विद्वानों को यह प्रतीत होगा कि विष्णु, रुद्र और अम्बिका के सम्बन्ध में मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ वे नवीन नहीं है। रोजेन (ऋग्वेद के अपने अनुवाद की टिप्पणियों, पृ० li में), वर्नफ (भाग० पुराण, भाग ३, भूमिका, पृ० xxii में) और विलसन (ऋग्वेद के अनुवाद की भूमिका, पृ० xxiv में) यास्क के शब्दों तथा दुर्ग के भाष्य की ओर पहले ही ध्यान आकर्षित कर चुके हैं, जिनके आधार पर यह दिखाया गया है कि विष्णु के तीन पगों की प्रचलित व्याख्याकारों ने वही व्याख्या की है जिसका मैंने संकेत किया है।

इसी प्रकार विलसन, वेबर, और ह्विट्ने ने इस बात की ओर संकेत किया है कि ऋग्वेद के रुद्र पुराणों के रुद्र अथवा महादेव से

अत्यधिक भिन्न है। इस सन्दर्भ में मैंने अम्बिका अथवा उमा के पुराकथा-शास्त्रीय इतिहास पर प्रो० वेबर के शोध-प्रबन्ध से विस्तृत उद्धरण दिये हैं। अतः इस कृति में मैंने समग्र रूप से जो कुछ कार्य किया है वह यही है कि मैंने विवेच्य विषय से सम्बद्ध प्रायः सभी महत्वपूर्ण मूल संस्कृत उद्धरणों को एक साथ सग्रहीत करके अपनी क्षमता के अनुसार उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

मैं उन विभिन्न लेखकों का भी कृतज्ञ हूँ जिनका प्रस्तुत कृति में सहायक होने के रूप में मैंने स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। विशेष रूप से मैं प्रो० आफरेख्त का भी आभारी हूँ, जिनका नाम प्रस्तुत कृति में प्रायः सर्वत्र आया है। आपने विशेषतः वैदिक स्थलों के, जिनके गहन और दीर्घकालीन अध्ययन ने आपको एक श्रेष्ठ वैदिक व्याख्याकार सिद्ध किया है, सम्बन्ध मे मुझे अमूल्यतम परामर्शों और सूचनाओं से अनुगृहीत किया है।

विषयसूची

मूल संस्कृत उद्धरण

चतुर्थ भाग

प्रस्तुत भाग की रूपरेखा

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में उस अत्यधिक अन्तर की ओर संकेत किया का चुका है जो हमें वेदों तथा भारतीय महाकाव्यों और पुराणों के पुराकथाशास्त्र के बीच देखने को मिलता है। विष्णु और रुद्र से सम्बद्ध ऋग्वेद के सूक्तों के विवरण के साथ बाद के साहित्य के विवरण की तुलना करते हुये उसी भाग में इस अन्तर का उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है। उसी अवसर पर मैंने अपने इस अभिप्राय को व्यक्त किया था कि अपनी इस कृति के एक अगले भाग में इस विषय की और अधिक विस्तृत विवेचना करूँगा। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रस्तुत भाग में वैदिक सूक्तों और ब्राह्मणों में उपलब्ध जगत् की उत्पत्ति तथा तीन प्रमुख भारतीय देवताओं से सम्बद्ध महत्वपूर्ण मूल उद्धरणों का संग्रह करके उन स्थलों की महाभारत, रामायण, और पुराणों में मिलनेवाले उसी विषय से सम्बद्ध बाद की कथाओं और प्रचलित विवेचनों की तुलना करूँगा।

यदि हम ऋग्वेद के बाद के स्थलों की उसके प्राचीन अंशों से तुलना करें तो हमें यह प्रतीत होगा कि भारत की पुराकथाशास्त्रीय धारणाओं का यह परिवर्तन स्वयं ऋग्वेद में ही आरम्भ हो गया था। जब हम सूक्तों से ब्राह्मणों पर आते हैं तो यह बात और भी स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगती है। यह प्रवृत्ति पुराणों के रचयिताओं में और प्रखर हो गई है, जिन्होंने युगों की दीर्घ अवधि में प्राचीन धारणाओं के अलंकरण तथा अपने प्रिय देवताओं से सम्बद्ध नवीन पुराकथाओं के आविष्कार में उन्मुक्त विचारों का आश्रय लिया है। परिणाम यह हुआ है कि अन्ततः सर्वाधिक प्रचलित देवताओं की न केवल प्रकृति ही उससे भिन्न हो गई है जैसी कि वेदों में उनके प्रतिरूपों की मिलती है, वरन् वे स्वयं कुछ प्राचीनतर पुराणों के वर्णनों तक से भिन्न हो गये है।

भारतीय पुराकथाशास्त्र के इन उत्तरोत्तर परिवर्तनों पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये उस प्रक्रिया का एक अन्य उदाहरण मात्र प्रस्तुत करते है जो धर्म से सम्बद्ध विचारों, भावनाओं और कल्पनाओं को उन्मुक्त रूप से व्यक्त करनेवाले सभी राष्ट्रों के इतिहास में दृष्टिगत होती है।

उपरोल्लिखित योजना को कार्यान्वित करने में मैं सर्वप्रथम जगत् की सृष्टि और हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से सम्बद्ध वैदिक सूक्तों को उद्धृत करूँगा। इनके बाद (१) ब्राह्मणों और (२) मनु, महाभारत, रामायण और पुराणों से इसी विषय के उद्धरण दूँगा।

तदनन्तर मैं इसी क्रम से विष्णु, तथा रुद्र से सम्बद्ध विभिन्न उद्धरण देते हुये उन अन्य हिन्दू देवताओं का भी उल्लेख करूँगा जिनका इतिहास प्रसंगशः आवश्यक प्रतीत होगा।

अध्याय १

जगत् की उत्पत्ति, और हिरण्यगर्भ, प्रजापति अथवा ब्रह्मा नामक देवता से सम्बद्ध वैदिक सूक्तों, ब्राह्मणों, और पुराणों इत्यादि से उद्धरण

खण्ड १—सृष्टि और हिरण्यगर्भ सम्बन्धी ऋग्वेद के उद्धरण

सृष्टि-विषयक अनुमान—ऋग्वेद १०. १२९

ऋग्वेद १०.१२९,१ :—न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं न असीद् रजो नो व्योम परो यत्। किम् आवरीवः कुहकस्य शर्मन् अम्भः किम् आसीद् गहन गभीरम्। २. न मृत्युर् आसीद् अमृतं न तर्हि न राच्या अह्न[1] आसीत् प्रकेतः। आनीद् अवात स्वधया तद् एकं तस्माद् हान्यद् न परः किञ्चनास। ३. तम आसीत् तमसा गूळ्हम् अग्रे[2] अप्रकेतं सलिल सर्वम् आ इदम्। तुच्छ्येन आभ्व् अपिहित यद् आसीत् तपसस् तद् महिनाऽजायतैकम्। ४. कामस्[3] तद् अग्रे समवर्त्त-

---

[1] विष्णु पुराण १ २,२१ और बाद, एक श्लोक (जिसके स्रोत का सकेत नही है) उद्धृत करता है जो बहुत अशो तक प्रस्तुत उद्धरण पर आधृत प्रतीत होता है, और अपनी पुष्टि के लिये 'प्रधान'–विपयक साख्य सिद्धान्त का आश्रय लेता है . वेद-वाद–विदो विप्रा नियता ब्रह्मवादिनः। पठन्ति वै तम् एवार्थम् प्रधान-प्रतिपादकम्। २२ नाहो न रात्रिर् न नभो न भूमिर् नासीत तमो ज्योतिर् अभूद् नवाऽन्यत्। श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यम् एकम् प्राधानिकम् ब्रह्म पुमास् तदासीत्। "श्रुति के मर्म को जाननेवाले, श्रुतिपरायण ब्रह्मवेत्ता महात्मा गण इसी अर्थ को लक्ष्य करके प्रधान के प्रतिपादक इस श्लोक को कहा करते है . 'उस समय न दिन था, न रात्रि थी, न आकाश था, न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न इनके अतिरिक्त कुछ और ही था। वस, श्रोत्रादि इन्द्रियो और वुद्धि आदि का अविपय एक प्रधान ब्रह्म पुरुष ही था।"

[2] कुल्लूक ने मनु १ ५ पर व्याख्या करते हुये इन शब्दो को उद्धृत किया है, और उस स्थल का यही स्रोत हो सकता है।

[3] शतपथ ब्राह्मण आदि से मैं आगे जो स्थल उद्धृत करूँगा उनमे यह

ताधि मनसो रेतः प्रथमम यद् आसीत्। सतो बन्धुम् असति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। ५. (वाज स० ३३. ७४) तिरश्चीनो विततो रश्मिर् एषाम् अध स्विद् आसीद् उपरि स्विद् आसीत्। रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्। ६. को अद्ध वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन अथ को वेद यत आबभूव। ७. इयं विसृष्टिर् यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् स अङ्ग वेद यदि वा न वेद।

"१. आरम्भ में न तो असत था, और न सत, न पृथिवी थी और न उसके ऊपर आकाश। आवरण कहाँ था? सभी वस्तुओं का आश्रय कहाँ था? क्या गहन गम्भीर जल था? २. उस समय न तो मृत्यु थी, न अमृत था, न रात-दिन का प्रकेत था। वह एक अपनी स्वधा से वायु के बिना श्वास लेता था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। ३. पहले तम से ढँका तम था। यह सब अप्रकेत सलिल था। जो शून्य[४] था वह तुच्छ से ढँका था, वह अकेले तब तम की महिमा से उत्पन्न हुआ। ४. उसमें सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ—जो मन का प्रथम बीज था। कवियों ने अपने हृदय में शुद्ध ज्ञान देनेवाली बुद्धि के द्वारा ढूँढ कर इसमें सत और असत का स्थान पाया। ५. इन वस्तुओं से जो किरण फैली वह नीचे थी या ऊपर थी? बीज धारक थे, महान शक्तियाँ थीं, स्वधा नीचे थी, प्रयति ऊपर था। ६. कौन जानता है, कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई, किससे उत्पन्न हुई? देवगण इसकी उत्पत्ति के पीछे हुये, फिर कौन जानता है कि यह कहाँ से हुई? ७ यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की[५]—जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है, या वह भी नहीं जानता।

इस उल्लेखनीय सूक्त का प्रोफेसर मूलर का अनुवाद, इसके गुणों की उनके द्वारा सशक्त प्रशंसा, तथा इसके समय के सम्बन्ध में उनकी टिप्पणी उनके ऐसलि०, पृ० ५५९-५६६ में देखिये। इसी विषय पर प्रो० गोल्डस्टूकर की उनके पाणिनि, पृ० १४४ और बाद, में टिप्पणी देखिये।

देखा जायगा कि प्रजापति के सृजनात्मक कार्यों के पूर्व सदैव 'काम' का अविर्भाव होता है "सोऽकामयत" इत्यादि।

[४] 'आभु', और 'तुच्छ्य' शब्दो के अन्तर्गत बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश देखिये।

[५] Ob Einer sie schuf oder nicht। 'धा' धातु के अन्तर्गत बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश (पृ० ९०३) देखिये।

विश्वकर्मन्—ऋग्वेद १०.८१ और ८२

ऋग्वेद १०.८१, १ आदि (= वाज. सं० १७,१७–२३) :—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर् होता न्यषीदत् पिता नः। स आशिषा द्रविणम् इच्छमान प्रथम-च्छद् अवरान् आविवेश। २. किं स्विद् आसीद् अधिष्ठानम आरम्भण कथमत् स्वित् कथाऽसीत्। यतो भूमि जनयन् विश्वकर्मा विद्याम् और्णोद् महिना विश्वचक्षाः। ३ (अथर्ववेद १३.२,२६) विश्वतश्चक्षुर् उत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुर् उत विश्वतस्पात्। सम् बाहुभ्या धमति सम् पतत्रैर् द्यावा-भूमी जनयन् देव एकः[६]। ४. किं स्विद् वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्। ५. या ते धामानि परमाणि याऽवमा या मध्यमा विश्वकर्मन्न् उतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वय यजस्व तन्व वृधानः। ६ (=सामवेद, २,६३६) विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वय यजस्व पृथिवीम् उत द्याम्[७]। मुह्यन्तु अन्ये अभितो जनास[८] इहास्माकम् मघवा सूरिर् अस्तु। ७. (= वाज० सं० ८,४५) वाचस्पति विश्वकर्माणम् ऊतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूर् अवसे साधुकर्मा।

ऋग्वेद १०.८२,१ आदि (= वाज० स० १७,२५–३१) :—चक्षुषस् पिता मनसा हि धीरो घृतम्[९] एने अजनद् नम्नमाने। यदा इद् अन्ता अदहहन्तपूर्वे आद् इद् द्यावा-पृथिवी अप्रथेताम्। २ विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत सदृक्[१०]। तेषाम् इष्टानि सम् इषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकम् आहुः। ३. (= अथर्ववेद २.१,३) यो न. पिता जनिता यो विधाता धामानि वेदभुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव त सम्प्रश्नम् भुवना यन्ति अन्या। ४. ते आयजन्त द्रविण सम् अस्मै ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना। असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्न् इमानि। ५. परो दिवा पर एना

---

[६] अथर्ववेद और ऋग्वेद के पाठ मे पर्याप्त भिन्नता है।

[७] 'पृथिवीम् उत द्याम्' के स्थान पर सामवेद मे 'तन्वा सा हि ते' पाठ है।

[८] 'जनास' के स्थान पर वाजसनेयि सहिता मे 'सपत्ना' है।

[९] ऋग्वेद ५ ८३,८ की तुलना कीजिये।

[१०] ऋग्वेद ४ १,६ और ४.६,६, तथा निरुक्त १० २६ का रॉथ का उदाहरण पृ० १४१, आदि देखिये।

पृथिव्या परो देवेभिर् असुरैर् यद् अस्ति। क स्विद् गर्भम् प्रथमं दध्रे आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे। ६. तम् इद् गर्भम् प्रथम दध्रे आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभाव् अध्य् एकम् अर्पित यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः। ७. न त विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरम् बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या च असुतृप उक्थशासश् चरन्ति।

ऋग्वेद १०.८१, १ और बादः—"हमारे पिता ने, जो ऋषि और होता थे, एक यज्ञ किया और उसमें इन सब लोकों का हवन किया, आरम्भ में धन की इच्छा करते हुये अपने प्रथम रूप का आच्छादन करते हुये निकटस्थ प्राणियों सहित स्वयं भी अग्नि में समा गये। २. सृष्टिकाल में विश्वकर्मा का आश्रय क्या था? कहाँ से और कैसे उन्होंने सृष्टि कार्य आरम्भ किया? विश्वदर्शक उन विश्वकर्मा ने किस स्थान पर आश्रय लेकर पृथ्वी तथा आकाश की रचना की? ३. विश्वकर्मा की आखें, मुख, बाहें, और चरण सभी ओर से हैं। वे अपने बाहु और चरणों से द्याव-पृथिवी को प्रगट[11] करते हैं। वे एक हैं। ४. विश्वकर्मा ने कौन से वन के किस वृक्ष द्वारा पृथिवी और आकाश की रचना की? हे मेधावी जनो, अपने मन से प्रश्न करो कि वे किस पदार्थ पर खड़े होकर ससार स्थिर करते हैं। ५. हे विश्वकर्मा! तुम यज्ञ के ग्रहण करनेवाले हो। तुम हमें यज्ञ के अवसर पर उत्तम, मध्यम, और साधारण शरीरों को बता दो। अन्नयुक्त तुम स्वय यज्ञ करके अपने शरीर[12] को पुष्ट करते हो। ६. हे विश्वकर्मा! तुम द्यावापृथिवी में स्वय यज्ञ करके अपने को पुष्ट करते हो। हमारे यज्ञविरोधी मूर्च्छित हों, इस यज्ञ में धनी विश्वकर्मा स्वर्ग आदि के फलदाता हों। ७. इस यज्ञ में हम आज उन विश्वकर्मा को रक्षा के लिये आहूत करते हैं। वे हमारे सब हवनों का सेवन करें। वे हमारे रक्षण के लिये सुखोत्पादक और साधु कर्मवाले हैं।"

ऋग्वेद १०.८२, १: "शरीर के रचनेवाले और अत्यन्त धीर विश्वकर्मा ने प्रथम जल को उत्पन्न किया। फिर जल में इधर-उधर चलती हुई आकाश-पृथिवी की रचना की। द्यावा पृथिवी के प्राचीन और अन्त्य प्रदेशों को विश्व-कर्मा ने दृढ़ किया। तब द्यावा–पृथिवी की ख्याति हुई। २. विश्वकर्मा का मन बृहत है; वे स्वय भी महान् हैं, वे सर्वद्रष्टा, सर्वश्रेष्ठ और सर्वस्रष्टा हैं, वे सप्तर्षियों के दूरस्थ स्थान को भी देखते हैं, वहाँ वे अकेले ही हैं। उनके द्वारा

---

[11] तुकी० नीचे ऋग्वेद १० ७२,२।

[12] देखिये रॉथ सामवेद, 'तनु', और ऋग्वेद १० ७,६, ६ ११,२।

विद्वानों की अन्न-कामना पूर्ण होती है। ३. जो विश्वकर्मा हमारे पालक, उत्पादक, ससार के उत्पादक हैं, जो विश्व के सभी धामों को जानते हैं और जो देवों के तेजःस्थानों को जानते हैं; जो देवों के नाम रखनेवाले[13] और एक हैं; उन्हीं देव के लिये सारे प्राणी जिज्ञासु होते हैं। ४. स्थावर-जंगमात्मक विश्व के होने पर जिन ऋषियों ने प्राणियों को धनादि प्रदान किया, उन्हीं प्राचीन ऋषियों ने स्तोताओं के समान धन व्यय करके यज्ञानुष्ठान किया। ५. वह द्युलोक, पृथिवी, असुरों, और देवों को अतिक्रम करके अवस्थित है। जल ने ऐसा कौन-सा गर्भ धारण किया है[14] जिसमें सभी देवता परस्पर एकत्र हुये दृष्टिगत होते हैं। ६. उन्हीं विश्वकर्मा को जल ने गर्भ में धारण किया है। गर्भ में सारे देवता सगत होते हैं। उस अज की नाभि में ब्रह्माण्ड है; ब्रह्माण्ड में सारे प्राणी रहते हैं। ७. जिन्होंने सारे प्राणियों को उत्पन्न किया है उन विश्वकर्मा को तुम नहीं जानते। तुम्हारे हृदय ने अभी उन्हें पहचानने की शक्ति प्राप्त नहीं की है। नीहार-रूपी अज्ञान से आच्छन्न होकर लोग नाना प्रकार की कल्पनायें करते हैं। वे लोग अपने जीवन के निमित्त भोजन और स्तोत्र करते हैं और अपने स्वर्गफल के कर्मों में लिप्त रहते हैं।"

"अत्यन्त समान प्रकृति के होने के कारण मैंने इन दोनों सूक्तों को एक साथ रक्खा है। इनके सभी मन्त्र वाजसनेयि संहिता (१७. १७–२३ और २५–३१) में भी इसी ऋग्वेद के क्रम से और विना किसी महत्त्वपूर्ण पाठ भेद के ही मिलते हैं। इनमें से कुछ निरुक्त में भी आते हैं, जैसे ऋग्वेद १०. ८१,६, निरुक्त १०.२७ में, ऋग्वेद १०.८२,२, निरुक्त १०.२६ में, ऋग्वेद १०. ८२, ४ का द्वितीयार्ध, निरुक्त ६.१५ में, और ऋग्वेद १०.८२, ७, निरुक्त, परिशिष्ट २ १० में। प्रो० रॉथ अपने इलस्ट्रेशन्स ऑफ निरुक्त (पृ० १४१ और बाद) में ऊपर के द्वितीय सूक्त के दूसरे तथा प्रथम के छठवें मन्त्रों पर कुछ टिप्पणी करते हैं जिसका मैं यहाँ अनुवाद दे रहा हूँ। आपने उक्त प्रथम मन्त्र का इस प्रकार अनुवाद किया है : "बुद्धिमान और महान कर्म करनेवाले विश्वकर्मा, स्रष्टा, नियन्ता और उच्चतम देवता हैं। सप्तर्षियों के लोक के भी आगे जहाँ वह अकेले रहते है, उसी सर्वश्रेष्ठ लोक की मनुष्य कामना करते हैं।" तदनन्तर आप यह मत व्यक्त करते हैं : "विश्वकर्मा की, जो पुराकथात्मक व्यक्ति नहीं वल्कि सभी के स्रष्टा हैं, और जिन्हें

---

[13] 'नाम च पिता एव करोति'। महीधर।

[14] तुकी० ऋग्वेद १० १२९, १ २।

वाज० संहिता १२.६१[१५] में इतने उपयुक्त रूप से प्रजापति के साथ समीकृत किया गया है, यहाँ एक बुद्धिमान निर्माता तथा शक्तिशाली कार्य-कर्त्ता के रूप में प्रशस्ति की गई है; और इनके द्वारा, उस द्युलोक से ही जहाँ ये अकेले रहते हैं, सभी इच्छाओं की पूर्ति प्राप्त होती है। "वह आख्यान, जिसमें यह वर्णन है कि भुवन के पुत्र विश्वकर्मा ने समस्त लोकों का हवन किया और फिर स्वय भी हुत हो गये, मेरे विचार से, कथाओं के उन विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत आता है जो वैदिक स्थल, अर्थात ऋग्वेद १०.८१, १.५ के मिथ्याग्रहण से उत्पन्न है।"

प्रो० रॉथ ने यहाँ जिस आख्यान की चर्चा की है उसे यास्क ने निरुक्त १०.२६ में दिया है:—

तत्रेतिहासम् आचक्षते। विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानम् अप्य् अन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्य् एषा ऋग् भवति 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्' इति।

"यहाँ वे एक कथा कहते हैं : भुवन के पुत्र विश्वकर्मा ने एक सर्वमेध में सभी प्राणियों का हवन किया और अन्ततः स्वयं भी हुत हो गये। यह ऋचा, अर्थात् यह कि 'वह जो समस्त लोकों का हवन करके' इत्यादि, इसी का वर्णन करती है।"

उक्त प्रथम सूक्त के छठवें मन्त्र (ऋग्वेद १०. ८१,६) पर प्रो० रॉथ इस प्रकार टिप्पणी करते हैं . "द्वितीय पाद को (प्रथम पंक्ति के द्वितीय पाद) तथा इसी प्रकार के अन्य स्थलों को ठीक-ठीक समझने के लिये पाठकों को ऋग्वेद १०.७,६ की तुलना करनी चाहिये जो इस प्रकार है : यथाऽयज ऋतुभिर् देव देवान् एवा यजस्व तन्वं सुजाता। "हे अग्नि ! जिस प्रकार तुमने समय-समय पर देवों का यजन किया है, वैसे ही अपना भी करो।" अग्नि को स्वय अपने लिये भी हवि स्वीकार करना है। इसी प्रकार, हमारे सम्मुख जो सूक्त है उसके पाँचवें मन्त्र के इन शब्दों को भी ग्रहण करना चाहिये : स्वय यजस्व तन्व वृधानः। "तुम स्वय यज्ञ द्वारा अपने शरीर का पोषण करते हो।" आत्माहुति का विचार 'तनु'[१६] शब्द के मिथ्याग्रहण तथा

---

[१५] 'प्रजापतिर् विश्वकर्मा विमुञ्चतु।'

[१६] अपने इलस्ट्रेशन्स के पृ० ११७ पर 'तनूनपात्' पर अपनी टिप्पणी मे प्रो० रॉथ यह मत व्यक्त करते हैं 'प्राचीन सस्कृत, तथा जेण्ड और आधुनिक पर्शियन मे 'तनू' शब्द का 'स्वय अपना शरीर' अर्थ है न कि 'जो वस्तुयें हमारी हैं'। अत यहाँ इस अर्थ की उपेक्षा कर दी गई प्रतीत होती है। मैं

'यज्' धातु की बनावट से उत्पन्न हुआ है। इसी सूक्त (ऋग्वेद १०. ८१, १) के प्रथम मन्त्र को भी, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है, इसी समान समझना चाहिये : "वह, जिसने इन सभी प्राणियों को हवि के रूप में प्राप्त किया।" हमारे सम्मुख जो स्थल है (ऋग्वेद १०. ८१,६) उसमें इन शब्दों का इस प्रकार अर्थ किया जाना चाहिये : "विश्वकर्मा! यज्ञ के द्वारा अपने को प्रशस्त करो, अपने लिये द्यावा-पृथिवी की हवि दो।" यज्ञ के विचार को इसलिये सम्मिलित किया गया है क्योंकि सृजित ब्रह्माण्ड का वह प्रत्येक अंश, जिसे देवों को प्रदान किया जाता है वह उनके पास यज्ञ के रूप में ही आता है। देवता जिस किसी भी वस्तु को अपने लिये लेता है उसे ऐसा कहा जाता है कि वह अपने लिये हवि लेता है। हमारे सम्मुख जो मन्त्र है उसकी तुलना में सामवेद २ ९३९ में जो विभिन्न पाठ मिलते हैं (जैसे 'पृथिवीम् उत द्याम्' के स्थान पर 'तन्वां स्वा हिते') वह आख्यान की पुष्टि के लिये संशोधित कर लिये गये हो सकते हैं।"

मैं नहीं जानता कि इस दृष्टिकोण की पुरुष सूक्त के ६ वे और ७ वें मन्त्रों के साथ संगति है या नहीं। सम्भवतः दोनों धारणायें (देवों द्वारा अपनी हवि देने, और अपने लिये हवि देने) ही वैदिक लेखकों में प्रचलित प्रतीत होती है।

[मैं यहाँ यह टिप्पणी करना चाहूँगा कि भागवत पुराण २.६,२२ और बाद, पुरुष सूक्त का एक गद्यरूपान्तर-सा देता है। तदनन्तर पुराणकार ब्रह्मा से यह श्लोक कहलवाता है जिसका प्रयोजन पुरुष सूत्र के ७ वे तथा बाद के मंत्रों की व्याख्या करना है :—

२२. यदाऽस्य नाभ्याद् नलिनाद् अहम् महात्मनः। नाविन्द यज्ञ-सम्भारान् पुरुषावयवान् ऋते। २३. तेषु यज्ञस्य पशवः स वनस्पतयः कुशाः। इदञ्च देवयजन कालश्चोरु-गुणान्वित। २४. वस्तुन्य् ओषधयः स्नेहा रस-लोह-मृदो जलम्। ऋचो यजूंपि सामानि चातुर्होत्रञ्च सत्तम। २५. नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च। देवतानुक्रमः कल्पः संकल्पस् तन्त्रम् एव च। २६. गतयो मतयश् चैव प्रायश्चित्त समर्पणम्। पुरुषावयवैर् एते सम्भाराः सम्भृता मया। २७. इति सम्भृत-सम्भारः पुरुषावयवैर् अहम्। तम् एव पुरुषं यज्ञ तेनैवायजम् ईश्वरम्।

'तनूनपात' का 'स्वय अपना पुत्र' अनुवाद करूँगा। अग्नि स्वय अपने पुत्र हैं क्योंकि वे या तो विद्युत से उत्पन्न होते है अथवा अरणी के घर्षण से।" बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे 'तनूनपात्' शब्द के अन्तर्गत देखिये।

"ब्रह्मा ने कहा : २२. 'जब मैं उस महत्पुरुष की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न हुआ, तो मैंने उस पुरुष के अवयवों के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को यज्ञ के लिये उपलब्ध नहीं देखा । २३ तब मैंने उसके अङ्गों में ही यज्ञ के पशु, यूप, कुश, इस यज्ञ भूमि, और यज्ञ के योग्य उत्तम काल की कल्पना की । २४–२६. यज्ञ के लिये आवश्यक पात्र आदि वस्तुयें, जौ, चावल, आदि औषधियाँ, घृत आदि स्नेह पदार्थ, छः रस, लोहा मिट्टी, जल, ऋक्, यजुः, साम, चातुर्होत्र, यज्ञों के नाम, मन्त्र, दक्षिणा, व्रत, देवताओं के नाम, पद्धति ग्रन्थ, सकल्प, तन्त्र, गति, मति, श्रद्धा प्रायश्चित और समर्पण— यह समस्त यज्ञ-सामग्री मैंने विराट पुरुष के अगों से ही एकत्र की । २७. इस प्रकार विराट पुरुष के अंगों से ही सब सामग्री का सग्रह करके मैंने उन्हीं सामग्रियों से उन यज्ञ-स्वरूप परमात्मा का यज्ञ के द्वारा यजन किया ।"

निरुक्त ६.१५. पर अपने नोट म प्रो० रॉथ प्रस्तुत सूक्त (ऋग्वेद १० ८२) के चौथे मन्त्र का अनुवाद करने के बाद अपने कोश में 'असूर्त्त' शब्द का 'स्थिर' नहीं बल्कि 'दूर' अनुवाद करते है । आप अथर्ववेद १० ३,९ का भी उद्धरण देते हैं जहाँ यह शब्द आता है ।

ब्रह्मणस्पति, दक्ष, और अदिति—ऋग्वेद १०.७२

ऋग्वेद १०. ७२, १ आदिः—देवानाम् नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया । उक्थेषु शस्यमानेषु य' पश्याद् उत्तरे युगे[१७] । २. ब्रह्मणस्पतिर् एता स कर्मार[१८] इवाधमत् । देवानाम् पूर्व्ये युगे असतः सद् अजायत[१९] । ३. देवानाम युगे प्रथमे असत सद् अजायत । तद् आशा.

---

[१७] देखिये बेनफे के सामवेद के ग्लॉस मे 'युग' के अन्तर्गत ।

[१८] "कर्मारह । स यथा भस्त्रयाऽग्निम् उपधमत्य् एवम् उदपादयत् ।" सायण । "जिस प्रकार एक लोहार धौंकनी से अग्नि का धमन करता है, उसी प्रकार उसने उनकी सृष्टि की ।" तुकी० ऋग्वेद १० ८१,३ ।

[१९] तुलना कीजिये अथर्ववेद १०,७,२५ "बृहन्तो नाम ते देवा येऽसत परि जज्ञिरे । एक तद् अङ्ग स्कम्भस्य असद् आहु परो जना ।" "वह देवता महान हैं जिनकी असत् से उत्पत्ति हुई । लोगो का कथन है कि वह असत् स्कम्भ का एक अङ्ग है ।" असत् से देवो की इस प्रकार उत्पत्ति छान्दोग्य उपनिषद के इस सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत होती है "तद् ह एके आहुर् 'असद् एवेदम् अग्रे आसीद् एकम् एवाद्वितीयं तस्माद् असत सज् जायते' । कुतस् तु खलु सौम्य एव स्याद् इति होवाच कथम् असत सज् जायेत इति ।" कुछ लोग कहते हैं कि "मूलत यह असत और एक तथा अद्वितीय था; अत सत् की

अन्व् अजायन्त तद् उत्तानपादस् परि। ४. भूर् जज्ञे उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। अदितेर् दक्षो अजायते दक्षाद् उ अदितिः परि। ५. अदितिर् हि अजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवा अन्व् अजायन्त भद्रा अमृत-बन्धवः। ६. यद् देवा अदः सलिले[२०] सुसंरब्धाः अतिष्ठत। अत्र वो नृत्यताम् इव तीव्रो रेणुर् अपायत। ७. यद् देवा[२१] यतयो यथा भुवनानि अपिन्वत। अत्र समुद्रे आगूळ्हम् आ सूर्यम् अजभर्त्तन। ८. अष्टौ पुत्रासो अदितेर् ये जातास् तन्वस् परि। देवान् उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्त्ताण्डम् आस्यत्[२२]। ९. सप्तभिः पुत्रैर् अदितेर् उप प्रैत् पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्युवे त्वत पुनर् मार्त्ताण्डम् आभरत्[२३]।

"१. हम देवों के जन्म को स्पस्ट रूप से कहते हैं। अगले युग में देव-सघ यज्ञानुष्ठान होने पर स्तोता को देखेगा। २. कर्मकार के समान सृष्टि के आदि में अदिति ने देवताओं को जन्म दिया। असत् से सत् उत्पन्न हुआ। ३. देवोत्पत्ति के पूर्व-समय में असत् सत् से उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर दिशायें उत्पन्न हुईं और दिशाओं के अनन्तर वृत्त उत्पन्न हुये। ४. वृत्तों के पश्चात् पृथिवी और पृथिवी से दिशायें उत्पन्न हुईं। दत्त अदिति से उत्पन्न हुये और दत्त से अदिति उत्पन्न हुई। ५. हे दत्त! तुम्हारी पुत्री, अदिति, ने देवों को जन्म दिया। देवता स्तुत्य और अमर है। ६. देवगण इस सलिल में रहकर महोत्साह प्रगट करने लगे। वे मानों नाचने लगे। इससे दुःसह धूलि उठी। ७. मेघों के समान देवों ने सारे ससार को आच्छादित कर लिया। आकाश में सूर्य निगूढ़ थे। देवों ने उन्हें प्रकाशित किया। ८. अदिति के आठ पुत्र हुये जिनमें से सात को लेकर वह देवलोक में गई और आठवें, सूर्य, को आकाश में छोड दिया। ९. उत्तम युग में सात पुत्रों को लेकर अदिति चली गई और जन्म तथा मृत्यु के लिये सूर्य को आकाश में रख दिया।"[२४]

असत् से उत्पत्ति होनी चाहिये'। 'किन्तु हे सौम्य! उसने कहा, 'यह कैसे हो सकता है? सत् की असत् से उत्पत्ति कैसे हो सकती है'।"

[२०] तुलना ऋग्वेद १०. १२९, १ ३।

[२१] यह 'यतय' शब्द ऋग्वेद ८.६,१८ मे भृगुओ के लिये व्यवहृत हुआ है। यहाँ सायण इसे 'मेघा' बना देते हैं।

[२२] परास्यत = उपरिप्राक्षिपत् (सायण)।

[२३] अभरत् = आहरत् = द्युलोके अधारयत् (सायण)।

[२४] 'मार्त्ताण्ड' इन शब्दो से मिल कर बना है 'मार्त्त' जो प्रत्यक्ष 'मृत्यु' से व्युत्पन्न है, और 'अण्ड'। उक्त अन्तिम पंक्ति मे इसी व्युत्पत्ति का सन्दर्भ निहित

ऋग्वेद ६.५०,२ में कुछ ज्योतिर्मान (सुज्योतिषः) देवों की दक्ष पुत्रों के रूप में चर्चा की गई है। ऋग्वेद में मिलनेवाले दक्ष के इन उल्लेखों को बाद की पुराकथाओं में अत्यधिक विकसित कर दिया गया है (इसके सन्दर्भों के लिये प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग देखिये)। विष्णु पुराण में उत्तानपाद को शतरूपा के गर्भ से मनु स्वायम्भुव द्वारा उत्पन्न पुत्र कहा गया है।

इस सूक्त के चौथे मन्त्र पर यास्क ने निरुक्त ११.२३, में इस प्रकार टीका की है . आदित्यो दक्ष आहुर् आदित्य मध्ये च 'स्तुत.। अदितिर् दाक्षायणी। "अदितेर् दक्षो अजायत दक्षाद् उ अदितिः परि" इति च। तत् कथम् उपपद्येत। समान-जन्मानौ स्याताम् इत्य् अपि वा देव धर्मेण इतरेतर-जन्मानौ स्याताम इतरेतर प्रकृती। "उनका कथन है कि दक्ष अदिति के पुत्र हैं और उनकी अदिति के पुत्रों के अन्तर्गत पूजा होती है। और अदिति दक्ष की पुत्री हैं, [मूल के अनुसार दक्ष अदिति से उत्पन्न हुये और अदिति दक्ष से उत्पन्न हुईं] यह कैसे सम्भव हो सकता है ? ये समान जन्म-वाले हो सकते हैं, अथवा देवों के धर्मानुसार इन दोनों का एक दूसरे से जन्म हुआ हो सकता है—इन्होंने अपनी प्रकृति को एक दूसरे से प्राप्त किया हो सकता है।"

रॉथ अपने इल० ऑफ निरुक्त (पृ० १५१) में प्रस्तुत सूक्त के चौथे तथा पाँचवें मन्त्रों का अनुवाद करने के बाद इस प्रकार टिप्पणी करते हैं : "दक्ष, अथवा आध्यात्मिक शक्ति, पुरुष शक्ति है जो अमर देवों को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार 'भू' (पृथिवी अथवा प्राणी) तथा आकाश 'परिमित' के सिद्धान्त को व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार ये दोनों (अदिति और दक्ष) दिव्य जीवन के आरम्भ को व्यक्त करते हैं।

इस सूक्त के ८ वें मन्त्र पर सायण का भाष्य इस प्रकार है :

"अष्टौ पुत्रास." पुत्रा मित्रादयोऽदितेर् भवन्ति। "ये अदितेस् तन्वस् परि" शरीराज् "जाता" उत्पन्ना'। अदितेर् अष्ट पुत्रा आध्वर्य्यव-ब्राह्मणे परिगणिताः। तथा हि। "तान् अनुक्रमिष्यामो मित्रश्च वरुणश्च धाताच अर्यमाच अंशश्च भगश्च विवस्वान् आदित्यश्चेति।" तथा तत्रैव प्रदेशान्तरे अदितिम् प्रस्तुत्य आम्नातम "तस्या उच्छेषणम् अदधुस् तत्

प्रतीत होता है। हरिवंश ५ ५४९ मे इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है "न खल्व् अयम् मृतोऽण्डस्य इति स्नेहाद् अभाषत। अज्ञानात् कश्यपम् तस्माद् मार्त्तण्ड इति चोच्यते।" "प्रेमपूर्वक परन्तु अज्ञानवश, कश्यप ने कहा 'वह मृत नहीं बल्कि अण्ड मे स्थित है।' अत उसे 'मार्त्तण्ड' कहते हैं।

प्रश्नात । सा रेतोऽधत्त तस्यं चत्वार आदित्या अजायन्त सा द्वितीयम् अपिबद्'' इत्यादिना अष्टानाम् आदित्यानाम् उत्पत्तिर् वणिता ।

"मित्र आदि आठ पुत्र अदिति से उत्पन्न हुये : ये उसके शरीर से उत्पन्न हुये । अध्वर्युयों के ब्राह्मण में अदिति के आठ पुत्रों की इस प्रकार गणना मिलती है : 'हम उनका क्रमानुसार वर्णन करेंगे : मित्र, वरुण, धातृ, अर्यमन्, अंश, भग, विवस्वत्, और आदित्य ।' इसी कृति के एक अन्य स्थल पर अदिति के उल्लेख के बाद यह कथन मिलता है : 'उन लोगों ने उसके सम्मुख यज्ञ का उच्छिष्ट रक्खा । उसने उसको ग्रहण किया । उसने गर्भ धारण किया । उससे चार आदित्यों का जन्म हुआ । उसने द्वितीय (अंश) का भी पान कर लिया' इत्यादि । इस प्रकार आठ आदित्यों के जन्म का वर्ण किया गया है ।"

इस सूक्त के उसी आठवें मंत्र की शतपथ ब्राह्मण (३.१,३,३ आदि) इस प्रकार व्याख्या करता है :

अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः । यांस त्व् एतद् "देवा आदित्या" इत्य् आचक्षते सप्त ह एव ते । अविकृत[25] ह अष्टमं जनयाञ्चकार मार्त्ताण्डम् । सन्देघो[26] ह स्वास । यावान् एवोर्ध्वस् तावांस् तिर्यङ्-पुरुष सम्मित इत्य् उ ह एके आहुः । ४ ते उ ह एते ऊचुर् देवा आदित्या "यद् अस्मान् अन्व् अजानमा अद् अमुयेव भूद् । हन्त इम विकरवाम" इति । त विचक्रुर् यथाऽयम् पुरुषो विकृतस् तस्य यानि मासानि संकृत्य सन्न्यासुस् ततो हस्ती समभवत् । तस्माद् आहुर् "न हस्तिनम् परिगृह्णीयात् पुरुपाजानो[27] हि हस्ती" इति । यम् इह तद् विचक्रुः स विवस्वान् आदित्यस् तस्य इमाः प्रजा' ।

ऋग्वेद के मूल का उद्धरण देने के बाद ब्राह्मणकार आगे इस प्रकार कहता है :

"अदिति के आठ पुत्र हुये । परन्तु इनमें से मनुष्य केवल सात (देवों) को ही आदित्य देवता कहते हैं । क्योंकि उसने आँठवें को विकृत (हाथ-पाँव इत्यादि के विना) रूप में उत्पन्न किया । उसके समस्त शरीर पर दाग थे । उसका आकार मनुष्य के बराबर लम्बा और उतना ही चौड़ा था । आदित्य देवताओं ने कहा . 'यदि इसकी प्रकृति हम लोगों के लिये सुखकर न होगी

---

[25] 'अविकृतम् कर—चरणादि विकार इति तद्-रहितम', भाष्य ।

[26] 'सम्यग् उपचित सम एवासीत्', भाष्य ।

[27] 'पुरुषाजान पुरुष-प्रकृतिक ', भाष्य ।

तो यह अत्यन्त दुर्भाग्य की वात होगी; आओ हम इसके आकार को बदल दें।' इस प्रकार कहकर उन लोगों ने उसके आकार को वदल दिया। इस प्रकार यह पुरुप परिवर्तित हुआ। उन लोगों ने उसके मांस के जिस भाग को काट कर फेंक दिया उससे एक हाथी उत्पन्न हुआ। इसीलिये मनुष्य कहते हैं कि 'कोई भी हाथी को ग्रहण न करे क्योंकि हाथी की प्रकृति मनुष्य जैसी होती है। जिसको उन लोगों ने इस प्रकार परिवर्तित किया वह अदिति का पुत्र विवस्वत हुआ। उसी से इस समस्त प्रजा की उत्पत्ति हुई।"

हिरण्यगर्भः ऋग्वेद १० १२१

ऋग्वेद १०.१२१,१ आदि (वाज० सं० १३,४, अथर्ववेद ४ २,७)—हिरण्यगर्भ[28] समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात.[29] पतिर् एक आसीत्। स दाधारा पृथिवीं द्याम् उतेमा कस्मै देवाय[30] हविपा विधेय। २. (वाज० सं० २५,१३; अथर्ववेद ४.२.१) य आत्मदा वलदायस्य विश्वे उपासते प्रशिप यस्य देवाः। यस्य छायाऽमृत यस्य मृत्युः कस्मै देवाय इत्यादि। ३. (वाज० स० २३,३. अथर्ववेद ४.२,२) यः प्राणतो निमिपतो महित्वा एक इद् राजा जगती बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश् च तुष्पद· कस्मै इत्यादि। ४. (वाज० सं० २५.१२ : अथर्ववेद ४.२,५) यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया[31] सहाहु. यस्येमा· प्रदिशो यस्य वाहू कस्मै इत्यादि। ५. (वाज० स० ३२,६.७; अथर्ववेद ४ २,३.४) येन

---

[28] "हिरण्ये हिरण्य-पुरुष-रूपे ब्रह्माण्डे गर्भ-रूपेण अवस्थित प्रजापतिर् हिरण्यगर्भ भूतस्य प्रणिजातस्य अग्रे समवर्त्त त प्राणिजातोत्पत्ते पुरा स्वयं शरीर-धारी वभूव।" "ब्रह्माण्ड मे एक गर्भ के रूप मे स्थित हिरण्यगर्भ, जो कि हिरण्यमय था— एक हिरण्यमय पुरुष के रूप मे समस्त प्राणियो के पूर्व उत्पन्न हुआ—उसने प्राणियो की उत्पत्ति के पूर्व स्वय शरीर धारण किया।" महीधर (वाज० स० १३,४ पर)।

[29] 'जात'। तुलना कीजिये ऋग्वेद २ १२,१ ऋग्वेद १० १३३,२ · 'अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिपे।' "इन्द्र! तुम बिना शत्रु के उत्पन्न हुये।' और ऋग्वेद ८ २१,११ · 'त्वम् अनापिर् इन्द्रे जनुपा मनाद् असि।' 'हे पुरातन इन्द्र! क्या तुम स्वभावत सखा से रहित हो।'

[30] 'कस्मै देवाय। कस्मै काय प्रजापतये देवाय।' वा० स० १३ ४ पर भाष्यकर। "प्रजापतिर् वै कस् तस्मै हविपा विधेम।" 'क' प्रजापति है हम उसे हवि समर्पित करें।' शतपथ ब्राह्मण ७ ४,१,१९।

[31] 'रसा' शब्द केवि वेचन के लिये प्रस्तुत-कृति का द्वितीय भाग देखिये।

द्यौर् उग्रा पृथिवी च दृळहा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै इत्यादि। ६. यं क्रन्दसी[32] अवसा तस्तभाने अभ्य् ऐक्षेताम् मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै इत्यादि। ७ (वाज० सं० २७,२५ : अथर्ववेद ४.२,६.८) आपो ह यद् बृहतीर् विश्वम् आयन् गर्भं[33] दधाना जनयन्तीर् अग्निम्। ततो देवानां समवर्त्त-तासुर् एकः कस्मै इत्यादि। ८. (= वाज० सं० २७,२६) यश् चिद् आपो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर् यज्ञम्। यो देवेष्व् अधि देव एक आसीत् कस्मै इत्यादि। ९. (= वाज० स० १२,१०२) मा नो हिंसीज् जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान। यश् चापश् चन्द्रा बृहतीर् जजान कस्मै[34] इत्यादि। १० (= वाज० सं० १०, २०; अथर्ववेद, ७.७९,४; ७.८०,३ : निरुक्त १० ४३) प्रजापते न त्वद् एतान्य् अन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास् ते जुहुमस् तन् नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

"१. सबसे पहले हिरण्यगर्भ था। उत्पन्न होने पर वही प्राणियों का अद्वितीय अधीश्वर था। उसने इस पृथिवी और आकाश को स्थापित किया : हम हव्य के द्वारा किस देवता का पूजन करें ? २. वह जिसने जीवात्मा को दिया, बल दिया, जिसकी आज्ञा सभी देवता मानते हैं; जिसकी छाया अमृत-

---

[32] 'क्रन्दसी'। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे इस शब्द की 'युद्धरत दो सेनायें' अर्थ किया गया है। वहाँ दिये सन्दर्भ भी देखिये।

[33] ७ वें और ८ वें मन्त्र से गत सूक्तों १० १२९,१ ३; १० ८२,५.६; और १०.७२,६ की तुलना कीजिये।

[34] मुझे ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे १६८ वाँ सूक्त ऐसा मिला है जिसका चौथा मन्त्र भी उन्ही शब्दो से समाप्त होता है जिनसे १२१वें के प्रथम नौ मन्त्र। अन्तर केवल इतना है कि १६८ वें सूक्त मे 'कस्मै' के स्थान पर 'तस्मै' है। मैं तीसरे मन्त्र के अन्तिम शब्दो से आरम्भ करके इस मन्त्र को उद्धृत कर रहा हूँ "क्व स्विज् जात. कुत आबभूव। ४. आत्मा देवानाम् भुवनस्य गर्भो यथावश चरति देव एष। घोषा इद् अस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम।" "कहाँ से इनका आगमन हुआ ? वायु देवता प्राणरूप हैं। यह लोको के अपत्य के समान हैं। यह इच्छानुसार विचरण करते हैं। इनके रूप के प्रत्यक्ष दर्शन नही होते। इनके गमन का शब्द ही सुना जाता है। हम उपासकगण अपने यज्ञ मे श्रेष्ठ हवि द्वारा इनकी पूजा करते हैं।" तुलना कीजिये सेण्ट जॉन ३.८ भी।

रूपिणी है, जिसके वश में मृत्यु है—हम हव्य के द्वारा किस देवता की पूजा करें ? ३. जो अपनी महिमा से दर्शनेन्द्रिय और गतिशील जीवों के अद्वितीय राजा हुये, और जो इन चतुष्पदों तथा द्विपदों के प्रभु हैं, हम हव्य, इत्यादि। ४. जिसकी महिमा से ये सब हिमाच्छादित पर्वत उत्पन्न हुये, जिसकी सृष्टि यह स-सागरा धरित्री कही जाती है और जिसकी भुजायें ये सारी दिशायें हैं—हम हव्य, इत्यादि। ५. जिसने इस उन्नत आकाश और पृथिवी को अपने-अपने स्थानों पर दृढ रूप से स्थापित किया है, जिसने स्वर्ग और आदित्य को रोक रक्खा है, और जो अन्तरिक्ष में जल का निर्माता है—हम हव्य, इत्यादि। ६ जिसके द्वारा द्यौ और पृथिवी, शब्दायमान होकर, स्तम्भित और उल्लसित हुये थे और दीप्तिशील द्यौ तथा पृथिवी ने जिसे महिमान्वित समझा था, जिसके आश्रय से सूर्य उगते और प्रकाश करते हैं—हम हव्य, इत्यादि। ७ प्रचुर जल सम्पूर्ण भुवन को आच्छादित किये हुये था। जल ने गर्भ धारण करके अग्नि आदि सब को उत्पन्न किया। इससे देवों के प्राण-वायु उत्पन्न हुये—हम हव्य, इत्यादि। ८ बल धारण करके जिस समय जल ने अग्नि को उत्पन्न किया, उस समय जिसने अपनी महिमा से उस जल के ऊपर चारों ओर निरीक्षण किया तथा जो देवों में अद्वितीय देवता हुआ—हम हव्य, इत्यादि। ९. जो पृथिवी का जन्मदाता है, जिसकी धारण-क्षमता सत्य है, जिसने आकाश को जन्म दिया और जिसने आनन्द वर्धक तथा प्रचुर परिमाण में जल उत्पन्न किया, वह हमें न मारे—हम हव्य, इत्यादि। १० प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त और कोई इन समस्त वस्तुओं को अधीनस्थ नहीं रख सकता। जिस अभिलाषा से हम तुम्हारा हवन करते हैं वह हमें मिले—हम धनाधिपति हों।"

यह सम्पूर्ण सूक्त वाजसनेयि संहिता में मिलता है और इसके अधिकांश मन्त्र अथर्ववेद में भी आते हैं। अपना अनुवाद करने में मैंने वाजसनेयि संहिता के महीधर भाष्य से, तथा प्रो० मूलर (ऐसंलि पृ० ५६९ और बाद) के अनुवाद से सहायता ली है। मन्त्र ७ के अपने भाष्य में भाष्यकार ने शतपथ ब्राह्मण ११ १,६,१ का सन्दर्भ दिया है जो इस प्रकार है :

आपो ह् वा इदम् अग्रे सलिलम् एवास। "आरम्भ में यह सम्पूर्ण (जगत्) केवल जल ही जल था।" तदनन्तर भाष्यकार 'गर्भं दधानाः' की इस प्रकार व्याख्या करता है : तथा गर्भं हिरण्यगर्भलक्षणं दधानाः धारयन्त्यः अत एव अग्निम् जनयन्तीः अग्नि-रूपं हिरण्यगर्भं जनयन्त्यः उत्पादयिष्यन्त्यः। "और एक गर्भ से युक्त, जो हिरण्यगर्भ था, और इसलिये अग्नि को उत्पन्न किया—अग्निरूपी हिरण्यगर्भ को।" अथर्ववेद में इस ७ वें

मन्त्र का कुछ भिन्न यह पाठ है : (अवे० ४ २,६): आपो अग्रे विश्वम् आवन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः। यासु देवीष्व् अधि देव असीत् कस्मै इत्यादि। "जलों ने सृष्टि के आदि में उत्पन्न होकर सृष्टि की रक्षा की। उन्होंने गर्भ को धारण किया। इन जलों के गर्भभूत प्रजापतिदेव को हम हविर्दान से सन्तुष्ट करते हैं।" इसके बाद अथर्ववेद का सातवाँ मन्त्र ऋग्वेद में प्रथम हो गया है। अथर्ववेद का आठवाँ मन्त्र, जिसके समान ऋग्वेद में कोई मन्त्र नहीं है, इस प्रकार है : अपो वत्सं जनयन्तीर् गर्भं अग्रे समैरयन। तस्योत जायमानस्य उल्ब आसीद् हिरण्ययः। कस्मै देवाय, इत्यादि। "ईश्वर द्वारा प्रथम उत्पन्न जलों में सृष्टि की रचना के निमित्त ईश्वर प्रदत्त वीर्य को गर्भाशय में स्थित किया गया। उस गर्भ-रूप हिरण्यगर्भ का अण्ड भी सुवर्णमय था। हम जिस देवता, इत्यादि।"

जलों में स्थित गर्भ से एक देवता की उत्पत्ति का विचार प्रस्तुत सूक्त (ऋग्वेद १० १२१,७) के सातवें मन्त्र में भी निहित प्रतीत होता है; किन्तु लेखक इस देवता का बाद की पुराकथाओं के ब्रह्मा से समीकरण स्थापित करना चाहेगा या नहीं, इस बात का मैं निर्णय नहीं करूँगा। सूक्त के, कम से कम, दसवें मन्त्र में इस देवता को प्रजापति कहा गया है, जो बाद में ब्रह्मा की उपाधि बन गया। अथर्ववेद से मैंने जो अन्तिम मन्त्र (४.२,८) उद्धृत किया है, उसमें जलों से उत्पन्न गर्भ को सुवर्णमय कहा गया है।

इसी वेद (अवे० १०.७,२८) में यह मंत्र आता है : हिरण्यगर्भम् परमम् अनत्युद्यम् जना विदुः। स्कम्भस् तदग्रे प्रासिञ्चद् हिरण्यम् लोके अन्तरा। "मनुष्य इस परमश्रेष्ठ तथा अनत्युद्यम हिरण्यगर्भ को जानते हैं; इसके पहले स्कम्भ ने ही इन लोकों को सुवर्ण से सींचा था।"

मैं अथर्ववेद के इसी सूक्त से कुछ और उद्धरण दूँगा।

अथर्ववेद १०.७ और १०.८ से कुछ उद्धरण

अथर्ववेद १०.७ : यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर् लोकान् सर्वान् अधारयत्। स्कम्भं तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः। ८. यत् परमम् अवमं यच्च मध्यमम् प्रजापतिः ससृजे विश्व-रूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन् न प्राविशत् कियत् तद् बभूव। ९. कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद् भविष्यद् अन्वाशयेऽस्य। एकं यद् अगम् अकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र।…… १७. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस् ते विदुः परमेष्ठिनम्। यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ज्येष्ठं ये ब्राह्मणम् विदुस् ते स्कम्भम् अनुसंविदुः।…… २४. यत्र देवा ब्रह्मविदो

ब्रह्म ज्येष्ठम् उपासते। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्।'' ''' ३२. यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षम् उतोदरम्। दिवं यश् चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। ३५. स्कम्भो दाधार द्यावा-पृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व् अन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षड् उर्वीः स्कम्भ इद विश्वम् भुवनम् आविवेश। ३६. य श्रमात् तपसो जातो लोकात् सर्वान् समानशे। सोमं यश् चक्रे केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।'''' ४१. यो वेतसं[35] हिरण्यय तिष्ठन्तम् सलिले वेद। स वै गुह्य. प्रजापतिः।

अवे० १०.८,२ : स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश् च भूमिश् च तिष्ठतः। स्कम्भ इदं सर्वम् आत्मन्वद् यत् प्राणद् निमिषच्च यत्। '' ११ यद् एजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणाद् अप्राणन् निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीम् विश्वरूपं तद् सम्भूय भवत्य् एकम् एव। ४४. अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तम् एव विद्वान् न बिभाय मृत्योर् आत्मान धीरम् अजर युवानम्।

"अथर्ववेद १०.७,७। प्रजापति जिसमें स्तंभित होकर सब लोकों को धारण किये हुये हैं, उस स्कम्भ को बताओ। ८. जो परम्, अवम् और मध्यम है, तथा जिन सब रूपों को प्रजापति ने बनाया है उनमें कितने अंश से स्कम्भ प्रविष्ट हुआ है ? अर्थात् जिससे प्रविष्ट नहीं हुआ वह अंश कितना है ? ९. कितने अंश से स्कम्भ भूत में प्रविष्ट हुआ है। भविष्य में कितने अंश से सो रहा है ? जो अपने अंगों को सहस्र प्रकार का बना लेता है वह उसमें कितने अश से प्रविष्ट होता है ? १७. जो पुरुष में ब्रह्म को जानेवाले हैं, वे परमेष्ठी, प्रजापति और अग्रज ब्राह्मण को जानते हैं, वही स्कम्भ के ज्ञाता हैं। '' २४. ब्रह्म के जाननेवाले देवता जहाँ महान् ब्रह्म की स्तुति करते हैं, जो उसे जानता है, वही ब्रह्म को जान सकता है। ३२. पृथिवी जिसकी 'प्रमा', अन्तरिक्ष उदर, और द्युलोक शिर-रूप हैं, उस ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ।''' ३५. स्कम्भ ने आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रदिशा और छः उर्वियों को धारण किया है और वही स्कम्भ इस लोक में रमा हुआ है।' ३६. जो सब लोकों का भोग करनेवाला और तपस्या द्वारा प्रगट होता है, तथा जिसने सोम को बनाया है, उस ब्रह्म को प्रणाम है।''' ४१. प्रजापति वही है जो जल में सुवर्ण-वेंत का जाननेवाला है।"

---

[35] मुझे यह नही मालूम कि इस शब्द का यहाँ साधारण अर्थ है, अथवा वह जो ऋग्वेद १०.९५,४५, शतपथ ब्रा० ११ ५,१,१; और निरुक्त ३ २१. मे 'वैतस' का अर्थ है।

अवे० १०.८,२ : "यह पृथिवी और आकाश स्कम्भ द्वारा ही स्थान पर स्थित हैं। श्वास लेने और पलक मारनेवाले यह आत्मा-रूप स्कम्भ ही हैं। ११. जो सचेष्ट है, स्थित है, प्राण-क्रिया करता है और नहीं भी करता, जो निमिषत् के समान है, उसी ने इस भूमि को धारण किया है। वह सब रूपों में होता हुआ एक रूप को ही प्राप्त होता है। ५४. कामना से रहित, धैर्यवान, स्वयंभू ब्रह्मा अपने ही रस से स्वयं तृप्त रहता है; वह किसी भी विषय में असमर्थ नहीं है, उस सतत् युवा आत्मा के ज्ञाता को मृत्यु से भय नहीं लगता।"

मैंने इन स्थलों को अंशतः इसलिये उद्धृत किया है कि इनमें उस प्रजापति के नाम का बहुधा उल्लेख है जो ऋग्वेद में अत्यन्त दुर्लभ है; और अंशतः इसलिये भी कि इनमें एक नवीन देवता, स्कम्भ, की प्रशस्ति है जिसके मूर्तीकरण का संकेत पृथिवी तथा आकाश को धारण करने के उस कार्य से मिला होगा, जिसे, जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे, अक्सर इन्द्र, वरुण, विष्णु, और सवितृ का कार्य कहा गया है।

ऊपर उद्धृत अन्तिम मन्त्र (१०.८,४४) में ज्ञान के विषय के रूप में परमात्मा का विचार निहित प्रतीत होता है।

खण्ड २—शतपथ ब्राह्मण, मनु, रामायण, विष्णु पुराण इत्यादि के अनुसार सृष्टि, आदिजल, अण्ड, प्रजापति, इत्यादि, के विवरण

शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि का इस प्रकार वर्णन मिलता है :—

शतब्रा० ६,१.१,१ और बाद : असद् वा इदम् अग्रे आसीत्। तद् आहुःऽकिं तद् असद्ऽइति। ऋषयो वाव ते 'अग्रेऽसद् आसीत्' आहुः। 'के ते ऋषयऽइति। प्राणा वा ऋषयस् ते यत् पुराऽस्मात् सर्वस्माद् इदम् इच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषंस् तस्माद् ऋषयः। २. स योऽयम् मध्ये प्राण एष एवेन्द्रः। तान् एष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध। यद् ऐन्ध तस्माद् इन्धः। इन्धो ह वै तम् इन्द्र इत्य् आचक्षते परोक्षम्। परोक्ष-कामा हि देवास ते इधाः सप्त नाना पुरुषान् असृजन्त। ३. तेऽब्रुवन् "न वा इत्थं सन्तः शक्यामः प्रजनयितुम् इमान् सप्त पुरुषान्। एकम् पुरुषं करवाम" इति ते एतान् सप्त पुरुषान् एकम् पुरुषम् कुर्वन्। यद् ऊर्ध्वं नाभेस् तौ द्वौ समौब्जन्। यद् अवाङ् नाभेस् तै द्वौ। पक्षःपुरुषः। पक्षः पुरुषः। प्रतिष्ठा एक आसीत्।...५. स एव पुरुषः प्रजापतिर् अभवद्

अयम् एव स योऽयम् अग्निश्[३६] चीयते। ६. स वै सप्त-पुरुषो भवति। सप्त-पुरुषो ह्य् अयम् पुरुषो यच् चत्वार् आत्मा त्रयः पक्ष-पुच्छानि। चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा त्रयः पक्ष पुच्छानि। अथ यद् एकेन पुरुषेण आत्मानं वर्धयति तेन वीर्येण अयम् आत्मा पक्ष पुच्छानि उद्यच्छति।...८. सोऽयम पुरुषः प्रजापतिर् अकामयत 'भूयान् स्याम् प्रजायेय' इति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस् तेपानो ब्रह्मैव प्रथमम् असृजत त्रयीम् एव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत् तस्माद् आहुर् ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्माद् अनूच्य प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठा ह्य् एषा यद् ब्रह्म। तस्याम् प्रतिष्ठायाम् प्रतिष्ठितोऽतप्यत। ९. सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकाद् वाग् एवास्य साऽसृजयत सा इदं सर्वम् आप्नोत्। यद् इदं किञ्च यद् आप्नोत तस्माद् आपः[३७]। यद् अवृणोत् तस्माद् वाः। १०. सोऽकामयत 'आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय इति सोऽनया त्रय्या सह अपः प्राविशत् तत् अण्डं समवर्त्तत तद् अभ्यमृशद् 'अस्त्व्' इत्य 'अस्तु' भूयोऽस्त्व्ऽइत्य् एव तद् अब्रवीत्। ततो ब्रह्मैव प्रथमम् असृज्यत त्रय्य् एव विद्या। तस्माद् आहुर् 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' इत्य्। अपि हि तस्मात् पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वम् असृज्यत तद् अस्य तद् मुखम् एव असृज्यत। तस्माद् अनूचानम् आहुर् 'अग्निकल्प' इति मुख ह्य् एतद् अग्नेर् यद् ब्रह्म।

"आरम्भ में यह सब असत् था। परन्तु मनुष्य कहते हैं कि 'वह असत् क्या था?' ऋषि कहते हैं कि आरम्भ में असत् था। ये ऋषि कौन हैं? ये ऋषि प्राण है। इस सब के पहले उन लोगों ने इसकी (सृष्टि की) कामना से श्रमपूर्वक तपस्या की, अतः वे ऋषि कहलाये। २. यह मध्य में जो प्राण है वही इन्द्र है। वह अपनी शक्ति से इन प्राणों का मध्य में इन्धन करता है : उसने इन्धन किया, इसी से वह इन्ध कहलाया। वे परोक्षरूप से इन्ध को इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवगण परोक्षकामी होते हैं। इन्धन के बाद उन्होंने सात पृथक् पुरुषों की सृष्टि की। ३. उन्होंने कहा. 'इस प्रकार हम इन सात पुरुषों का प्रजनन नहीं कर सकते, हम एक पुरुष ही बनायें।' इस प्रकार कहकर उन लोगों ने इन सात पुरुषों को एक पुरुष बना दिया। उन लोगों ने दो पुरुषों से नाभि के ऊपर के भाग, दो अन्य से नाभि के नीचे के

---

[३६] तुलना शतपथ ब्राह्मण ६.१,२,१३.२७; ९.२,२,२; ६ २,१,१; और ११.१,६, १४।

[३७] तुलना, शतपथ ब्राह्मण २.१,१,३।

भाग, तथा एक एक से उसके दोनों पार्श्व भाग, तथा अन्तिम एक से आधार का निर्माण किया। ५. यह एक पुरुष प्रजापति हुआ। जो पुरुष प्रजापति हुआ है वह वेदिका पर प्रज्ज्वलित होनेवाला अग्नि है। ६. यह सचमुच सात पुरुषों से मिलकर बना है : यह पुरुष इसलिये सात पुरुषों से बना है क्योंकि चार उसकी आत्मा का तथा तीन उसके पार्श्वों और आधार भाग का निर्माण करते हैं। क्योंकि इस पुरुष की आत्मा चार से और पार्श्व तथा आधार तीन से बने हैं, अतः जहाँ तक इसकी आत्मा का प्रश्न है इसमें एक पुरुष अधिक है; फलस्वरूप इस अधिक शक्ति के कारण आत्मा पुरुष के पार्श्वों तथा आधार भाग का नियन्त्रण करता है। ८ इस पुरुष प्रजापति ने इच्छा की, 'मैं अधिक होऊँ, मुझ से प्रजा उत्पन्न हो।' उसने श्रम तथा तप किया। इस प्रकार तप और श्रम करने से उसने सर्वप्रथम त्रयीविद्या, ब्रह्म, को उत्पन्न किया। यह उसके लिये प्रतिष्ठा बना अतः मनुष्य कहते हैं कि 'यह ब्रह्म ही सब की प्रतिष्ठा है।' तभी से इसका अध्ययन करने से मनुष्य की प्रतिष्ठा होती है क्योंकि यही उसकी प्रतिष्ठा है। इस पर प्रतिष्ठित होकर उसने तप किया। ९. उसने लोकों से जलों के रूप में वाणी[३८] की सृष्टि की। वाणी उसकी हुई। इसकी सृष्टि हुई। इसने सबको प्राप्त किया। यतः इसने उस सबको जो सृजित था, प्राप्त किया (आप्नोत्) अतः इसे 'आपः' कहा गया; और यतः इसने सबको ढँक लिया (अवृणोत्) अतः इसे 'वाः' (जल का दूसरा नाम) कहा गया। १०. उसने इच्छा की, 'मैं इन जलों से उत्पन्न होऊँ।' इस प्रकार कह कर उसने इस त्रयीविद्या के साथ जलों में प्रवेश किया। तब वहाँ एक अण्ड ऊपर आया। उसने उस पर चिन्तन किया। उसने कहा : 'वह हो', 'वह हो', पुनः 'वह हो।' इससे सर्वप्रथम त्रयीविद्या, वेद, की सृष्टि हुई। अतः मनुष्य कहते हैं कि 'इस सम्पूर्ण सृष्टि में वेद ही प्रथम उत्पन्न है'। और यतः वेद की ही उस पुरुष से सर्वप्रथम सृष्टि हुई, अतः इसे उसका मुख बनाया गया। इसलिये विद्वान पुरुष के लिये कहा गया है कि वह अग्नि के समान है, क्योंकि वेद अग्नि का मुख है।"

सात पुरुषों से प्रजापति के निर्माण की यही धारणा शतपथ ब्राह्मण १०. २,२,१ में पुनः इस प्रकार मिलती है : यान् वै तान् सप्त पुरुषान् एकम्

---

[३८] इसकी शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य स्थल (७.५,२,२१) मे व्याख्या की गई है, जो इस प्रकार है · "वाग् वै अजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान।" और बृहदारण्यक उपनिषद् मे इस प्रकार कथन है : "त्रयो लोका एते एव। वाग् एवायं लोको मनोऽन्तरिक्ष-लोक प्राणो असौ लोक.।"

पुरुषम् अकुर्वन् स प्रजापतिर् अभवत्। स प्रजा असृजत। स प्रजाः सृष्ट्वा ऊर्ध्व उदक्रामत् स एतं लोकम् अगच्छद् यत्र एष एतत् तपति। नो ह तर्ह्य् अन्य् एतस्माद् अत्र यज्ञिय आस तम् देवा यज्ञेनैव यष्टुम् अध्रियन्त। तस्माद् एतद् ऋषिणाऽभ्यनुक्तं 'यज्ञेन यज्ञ अयजन्त देवा' इत्यादि। "इन सात पुरुषों से उन्होंने जिस एक पुरुष का निर्माण किया वह प्रजापति हुआ। उसने प्रजा की सृष्टि की। प्रजा की सृष्टि करके वह ऊपर की ओर चढ़ा, वह उस लोक में गया जहाँ से वह इसे तप्त करता है। उस समय यजन की कोई और वस्तु नहीं थी; देवों ने यज्ञ द्वारा उसका पूजन आरम्भ किया। अतः ऋषिगण यह कहते हैं (ऋग्वेद १०.९०,१६) 'कि देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया'।" शतपथ ब्राह्मण ६.१,१,६ के एक अंश को शतपथ ब्राह्मण १०.२,२,५ में दोहराया गया है।

२ गत आख्यान में देवों को प्रजापति का स्रष्टा कहा गया है। प्रजापति ने तब जलों तथा ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया। निम्नोद्धृत कथा में सृष्टिक्रम भिन्न है। यहाँ जलों ने ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया, और उस अण्ड से प्रजापति निकले और उन्होंने इन लोकों तथा देवों की सृष्टि की।

शतपथ ब्राह्मण ११.१,६,१ और बाद : आपो ह वा इदम् अग्रे सलिलम् एवास[39]। ता अकामयन्त 'कथ नु प्रजायेमहि' इति ता अश्राम्यस् तास् तपोऽतप्यन्त। तासु तपस् तप्य मानासु हिरण्मयम् अण्ड सम्बभूव। आजातो ह तर्हि संवत्सर आस। तद् इदं हिरण्मयम् अण्डं यावत् सवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। २ तत. संवत्सरे पुरुषः समभवत् स प्रजापतिः। तस्माद् उ सम्वत्सरे एव स्त्री वा गौर् वा वडवा वा विजायते संवत्सरे हि प्रजापतिर् अजायत। स इद हिरण्मयम् अण्डं व्यरुजत्। नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठा आस। तद् एनम् इदम् एव हिरण्मयम् अण्डं यावत् सवत्सरस्य वेला आसीत् तावद् बिभ्रत् पर्यप्लवत[40]। स संवत्सरे

---

[39] शतब्रा० ५ ७,१,१७. "तस्याप एव प्रतिष्ठा। अप्सु हि इमे लोका प्रतिष्ठिता।" "जल ही इसकी प्रतिष्ठा है' क्योंकि ये लोक जलो पर ही प्रतिष्ठित हैं।" शतब्रा० १४ ८,६,१ (=बृहदारण्यक उपनिषद्) 'आप एवेदम् अग्रे आसु। ता आप सत्यम् असृजन्त सत्यम् ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिम् प्रजापतिर् देवान्।" "आरम्भ मे यह सब कुछ केवल जल ही था। इन जलो से सत्य, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवो की सृष्टि हुई।"

[40] "तस्य प्रजापतेर् आस्पद किमपि न बभूव स च निराधारत्वात् स्थातुम अशक्नुवन्न् इदम् एव भिन्नम् हिरण्मयाण्डम् पुन सवत्सर-पर्यन्तम् बिभ्रद् धारयन् तास्व् एवाप्सु पर्यस्रवत्।" "प्रजापति का कोई आश्रय नही था, अत.

व्याजिहीर्षत्। स 'भूर्' इति व्याहरत् सा इयम् पृथिव्य् अभवद्[41] 'भुव' इति तद् इदम् अन्तरिक्षम् अभवत् 'स्वर्' इति सा असौ द्यौर् अभवत् तस्माद् उ संवत्सरे एव कुमारो व्याजिहीर्षति संवत्सरे हि प्रजापतिर् व्याहरत्। ६. स सहस्रायुर् जज्ञे। स यथा नद्यै पारम् परापश्येद् एवम् स्वस्यायुषः पारम् परा चख्यौ। ७. सोऽर्चञ् छ्राम्यंस् चचार प्रजाकामः। स आत्मन्य् एव प्रजापतिम् अधत्त स आस्येनैव देवान् असृजत्। ते देवा दिवम् अभिपद्य असृज्यन्त तद् देवानां देवत्वं यद् दिवम् अभिपद्य असृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय दिवेवास,[42] तद् वेव देवानां देवत्वं यद् अस्मै स सृजानाय दिवेवास।...१४. ता वा एताः प्रजापतेर् अधि देवताः असृज्यन्त अग्निर् इन्द्रः[43] सोमः परमेष्ठो प्राजापत्यः। १८. स प्रजापतिर् इन्द्रम् पुत्रम् अब्रवीद् इत्यादि।

"आदि में यह सब जल, केवल जल ही था। जलों ने इच्छा की : 'हम कैसे प्रजा उत्पन्न करें ?' ऐसा कहकर उन्होंने श्रमपूर्वक तपस्या की। जब वे तपस्या कर रहे थे तब एक हिरण्मय अण्ड उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने के बाद वह संवत्सर बना। इसलिये यह हिरण्मय अण्ड एक संवत्सर-पर्यन्त जलों पर तैरता रहा। २. एक वर्ष में इससे एक पुरुष उत्पन्न हुआ जो प्रजापति था। इसीलिये एक स्त्री, गाय, अथवा अश्वी एक वर्ष में प्रजनन करती है, क्योंकि प्रजापति का एक वर्ष में जन्म हुआ था। उसने इस हिरण्मय अण्ड को विभाजित किया। उस समय उसके लिये कोई आश्रय नहीं था। अतः उस हिरण्मय अण्ड में स्थित होकर ही वह एक वर्ष पर्यन्त जलों पर तैरता रहा। ३. एक वर्ष में उसने बोलने की इच्छा की। उसने 'भूः' कहा जो यह पृथिवी हुई, 'भुवः' कहा जो अन्तरिक्ष हुआ, और 'स्वः' कहा जो आकाश हुआ। इसीलिये एक शिशु एक वर्ष में बोलने की इच्छा करता है, क्योंकि प्रजापति एक वर्ष में बोले थे। ६. वह एक सहस्र वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुये थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्त को उसी समान देखा जैसे कोई नदी के दूसरे तट को देखता है। ७. प्रजा की इच्छा से वह यजन और श्रम करता

खड़े हो सकने मे असमर्थ होने के कारण और किसी आश्रय के अभाव मे वह एक सवत्सर-पर्यन्त उन जलो पर तैरते हुये अण्ड मे ही स्थित रहा"। भाष्य।

[41] तुलना, प्रस्तुत कृति का तीसरा भाग।

[42] 'दिवेवास। आकाश इव बभूव।' भाष्यकार।

[43] ऋग्वेद १० १३४,१ मे इन्द्र को एक ऐसी माता का पुत्र कहा गया है जिसके नाम का उल्लेख नही है।

रहा। उसने स्वयं गर्भ धारण किया : अपने मुख से उसने देवों की सृष्टि की। इन देवों की स्वर्गलोक की प्राप्ति के द्वारा सृष्टि हुई थी। स्वर्गलोक (दिवम्) की प्राप्ति द्वारा वे देवों के देवत्व का सृजन कर रहे थे। जब वह सृष्टि कर रहा था तब स्वर्गलोक (दिवम्) उत्पन्न हुआ। यह देवों का देवत्व है। वह इसी के लिये सृष्टि कर रहा था, तब दिवम् (स्वर्गलोक) की उत्पत्ति हुई। १४, प्रजापति ने इन देवों की सृष्टि की : अग्नि, इन्द्र, सोम, और परमेष्ठिन्, आदि प्रजापति के पुत्र। १८ प्रजापति ने अपने पुत्र, इन्द्र, से कहा" इत्यादि।

अगले स्थल पर प्रजापति को कच्छप रूपधारी कहा गया है :

शतपथ ब्राह्मण ७.४,३,४ : स यत् कूर्मो नाम एतद् वा रूप कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यद् असृजत अकरोत् तद् यद् अकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस् तस्माद् आहुः 'सर्वः प्रजाः काश्यप्यऽ- इति। स यः श कूर्मोऽसौ स आदित्यः।

"कूर्म का रूप धारण करके प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की। उसने जिसकी सृष्टि की उसे उसने किया (अकरोत्), अतः उसे 'कूर्म' कहते हैं। कश्यप का अर्थ कूर्म है, अतः मनुष्य कहते हैं कि 'सभी प्राणी कश्यप के वंशज हैं।' यह कूर्म ही आदित्य है।"

बाद की पुराकथाओं में विष्णु कूर्मरूप ग्रहण करते हैं।

विष्णु के अवतारों का वर्णन करनेवाले भागवत पुराण के एक स्थल (१.३,१६) पर यह कथन है : सुरासुराणाम् उदधिम् मथ्नताम् मथनाचलम। दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः। "अपने ग्यरहवें अवतार में प्रभु ने कूर्म रूप में उस मथनाचल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण किये जिस से देवता और असुर सागर का मन्थन कर रहे थे।"

वाजसनेयि संहिता ३७.५ के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण १४.१,२,११ वराह द्वारा पृथिवी को ऊपर उठाने का इस प्रकार उल्लेख करता है : इयत्य् अग्रे आसीद् (वाज० स० ३७,५) इति। इयती ह वा इयम् अग्रे पृथिव्य् आस प्रादेश-मात्री। ताम् एमूष इति वराह[44] उज्जधान। सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस् तेनैव एनम् एतन-मिथुनेन प्रियेण धाम्ना[45] समर्धयति कृत्स्नं करोति इत्यादि।

"'पहले यह (पृथिवी) इतनी बड़ी थी' इत्यादि। क्योंकि पहले यह पृथिवी केवल प्रादेश-मात्र के बराबर थी। एमूष नामक वराह ने इसे ऊपर

---

[44] ऋग्वेद ८ ६६.१०।

[45] इन शब्दो की शतब्रा० ३.९,४,२० से तुलना कीजिये।

उठाया। फलस्वरूप उसका अधिपति, प्रजापति, उसके प्रति प्रेम करता है, उसे अपनी इच्छा की वस्तु बनाता है, और उसे पूर्ण करता है," इत्यादि।

अब मैं प्रजापति से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के कुछ और स्थल उद्धृत करूँगा।

निम्नोद्धृत स्थल पर यह कहा गया है कि आरम्भ में यही सब कुछ थे, और इन्होंने अग्नि की सृष्टि की:—

शतपथ ब्राह्मण २ २,४,१ : प्रजापतिर् ह वा इदम् अग्रे एक एवास। स ऐक्षत 'कथ नु प्रजायेय' इति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत सोऽग्निम् एव मुखाज् जनयाञ्चक्रे इत्यादि। "आरम्भ में केवल अकेले प्रजापति ही यह सब कुछ था। उसने सोचा, 'मैं कैसे प्रजावान् होऊँ?' उसने श्रम और तपस्या की। उसने अपने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया।"

दूसरे स्थल पर इसे दक्ष[४६] के साथ समीकृत किया गया है :—

शतपथ ब्रा० २.४,४,१ : प्रजापतिर् ह वा एतेनाग्रे यज्ञेनेजे प्रजाकामो 'बहुः प्रजया पशुभिः स्यां श्रियं गच्छेयं यशः स्याम् अन्नादः स्याम' इति। स वै दक्षो नाम इत्यादि। "प्रजापति ने प्रजा की इच्छा से पहले इस यज्ञ से यजन किया : 'मुझे प्रजा और पशु प्राप्त हो, मुझे यश और श्री की प्राप्ति हो; मैं अन्न आदि प्राप्त करूँ।' यह दक्ष था।"

शतपथ ब्रा० ६.८,१,१४ में प्रजापति को इस सम्पूर्ण विश्व का पोषण करनेवाला कहा गया है (यह कार्य बाद में विष्णु का हो गया) : प्रजापतिर् वै भरतः स हीद सर्वम् बिभर्त्ति। "प्रजापति भरत है, क्योंकि वह इस सम्पूर्ण विश्व का भरण करता है।"[४७]

मुण्डक उपनिषद् के प्रथम श्लोक की तुलना कीजिये जहाँ ब्रह्मा को सम्पूर्ण भुवन का रक्षक (भुवनस्य गोप्ता) कहा गया है।

अगले स्थल पर प्रजापति को सृष्टि की इच्छा करने वाला नहीं बल्कि लोकों पर विजय प्राप्त करनेवाला कहा गया है।

शतपथ ब्रा० १३.२,४,१ : प्रजापतिर् अकामयत 'उभौ लोकाव् अभिजयेयं देवलोकञ्च मनुष्य-लोकञ्च' इत्यादि। "प्रजापति ने इच्छा की : 'मैं दोनों लोकों, देव लोक तथा मनुष्य लोक, पर विजय प्राप्त करूँ'।" इत्यादि।

---

[४६] देखिये ऋग्वेद १०.७२,४,५।

[४७] ऋग्वेद १.९६,३ मे भरत उपाधि अग्नि के लिये व्यवहृत है। यहाँ भाष्यकार किसी ब्राह्मण से यह उद्धरण देता है. "एष प्राणो भूत्वा प्रजा बिभर्ति तस्माद् एष भरत।"

शत ब्रा० १३.६,६, १ में पुरुष नारायण को भी प्रस्तुत किया गया है : पुरुषो ह नारायणोऽकामयत 'अतितिष्ठेय सर्वाणि भूतान्य् अहम् एव इदं सर्वं स्याम्' इति। स एतम् पुरुष-मेधम् पञ्च-रात्र यज्ञक्रतुम् अपश्यत् तम् आहरत् तेन अजयत तेन इष्ट्वाऽत्यतिष्ठत सर्वाणि भूतानि इदं सर्वम् अभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि इद सर्वम भवति य एवं विद्वान् पुरुष-मेधेन यजते यो वा एतद् एवं वेद। "पुरुष नारायण ने इच्छा की 'मै सभी भूतों से श्रेष्ठ हो जाऊँ, मै ही स्वय यह सब कुछ होऊँ।' उसने पाँच रात्रियों तक किये जानेवाले पुरुष मेध यज्ञ को देखा। यह यज्ञ करके वह सभी भूतों से श्रेष्ठ तथा यह सब कुछ हो गया। इसे जान कर जो पुरुषमेध यज्ञ करता है वह सभी भूतों में श्रेष्ठ तथा यह सब कुछ हो जाता है—जो इसे जानता है... ...।" इसके थोडे ही बाद पुरुष सूक्त उद्धृत है।

शतपथ ब्रा० ११.२,३,१ में ब्रह्म (क्लीब) को सभी वस्तुओं का मूल स्रोत कहा गया है : ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत्। तद् देवान् असृजत। तद् देवान सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहयद् अस्मिन्न् एव लोकेऽग्निं वायुम् अन्तरिक्षे दिव्य् एव सूर्यम्। "आदि में यह ब्रह्म ही सब कुछ था। उसने देवों की सृष्टि की। देवों की सृष्टि करके उसने उन्हें इन लोकों मे स्थित किया : इस लोक में अग्नि को, अन्तरिक्ष मे वायु को, और दिव्य लोक में सूर्य को।"

शतपथ ब्रा० १३.७,१,१ में ब्रह्म को अपने लिये यज्ञ करता हुआ कहा गया है : ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तद् ऐक्षत 'न वै तपस्य् आनन्त्यम् अस्ति हन्त अहम् भूतेष्व् आत्मानं जुहवानि भूतानि च आत्मनि' इति। तत् सर्वेषु भूतेष्व् आत्मानां हुत्वा भूतानि च आत्मनि सर्वेषाम् भूतानां श्रैष्ठ्य स्वाराज्यम् आधिपत्यम् पर्यैत्। तथैव एतद् यजमान सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यम् आधिपत्यम् पर्येति। "स्वयभू ब्रह्म ने तपस्या की। उसने सोचा : 'तपस्या में अनन्तता नहीं है। आओ हम भूतों में अपना, अपने में भूतों का हवन करें।' तब समस्त भूतों में अपना तथा अपने मे समस्त भूतों का हवन करने के पश्चात् उसने श्रेष्ठता, स्वाराज्य तथा सर्वाधिपत्य प्राप्त कर लिया (तुलना मनु १२.९१)। अतः सर्वमेध में सभी हवियों और प्राणियों का हवन करनेवाला यजमान श्रेष्ठता, स्वाराज्य तथा सर्वाधिपत्य प्राप्त करता है।"[४८]

नीचे, एक वाद के समय में मनु द्वारा प्रस्तुत सृष्टि का विवरण दिया जा रहा है, जो, निःसन्देह, उपरोद्धृत शतपथ ब्राह्मण अथवा इसी प्रकार के किसी

---

[४८] देखिये ऋग्वेद १०. ८१, १५,६ का विवेचन (ऊपर)।

प्राचीन स्रोत पर आधारित है, यद्यपि इसमें कुछ आधुनिक सिद्धान्तों का भी सम्मिश्रण कर दिया गया है :

मनु १.५ और बाद आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम् । अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयम् प्रसुप्तम् इव सर्वतः । ६ ततः स्वयम्भूर् भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्न् इदम् । महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः । ७. योऽसाव् अतीन्द्रिय-ग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयम् उद्बभौ । ८. सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर् विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्ज्जादौ तासु बीजम् अवासृजत् । ९. तद् अण्डम् अभवद् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयम् ब्रह्मा सर्व-लोक-पितामहः । १० आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः । ता यद् अस्यायनम् पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः । ११. यत् तत् कारणम् अव्यक्त नित्यं सदसदात्मकम् । तद्-विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते । १२. तस्मिन्न् अण्डे स भगवान् उषित्वा परिवत्सरम् । स्वयम् एवात्मनो ध्यानात् तद् अण्डम् अकरोद् द्विधा । १३. ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवम् भूमिञ्च निर्ममे इत्यादि ।

५. "यह संसार (प्रलयकाल में) तम में लीन, अज्ञेय, चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कों से रहित, और इसलिये अविज्ञेय तथा सर्वत्र सोये हुये के समान था । ६. तब स्वयम्भू, अव्यक्त, अपरिमित सामर्थ्यवाले और अन्धकार को दूर करनेवाले भगवान आकाशादि महाभूतों को व्यक्त करते हुये प्रगट हुये । ७. जो भगवान अतीन्द्रिय, सूक्ष्म-स्वरूप, अव्यक्त, नित्य और सब प्राणियों के आत्मा, एवं अचिन्त्य हैं, वही परमात्मा स्वयं प्रगट हुये । ८. उन परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान करके सर्वप्रथम जल की सृष्टि की और उसमें शक्तिरूपी बीज को छोड़ा । ९. वह बीज सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाशवाला, और सुवर्ण के समान शुद्ध अण्ड हो गया, उसी में से सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा[४९] उत्पन्न हुये । १०. जल को 'नारा' कहते हैं क्योंकि वह नर की सन्तान है । वह 'नारा' परमात्मा का प्रथम आश्रय है, इस कारण परमात्मा को नारायण कहते है । ११. वह जो अत्यन्त प्रसिद्ध सबका कारण है, नित्य है, सत् तथा असत् स्वरूप है, उससे उत्पन्न पुरुष ब्रह्मा कहे जाते हैं । १२. ब्रह्मा उस अण्डे में एक वर्ष तक निवास करते रहे और फिर उन्होंने ध्यान के द्वारा उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये । १३. उस अण्डे के उन दोनों टुकड़ों से स्वर्ग तथा पृथिवी की सृष्टि की, और बीच में आकाश, आठ दिशाओं तथा जल के आश्रय की सृष्टि की ।"

[४९] अथवा जिसमे स्वय ब्रह्मा उत्पन्न हुये । इत्यादि ।

यहाँ यह देखा गया होगा कि ९–११ श्लोकों में ब्रह्मा के लिये 'नारायण' उपाधि का प्रयोग किया गया है और विष्णु का कोई उल्लेख नहीं है।

आठवें श्लोक पर कुल्लूक ने इस प्रकार टीका की है : तद् अण्डम् अभवद् हैमम्' इति। यद् बीजम् परमेश्वरेच्छया हैमम् अण्डम् अभवद् हैमम् इव हैम शुद्धि-गुण योगाद् न तु हैमम एव। तदीयैक-शकलेन भूमिः निर्माणस्य वक्ष्यमाणत्वाद् भूमेश्चाहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वाद् उपचाराश्रयणम्। तस्मिन्न् अण्डे हिरण्यगर्भो जातवान् येन पूर्व-जन्मनि 'हिरण्यगर्भोऽहम् अस्मि' इति भेदाभेद-भावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिङ्ग–शरीरावच्छिन्न-जीवम् अनुप्रविश्य स्वयम् परमात्मैव हिरण्यगर्भ-रूपतया प्रादुर्भूताः। " 'वह बीज एक सुवर्णमय अण्ड बन गया', इत्यादि। वह बीज परमेश्वर की इच्छा के अनुसार सुवर्णमय अण्ड बन गया। सुवर्णमय, अर्थात् अपनी शुद्धता के गुण से, न कि वास्तव में सुवर्णमय होने से सुवर्ण के समान। क्योंकि यतः स्मृतिकार इस अण्ड के एक भाग से पृथिवी की सृष्टि का वर्णन करता है, और यतः हम प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह जानते है कि पृथिवी सुवर्णमय नहीं है, अतः हम देखते हैं कि यहाँ केवल लाक्षणिक प्रयोग ही हुआ है। उस अण्ड मे हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ : अर्थात् उस व्यक्ति की आत्मा में प्रविष्ट होकर—जो एक सूक्ष्म शरीर से युक्त था—जिसने एक पूर्व जन्म में भेदाभेद की भावना से युक्त होकर तथा तादात्म्य के साथ 'मै स्वयं हिरण्यगर्भ हूँ' इन शब्दों के द्वारा स्वयं उस परमेश्वर की उपासना की थी, वह हिरण्यगर्भ के रूप में प्रादुर्भूत हुआ।"

विना किसी तत्त्वमीमांसा के ही सृष्टि का हरिवंश के इस स्थल पर भी प्रायः इसी समान वर्णन मिलता है : १. १, ३५ और बाद : ततः स्वयम्भूर् भगवान् सिसृक्षुर् विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजम् अवासृजत्। आपो नार इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः। अयनं तस्यता' पूर्वं तेन नारायणः स्मृत। हिरण्यवर्णम् अभवत् तद् अण्डम् उदकेशयम्। तत्र जज्ञे स्वयम् ब्रह्मा स्वयम्भूर् इति न' श्रुतम। हिरण्य-गर्भो भगवान् उषित्वा परिवत्सरम्। तद् अण्डम् अकरोद् द्वैधं दिवम् भुवम् अथापि च। तयोः शकलयोर् मध्ये आकाशम् असृजत् प्रभुः। अप्सु पारिप्लवाम् पृथिवीम् दिशश्च दशधा दधे।

"तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् नारायण ने नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से सर्वप्रथम जल की ही सृष्टि की। फिर उस जल में उन्होंने अपनी शक्ति का आधान किया। जल का दूसरा नाम 'नार' है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भगवान नर से हुई है। वह जल पूर्वकाल में भगवान का अयन

हुआ, इसलिये वे नारायण कहलाते हैं। भगवान् ने जल में जो अपनी शक्ति का आधान किया था, उससे एक बहुत विशाल सुवर्णमय अण्ड प्रगट हुआ। वह अण्ड दीर्घकाल तक जल में ही स्थित रहा। उसी में स्वयम्भू ब्रह्मा उत्पन्न हुये, ऐसा हमने सुना है। भगवान हिरण्यगर्भ ने उस अण्ड में एक वर्ष तक निवास करके उसके दो टुकड़े कर दिये। फिर एक टुकड़े से द्युलोक बनाया और दूसरे से भूलोक। उन दोनों टुकड़ों के बीच में भगवान ब्रह्मा ने आकाश की सृष्टि की, जल के ऊपर तैरती हुई पृथिवी को स्थापित किया, और फिर दसों दिशायें निश्चित कीं।"

इसी ग्रन्थ के बाद के एक अंश में हमें हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति का यह विवरण मिलता है : हरिवंश, भविष्यपर्व, २६.१ और बाद : जगत् स्रष्टु-मना देवश् चिन्तयामास पूर्वतः। तस्य चिन्तयतो वक्त्राद् निःसृतः पुरुषः किल। ततः स पुरुषो देवं किं करोमीत्य् उपस्थितः। प्रत्युवाच स्मितं कृत्वा देव-देवो जगत्-पतिः। 'विभजात्मानम्' इत्युक्त्वा गतोऽन्तर्धानम् ईश्वरः। अन्तर्हितस्य देवस्य सशरीरस्य भास्वतः। प्रदीपस्येव शान्तस्य गतिस् तस्य न विद्यते। ततस् तेनेरितां वाणीं सोऽन्वचिन्तयत प्रभुः। "हिरण्य-गर्भो भगवान् य एष छन्दसा स्तुतः। एकः प्रजापतिः पूर्वम् अभवद् भुवनाधिपः। तदाप्रभृति तस्याद्यो यज्ञ-भागो विधीयते। 'विभजात्मा-नम्' इत्य् उक्तस् तेनास्मि सुमहात्मना। कथम् आत्मा विभज्यःस्यात् संशयो ह्य् अत्र मे महान्।

"तदनन्तर सबके पूर्वज, भगवान् नारायण जगत् की सृष्टि की इच्छा से मन ही मन कुछ विचार करने लगे। कहते हैं—उसी समय उनके मुख से एक पुरुष प्रगट हुआ। उस पुरुष ने भगवान के निकट खड़े होकर पूछा : 'प्रभो! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' तब देवाधिदेव जगदीश्वर ने मुस्कराकर उसे इस प्रकार उत्तर दिया : 'तुम अपने स्वरूप का विभाग करो।' ऐसा कहकर वे भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। भारत! जैसे दीपक बुझ जाय, उसी प्रकार शरीर-सहित अन्तर्हित हुये उन भगवान् की कहीं कोई गति नहीं है। तदनन्तर भगवान के मुख से प्रगट हुये उस प्रभावशाली पुरुष, भगवान् हिरण्य-गर्भ, जिनका नाम वेद मन्त्रों में सुना गया है, भगवान की कही हुई पूर्वोक्त वाणी पर बारम्बार विचार करने लगे : 'ये ही सम्पूर्ण भुवनों के अधिपति, प्रजापति, सबसे पहले उत्पन्न हुये थे। अतः तभी से यज्ञ का प्रथम भाग इन्हीं को दिया जाता है। इन परमात्मा ने मुझसे कहा है कि मैं अपने स्वरूप का विभाग करूँ; परन्तु मुझे अपने स्वरूप का विभाग कैसे करना होगा इस विषय

में मुझे महान सन्देह है' ।" इसके बाद के श्लोकों को भी देखिये, जिन्हें मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग में उद्धृत कर चुका हूँ ।

अब मैं रामायण से एक उद्धरण दूँगा, जिसमें जगत् की उत्पत्ति का इस प्रकार वर्णन है :

रामा० २.११०, २ और बाद : इमा लोक-समुत्पत्ति लोक-नाथ निबोध मे । ३. सर्वं सलिलम् एवासीत् पृथिवी यत्र निर्मिता । ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयम्भूर् दैवतैः सह । ४. स वराहस् ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् । असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः । ५. आकाश-प्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्यम् अव्ययः । तस्माद् मरीचिः सञ्जज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः । ६. विवस्वान् कश्यपाज् जज्ञे मनुर् विवस्वतः स्मृतः । स तु प्रजापतिः पूर्वम् इत्यादि ।

"वसिष्ठ ने कहा : 'तुम मुझसे इस लोक की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनो । ३. सृष्टि के आरम्भ में सब कुछ जलमय था । उस जल के भीतर ही पृथिवी का निर्माण हुआ । तदनन्तर देवताओं के साथ स्वयंभू ब्रह्मा प्रगट हुये । ४. इसके बाद वराह[५०] रूप में प्रकट होकर उन्होंने जलके भीतर से पृथिवी को निकाला और अपने कृतात्मा पुत्रों के साथ इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की । ५. आकाश-स्वरूप परब्रह्म से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ है, जो नित्य, सनातन, एवं अविनाशी हैं । उनसे मरीचि उत्पन्न हुये और मरीचि के पुत्र कश्यप हुये : ६. कश्यप से विवस्वान् का जन्म हुआ । विवस्वान् के पुत्र साक्षात् वैवस्वत मनु हुये जो पहले प्रजापति थे", इत्यादि ।

यह देखा जा सकता है कि यहाँ ब्रह्मा ही पृथिवी को सागर से ऊपर उठाने के लिये वराह का रूप धारण करते हैं । फिर भी, गौड़शाखा में इनके स्थान पर विष्णु का उल्लेख है । मैं गौडशाखा का इसी के समानान्तर पाठ नीचे दे रहा हूँ ।

रामायण २.११९,२ और बाद · इमाम् लोक-समुत्पत्ति लोक-नाथ निबोध मे । ३. सर्वं सलिलम् एवासीत् वसुधा येन निर्मिता । ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयम्भूर् विष्णुर् अव्ययः । ४. स वराहोऽथ भूत्वेमाम् उज्जहार वसुन्धराम । असृजच्च जगत् सर्वम् सचराचरम् अव्ययम् । ५. आकाश-प्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्यम् अव्ययः । तस्माद् मरीचिः सञ्जज्ञे मरीचेः कश्यप. सुतः । ६. ततः पर्यायसर्गेण विवस्वान् असृजद् मनुम् इत्यादि ।

"हे जगदीश्वर ! तुम इस लोक की सृष्टि का वर्णन मुझसे सुनो । पहले सब जल ही था, जिसके भीतर पृथिवी का निर्माण हुआ । तदनन्तर ब्रह्मा

उत्पन्न हुये जो स्वयंभू, अव्यय विष्णु थे। तब वराह का रूप धारण करके उन्होंने पृथिवी को ऊपर उठाया और इस सम्पूर्ण, अव्यय, चराचर जगत की सृष्टि की। शाश्वत, नित्य, और अव्यय ब्रह्मा आकाश से प्रादुर्भूत हुये; उनसे मरीचि उत्पन्न हुए; मरीचि के पुत्र कश्यप हुये। तब उत्तरोत्तर सृष्टि के द्वारा विवस्वत् ने मनु की सृष्टि की," इत्यादि।

यहाँ यह देखा जायगा तीसरे श्लोक के अन्तिम चरण का प्रथम शाखा में 'ब्रह्मा स्वयम्भूर् दैवतैः सह' पाठ है, परन्तु दूसरी शाखा में इसे बदल-कर 'ब्रह्मा स्वयभूर विष्णुर् अव्यय.' कर दिया गया है, जिससे ब्रह्मा केवल विष्णु के एक रूप मात्र रह जाते हैं जब कि प्रथम में विष्णु का कोई संकेत नहीं है। इसी प्रकार प्रथम के चौथे श्लोक के 'सह पुत्रैः कृतात्मभिः' को दूसरे में बदल कर सचराचरम् अव्ययम् कर दिया गया है। इस द्वितीय परिवर्तन को प्रथम रूप ने ही आवश्यक बना दिया : क्योंकि ज्योंही ब्रह्मा को विष्णु के रूप में परिणत कर दिया गया त्योंही पुत्रों का उल्लेख निरर्थक हो गया, क्योंकि सृष्टि के विवरणों में विष्णु को पुत्रवान् नहीं कहा गया है, जब कि ब्रह्मा हैं। प्रस्तुत पाँचवे श्लोक की विष्णु पुराण १.७,१ और बाद, तथा १.७,२६ से तुलना कीजिये। फिर भी, ब्रह्मा के वशजों का वर्णन सदैव एक समान नहीं है। देखिये मनु १.३२ और बाद, और विष्णु पुराण १.७,१२ और बाद।

अब और आगे मूल उद्धरणों को प्रस्तुत करने के पूर्व मैं यहाँ दो उद्धरण यह दिखाने के लिये दूँगा कि प्रथम शाखा में ब्रह्मा के वराह रूप को बाद में किस प्रकार विष्णु के रूप में परिणत कर दिया गया। प्रथम उद्धरण भागवत पुराण १.३,७ से लिया गया है जिसमें विष्णु के बाइस अवतारों की गणना है : द्वितीय तु भवायास्य रसा तल-गताम् महीम्। उद्धरिष्यन्न् उपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः। "द्वितीय : इस जगत की सृष्टि की इच्छा से यज्ञेश ने रसातल में समा गई पृथिवी को ऊपर उठाने के लिये वराह का रूप धारण किया।"

दूसरा स्थल विष्णु पुराण १.४,१ और बाद से लिया गया है : मैत्रेय उवाच। ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा। ससर्ज्ज सर्व-भूतानि तद् आचक्ष्व महामुने[51]। पराशर उवाच। प्रजाः ससर्ज्ज

---

[51] इस प्रश्न का कि ब्रह्मा किस प्रकार सृष्टि कर सकते है, मैं विष्णु पुराण मे दिया गया उत्तर यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ. यह एक ऐसा उत्तर है कि यदि इसे एकमात्र समाधान के रूप मे ग्रहण कर लिया गया होता तो भारतीय

भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मकः। प्रजापति-पतिर् देवो यथा तन् मे निशामय। अतीत कल्पावसाने निशासुप्तोत्थितः प्रभुः। सत्त्वोद्रिक्तस् ततो ब्रह्मा शून्यं लोकम् अवैक्षत। नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषाम् अपि स प्रभु। ब्रह्मस्वरूपी भगवान् अनादिः सर्व सम्भवः। तोयान्तः स महीं ज्ञात्वा जगत्य् एकार्णवे प्रभु। अनुमानाद् तद्-उद्धारं कर्त्तुकाम प्रजापतिः। अकरोत् स तनूम् अन्याम् कल्पादिषु यथा पुरा। मत्स्य-कूर्मादिका तद्वद् वाराह वपुर् आस्रितः। वेद-यज्ञमय रूपम् अशेष-जगतः स्थितौ। स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः। जनलोक-गतैः सिद्धैः सनकाद्यैर अभिष्टुतः। प्रविवेश तद तोयम् आत्माधारो धराधर। निरीक्ष्य त तदा देवी पाताल-तलम् आगतम। तुष्टाव प्रणता भूत्वा भक्ति-नम्रा वसुन्धरा। पृथ्व्य् उवाच। नमस् ते सर्व-भूताय तुभ्यं शङ्ख-गदा धर। माम उद्धरास्माद् अद्य त्व त्वत्तोऽहम् पूर्वम उत्थिता। ... सम्भक्षयित्वा सकल जगत्य् एकार्णवीकृते। शेषे त्वम एव गोविन्द चिन्त्यमानो मनीषिभिः। भवतो यत् पर रूप तन्न जानाति कश्चन। अवतारेषु यद् रूप तद् अर्चन्ति दिवौकसः। त्वाम आराध्य पर ब्रह्म याता मुक्तिम् मुमुक्षवः। वासुदेवम् अनाराध्य को मोक्ष समवाप्स्यति। ...त्व यज्ञस् त्व वषट्कारस् त्वम् ओंकारस् त्वम् अग्नयः। एवं संस्तूयमानस्तु पृथिव्या पृथिवी धरः। सामस्वर-ध्वनिः श्रीमान् जगर्ज्ज परिघुर्घरम। ततः समुत्क्षिप्य धरा स दंष्ट्रया महावराहः स्फुट-पद्म-लोचनः। रसातलाद् उत्पल-पत्र सन्निभः समुत्थितो नील इवाचलो महान्। एवं संस्तूयमानस्तु परमात्मा महीधर। उज्जहार महीं क्षिप्रं न्यस्तवांश्च महाम्भसि। तस्योपरि जलौघस्य महती नौर् स्थिता। वित-तत्वात् तु देहस्य न मही याति सम्प्लवम्।

दार्शनिको की अनेक कल्पनायें अनावश्यक होती १.३,१ और बाद "मैत्रेय उवाच। निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मन। कथं सर्गादिकर्त्तृत्वम् ब्राह्मणोऽभ्युपद्यते। पराशर उवाच। शक्तय सर्व-भावानाम् अचिन्त्या ज्ञान-गोचरा। यतोऽतो ब्रह्मणस् तास्तु सर्गाद्या भाव-शक्तय। भवन्ति तपसा श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णुता।" "मैत्रेय ने पूछा 'जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसका सर्गादि का कर्त्ता होना कैसे माना जा सकता है।' पराशर बोले : 'समस्त भाव-पदार्थो की शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञान का विषय होती हैं, अत अग्नि की शक्ति उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि-रचनारूप शक्तियाँ स्वाभाविक हैं।"

"मैत्रेय जी बोले : कल्प के आदि में नारायणाख्य भगवान ब्रह्मा ने जिस प्रकार समस्त भूतों की रचना की उसका आप वर्णन कीजिये। पराशर बोले : प्रजापतियों के स्वामी नारायण-स्वरूप भगवान् ब्रह्मा ने जिस प्रकार प्रजा की सृष्टि की थी वह मुझसे सुनो। पिछले कल्प का अन्त होने पर रात्रि में सोकर उठने पर सत्वगुण के उद्रेक से युक्त भगवान् ब्रह्मा ने सम्पूर्ण लोकों को शून्यमय देखा। वे भगवान् नारायण पर हैं, अचिन्त्य हैं, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, ब्रह्मस्वरूप है, अनादि हैं, और सब की उत्पत्ति के स्थान हैं। उन ब्रह्म-स्वरूप नारायण देव के विषय में, जो इस जगत् की उत्पत्ति और लय के स्थान हैं, यह श्लोक कहते है : 'नर से उत्पन्न होने के कारण जल को 'नार' कहते हैं, वह नार ही उनका प्रथम अयन है। इसलिये भगवान् को नारायण कहा है।' सम्पूर्ण जगत् जलमय हो रहा था। इसलिये प्रजापति ब्रह्मा ने अनुमान से पृथिवी को जल के भीतर जान उसे बाहर निकालने की इच्छा से एक दूसरा शरीर धारण किया। उन्होंने पूर्व-कल्पों के आदि में जैसे मत्स्य, कूर्म आदि रूप धारण किये थे वैसे ही इस वराह कल्प के आरम्भ में देवयज्ञमय वाराह शरीर ग्रहण किया और सम्पूर्ण जगत् की स्थिति में तत्पर हो सबके अन्तरात्मा और अविचल रूप वे परमात्मा प्रजापति ब्रह्मा, जो पृथिवी को धारण करनेवाले और अपने आश्रय से स्थित हैं, जल-लोक-स्थित सनकादि सिद्धेश्वरों से स्तुति किये जाते हुये जल में प्रविष्ट हुये। तब उन्हें पाताल लोक में आया देखकर देवी वसुन्धरा अति भक्तिविनम्र हो उनकी स्तुति करने लगीं। पृथिवी बोलीं : 'हे शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करनेवाले कमलनयन भगवन्! आपको नमस्कार। आज आप इस पाताल से मेरा उद्धार कीजिये। पूर्वकाल में आप ही से मैं उत्पन्न हुई थी। और जगत् के एकार्णव-रूप हो जाने पर, हे गोविन्द! सबको भक्षण कर अन्त में आप ही मनीषिजनों द्वारा चिन्तित होते हुये जल में शयन करते हैं। हे प्रभो! आपका जो परतत्व है उसे तो कोई भी नहीं जानता; अतः आपका जो रूप अवतारों में प्रगट होता है उसी की देवगण पूजा करते हैं। आप परब्रह्म की ही आराधना करके मुमुक्षजन मुक्त होते हैं। भला वासुदेव की आराधना किये बिना कौन मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हे प्रभो! आप ही यज्ञ हैं, आप ही वषट्कार है, आप ही ओंकार हैं, और आप ही अग्नियाँ हैं।' पृथिवी द्वारा इस प्रकार स्तुति किये जाने पर सामस्वर ही जिनकी ध्वनि है, उन भगवान् धरणीधर ने घर्घर शब्द से गर्जना की। फिर विकसित कमल के समान नेत्रोंवाले उन महावराह ने अपनी डाढ़ों से पृथिवी को उठा लिया और वे कमलदल के समान श्याम तथा नीलाचल के सदृश विशालकाय भगवान् रसातल से बाहर निकले।' 'इस प्रकार स्तुति

किये जाने पर पृथिवी को धारण करनेवाले परमात्मा वराह ने उसे शीघ्र ही उठाकर अपार जलके ऊपर स्थापित कर दिया। उस जलसमूह के ऊपर वह एक बहुत बड़ी नौका के समान स्थित है और बहुत विस्तृत आकार होने के कारण डूबती नहीं।"[५२]

लिङ्गपुराण, जो शैवसम्प्रदाय के अन्तर्गत आता है और इस कारण विष्णु की प्रशस्ति में रुचि नहीं रखता, वराह का रूप धारण करनेवाले देवता, ब्रह्मा, का इस प्रकार वर्णन करता है : खण्ड १.४,५९ और बाद : रात्रौ चैकार्णवे ब्रह्मा नष्टे स्थावर जङ्गमे। सुप्वापाम्भसि यस तस्माद् नारायण इति स्मृत.। शर्वर्य्-अन्ते प्रबुद्धो वै दृष्ट्वा शून्य चराचरम्। स्रष्टु तदा मति चक्रे ब्रह्मा ब्रह्म विद वरः। उदकैर् आप्लुताम् क्ष्मा ता समादाय सनातनः। पूर्व-वत् स्थापयामास वाराह रूपम् आस्थित। "रात्रि के समय जब समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् एकार्णव (जल) में नष्ट हो गया तब

---

[५१] एक अन्य उदाहरण, जिसमे आरम्भिक लेखको द्वारा ब्रह्मा के सृष्टिकार्य को विष्णु पर स्थानान्तरित कर दिया गया है, महाभारत के वनपर्व के प्रलय के वृत्तान्त मे मिलता है ३ १२७९७ और बाद "अथाब्रवीद अनिमिपस् तान् ऋपीन् स हितस् तदा। अहम् प्रजापतिर् ब्रह्मा यत्–पर नाधिगम्यते। मत्स्य-रूपेण यूयञ्च मयाऽस्माद् मोक्षिता भयात्।" "तब उस देव ने कृपापूर्वक उन ऋपियो से कहा "मैं ब्रह्मा प्रजापति हूँ, जिसके परे कुछ भी बोधगम्य नही है मेरे ही मस्त्य रूप ने तुम सब को प्रलयजल मे मुक्त कराया है।" तुलना कीजिये भागवतपुराण ८ २४,४ की इस कथा से "इत्य् उक्तो विष्णुरातेन भगवान् बादरार्यण। उवाच चरित विष्णोर् मत्स्य-रूपेण यत् कृतम्। शुक उवाच। ७ आसीद् अतीत–कल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लय। समुद्रोपप्लुतास् तत्र लोका भूरादयो नृप। ८ कालेनागत–निद्रस्य धातु शिशयिपोर् बली। मुखतो नि सृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत्। ९ ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्। दधार सफरीरूपम् भगवान् हरिर् ईश्वर, इत्यादि।" "विष्णुरात के इस प्रकार कहने पर बादरायण ने मत्स्य के रूप मे विष्णु के अकेले ही किये गये कार्यों का वर्णन किया। शुक ने कहा' '७ अतीत कल्प के अन्त मे ब्राह्म-प्रलय हुआ जिसमे पृथिवी तथा अन्य लोक सागर मे लीन हो जाते हैं। शक्तिशाली हयग्रीव ने निकट आकर उन ब्रह्मा के मुख से प्रगट हुये वेदो को छीन लिया जिन्हे प्रलयकाल के आ जानेसे नीद आ रही थी और वे सोना चाहते थे। सर्वशक्तिमान् भगवान् हरि ने दानवराज हयग्रीव की इस चेष्टा को जान लिया। अत उन्होने मत्स्यावतार ग्रहण किया।' इत्यादि।"

ब्रह्मा उस जल पर सो रहे थे, अतः उन्हें नारायण कहते हैं। रात्रि के समाप्त होने पर सोकर उठने के बाद समस्त सृष्टि को चराचर प्राणियों से शून्य देखकर ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने सृष्टि का निश्चय किया। वाराह का रूप धारण कर इस सनातन देवता ने जलों से आप्लावित पृथिवी को उठाकर पूर्वसमय की ही भाँति जलों पर स्थापित कर दिया।"

अब हम पुनः ब्रह्माण्ड पर आते हैं। विष्णुपुराण १.२,४५ और बाद, में हमें इसकी उत्पत्ति का यह विवरण मिलता है जिसमें पहले की पुराकथात्मक धारणा की सरलता, सांख्य दर्शन से गृहीत तत्त्वमीमांसात्मक विचारों के कारण नष्ट हो गई है। वास्तव में, यद्यपि इसे एक विस्तृत शब्दाडम्बरात्मक वर्णन का विषय बनाया गया है, तथापि यह अण्ड उसी सृष्टिमीमांसात्मक परम्परा का एक तत्त्व है, जिसका पुराणकारों की अपेक्षा कम कल्पनाशील तथा कम कुशल, किसी भी अन्य लेखक के लिये इस प्रकार विवेचन करना असुविधाजनक होता कि इसका दार्शनिक कल्पना के साथ सामञ्जस्य हो जाय :
आकाश-वायु तेजांसि सलिलम् पृथिवी तथा। शब्दादिभिर् गुणैर् ब्रह्मन् संयुक्तान्य् उत्तरोत्तरैः। शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास् तेन ते स्मृताः। नाना वीर्याः पृथग्-भूतास् ततस् ते संहतिं विना। नाशक्नुवम् प्रजाः स्रष्टुम् असमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यान्योन्य-सयोगम् परस्पर-समाश्रयाः। एक-सघात-लक्ष्याश्च सम्प्राप्यैकम् अशेषतः। पुरुषाधिष्ठित त्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च। महदाद्यो विशेषान्ता अण्डम् उत्पादयन्ति ते। तत् क्रमेण विवृद्धं तु जल-बुद्बुद-वत् समम्। भूतेभ्योऽण्डम् महाबुद्धे वृहत् तद् उदके शयम्। प्राकृतम् ब्रह्म रूपस्य विष्णोः सस्थानम् उत्तमम्। तत्राव्यक्त-स्वरूपोऽसौ व्यक्त-रूपी जगत्-पतिः। विष्णुर् ब्रह्म-स्वरूपेण स्वयम् एव व्यवस्थितः। मेरुतुल्यम् अभूत् तस्य जरायुश्च महीधराः। गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् सुमहात्मनः। साद्रि-द्वीप-समुद्रश्च सज्योतिर् लोक-संग्रहः। तस्मिन्न् अण्डेऽभवद् विप्र स देवासुर-मानुषः। वारिवह्न्य-अनिलाकाशैस् ततो भूतादिना बहिः। वृत दशगुणैर् अण्डम् भूतादिर् महता तथा। अव्यक्तेनावृतो ब्रह्मस् तैः सर्वैर् सहितो महान्। एभिर् आवरणैर् अण्डं सप्तभिः प्राकृतैर् वृतम्। नारिकेल-फलस्यान्तर् बीज बाह्यदलैर् इव। जुषन् रजो-गुण तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः। ब्रह्मा भूत्वाऽस्य विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते।

विष्णुपु० १.२,४९ और बाद : "आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथिवी उत्तरोत्तर शब्द आदि गुणों से युक्त हैं। ये पाँचों भूत शान्त, घोर और

मूढ"[७३] हैं, अतः ये विशेष कहलाते हैं। इन भूतों में पृथक्-पृथक् नाना शक्तियाँ हैं। अतः ये परस्पर पूर्णतया मिले बिना संसार की रचना नहीं कर सके। इसलिये एक दूसरे आश्रय से रहनेवाले और एक ही संघात की उत्पत्ति के लक्ष्यवाले महत्तत्व से लेकर विशेष-पर्यन्त प्रकृति के इन सभी विकारों ने पुरुष से अधिष्ठित होने के कारण परस्पर मिलकर और सर्वथा एक होकर प्रधान तत्व के अनुग्रह से अण्ड की उत्पत्ति की। हे महाबुद्धे ! जल के बुद्बुद के समान क्रमशः भूतों से बढ़ा हुआ वह गोलाकार और जल पर स्थित महान् अण्ड ब्रह्म-रूप विष्णु का अति उत्तम प्राकृत आधार हुआ। उसमें वे अव्यक्त स्वरूप जगत्पति विष्णु व्यक्त हिरण्यगर्भ से स्वयं ही विराजमान हुये। उन महात्मा हिरण्यगर्भ का सुमेरु उल्व, अन्य पर्वत जरायु, तथा समुद्र गर्भाशयस्थ रस था। हे विप्र ! उस अण्ड में ही पर्वत और द्वीपादि सहित समुद्र, ग्रहगणों सहित सम्पूर्ण लोक, तथा देव, असुर, और मनुष्य आदि विविध प्राणिवर्ग प्रगट हुये। वह अण्ड पूर्व-पूर्व की अपेक्षा दस दस गुने अधिक जल, अग्नि, वायु, आकाश, तथा भूतादि से आवृत्त तथा भूतादि महत्तत्व से घिरा हुआ था। और इन सबके सहित वह महत्तत्व भी अव्यक्त प्रधान से आवृत था। इस प्रकार जैसे नारियल के फल का भीतरी बीज बाहर से कितने ही छिलकों से ढँका रहता है, वैसे ही वह अण्ड इन सात प्राकृत आवरणों से घिरा था। उसमें स्थित हुये स्वयं विश्वेश्वर भगवान् विष्णु ब्रह्मा के रूप से रजोगुण का आश्रय लेकर इस संसार की रचना में प्रवृत्त होते हैं।"

विष्णु पुराण इस अण्ड को न तो सृष्टि-कार्य से सम्बद्ध करता है, और न यही बताता है कि यह किस प्रकार दो भागों में बँटा, इत्यादि।

लिङ्गपुराण, १.३,२८ और बाद, भी अण्ड का इसी समान वर्णन करता है: महदादि-विशेषान्ता ह्य् अण्डम् उत्पादयन्ति च। जल-बुद्बुद-वत् तस्मात् अवतीर्ण पितामहः। स एव भगवान् रुद्रो विष्णुर् विश्वगतः प्रभुः। तस्मिन्न् अण्डे त्व् इमे लोका अन्तर् विश्वम् इद जगत्। अण्ड दश-गुणेनैव नभसा बाह्यतो वृतम्। आकाशश् चावृतस् तद्वद् अहङ्कारेण शब्दजः। महता शब्द-हेतुर् वै प्रधानेनावृतः स्वयम्। सप्ताण्डावरणान्य् आहुस् तस्यात्मा कमलासनः। कोटि-कोट्य् -अयुतान्य् अत्र चाण्डानि कथितानि तु। तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः। सृष्टा॰ प्रधानेन तदा लब्ध्वा शम्भोस्तु सन्निधिम , इत्यादि।

---

[७३] देखिये विलसन की साख्यकारिका, पृ० ११९ और बाद, और इन्ही का विष्णुपुराण, पृ० १७।

"महदादि से विशेषपर्यन्त ये समस्त तत्त्व अण्ड का एक जल-बुद्बुद के समान उत्पादन करते हैं जिससे पितामह अवतीर्ण हुये। ये भगवान् रुद्र और सर्वत्र व्याप्त विष्णु है। उस अण्ड में ये लोक, यह सम्पूर्ण विश्व स्थित था। वह अण्ड बाहर से दस-गुण आकाश से आवृत था; इसी प्रकार यह आकाश ध्वनि से उत्पन्न हुआ, और अहंकार से आवृत था। यह अहंकार महत् से तथा स्वयं महत् प्रधान से आवृत था। मनुष्य इन्हीं को अण्ड के सात आवरण कहते हैं। इसका आत्मा कमलासन ब्रह्मा है। यहाँ कोटि-कोटि अण्डों का उल्लेख है—जिनमें चतुर्मुख ब्रह्मा, हरियों, और भवों की उस प्रधान ने सृष्टि की जिसने शम्भु का नैकट्य प्राप्त कर लिया था।"

भागवत पुराण में इसी विषय पर यह स्थल मिलता है जिसमें इस बात का उत्तर दिया गया है कि प्रजापति ने किस प्रकार सृष्टि की।

भागवत पुराण ३.२२,१२ और बाद: मैत्रेय उवाच। दैवेन दुर्वित-र्क्येण परेणानिमिषेण च। जातक्षोभाद् भगवतो महान् असीद् गुण-त्रयात्। १३. रज.-प्रधानाद् महतस् त्रिलिङ्गो दैव-चोदितात्। जातः ससर्ज्ज भूतादिर् वियदादीनि पञ्चशः। १४. तानि चैकैकशः स्रष्टुम् असमर्थानि भौतिकम्। संहत्य दैव-योगेन हैमम् अण्डम् अवासृजन्। १५. सोऽशयिष्टाब्धि-सलिले अण्ड-कोषो निरात्मकः। साग्रं वै वर्षसाहस्रम् अन्ववात्सीत् तम् ईश्वरः। १६. तस्य नाभेर् अभूत् पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति। सर्व-जीव-निकायौको यत्र स्वयम् अभूत् स्वराट्। १७ सोऽनुविष्टो भगवतायः शेते सलिलशये। लोकसस्था यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया।

"मैत्रेय ने कहा: जिसकी गति को जानना अत्यन्त कठिन है उस जीवों के प्रारब्ध, प्रकृति के नियन्ता पुरुष, और काल—इन तीन हेतुओं से तथा भगवान् की सन्निधि से त्रिगुणमय-प्रकृति में क्षोभ होने पर उससे महत्तत्व उत्पन्न हुआ। २३. दैव की प्रेरणा से रजःप्रधान महत्तत्व से वैकारिक, राजस और तामस—तीन प्रकार का अहङ्कार उत्पन्न हुआ। उसने पाँच-पाँच तत्वों के अनेक वर्ग प्रगट किये। १४. वे सब पृथक्-पृथक् रहकर भूतों के कार्यरूप ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने भगवान् की शक्ति से संगठित होकर एक सुवर्णमय अण्ड की रचना की। १५. वह अण्ड चेतनाशून्य अवस्था में एक सहस्त्र वर्षों से भी अधिक समय तक कारणाब्धि के जल में पड़ा रहा। फिर उसमें भगवान् ने प्रवेश किया। १६. उसमें अधिष्ठित होने पर उनकी नाभि से सहस्र सूर्यों के समान अत्यन्त देदीप्यमान एक कमल प्रगट

हुआ जो सम्पूर्ण जीव-समुदाय का आश्रय था। उसी से स्वयं ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ। जब ब्रह्माण्ड के गर्भरूप जल में शयन करनेवाले नारायण देव ने ब्रह्मा के अन्तःकरण में प्रवेश किया तब वे पूर्वकल्पों में अपने ही द्वारा निश्चित की हुई नाम रूपमयी व्यवस्था के अनुसार लोकों की रचना करने लगे।"

इसी ग्रन्थ के एक बाद के अध्याय में भी इन्हीं विचारों को दोहराया गया है .

भागवत पु० ३.२६.५० और बाद : एतान्य् असहत्य यदा महद्-आदीनि सप्त वै। काल-कर्म-गुणोपेतो जगदादिर् उपाविशत्। ५१. ततस् तेनानुविद्धेभ्यो [क्षुभितेभ्यः, भाष्यकार] युक्तेभ्योऽण्डम् अचेतनम्। उत्थितम् पुरुषो यस्माद् उदतिष्ठद् असौ विराट्। ५२. एतद् अण्डम् विशेषाख्यम् कर्म वृद्धैर् दशोत्तरैः। तोयादिभिः परिवृतम् प्रधानेनावृतैर् बहिः। यत्र लोक-वितानोऽयं रूपम् भगवतो हरेः। ५३ हिरण्मयाद् अण्ड-कोषाद् उत्थाय सलिले शयात्। तम् आविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्। ५४. निरभिद्यतास्य प्रथमम् मुखं वाणी ततोऽभवद् इत्यादि।

"जब महत्तत्व, अहङ्कार आदि सात तत्त्व पृथक् पृथक् रह गये तब जगत् के आदिकारण, नारायण ने काल, अदृष्ट, और सत्त्वादि गुणों के सहित उनमें प्रवेश किया। ५१. फिर परमात्मा के प्रवेश से क्षुब्ध और आपस में मिले हुये उन तत्त्वों से एक जड़ अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्ड से इस विराट् पुरुष की अभिव्यक्ति हुई। ५२. इस अण्ड का नाम विशेष है, यह चारों ओर से क्रमशः एक दूसरे से दस गुने जल, अग्नि, आदि तत्त्वों के आवरणों से घिरा है। इन सब के बाहर सातवां आवरण प्रधान है। इसी अण्ड के अन्तर्गत हरि के स्वरूपभूत चौदहों भुवनों का विस्तार है। ५३. कारणमय जलों में स्थित उस तेजोमय अण्ड से उठकर उस विराट् पुरुष ने पुनः उसमें प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकार के छिद्र किये। ५४. सबसे पहले उसमें मुख प्रकट हुआ और उससे वाक्-इन्द्रिय," इत्यादि।

इसी पुराण के एक और स्थल पर इसी प्रक्रिया का वर्णन है, किन्तु इसका एकाध श्लोक से अधिक उद्धरण देना आवश्यक है :

भागवत पुराण २.५,३४ : वर्ष पूग-सहस्रान्ते तद् अण्डम् उदकेशयम्। काल-कर्म-स्वभावस्थो जीवोऽजीवम् अजीवयत्। ३५. स एव पुरुषस् तस्माद् अण्डं निरभिद्य निर्गतः। सहस्रोर्व्-अङ्घ्रि-बाह्व्-अक्षः सहस्रानन-शीर्षवान्।

"वह ब्रह्माण्ड-रूप अण्ड एक वर्ष पर्यन्त निर्जीव रूप से जल में पड़ा रहा,

फिर काल, कर्म, और स्वभाव को स्वीकार करनेवाले भगवान् ने उसे जीवित कर दिया। ३५. उस अण्ड को फोड़कर उसमें से वही विराट् पुरुष निकला, जिसकी जंघा, चरण, भुजायें, नेत्र, मुख और सर सहस्रों की संख्या में थे।"

इस ग्रन्थ में इसी विषय की एक और स्थल पर चर्चा की गई है।

भाग० पु० २.१०,१० और बाद: पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः। आत्मनोऽयनम् अन्विच्छन्न् अपोऽस्राक्षीच् छुचिः शुचीः। तास्व् अवात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्र-परिवत्सरान्। तेन नारायणो नाम यद् आपः पुरुषोद्भवाः।

"जब पूर्वोक्त विराट् पुरुष ब्रह्माण्ड को फोड कर निकला, तब वह अपने रहने का स्थान ढूँढ़ने लगा, और स्थान की इच्छा से उस शुद्ध-संकल्प पुरुष ने अत्यन्त पवित्र जल की सृष्टि की। ११. विराट् पुरुष-रूप 'नर' से उत्पन्न होने के कारण ही जल का नाम 'नार' पडा। उस अपने उत्पन्न किये हुये 'नार' में वह पुरुष एक सहस्र वर्ष तक रहा। इसी से उसका नाम नारायण हुआ।"

ब्रह्मा के अपनी पुत्री से ही संभोग करने की कथा का, जिसका कभी कभी पुराणों में उल्लेख है, शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार वर्णन है: १.७,४,१ और बाद: प्रजापतिर् ह वै स्वां दुहितरम् अभिदध्यौ दिव वा उषसं वा 'मिथुन्य् एनयास्याम्' इति त सम्बभूव। २. तद् वै देवानाम् आग आस 'य इत्थ स्वाम् दुहितरम् अस्माक स्वसारं करोति' इति। ३. ते ह देवा ऊचुर् 'योऽयं देवः पशूनाम् ईष्टेऽतिसन्धं वा अय चरति य इत्थं स्वां दुहितरम् अस्माकं स्वसारं करोति विध्येमम्' इति। त रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द तथा इद् नून तद आस। ४. तस्माद् एतद् ऋषिणाऽभ्यनूक्तम् 'पिता यत् स्वाम् दुहितरम् अधिष्कन् क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो निषिञ्चद्' इति तद् आग्नि-मारुतम् इत्य् उक्थ तस्मिस् तद् व्याख्यायते यथा तद् देवा रेतः प्राजनयन्। तेषां यदा देवानां क्रोधो व्यैद् अथ प्रजापतिम् अभिषज्यंस् तस्य त शल्यं निरकृन्तन्। स वै यज्ञ एव प्रजापतिः।

"प्रजापति ने अपनी पुत्री, आकाश अथवा उषस् पर दृष्टिपात किया। 'मैं इसके साथ मैथुन करूँ।' इस प्रकार उसने उसके साथ मैथुन किया। २. देवों की दृष्टि में यह एक पाप था, जिन्होंने कहा: 'हमारी बहन तथा अपनी पुत्री के साथ जो ऐसा करता है वह पापी है।' देवों ने कहा: 'पशुओं पर शासन करनेवाले इस देवता ने, जिसने स्वयं अपनी पुत्री और हमारी बहन के साथ ऐसा किया है, नियम का उल्लङ्घन किया है: इसे बींध दो।'

रुद्र ने उस पर आक्रमण करके बींध दिया। उसका आधा वीर्य भूमिपर गिर पड़ा। ऐसा हुआ। ३. इसीलिये ऋषियों ने ऐसा कहा है ' (ऋग्वेद १०. ६१,७) 'जब वह पिता अपनी पुत्री के निकट आते हुये पृथिवी से संयुक्त हुआ, तब उसका रेत स्कन्दित हुआ' इत्यादि। यह अग्नि और मरुद्गणों को सम्बोधित सूक्त है, और यहाँ इस बात का वर्णन है कि देवों ने इस रेत का किस प्रकार प्रजनन किया। जब देवों का क्रोध शान्त हो गया तब उन लोगों ने प्रजापति का उपचार किया तथा उससे शल्य को निकाल लिया। वह प्रजापति ही यज्ञ हैं।"

उपरोक्त आख्यान में ऋग्वेद के जिस स्थल का सन्दर्भ है, वह इस प्रकार है। यह स्थल इतना कठिन और अस्पष्ट है कि सायण के भाष्य के आधार पर भी इसका अनुवाद कठिन है। ५–७ मन्त्रों का उद्देश्य यह दिखाना है कि 'किस प्रकार रुद्र प्रजापति ने अपने अंश से रुद्र वास्तोष्पति का सृष्टि की' (यथा स्वशेन भगवान् रुद्रः प्रजापतिर् वास्तोष्पति रुद्रम असृजत् तद् एतद्-आदिभिर् तिसृभिर् वदति)।

ऋग्वेद १०.६१,४ ' कृष्णा यद् गोषु अरुणीषु सीदद् दिवो नपात अश्विना हुवे वाम। वीतम् मे यज्ञम् आगतम् मे अन्न ववन्वांसा न इषम् अस्मृत ध्रू। ५. प्रथिष्ट यस्य वीरकर्मम् इष्णद् अनुष्ठित नु नर्यो अपौहत्। पुनस् यद् आवृहति यत कनाया दुहितुर् आ अनुभृतम् अनर्वा। ६ मध्या यत् कर्त्वम् अभवद् अभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्। मनानग् रेतो जहतुर् वियन्ता सानौ निषिक्त सुकृतस्य योनौ। ७. पिता यत् स्वा दुहितरम् अधिष्कन् क्ष्मया रेत सञ्जग्मानो निषिञ्चत्। स्वाध्यो अजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्।

"४ जिस समय रात्रि का अन्धकार नष्ट होता है और प्रातःकाल की लाल आभा दिखाई पड़ने लगती है, उस समय, हे द्युलोक पुत्र अश्विद्वय! मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ। तुम हमारे यज्ञ में पधारो, हमारा अन्न लो। दो ग्राहक अश्वों के समान उसे ग्रहण करो जिससे हमारा अहित न हो।"[५४] ५. जो प्रजापति का वीर्य पुत्रोत्पादन में समर्थ है वह बढ़ कर निकला। प्रजापति ने मनुष्यों के हित के लिये रेत का त्याग किया, अपनी युवती कन्या के शरीर में उसने उस शुक्र का सेंक दिया। ६. जिस समय पिता अपनी पुत्री पर पूर्वोक्त रूप से रतिकामी हुये और दोनों का संगमन हुआ उस समय दोनों के अल्प

---

[५४] सायण ने 'अस्मृत-ध्रू' की 'अस्मृत-द्रोहीमयि द्रोहम् अस्मरन्तौ' के रूप में व्याख्या की है।

शुक्र का सेंक हुआ। सुकर्म के आधारस्वरूप एक उन्नत स्थान में उस शुक्र का सेक हुआ। ७. जिस समय पिता ने अपनी युवती पुत्री के साथ संभोग किया उस समय पृथिवी के साथ मिलकर उसने शुक्र का सेंक किया। सुकृति देवों ने इस व्रतरक्षक वास्तोष्पति का निर्माण किया।"

इसी कथा को बाद के साहित्य में, जैसे भागवत पुराण ३.१२,२८ और बाद, में दोहराया गया है। अन्तर केवल यह है कि यहाँ वाग्देवी को ब्रह्मा की पुत्री कहा गया है : वाच दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर् हरतीम् मनः। अकामा चकमे क्षत्त. सकाम इति नः श्रुतम्। २९. तम् अधर्मे कृत-मतिम् विलोक्य पितरं सुताः। मरीचि-मुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबो-धयन। ३०. नैतत् पूर्वैः कृत त्वद् ये न करिष्यन्ति चापरे। यस् त्वं दुहितर गच्छेर् अनिगृह्याङ्गजम् प्रभु'। ३१. तेजीयसाम् अपि ह्य् एतद् न सुश्लोक्य जगद्गुरो। यद् वृत्तम् अनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते। ३२. तस्मै नमो भगवते य इद् स्वेन रोचिषा। आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मम् पातुम अर्हति। ३३. स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्। प्रजापति पतिस् तन्व तत्याज व्रीडितस् तदा। ता दिशो जगृहुर् घोरां नीहार यद् विदुस् तमः।

"हे क्षत्रिय! ब्रह्मा की कन्या सरस्वती अत्यन्त ही सुकुमारी और मनोहर थी। हमने सुना है कि एक बार उसे देखकर ब्रह्मा काममोहित हो गये थे, यद्यपि वह स्वयं वासनाहीन थी। २८. उन्हें ऐसा अधर्ममय संकल्प करते देखकर उनके पुत्र, मरीचि आदि ऋषियों ने, उन्हें विश्वासपूर्वक समझाया : ३०. 'पिता जी! आप समर्थ हैं, फिर भी अपने मन में उत्पन्न हुये काम के वेग को न रोककर पुत्रीगमन जैसा दुस्तर पाप करने का संकल्प कर रहे हैं। ऐसा तो आप से पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्मा ने नहीं किया और न आगे ही कोई करेगा। ३१. जगद्गुरो! आप जैसे तेजस्वी पुरुषों को भी ऐसा काम शोभा नहीं देता, क्योंकि आप लोगों के आचरणों का अनुसरण करने से तो संसार का कल्याण होता है। ३२. जिन भगवान् ने अपने स्वरूप में स्थित इस जगत् को अपने ही तेज से प्रगट किया है उन्हें नमस्कार है : इस समय वे ही धर्म की रचा कर सकते हैं।' ३३. अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियों को अपने सामने इस प्रकार कहते देखकर प्रजापतियों के पति, ब्रह्मा, अत्यन्त लज्जित हुये और उन्होंने उस शरीर को उसी समय छोड़ दिया। तब उस घोर शरीर को दिशाओं ने ले लिया। वही कुहरा हुआ जिसे अन्धकार भी कहते है।"

ब्रह्मा तथा उनकी पुत्री का आख्यान, यद्यपि जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के

उक्त स्थल से प्रतीत होता है, एक आरम्भिक काल से भारतीय लेखकों की चर्चा का विषय रहा है, तथापि इसे उसी दृष्टि से नहीं देखना चाहिये जिससे कुछ अन्य देवताओं के कामुक कृत्यों को देखा जा सकता है। एक स्त्री की उत्पत्ति तथा जिसने उसका निर्माण किया उसी के साथ उसके सयोग को मनु १.३२, में सृष्टिक्रम का एक आवश्यक स्तर कहा गया है (और जिनेसिस की पुस्तक में भी इसके समानान्तर धारणा मिलती है) द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देह अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी तस्या स विराजम् असृजत् प्रभुः। "स्वय अपने शरीर को दो भागों में बाँट कर ब्रह्मा एक आधे से पुरुष तथा दूसरे आधे से स्त्री बने, और उसी में उन्होंने विराज् को उत्पन्न ('भाष्य-कार के अनुसार 'मैथुन धर्म से)[५५] किया।" तुलना कीजिये प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग में उद्धृत विष्णु पुराण १ ७,१२ और बाद।[५६] हिन्दू कृतियों अथवा इनके द्वारा वर्णित देवों को प्रस्तुत आख्यान के समान आधारों पर अनैतिक कहने के विषय पर, अथवा ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त के यम और यमी के वार्तालाप के विषय पर प्रो० रॉथ (जजओसो० भाग ३, पृ० ३३२-३३७) की कुछ उपयोगी टिप्पणियाँ देखिये।

फिर भी, इतिहास तथा पुराणों में मिलनेवाली एक अन्य वर्ग की कथाओं के साथ स्थिति भिन्न है, जिनमें अश्विनों, इन्द्र, वरुण, और कृष्ण के विभिन्न कृत्यों का उल्लेख है। देखिये शतपथ ब्राह्मण (वेबर सस्करण) पृ० १५०, महाभारत ३ १०३१६ और बाद, इण्डिशे स्टूडियन १.१९८, रामायण १ ४८,१६ और बाद, और प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग में महाभारत से उद्धृत एक कथा। इन सभी में प्रत्यक्षत. देवों की कामुक प्रकृति का उल्लेख है।[५७] श्रीकृष्ण की दशा मे भागवत पुराण निम्नलिखित तर्कों के आधार पर कुछ शुद्धप्रकृति

---

[५५] 'मैथुन-धर्मेण विराट-सज्ञानम् निर्मितवान्।'

[५६] "मत्स्यपुराण मे ब्रह्मा के शतरूपा के साथ सभोग का एक प्रतीकात्मक आख्यान मिलता है, क्योकि यहाँ प्रथम को वेद तथा द्वितीय को सावित्री स्तोत्र कहा गया है, अत दोनो के सयोग मे कोई दोष नही है "वेद-राशि स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तद्-अधिष्ठिता। तस्मान्न कश्चिद् दोष स्यात सावित्री-गमने विभो।"

[५७] फिर भी, कुमारिल भट्ट न केवल ब्रह्मा तथा उनकी पुत्री के कामाचार की ही प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं वरन् इन्द्र के अहल्या के साथ बलात्कार को भी ऐसा ही मानते हैं। देखिये मूलर द्वारा ऐमलि० मे इनके एक स्थल का उद्धरण, पृ० ५२९ और बाद।

आलोचकों की शंकाओं का समाधान करते हुये उनकी नैतिकता की और उन शिथिल कर्मों की एक रहस्यवादी व्याख्या करता है जो आक्षेप के विषय रहे हैं।

भागवत पुराण १०.३३, २७ और बाद : राजा उवाच। संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च। अवतीर्णो हि भगवान् अंशेन जगदीश्वरः। २८. स कथ धर्म-सेतूना वक्ता कर्त्ताऽभिरक्षिता। प्रतीपम् आचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्। २९. आप्तकामो यदु-पति. कृतवान् वै जुगुप्सितम्। किमभिप्राय एत न. सशय छिन्धि सुव्रत। श्रीशुक उवाच। ३० धर्म-व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्। तेजीयसा न दोषाय वह्नेः सर्व-भुजो यथा। ३१. नैतत् समाचरेज् जातु मनसाऽपि ह्य् अनीश्वरः। विनश्यत्य् आचरन् मौढ्याद् यथाऽरुद्रोऽब्धिज विषम्। ३२ ईश्वराणां वच सत्यं तथैवाचरित क्वचित्। तेषा यत् स्व वचो युक्तम् बुद्धिमास् तत् समाचरेत्। ३३. कुशलाचरितेनैषाम इह स्वार्थो न विद्यते। विपर्य्ययेन वाऽनर्थो निरहङ्कारिणाम् प्रभो। ३४. किमुताखिल-सत्त्वाना तिर्यङ्मर्त्य-दिवौकसाम्। इशितुश् चेशितव्याना कुशलाकुशलान्वयः। ३५. यत् पाद-पकज-पराग-निषेव तृप्ता योग-प्रभाव-विधुताखिल-कर्म-बन्धाः। स्वैरं चरन्ति मुनयाऽपि न नह्यमानास् तस्येच्छयाऽत्तवपुषः कुत एव बन्ध.। ३६. गोपीना तत्-पतीनाञ्च सर्वेषाम् एव देहिनाम्। योऽन्तश् चरतिसोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देह-भाक्। ३७. अनुग्रहात भूता-नाम् मानुष देहम् आश्रितः। भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्-परो भवेत्। ३८. नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास् तस्य मायया। मन्य-मानाः स्व-पर्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः। ३९. ब्रह्म-रात्रे उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः। अकिच्छन्त्यो ययुर् गोप्यः स्व-गृहान् भगवत्-प्रिया.।[५८]

राजा ने पूछा : 'भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत के एकमात्र स्वामी है। उन्होंने अपने अश के सहित पूर्ण रूप से अवतार ग्रहण किया था। उनके अवतार का उद्देश्य ही धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश था। २७. ब्रह्मन् , वे धर्म-मर्यादा के बनानेवाले, उपदेशक, और रक्षक थे। फिर उन्होंने स्वयं धर्म के विपरीत पर-स्त्रियों का स्पर्श कैसे किया? २९. मैं मानता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे,

---

[५८] मैंने इस स्थल के एक अंश को अपने 'मत-परीक्षा' नामक ग्रन्थ मे भी उद्धृत किया है जो कलकत्ता से १८५२ मे प्रकाशित हुआ था।

फिर भी, उन्होंने किस अभिप्राय से यह निन्दनीय कर्म किया? हे सुव्रती मुनीश्वर, आप कृपा करके मेरा यह संशय दूर करिये।' श्रीशुकदेव कहते हैं. सूर्य, अग्नि, आदि ईश्वर कभी-कभी धर्म का उल्लङ्घन और साहस का कार्य करते देखे जाते हैं। परन्तु उन कार्यों से उन तेजस्वी पुरुषों का कोई दोष नहीं होता। देखो अग्नि सब कुछ खा जाता है किन्तु पदार्थों के दोष से लिप्त नहीं होता। जिन लोगों में ऐसा सामर्थ्य नहीं है उन्हें मन से भी कभी ऐसी बात का विचार नहीं करना चाहिये। यदि मूर्खतावश कोई ऐसा कार्य कर बैठे तो उसका नाश हो जाता है। भगवान रुद्र ने हलाहल विष का पान कर लिया था किन्तु यदि दूसरा पान करे तो भस्म हो जायगा।"[१] ३२. इसलिये इस प्रकार जो शङ्करादि ईश्वर हैं, अपने अधिकार के अनुसार उनके वचन को ही सत्य मानना और उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेश के अनुकूल हो उसी को ग्रहण करे। ३३. वे सामर्थ्यवान पुरुष अहङ्कारहीन होते हैं, शुभकर्म करने में उनका कोई सासारिक स्वार्थ नहीं होता, और अशुभ से कोई अनर्थ नहीं होता। ३४. जब उन्हीं के सम्बन्ध में ऐसी बात है तब जो पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि समस्त चराचर जीवों के एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर भगवान् हैं, उनके साथ मानवीय शुभ और अशुभ का सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है। ३५. जिनके चरणकमलों के रज का सेवन करके भक्तजन तृप्त हो जाते हैं, जिनके साथ योग प्राप्त करके उसके प्रभाव से योगी जन समस्त कर्म-बन्धन काट डालते हैं, और विचारशील ज्ञानी जन जिनके तत्त्व का विचार करके तत्त्वरूप हो जाते हैं, वे ही भगवान् अपने भक्तों की इच्छा से अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रगट करते हैं। अतः उनमें कर्म-बन्धन की कल्पना कैसे हो सकती है? ३६. गोपियों के, उनके पतियों के, और सम्पूर्ण शरीरधारियों के अन्तःकरण में जो आत्मा रूप से विराजमान हैं, जो सबके साक्षी और परमपति हैं, वही तो अपना दिव्य-चिन्मय श्रीविग्रह प्रगट करके यह लीला कर रहे हैं। ३७. भगवान् जीवों पर कृपा करने के लिये कभी अपने को मनुष्यरूप में प्रगट करते हैं और ऐसी लीलायें करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ। ३८. व्रजवासी गोपों ने भगवान् कृष्ण में तनिक भी दोषबुद्धि नहीं की। वे उनकी योगमाया से मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही हैं। ३९. ब्रह्मा की रात्रि के बराबर वह रात्रि व्यतीत हुई। ब्राह्म मुहूर्त आया। यद्यपि गोपियों की इच्छा अपने घर लौटने की नहीं थी, फिर भी, भगवान् कृष्ण की आज्ञा से वे अपने-

[१] देखिये रामायण १४५,२६, तथा विष्णुपुराण (विलसन) पृ० ७८।

अपने घर चली गई, क्योंकि वे अपनी प्रत्येक चेष्टा से, प्रत्येक संकल्प से केवल भगवान् को ही प्रसन्न करना चाहती थीं।"

इस स्थल के बाद ही पुराणकार ने यह आश्वासन दिया है कि जो धीर-पुरुष गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के रति विलास का श्रद्धापूर्वक बार-बार श्रवण और वर्णन करता है उसे भगवान् के चरणों में परा भक्ति की प्राप्ति होती है और वह बहुत शीघ्र अपने हृदय के रोग से मुक्त हो जाता है।

मैं इस स्थल के ३० वें और बाद के श्लोकों पर श्रीधरस्वामी के भाष्य को उद्धृत कर रहा हूँ : ३०. परमेश्वरे कैमुतिक-न्यायेन परिहर्त्तुं सामान्यतो महता वृत्तम् आह 'धर्मव्यतिक्रम' इति। साहसञ्च दृष्टम् प्रजापतीन्द्र-सोम-विश्वामित्रादीनां यच्च तेषां तेजस्विनां दोषाय न भवतीति। ३१. तर्हि 'यद् यद् आचरति श्रेष्ठ' इति न्यायेनान्योऽपि कुर्याद् इत्य् आशक्याः 'नितद्' इति। अनीश्वरो देहादि परतन्त्रो यथा रुद्रव्यतिरिक्तो विषम् आचरम् भक्षयन्। ३२. कथ तर्हिं सदाचारस्य प्रामाण्यम् अत आह 'ईश्वराणाम्' इति। तेषाम वचः सत्यम् अतस् तद्—उक्तम् आचरेद् एव। आचरित कचित् सत्यम् अतः 'स्व-वचो युक्त' तेषां वचसा यद् उक्तम् अविरुद्धं तत् तद् एवाचरेत्। ३३. ननु तर्हि तेऽपि किम एव साहसम् आचरन्ति तत्राह 'कुशले' इति। प्रारब्ध कर्म-क्षपण-मात्रम् एव तेषां कृत्य न अन्यद् इत्य् अर्थः। ३४. प्रस्तुतम् आह 'किमुत' इति। कुशलाकुशलान्वयो न विद्यते इति किम् पुनर् वक्तव्यम् इत्य् अर्थः। एतद् एव स्फुटी—करोति। यस्य पाद—पङ्कज—परागस्य निषेवणेन तृप्ता यद्वा यस्य वाद-पङ्कज-परागे निषेवा येषां ते तथा ते च ते तृप्ताश्च इति भक्ता इत्य् अर्थः। तथा ज्ञानिनश् च न नह्यमाना बन्धनम् अप्राप्नुवन्तः। पर दारत्व गोपीनाम् अङ्गीकृत्य परिहृतम्। ३६. इदानीम् भगवतः सर्वान्तर्यामिनः पर-दार-सेवा नाम न काचिद् इत्य् आह 'गोपीनाम्' इति। योऽन्तश् चरत्य् अध्यक्षो बुध्य्-आदि साक्षी स एव क्रीडनेन देहभाक् न त्व् अस्मद्—आदि—तुल्यो येन दोषः स्याद् इति। ३७. नन्व् एव चेद् आप्तकामस्त निन्दिते कुतः प्रवृत्तिर् इत्य् आह 'अनुग्रहाय' इति। शृङ्गार-रसाकृष्ट-चेतसोऽति-बहिर्-मुखान् अपि स्व-परान् कर्त्तुम् इति भावः। ३८. नन्व् अन्येऽपि भिन्नाचाराः स्व—चेष्टितम् एवम् एव इति वदन्ति तत्राह 'नासूयन्न' इति। एवम्भूतैश्वर्याभावे तथा कुर्वन्तः पापा ज्ञेया इति भावः।

"परमेश्वर के प्रति अनैतिकता के आक्षेप का प्रतिवाद करने के लिये ही पुराणकार सामान्य रूप से 'धर्मव्यतिक्रम' आदि शब्दों से महापुरुषों के चरित्र

सबका सारांश यह है कि इस प्रकार के दिव्य चरित्र से रहित यदि कोई इसी प्रकार का कार्य करता है तो उसे पापी कहा जायगा।"

ऊपर ३१ वें श्लोक के भाष्य में भाष्यकार ने निम्नलिखित स्थल का उद्धरण दिया है। यहाँ यह देखा जा सकता है कि इसमें एक सर्वथा विपरीत मत का प्रतिपादन किया गया है।

भगवद्गीता ३ २० और बाद : कर्मणैव हि संसिद्धम् आस्थिता जनकादयः। लोक-सग्रह एवापि सम्पश्यन् कर्त्तुम् अर्हसि। २१. यद् यद् आचरति श्रेष्ठस् तत् तद् एवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस् तद् अनुवर्त्तते। २२. न मे पार्थास्ति कर्त्तव्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तम् अवाप्तव्य वर्त्त एव च कर्मणि। २३. यदि ह्य् अहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्य् अतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। २४. उत्सीदेयुर् इमे लोका न कुर्या कर्म चेद् अहम्। संकरस्य च कर्त्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः। २५. सक्ताः कर्मण्य् अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद् विद्वांस् तथाऽशक्तश् चिकीर्षुर् लोकसंग्रहम्। २६. न बुद्धि भेद जनयेद् अज्ञानां कर्म-सगिनाम्। जोषयेत् सर्व-कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।

"२० इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति-रहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुये हैं; इसलिये, तथा लोकसंग्रह को देखते हुये भी, तुम भी कर्म करो।[६२] २१. क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उस के ही अनुसार व्यवहार करते हैं; वह पुरुष जो कुछ प्रमाण देता है लोग उसी का अनुसरण करते है। २२. इसलिये हे पार्थ! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, तथा किञ्चित भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तथापि भी मैं कर्म ही करता हूँ। २३. क्योंकि, यदि मैं सावधान हुआ कदाचित कर्म न करूँ तो हे अर्जुन! सब प्रकार से मनुष्य मेरे आचरण के अनुसार व्यवहार करने लग जायँगे। २४. तथा यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायँगे और मैं वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाला, तथा इस सम्पूर्ण प्रजा का हनन करनेवाला बन जाऊँगा। २५. इसलिये हे भारत! कर्मों मे आसक्त हुये अज्ञानी जन जैसे करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान भी लोकाशिक्षा को चाहता हुआ कर्म करे।

---

[६२] तुलना रघुवश ३.४६ "पथ. शुचेर् दर्शयितार ईश्वरा मलीमसाम् आददते न पद्धतिम्।" "हमारे ईश्वर, जो हमे पवित्र पथ का निर्देश करते हैं, स्वय मलिन पथ का अनुसरण नही करते।"

२६. तथा ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हुये और सब कर्मों को भली-भाँति करते हुये, उनसे भी वैसे ही करायें।"

यहाँ मैं कुछ मनोरंजक आख्यान उद्धृत करूँगा, जो मुझे प्रजापति, देवों की सृष्टि, तथा देवों द्वारा अमरत्व और असुरों की तुलना में श्रेष्ठता प्राप्त करने के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में मिले हैं। प्रथम दो में इस बात का उल्लेख है कि स्वयं प्रजापति किस प्रकार अमर हुये।

शतपथ ब्रा० १०.१,३,१ और बाद प्रजापतिः प्रजा असृजत। स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवान्[६३] असृजत येऽवाञ्चः प्राणास् तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः। अथोर्ध्वम् एव मृत्युम् प्रजाभ्योऽत्तारम् असृजत। २. तस्य ह प्रजापतेर् अर्धम् एव मर्त्यम् आसीद् अर्धम् अमृतम। तद् यद् अस्य मर्त्यम् आसीत् तेन मृत्योर् अबिभेत। स बिभ्यद् इमाम् प्राविशद् द्वयम् भूत्वा मृच्च आपश्च। ३. स मृत्युर् देवान् अब्रवीत् 'क नु सोऽभूद् यो नोऽसृष्ट' इति। 'त्वद् बिभ्यद् इमाम् प्राविक्षद्' इति। सोऽब्रवीद् 'तं वा अन्विच्छाम त सम्भराम न वा अहं तं हिंसिष्यामि' इति। त देवा अस्या अधि समभरन्। यद् अस्य अप्स्व् आसीत् ता अपः समभरन्न् अथ यद् अस्यां ताम् मृदम्। तद् उभय सम्भृत्य मृदञ्च अपश्च इष्टकाम् अकुर्वंस् तस्माद् एतद् उभयम् इष्टका भवति मृच्चापश्च। ४. तद् एता वा अस्य ताः पञ्चमर्त्यास् तन्व आसन् लोम त्वङ् मासम् अस्थिमज्जा अथ एता अमृता मनो वाक् प्राणश् चक्षुः श्रोत्रम्।...६. ते देवा अब्रुवन्न् 'अमृतम् इमं करवाम' इति। तस्य एताभ्याम् अमृताभ्या तनूभ्याम् एतम् मर्त्याम् तनूम् परिगृह्य अमृताम् अकुर्वन्न् इत्यादि।" ७.…ततो वै प्रजापतिर् अमृतोऽभवत्।

१०.१, ४,१ : उभय ह एतद् अग्रे प्रजापतिर् आस मर्त्यं चैव अमृतञ्च। तस्य प्राणा एवामृता आसुः शरीर मर्त्यम्। स एतेन कर्मणा एतया आवृता एकधाऽजरम् अमृतम् आत्मानम् अकुरुत।

"प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की। उसने ऊर्ध्व प्राणवायु से देवों का और अधो-प्राणवायु से मर्त्य प्राणियों का सृजन किया। प्राणियों की सृष्टि के

---

[६३] ऋग्वेद में देवों की संख्या कभी-कभी तैंतीस बताई गई है (देखिये १.३४,११, १.४५,२)। शतपथ ब्राह्मण ४.५,७,२ मे इनकी इस प्रकार गणना है "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्य इमे एव द्यावा-पृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ। त्रयस्त्रिंशद् वै देवा प्रजापतिश्च चतुस्त्रिंश।"

बाद उसने मृत्यु की सृष्टि की। २. इस प्रजापति का आधा मर्त्य तथा आधा अमर था। अपने मर्त्य भाग से वह मृत्यु से भयभीत रहता था। इस भय से उसने पृथिवी और जल बन कर इसमें (पृथिवी में) प्रवेश किया। ३. मृत्यु ने देवों से कहा : 'उसका क्या हुआ जिसने हम सब की सृष्टि की ?' (उन्होंने कहा) 'तुम्हारे भय से वह इस पृथिवी में प्रवेश कर गया है।' मृत्यु ने कहा : 'हम उसे ढूँढें और लायें। मै उसको नहीं मारूँगा।' तब देवों ने उसे इस पृथिवी से एकत्र किया। उसका जो भाग जलों में था, उन जलों को ही उन लोगों ने एकत्र किया, और जो भाग यह पृथिवी था उस पृथिवी को ही एकत्र किया। दोनों भागों, पृथिवी और जलों, का संग्रह करके उन लोगों ने एक ईंट बनाया। इसलिये इन दो वस्तुओं, अर्थात् पृथिवी तथा जल, से ईंट बनती है। ४. उसके ये पाँच भाग, केश, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा, मर्त्य थे, और मन, वाणी, प्राण, चक्षु तथा कान अमर।··· ६. देवों ने कहा : 'आओ हम उसे अमर बनायें।' इस प्रकार कह कर उन लोनों ने उसके मर्त्य अंगों को अमर अंगों से आवृत्त करके उसे अमर बना दिया।···तब से प्रजापति अमर हो गया।······।"

१०.१,४,१ : "पहले प्रजापति मर्त्य और अमर्त्य दोनों ही था। उसके प्राण अमर्त्य थे, जब कि उसका शरीर मर्त्य। इस कर्म से, उसने अपने को समान रूप से अजर और अमर बना लिया।"

दूसरा स्थल यह बताता है कि देवों ने किस प्रकार अमरत्व प्राप्त किया।

शतपथ ब्राह्मणः १०.४,१ : एष वै मृत्युर् यत् साम्वत्सरः। एष हि मर्त्यानाम् अहो-रात्राभ्याम् आयुः क्षिणात्य् अथ म्रियन्ते तस्माद् एष एव मृत्युः। स यो ह एनम् मृत्युं संवत्सरं वेद न ह अस्य एष पुरा जरसोऽहो-रात्राभ्याम् आयुः क्षिणोति सर्वं ह एव आयुर् एति। २. एष एवान्तकः। एष हि मर्त्यानाम् अहो-रात्राभ्याम् आयुषोऽन्तं गच्छत्य्[६४] अथ म्रियन्ते। तस्माद् एष एवान्तकः। स यो हैतम् अन्तक मृत्युं संवत्सर वेद न ह अस्य एष पुरा जरसोऽहो रात्राभ्याम् आयुषोऽन्तं गच्छति सर्वं ह एव आयुर् एति। ३. ते देवा एतस्माद् अन्तकाद् मृत्योः संवत्सरात् प्रजापतेर् बिभयाञ्चक्रुर 'यद् वै नोऽयम् अहो-रात्राभ्याम् आयुषोऽन्त न गच्छेद्' इति। ४. ते एतान् यज्ञक्रतूंस् तेनिरेऽग्निहोत्रं दर्श-पूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुबन्धं सौम्यम् अध्वरम्। ते एतैर् यज्ञ-क्रतुभिर् यजमाना न अमृतत्वम् आनशिरे। ५. ते ह अप्य् अग्निं चिकियरे। तेऽपरिमिता एव परिश्रित उपदधुर् अपरिमिता यजुष्मतीर् अपरिमिता लोकम्पृणा यथा

[६४] गच्छति—गमयति, भाष्य।

इदम् अप्य् एतर्ह्य् एके उपदधति इति देवा अकुर्वन्न् इति ते ह नैव अमृतत्वम् आनशिरे । तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश् चेरुर् अमृतत्वम् अवरुरुत्समानाः । तान् ह प्रजापतिर् उवाच 'न व मे सर्वाणि रूपाण्य् उपधत्थ अति वैव रेचयथ नवाऽभ्यापयथ तस्माद् न अमृता भवथ' इति । ७. ते ह ऊचुः । 'तेभ्यो वै नस त्वम् एव तद् ब्रूहि यथा ते सर्वाणि रूपाण्य् उपदधाम' इति । ८. स ह उवाच षष्टिं च त्रीणि च शतानि परिश्रित उपधत्त षष्टिं च त्रीणि च शतानि यजुष्मतीर् अधि षट्-त्रिंशतम् अथ लोकम्पृणा दश च सहस्राण्य् अष्टौ च शतान्य् उपधत्त अथ मे सर्वाणि रूपाण्य् उपधास्यथ अथ अमृता भविष्यथ' इति । ते ह तथा देवा उपदधुस् ततो देवा अमृता आसुः । ९. स मृत्युर् देवान् अब्रवीद् 'इत्थम् एव सर्वे मनुष्या अमृता भविष्यन्त्य् अथ को मह्यम् भागो भविष्यति' इति । ते ह ऊचुर् 'न अतोऽपर. कश्चन सह शरीरेण अमृतोऽसद् यदा एव त्वम् एतम् भागम् हरासै । अथ व्यावृत्य शरीरेण [शरीरम् विहाय, भाष्य] अमृतोऽसद् योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा' इति । यद् वै तद् अब्रुवन् 'विद्यया वा कर्मणा वा' इत्य् एषा हैव सा विद्या यद् अग्निर् एतद् उ हैव तत् कर्म यद् अग्नि' । १०. ते ये एवम् एतद् विदुर् ये चैतत् कर्म कुर्वते मृत्वा पुन सम्भवन्ति । ते सम्भवन्त एव अमृतत्वम् अभि सम्भवन्ति । अथ ये एव न विदुर् ये वैतत् कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति ते एतस्यैवान्नम् पुनः पुनर् भवन्ति ।

"यह संवत्सर ही मृत्यु है, क्योंकि यह प्रति दिन और रात मनुष्यों के जीवन को क्षीण करता है, और वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अत यह सवत्सर ही मृत्यु है। कौन जानता है कि यह मृत्यु ही यह सवत्सर है—यह उसकी (मनुष्यों की) मृत्यु के पूर्व उसके जीवन को प्रति रात और दिन क्षीण नहीं करता है। २. यह सवत्सर तो अन्तक है, क्योंकि यह अहोरात्र मर्त्यो के जीवन के अन्त को निकट लाता है, और फिर वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते है : अत. यह अन्तक है। जो भी इस अन्तक, मृत्यु रूपी सवत्सर, को जानता है, यह अहोरात्र उसके जीवन के अन्त को उसके जरत्व के पहले निकट नहीं लाता . वह अपने सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त जीवित रहता है। ३. देवगण इस अन्तक सवत्सर, मृत्यु, से भयभीत थे जो प्रजापति था, 'इसलिये कि कहीं यह अहोरात्र हमारे जीवन का अन्त न कर दे।' ४. उन लोगों ने अग्निहोत्र, दर्श, और पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, और सौम्य अध्वर आदि यज्ञ किये, परन्तु इन यज्ञ-कर्मों से उन्हे अमरत्व नहीं मिल सका। ५. साथ ही, उन लोगों ने यज्ञाग्नि प्रज्वलित की, परिश्रित्स्, यजुष्मती, लोकम्पृणस् आदि यज्ञ अपरि-

मित मात्रा में किये, जैसे कुछ लोग आज[६५] करते है। इसी प्रकार देवों ने भी किया परन्तु उन्हें अमरत्व प्राप्त नहीं हुआ। वे लोग अमरत्व प्राप्त करने के लिए श्रम और यजन करते रहे। प्रजापति ने उनसे कहा : 'तुम मेरे सभी रूपों की प्रशस्ति नहीं कर रहे हो; तुम लोग उनकी अत्यधिक (प्रशस्ति) कर रहे हो परन्तु उचित रूप से पूर्ण नहीं कर रहे हो, इसी से अमरत्व नहीं प्राप्त कर पा रहे हो।' ७. उन लोगों ने कहा : 'बताओ कि हम तुम्हारे सभी रूपों की प्रशस्ति कैसे करें।' ८. उसने कहा : 'तिरसठ सौ परिश्रित्, तिरसठ सौ छत्तीस यजुष्मती, और दस सहस्र आठ सौ लोकम्प्रिणस् यज्ञ करो; तब तुम मेरे सभी रूपों की प्रशस्ति कर सकोगे और अमर होगे।' देवों ने तदनुसार यज्ञ किये, और अमर हो गये। ९. मृत्यु ने देवों से कहा : 'इसी प्रकार सभी मर्त्य अमर हो जायँगे, तब मेरे लिये क्या अंश शेष रहेगा?' उन्होंने कहा : 'आज के बाद जब तुम इस भाग को पकड़ोगे तब कोई भी व्यक्ति अपने इस भाग (शरीर) से अमर नहीं रहेगा : तब जिसे भी विद्या अथवा कर्म द्वारा अमर होना है वह अपने देहत्याग के बाद ही अमर होगा।' उन लोगों ने जो यह कहा कि 'विद्या अथवा कर्म से' तो इससे उस विद्या का तात्पर्य है जो अग्नि हैं, और उस कर्म का जो अग्नि हैं। १०. जो लोग इसे इस प्रकार जानते हैं अथवा जो यह कर्म करते हैं, वे मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते है, और इस प्रकार उनका जन्म अमरत्व के लिये होता है। और जो ऐसा नहीं जानते, अथवा जो वह कर्म नहीं करते परन्तु मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं, वे पुनः पुनः मृत्यु के भोजन बनते हैं।"

शतपथ ब्राह्मण: ११.२,३,६ : मर्त्या ह् वा अग्रे देवा असुः। स यदैव ते संवत्सरम् आपुर् अथ अमृता आसुः। सर्वं वै सवत्सरः। सर्वं वा अक्षय्यम्। एतेन उ ह् अस्य अक्षय्य सुकृतम् भवत्य् अक्षय्यो लोकः। "देवगण पहले मर्त्य थे।[६६] जब उन लोगों ने संवत्सर को प्राप्त कर लिया तो वे अमर हो गये। यह संवत्सर सब कुछ है : सब अक्षय्य है : इसके द्वारा व्यक्ति अक्षय सुकृति, अक्षय लोक प्राप्त करता है।"

शतपथ ब्रा० ११.२,३,६ : मर्त्या ह् वा अग्रे देवा आसुः। स यदैव ते ब्रह्मणाऽऽपुर् (व्याप्ताः भाष्यकार) अथ अमृता आसुः। "देवगण पहले मर्त्य थे। उनसे ब्रह्म के व्याप्त हो जाने पर वे अमर हो गये।"

अगले, तथा ऊपर उद्धृत अन्य दो स्थलों से यह विदित होगा कि स्वयं

---

[६५] यह सम्भवत ब्राह्मणो द्वारा ऐसे लोगो पर आक्षेप है जो भिन्न कर्मों का अनुसरण करते हैं।

प्रजापति भी मृत्यु की शक्ति से सर्वथा मुक्त नहीं थे। शतपथ ब्राह्मण १०.४,४,१ . प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानम् पाप्मा मृत्युर् अभिपरि-जघान। स तपोऽतप्यत सहस्रं संवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन् इत्यादि। "पाप और मृत्यु ने प्रजापति का, जब वे प्राणियों की सृष्टि कर रहे थे, हनन किया। पाप से मुक्त होने के लिये उन्होंने एक सहस्र वर्ष तपस्या की।"

निम्नलिखित आख्यान में इस बात का वर्णन है कि देवों ने असुरों की अपेक्षा किस प्रकार विशिष्टता और श्रेष्ठता प्राप्त की . शतपथ ब्राह्मण ९.५,१,१२ : देवाश्च असुराश्च उभये प्राजापत्या' प्रजापते' पितुर् दायम उपेयुर् वाचम् एव स सत्यानृते सत्यञ्चैव अनृतञ्च। ते उभये एव सत्यम् अवदन्न् उभयेऽनृतम्। ते ह सदृश वदन्त, सदृशा एवासु। १३. ते देवो उत्सृज्यानृत सत्यम् अन्वालेभिरे। असुरा उ ह् उत्सृज्य सत्यम् अनृतम् अन्वालेभिरे। १४. तद् ह इद सत्यम् ईक्षाञ्चक्रे यद् असुरेष्व् आस 'देवा वा उत्सृज्य अनृत सत्यम् अन्वालप्सत हन्त तद् अयानि' इति तद् देवान् आजगाम्। १५. अनृतम् उ ह इक्षाञ्चक्रे यद् देवेष्व् आस 'असुरा वा उत्सृज्य सत्यम् अनृतम अन्वालप्सत हन्त तद् अयानि' इति तद् असुरान् आजगाम। १६. ते देवाः सर्वं सत्यम् अवदन सर्वम् असुरा अनृतम्। ते देवा आसक्ति[67] सत्यं वदन्त ऐपावीरतरा इव आसुर् अनाढ्यतरा इव। तस्माद् उ ह एतद् य आसक्ति सत्य वदत्य् ऐपावीरतर इवैव भवत्य् अनाढ्यतर इव। स ह् त्व् एवान्ततो भवति[68] देवा ह्य् एवान्ततोऽभवन्। १७. अथ ह् असुरा आसक्त्य् अनृत वदन्त ऊष इव पिपिसुर[69] आढ्या इवासुः। तस्माद् उ ह एतद् य आसक्त्य अनृत वदत्य् ऊष इवैव पिस्तत्य् आढ्य इव भवति परा ह त्व एवान्ततो भवति परा ह्य् असुरा अभवन्। तद् यत तत् सत्य त्रयी सा विद्या। ते देवा अब्रुवन्

---

[67] 'आसक्ति सत्यम्। केवल सत्यम्। भा०

[68] यहाँ 'अभि' जैसा कोई उपसर्ग और होना चाहिये। परन्तु डा० आफरेख्त ने मुझे बताया है कि 'भवति' को इस सारगर्भित आशय मे ग्रहण किया जा सकता है कि 'वह वास्तव मे वर्तमान है।'

[69] शतपथ ब्रा० के अन्य ऐसे स्थल के लिये जहाँ 'पिस्यति' शब्द आता है, मैं डा० आफरेख्त का अभारी हूँ। वह स्थल शतपथ ब्राह्मण १ ७ ३,१८ मे इस प्रकार है "पेसुक वै वास्तु पिस्यति ह प्रजया पशुभिर् यस्यैव विदुषोऽनुष्टभो भवत।" भाष्यकार ने 'पेसुकम' को 'अभिवर्धनशीलम्' के रूप मे और 'पिस्यति' की 'अतिवृद्धो भवति' के रूप मे व्याख्या की है।

यज्ञम् कृत्वेद सत्यं तनवामहै ।'......२७. तेषु प्रेतेषु तृतीय-सवनम् अतन्वत । तत् समस्थापयन् । यत् समस्थापयंस् तत् सर्वं सत्यम् आप्नुवंस् ततोऽसुरा अपपुप्लुविरे । तदो देवा अभवन् पराऽसुराहाः । भवत्य् आत्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ।

"प्रजापति के वंशजों, देवों और असुरों, दोनों ने अपने पिता, प्रजापति के उत्तराधिकार में वाणी—सत्य और असत्य—प्राप्त की—सत्य और असत्य दोनों। दोनों ही सत्य बोलते थे और असत्य भी । एक समान बोलते हुये वे एक समान थे । १३. तब देवों ने असत्य का त्याग करके सत्य का ग्रहण किया; जब कि असुरों ने सत्य का त्याग करके असत्य का ग्रहण किया । १४. असुरों में स्थित सत्य ने यह विचार किया 'असत्य का परित्याग करके देवों ने सत्य को ग्रहण किया है, अतः मैं उन्हीं के पास चलूँ।' ऐसा कह कर सत्य देवों के पास आया । १५. तब देवों में स्थित असत्य ने विचार किया : 'सत्य का परित्याग करके असुरों ने असत्य को ग्रहण किया है, अतः मै उन्हीं के पास चलूँ।' ऐसा कह कर असत्य असुरों के पास आया । १६. तब से देवगण सर्वथा सत्य तथा असुरगण सर्वथा असत्य बोलने लगे । केवल सत्य ही बोलते रहने से देवगण मानो कमज़ोर तथा निर्धन होने लगे । अतः ऐसा होता है कि जो व्यक्ति केवल सत्य ही बोलता है, दुर्बल और निर्धन होता जाता है; परन्तु अन्त में वह श्रेष्ठ हो जाता है क्योंकि देवगण भी अन्त में श्रेष्ठ हो गये । १७. तब असुरगण, केवल असत्य बोलते हुये, खारी पृथिवी के समान बढ़ कर और समृद्ध होते गये । अतः ऐसा होता है कि जो केवल असत्य ही बोलता है, वह खारी पृथिवी की भाँति बढ़ता हुआ समृद्ध हो जाता है; किन्तु अन्त में पराभूत हो जाता है, क्योंकि असुरगण भी पराभूत हो गये । सत्य ही त्रयी विद्या है । तब देवों ने कहा : 'यज्ञ करने के बाद, आओ हम सत्य का प्रसार करें ।' " तब देवताओं ने अनेक प्रकार के यज्ञ किये जिनमें असुरों के आगमन से सदैव विघ्न पड़ता रहा । २७. "जब वे चले गये तब उन लोगों ने तृतीय सवन की प्रतिष्ठा करके उसे प्राप्त किया । जो उन्होंने प्राप्त किया वह सर्वथा सत्य था । तब असुर चले गये, और ये देवगण श्रेष्ठ तथा असुरगण पतित हो गये । जो मनुष्य इसे जानता है वह अपने ही शरीर से श्रेष्ठ, तथा उसे घृणा करनेवाला उसका शत्रु पराभूत, हो जाता है ।"

दूसरा आख्यान इस बात की व्याख्या करता है कि किस प्रकार देवों में असमानता का समावेश हुआ : शतपथ ब्राह्मण ४.५,४, १ : सर्वे ह वै देवा अग्रे सदृशा आसुः सर्वे पुण्याः । तेषां सर्वेषा सदृशाणां सर्वेषाम् पुण्यानां त्रयोऽकामयन्त 'अतिष्ठावानः स्याम' इत्य अग्निर् इन्द्रः सूर्यः ।

२. तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश् चेरुः। ते एतान् अतिग्राह्यात् ददृशुस् तान् अत्यगृह्णत। तद् यद् एनान् अत्यगृह्णत तस्माद् अतिग्राह्या नाम। तेऽतिष्ठावानोऽभवन्। यथैते एतद् अतिष्ठा इव अतिष्ठा इव ह वै भवति यस्य एवं विदुष एतान् ग्रहान् गृह्णन्ति। ३. नो ह वा इदम् अग्रेऽग्नौ वर्च आस यद् इदम् अस्मिन् वर्च.। सोऽकामयत 'इदम् मयि वर्चः स्याद्' इति। स एत ग्रहम् अपश्यत् तम् अगृह्णीत ततोऽस्मिन्न् एतद् वर्च आस। ४. नो ह वा इदम् अग्रे इन्द्रे ओज आस यद् इदम अस्मिन्न् ओजः। सोऽकामयत 'इदम् मय्य् ओजः स्याद्' इति। स एत ग्रहम् अपश्यत् तम् अगृह्णीत ततोऽस्मिन्न् एतद् ओज आस। ५. नो ह वा इदम् अग्रे सूर्ये भ्राज आस यद् इदम् अस्मिन् भ्राजः। सोऽकामयत 'इदम् मयि भ्राजः स्याद' इति। स एतं ग्रहम् अपश्यत् तम् अगृह्णीत ततोऽस्मिन्न् एतद् भ्राज आस। एतानि ह वै तेजास्य् एतानि वीर्य्यण्य् आत्मन् धत्ते यस्य एव विदुष एतान् ग्रहान् गृह्णन्ति।

"पहले सभी देवगण एक समान तथा सभी पुण्यवान् थे। सभी एक समान तथा सभी पुण्यवान देवों में से तीन ने इच्छा की : 'हम श्रेष्ठ हों', अर्थात् अग्नि, इन्द्र और सूर्य ने। २. इन लोगों ने अर्चना तथा श्रम किया। इन लोगों ने इन अतिग्राह्यों को देखा,[७०] इन लोगों ने इन्हें सबके ऊपर ग्रहण कर लिया। यतः इन लोगों ने ऐसा किया अतः इनका नाम अतिग्राह्य पड़ा। ये श्रेष्ठ हो गये। यतः इन लोगों ने इस प्रकार श्रेष्ठता प्राप्त की, अतः श्रेष्ठता उसी मनुष्य को प्राप्त होती है जो इसे जानता है और इन ग्रहों को ग्रहण करता है। ३. पहले अग्नि में ऐसी ज्वाला नहीं थी जैसी आज ज्वाला उनमें है। उन्होंने इच्छा की : 'यह ज्वाला मुझमें हो।' उन्होंने इस ग्रह को देखा और इसे ग्रहण कर लिया, अतः उनमें यह ज्वाला आ गई। ४. पहले इन्द्र में वही ओज नहीं था, इत्यादि, इत्यादि। ५. पहले सूर्य में वही ज्योति नहीं थी जैसी, इत्यादि, इत्यादि। वही मनुष्य अपने में इन शक्तियों को प्राप्त करता है, जो, जब वह इसे जान कर इन ग्रहों को ग्रहण कर लेता है।"

---

[७०] इस नाम से 'तीन विशेष ग्रहो अथवा उन यज्ञ-पात्रो को पुकारा गया है जिनसे अग्नि, इन्द्र और सूर्य के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ मे हवि समर्पित की जाती है।" प्रो० गोल्डस्टूकर कोश। बॉटलिङ्क और रॉथ ने इस शब्द की एक ऐसे पेय के रूप मे व्याख्या की है जिसका सबके बाद पान किया जाता था।

अध्याय २

विष्णु, जैसा कि इन्हें वैदिक सूक्तों, ब्राह्मणों, इतिहासों तथा पुराणों में व्यक्त किया गया है

खण्ड १—विष्णु से सम्बद्ध ऋग्वेद के सूक्तों के विभिन्न स्थल

ऋग्वेद १.२२,१६ और बाद (=सामवेद २.१०२४) अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर् विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः। १७. (=सावे १.२२२, वाजस० ५.१५; अवे० ७.२६,४) इदं विष्णुर् विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूळहम् अस्य पांसुरे [पांसुले]। १८. (=सावे० २.१०२०; वासं० ३४,४३; अवे० ७.२६,५) त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर् गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्। १९ (=सावे० २.१०२१; वासं ६.४; अवे० ७.२६,६) विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा। २०. (=सावे० २,१०२२; वासं ६.५; अवे० ७.२६,७) तद् विष्णोः परमम् पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीवि चक्षुर् आततम्। २१. (सावे० २.१०२३; वाज० स० ३४,४४) तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर् यत् परमम् पदम्।

१६. जिस सप्त स्थानवाली पृथिवी पर से विष्णु ने पाद क्रमण किया उसी स्थान[१] पर देवगण हमारी रक्षा करें[२]। १७. विष्णु ने इस संसार का तीन

[१] महाभारत, शान्तिपर्व १३१७१ "क्रमणाच् चाप्य् अहम् पार्थ विष्णुर् इत्य् अभिसञ्ज्ञित।" "हे पार्थ! पाद-क्रमण के कारण ही मुझे विष्णु कहते हैं।"

[२] 'पृथिव्याः सप्त धामभि' शब्दो के स्थान पर सामवेद मे 'पृथिव्या अधि सानवि' पाठ है। इसका तथा वाद के मन्त्रो का प्रो० वेनफे ने अपने सामवेद तथा ओरियण्ट उण्ट आक्सीडेण्ट, १ ३० मे अनुवाद किया है। २०वी ऋचा का सन्दर्भ देते हुये आप यह मानते हैं कि विष्णु ने सूर्य से पाद-क्रमण किया था। इस तथा वाद के मन्त्रो के सायण द्वारा गृहीत अभिप्राय के लिये देखिये विलसन का ऋग्वेद का अनुवाद। तुलना कीजिये रोवेन के लैटिन अनुवाद से।

पग रखकर विक्रमण किया। उनके पाँव की धूल से जगत छिप-सा गया[3]। १८. विष्णु जगत के रक्षक हैं, उनको पराजित करनेवाला कोई नहीं,[4] उन्होंने समस्त धर्मों को धारण करके तीन पग रक्खे। १९. विष्णु के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं। वे इन्द्र[5] के उपयुक्त सखा है। उनके बल से ही यजमान व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। २०. जिस प्रकार आकाश की ओर विस्तारपूर्वक देखनेवाला नेत्र विष्णु को देखना चाहता है उसी प्रकार ज्ञानी जन भी सदा विष्णु के उस परम पद पर दृष्टि रखते हैं। २१. विष्णु के सर्वोच्च पद को, स्तुति करनेवाले चैतन्य ज्ञानी, भली भाँति प्रकाशित[6] करते हैं।

इस सूक्त के १७ वें मन्त्र को निरुक्त १२.१९ में उद्धृत किया गया है,[7] जहाँ हमें इसके आशय की यह व्याख्या मिलती है।

---

[3] वेनफे के सामवेद के अनुवाद (पृ० २२३, नोट) के अनुसार 'विष्णु के पांव की धूल मे सारा जगत् समा गया' इस वाक्य का अर्थ यह है कि यह जगत् उनके अधीन हो गया। अपने 'ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट' मे आपने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है . "वह इतने पराक्रमी हैं कि उनके पादाक्रमण के फलस्वरूप उठी धूल ने सम्पूर्ण पृथिवी को भर दिया।" क्या इस धूल से सूर्य की किरणो की चकाचौंध कर देनेवाली उस चमक का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये, जो उनके आगे-आगे प्रगट होती हुई उनके बिम्ब पर देखनेवालो की दृष्टि नही पडने देती ? पैगम्बर नहुम (१ २) का यह कथन है 'तूफान और झञ्झावात मे भी परमेश्वर चलता है, और मेघ उसके पाँव की धूल हैं।'

[4] 'अदाभ्य' का अर्थ 'जिसे धोखा न दिया जा सके', भी हो सकता है। बाद के समयो मे प्रचलित यह विचार कि विष्णु ही इस सम्पूर्ण जगत के रक्षक हैं, सम्भवत इसी श्लोक से निष्कृष्ट हो सकता है।

[5] सायण ने 'स्पश्' धातु का अर्थ 'रोकना' अथवा 'स्पर्श करना' माना है · वेनफे ने अपने सामवेद मे 'पस्पशे' का 'प्राप्त हुआ' अनुवाद किया है। रॉथ ने अपने इलस्ट्रे० ऑफ निरुक्त, पृ० १३८ और बाद, मे इसका आशय 'देखता हुआ' माना है।

[6] वेनफे ने 'समिन्धते' का 'वैभवशाली बनाना' अनुवाद किया है। वाज० स० ३४,४४, के भाष्यकार ने इसे 'दीपयन्ते = उपासते' माना है। रॉथ ने इस शब्द के अन्तर्गत यह व्याख्या की है 'जब विष्णु उच्चतम स्थान पर होते हैं तब वे अग्नि प्रज्वलित करते हैं।'

[7] इसे पहले ही, प्रस्तुत कृति के दूसरे भाग मे, उद्धृत किया जा चुका है।

यद् इदं किञ्च तद् विक्रमते विष्णुः। त्रिधा निधत्ते पदं। 'त्रेधा-भावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि' इति शाकपूणिः। 'समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि' इत्य् और्णवाभः। 'समूढम् अस्य पांसुरे'। प्यायनेऽन्तरिक्षे पद न दृश्यते। अपिवा उपमार्थे स्यात्। सऊढम् अस्य पांसुले इव पदं न दृश्यते, इत्यादि।

"यह जो कुछ भी है, उस पर विष्णु पाद-विक्रमण करते हैं। वह अपने पैर तीन प्रकार से रखते हैं—अर्थात, शाकपूणि के अनुसार तीन स्थानों पर : पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, और धुलोक में, अथवा और्णवाभ के अनुसार उदयाचल पर, मध्याह्न पर और अस्ताचल पर। 'उनका स्थान अन्तरिक्ष में दिखाई नहीं पड़ता', अथवा इस वाक्य का उपमार्थक प्रयोग हुआ है (जिसका तात्पर्य यह है कि) 'धूल से आच्छन्न होने के कारण उनका स्थान दिखाई नहीं पड़ता,' इत्यादि।"

इस स्थल पर दुर्गाचार्य[८] का भाष्य इस प्रकार है :

विष्णुर् आदित्यः। कथम् इति यत आह 'त्रेधा निदधे पदम्' निधत्ते पद निधानम् पदैः। क्व तत् तावत्। 'पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि' इति शाकपूणि। पार्थिवोऽग्निर् भूत्वा पृथिव्यां यत् किञ्चिद् अस्ति तद् विक्रमते तद् अधितिष्ठति। अन्तरिक्षे वैद्युतात्मना। दिवि सूर्यात्मना। यद् उक्तम् 'तम ऊ अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम' (ऋग्वेद १० ८८, १०) इति। 'समारोहणे' उदय-गिराव् उद्यन पदम् एक निधत्ते। 'विष्णु पदे' मध्यन्दिनेऽन्तरिक्षे। 'गयशिरस्य्' अस्तगिराव् इत्य् और्णवाभ आचार्यो मन्यते।

"विष्णु आदित्य हैं। कैसे? क्योंकि वह कहते हैं कि 'उन्होंने तीन बार पाँव रक्खा।' उन्होंने ऐसा कहाँ किया? 'पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, और आकाश में, ऐसा शाकपूणि का कथन है। पार्थिव अग्नि बनकर वह थोड़ी मात्रा में पृथिवी पर रहते हैं, विद्युत के रूप में अन्तरिक्ष में रहते हैं, और सूर्य के रूप में आकाश में। यह कहा गया है कि 'उन लोगों ने उन्हें (अग्नि को) त्रिगुणात्मक रूप में उत्पन्न किया' (ऋग्वेद १०.८८, १०)। आचार्य और्णवाभ के विचार से यह अर्थ है : 'वह एक पग समारोहण के स्थान पर रखते हैं, जब वे उदयाचल पर उदित होते हैं, दूसरा पग अन्तरिक्ष में मध्याह्न के समय विष्णुपद पर रखते हैं; और तीसरा पग अस्ताचल के नीचे गयशिरस् पर'।"

---

[८] प्रस्तुत कृति के दूसरे भाग मे भी इसे उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार, यास्क के वक्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके द्वारा उद्धृत दो प्राचीन आचार्यों ने विष्णु के पाद-विक्रमण के सम्बन्ध में दो भिन्न मत दिये हैं।

प्रथम, शाकपूणि, का विचार यह है कि इससे देवों के त्रिविध प्राकट्य का तात्पर्य है, अर्थात पृथिवी पर अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत के रूप में, और सूर्य-प्रकाश के रूप में आकाश में। दिव्य व्यक्तित्व के त्रिविध वितरण का निरुक्त ७.५ जैसे एक अन्य उल्लेखनीय स्थल पर पुनः उल्लेख मिलता है :

तिस्रा एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवी-स्थानो वायुर् वा इन्द्रो वाऽन्तरिक्ष स्थान' सूर्यो द्यु स्थान'। तासाम् महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्त्य् अपि वा कम पृथक्त्वाद् यथा होताऽध्वर्युर् ब्रह्मा उद्गाता इत्य् अप्य् एकस्य सतः। अपि वा पृथग् एव स्यु। पृथग् हि स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि।

"निरुक्तकारों के मत से तीन ही देवता हैं : (१) पृथिवी पर रहनेवाला अग्नि, (२) अन्तरिक्ष में रहनेवाला वायु या इन्द्र, और (३) स्वर्ग में रहनेवाला सूर्य, इनकी अत्यधिक महिमा[९] के कारण इनमें से प्रत्येक के बहुत से नाम हैं। अथवा कर्म अलग अलग होने के कारण जैसे एक को ही होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, और उद्गाता कहते हैं। अथवा ये अलग-अलग ही हैं क्योंकि स्तुतियाँ और उनके नाम भी अलग-अलग है।"[१०]

शाकपूणि के अनुसार विष्णु ही वह देवता हैं जो अपने त्रिविध रूप में पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, और द्युलोक में प्रगट होते हैं।

द्वितीय, और्णवाभ, इस स्थल की भिन्न व्याख्या करते हैं। आप विष्णु के तीन पदों को अग्नि, विद्युत तथा सूर्य के रूप में न ग्रहण करके उन्हें सूर्य के ही तीन स्थानों, उदय, मध्यन्दिन और अस्त के स्थानों का द्योतक मानते हैं। अतः आपके अनुसार विष्णु केवल सूर्य ही हैं।

सायण (देखिये प्रो० विलसन का अनुवाद, पृ० ५३, नोट) इस स्थल से वामन अवतार के समय विष्णु के तीन पदों का तात्पर्य मानते हैं। इसके

---

[९] देखिये एस्चिलस प्रोम० विन्क्ट०, २१७।

[१०] इस स्थल (७४) के एक पिछले अंश मे इस प्रकार कहा गया है. "महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" "देवता की बडी महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। अन्य देवता एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं।" तुकी० कोल० मिस० ए० १ २६ और बाद।

सम्बन्ध में मैं अधिक विवरण और आगे दूँगा। वाजसनेयि संहिता ५. १५ (=विवेच्य सूक्त का १७ वाँ मन्त्र) पर भाष्यकार यह टीका करता है :

विष्णुस् त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इद विश्व विचक्रमे विभज्य क्रमते स्म। तद् एवाह। त्रेधा पदं निदधे भूमाव् एकम् पदम् अन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयम् इति क्रमाद् अग्नि-वायु-सूर्य-रूपेण इत्य अर्थः।

"त्रिविक्रम (वह देवता जिसने तीन पद रक्खे) के रूप में अवतार लेकर विष्णु ने विचक्रमण किया, अर्थात् इस सम्पूर्ण विश्व पर तीन पगों से विक्रमण किया। इसका यह अर्थ है कि उन्होंने तीन स्थानों पर पग रक्खे, अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य के रूप में उन्होंने क्रमशः एक पग पृथिवी पर, दूसरा अन्तरिक्ष में, और तीसरा द्युलोक में रक्खा।"

भाष्यकार यहाँ इस मत को कि इस स्थान पर विष्णु के वामन अवतार का सन्दर्भ है, इस धारण के साथ सयुक्त कर देता है कि उन्होंने क्रमशः अग्नि, वायु, और सूर्य के रूपों में इन तीन पगों को पृथिवी, अन्तरिक्ष, तथा द्युलोक में रक्खा। और दुर्गाचार्य के अनुसार यह शाकपूणि की व्याख्या है। परन्तु यास्क के ग्रन्थ में शाकपूणि अथवा और्णवाभ के जो भी मत मिलते हैं उनमें कहीं भी विष्णु के इस प्रकार के त्रिविक्रम के रूप में अवतार का कोई चिह्न नहीं मिलता।

मैं विष्णु[११] से सम्बद्ध ऋग्वेद के कुछ और स्थलों का उद्धरण दूँगा।

ऋग्वेद १.८५,७ : ते अवर्धन्त स्व-तवसो महित्वना आ नाकं तस्थुर् उरु चक्रिरे सदः। विष्णुर् यद् ह आवद् वृषणम् मद-च्युत वयो न सीदन्न् अधि बर्हिषि प्रिये।

"मरुद्गण अपने बल पर ही वृद्धि को प्राप्त हुये हैं। उन्होंने अपनी महिमा के कारण स्वर्ग में स्थान प्राप्त कर लिया है और अपने वास-स्थान को विस्तीर्ण बना लिया है। जिनके लिये विष्णु मनोरथदाता और आह्लादकर[१२] यज्ञ की रक्षा करते हैं, वे ही मरुद्गण पक्षियों की भाँति शीघ्र आकर इस प्रसन्नता-दायक कुश पर बैठें।"

---

[११] यह शब्द ऋग्वेद १ ६१,७ मे इस प्रकार आता है ' 'मुषायद् विष्णु' पचतम् इत्यादि।' परन्तु यहाँ यह इन्द्र की एक उपाधि हो सकता है।

[१२] यद्यपि भाष्यकार 'मद-च्युतम्' की 'मदस्य हर्षस्यासेक्तारम्' के रूप मे व्याख्या करता है, तथापि ऋग्वेद १ ५१,२ की अपनी व्याख्या मे—जहाँ यह इन्द्र की एक उपाधि है—वह इस पर 'शत्रूणाम् मदस्य गर्वस्य च्यावयितारम्' के रूप मे टीका करता है। ऋग्वेद ८.१,२१ मे 'मद-च्युत' शब्द इन्द्र के लिये, तथा ८ ८५,५ मे उनके वज्र के लिये व्यवहृत है।

ऋग्वेद १.९०,५.९ : उत नो धियो गो अग्राः पूषन् विष्णो एव-यावः । कर्ता नः स्वस्तिमतः । ६. शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवतु अर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुर् उरुक्रमः ।

"पूषा, विष्णु, और मरुद्गण ! हमारा यज्ञ गो-प्रधान करो और हमें विनाशशून्य बनाओ।" ९. मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, और विस्तीर्ण-पाद-क्षेपी विष्णु हमारे लिये सुखकर हों।"

अब मैं एक ऐसे सूक्त पर आता हूँ जो, केवल अन्तिम तीन मन्त्रों के अपवाद के अतिरिक्त (जो दो देवों को समर्पित हैं), केवल विष्णु की ही प्रशस्ति करता है।

ऋग्वेद १.१५४ (= वाज० सं० ५.१८; अवे० ७.२६,१) . विष्णोर् नु क वीर्याणि प्रवोच[13] यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कभायद् उत्तर सधस्थ विचक्रमाणस् त्रेधा उरुगायः । २. (= अवे० ७.२६, २.३; निरु० १.२०) : प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा.[14] । यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा । ३ प्र विष्णवे शूषम् एतु मन्म गिरिक्षिते उरुगायाय[15] वृष्णे । यः इद दीर्घम् प्रयतं सधस्थम् एको विममे त्रिभिर् इत् पदेभिः । ४. यस्य त्री

---

[13] एक इन्द्र को समर्पित सूक्त मे भी इसी प्रकार के शब्द का प्रयोग किया गया है ऋग्वेद १ ३२, १ "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्", इत्यादि। तुकी० ऋग्वेद २ १५, १।

[14] इस मन्त्र पर निरुक्त इस प्रकार टिप्पणी करता है "कुचर" इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधान क्व अय न चरति इति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरि पर्वत तत् प्रकृति इतरत् सन्धि-सामान्याद् मेघ-स्थायी मेघोऽपि गिरिर् एतस्माद् एव।" "कुचर वह है जो कुत्सित कार्य करता है। यदि यह शब्द किसी देवता का विशेषण हो तो इसका अर्थ यह होगा कि 'वह कहाँ नही जाता ?' 'गिरिष्ठा' का अर्थ 'पर्वतो मे स्थित' है। क्योकि 'गिरि' का अर्थ 'पर्वत' है।" तदनन्तर निरुक्तकार 'पर्वत' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ देता है, जिनमे से एक के अनुसार यह 'पर्वन्' से व्युत्पन्न है। देखिये रॉथ का इल० ऑफ निरुक्त, पृ० १७। यही उपमा 'मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा' ऋग्वेद १० १८०, २ (=सावे० २,१२२३ ; अवे० ७ ८४, २) मे इन्द्र के लिये व्यवहृत है।

[15] 'उरुगायस्य = पृथु-गमनस्य अधिकस्तुतेर् वा', ऋग्वेद ३ ६, ४ पर सायण। 'उरुगायस्य = महामते' निरुक्त २.७।

पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति । य उ त्रिधातु पृथिवीम् उत द्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वा । ५. तद् अस्य प्रियम् अभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति । उरुक्रमस्य स हि बन्धुर् इत्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ः ६. (वाज० सं० ६.३; निरुक्त २.७) : ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि-शृङ्गा अयासः । अत्राह तद् उरुगायस्य वृष्णः परमम् पदम् अव भाति भूरि ।

"मैं विष्णु के पराक्रम का वर्णन करता हूँ । उन्होंने तीन पगों में लोकों को नाप लिया और आकाश को स्थिर किया था । २. यतः विष्णु के तीन पाद-क्षेप में सम्पूर्ण संसार निवास करता है, अतः भयंकर, हिंस्र, गिरिशायी और वन्य पशु की तरह संसार विष्णु के विक्रम की प्रशंसा करता है । ३. उन्नत प्रदेश में निवास करनेवाले, अभीष्टवर्षक और सब लोकों में प्रशंसित विष्णु को महाबल और स्तोत्र आश्रित करें । उन्होंने अकेले ही एकत्र, अवस्थित और अति-विस्तीर्ण नियत लोक-त्रय को तीन बार पद-क्रमण के द्वारा नापा था । ४. जिन विष्णु का ह्रासहीन, अमृतपूर्ण और त्रिसंख्यक पदक्षेप अन्न द्वारा मनुष्यों को हर्षित करता है, जिन विष्णु ने अकेले ही धातु-त्रय, पृथिवी, द्युलोक और समस्त भुवनों को धारण कर रक्खा है । ५. देववाकांक्षी मनुष्य जिस प्रिय मार्ग को प्राप्त करके हृष्ट होते हैं, मैं भी उसी को प्राप्त करूँ । उस पराक्रमी विष्णु के परम पद में मधुर् अमृत का क्षरण होता है । विष्णु वस्तुत बन्धु हैं । ६. जिन सब स्थानों में उन्नत्त शृङ्गवाली और शीघ्रगामी गायें हैं, उन्हीं सब स्थानों में तुम दोनों के जाने के लिये मैं विष्णु की प्रार्थना करता हूँ । इन सब स्थानों में बहुत लोगों के स्तवनीय और अभीष्टवर्षक विष्णु का परम पद यथेष्ट स्फूर्ति प्राप्त करता है ।"

उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्र में आनेवाले 'पार्थिवानि रजांसि' शब्दों की सायण ने जो व्याख्या की है, उसके कुछ अंश को अब मैं उद्धृत करूँगा : यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवी–सम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्य्-आदि-लोकत्रयाभिमानीन्य् अग्नि वाय्व्-आदित्य-रूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे । अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवी-शब्द-वाच्याः । तथा च मन्त्रान्तरम् (ऋग्वेद १.१०८,६), 'यद् इन्द्राग्नी अवमस्याम् पृथिव्याम् मध्यमस्याम् परमस्याम् उत स्थ' इति । तैत्तिरीयेऽपि 'योऽस्याम् पृथिव्याम् अस्य आयुषा' इत्य् उपक्रम्य 'यो द्वितीयस्यां तृतीयस्याम् पृथिव्याम्' इति । तस्माल् लोकत्रयस्य पृथिवी-शब्द-वाच्यत्वम् ।···यद्वा यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवी-सम्बन्धीनि रजांसि अधस्तन–सप्त- लोकान् विममे । ' रजः–शब्दो लोक-वाची 'लोक रजांस्य उच्यन्ते' इति यास्के-

नोक्तत्वात्।'''अथवा पार्थिवानि पृथिवी-निमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे। भूर्-आदि-लोक-त्रयम् इत्य् अर्थः। भूम्याम् उपार्जितकर्म-भोगार्थत्वाद् इतर लोकानां तत् कारणत्वम्।

"विष्णु ने पृथिवी से सम्बन्धित पार्थिव, रजनात्मक लोकों, और आकाश आदि तीन लोकों का निर्माण किया, और अग्नि, वायु, तथा आदित्य के रूप में इनमें स्थित हुये। यहाँ तीनों लोकों को 'पृथिवी' शब्द से ही व्यक्त समझना चाहिये। इसी प्रकार एक अन्य सूक्त (ऋग्वेद १.१०८,९, यह कहता है): 'हे इन्द्र और अग्नि, चाहे तुम सबसे निचली पृथिवी पर हो, अथवा मध्य की, अथवा सबसे ऊपर वाली', इत्यादि। तैत्तिरीय में भी (हमें ये शब्द मिलते हैं): 'तुम जो इस पृथिवी पर हो,' इत्यादि, और 'जो दूसरी पर अथवा तीसरी पृथिवी पर,' इत्यादि। अतः तीनों लोकों को 'पृथिवी' शब्द से ही व्यक्त समझना चाहिये। अथवा (अर्थ यह हो सकता है कि) विष्णु ने पार्थिव, और पृथिवी के नीचे के सात लोकों का निर्माण किया। 'रजस्' शब्द एक लोक का द्योतक है क्योंकि यास्क का कथन है कि 'लोकों को रजासि कहते हैं।''' अथवा (आशय यह हो सकता है कि) उन्होंने पार्थिव या पृथिवी निमित्तक लोकों की, अर्थात पृथिवी आदि लोकों की रचना की क्योंकि पृथिवी पर किये गये पुण्यों के पुरस्कार-स्वरूप ही अन्य लोक प्राप्त होते है अतः पृथिवी उन लोकों का कारण है।"

सायण द्वारा उल्लिखित निरुक्त का वह स्थल, जहाँ रजस का अर्थ दिया गया है, इस प्रकार है : ४ १९ : रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्य् उच्यन्ते। असृग्[१३]-अहनी रजसी उच्येते। 'रजासि चित्रा विचरन्ति तन्यव' इत्य् अपि निगमो भवति।

"'रजस्' 'रज्' धातु से व्युत्पन्न है। ज्योति को 'रजस्' कहते है। जल को 'रजस्' कहते है। लोकों को 'रजासि' कहते है। रक्त (?) और दिन को भी 'रजस' कहते हैं। एक श्रुति (ऋग्वेद ५.६३,५) भी है : 'ज्योतिर्मय और प्रतिध्वन्ति होते हुये (मरुद्गण) लोकों पर विचरण करते हैं'।" देखिये निरुक्त १०.४४, और १२.२३, ऋग्वेद १.९०,७।

ऋग्वेद १.१५४,६ में छः लोकों (राजांसि) का उल्लेख है : वि यस् तस्तम्भ षळ् इमा रजांसि। "जिसने इन छः लोकों को स्थापित किया।"

मेरे विचार से 'विममे' क्रिया का वह 'निर्माण करना' अर्थ नहीं हो सकता जो भाष्यकार मानता है। यह प्रस्तुत सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही नहीं बल्कि

---

[१३] रॉथ के अनुमान से यहाँ 'असृक्' शब्द प्रक्षिप्त है।

तृतीय में भी आता है जहाँ इसका अर्थ निश्चित रूप से 'नापना' या 'क्रमण करना' होना चाहिये क्योंकि यह कहना उचित नहीं कि विष्णु ने तीन पगों से लोकों की रचना की। 'रजसो विमान.' (संसार को नापनेवाला) पद ऋग्वेद १०.१२१,५ और १०.१३९,५ में भी मिलता है। ऋग्वेद १.५०,७ में कृदन्त 'मिमानः' का भी यही आशय प्रतीत होता है। वि द्याम् एषि रजस् पृथ्व् अहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यन् जन्मानि सूर्य। "हे सूर्य! तुम अपनी किरणों[17] से विस्तृत स्थानों और दिनों को नापते हुये, और सृजित प्राणियों को देखते हुये आकाश में विचरण करते हो।"

'रजसो विमानः' पद ऋग्वेद ३.२६,७ (= वाज० सं० १८.६६) में भी आता है जहाँ अग्नि अपने को 'अर्कस् त्रिधातू रजसो विमानः[18] (त्रिगुण ज्योति और लोकों को नापनेवाला) कहते हैं। भाष्यकार इन शब्दों की इस प्रकार व्याख्या करता है: त्रेधा आत्मानम् विभज्य तत्र वाय्वात्मना रजसोऽन्तरिक्षस्य विमानो विमाताऽधिष्ठातऽस्मि। "अपने को त्रिविध रूप से विभाजित करके मैं उस वायु के रूप में विद्यमान हूँ जो अन्तरिक्ष में स्थित है।"

विवेच्य शब्दों की हवाक्कुक ३.६ के इन शब्दों से तुलना कीजिये: "वह खडा हुआ और उसने पृथिवी को नापा" इत्यादि।

मैं एक और स्थल उद्धृत करूँगा (ऋग्वेद ५.८१,३ = वाज० सं० ११.६) जहाँ उक्त पद मिलता है, और जहाँ लोकों को नापने का यह कार्य सविता करते हैं: यस्य प्रयाणम् अन्व् अन्ये इद् ययुर् देवा देवस्य महिमानम् ओजसा। यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना। "जो सविता देव अपनी महिमा से पृथिवी आदि लोकों को नापते हैं, वे शोभायमान होकर विराजमान हैं, और दूसरे देव उनका अनुसरण करते हैं।"

इस स्थल को शतपथ ब्राह्मण ६.३,१,१८ में उद्धृत करके इस पर टिप्पणी की गई है: 'यस्य प्रयाणम् अन्व् अन्ये इद् ययुर्' इति। प्रजापतिर् वा एतद् अग्रे कर्माकरोत्। तत् ततो देवा अकुर्वन् 'देवा देवस्य महिमानम् ओजसा' इति। यज्ञो वै महिमा। देवा देवस्य यज्ञ वीर्य्यम् ओजसा इत्य् एतद्। 'यः पार्थिवानि विममे स एतश.' इति। यद् वै किञ्च अस्या तत्

---

[17] यास्क ने निरुक्त १२ २३ मे, तथा भाष्यकार ने भी इस स्थल की व्याख्या करते हुये 'अक्तुभि' का 'रात्रि' अर्थ किया है, परन्तु भाष्यकार ने ऋग्वेद १ ९४,५ पर टीका करते हुए इसी शब्द का 'रश्मिभि' अर्थ किया है।

[18] निरुक्त परिशिष्ट २.१ मे इस शब्द की एक आध्यात्मिक आशय मे व्याख्या की गई है।

पार्थिव तद् एष सर्व विमिमीते। रश्मिभिर् ह्य् एनद् अभ्यवतनोति। 'रजांसि देवः सविता महित्वना' इति। इमे वै लोका रजांस्य् असाव् आदित्यो देवः सविता। तान् एष महिम्ना विमिमीते। '"जिसके पथ का अन्य देव अनुसरण करते है।' पहले प्रजापति ने इस कर्म को किया। देवों ने उनके बाद किया। 'देवों ने उसकी महिमा का ओजपूर्वक अनुसरण किया।' महिमा का अर्थ यज्ञ है। तब (इसका आशय यह हुआ कि) देवों ने यज्ञ का, देवता के वीर्य का, ओजपूर्वक अनुसरण किया। 'जिसने पार्थिव लोकों को नापा वह एक अश्वी है।' इस पृथिवी पर जो कुछ भी है वह पार्थिव है। वह इस सब को नापता है : क्योंकि वह अपनी रश्मियों से इसे विस्तीर्ण करता है। 'सविता देव ने अपनी महिमा से इन लोकों को नापा।' 'ये लोक भी रजासि हैं : आदित्य ही सविता देव हैं। वह अपनी महिमा से इनको नापते हैं।"

भागवत पुराण, विष्णु के वामन-अवतार के वर्णन के अन्त में, ऋग्वेद ७. ९९,२ के एक अश के साथ 'पार्थिवानि विममे रजांसि' शब्दों का उससे एक भिन्न अर्थ में प्रयोग करता है जिसमें इनका सूक्त में व्यवहार हुआ है। भाग० पुरा० ८.२३,२९. पारम् महिम्न उरु-विक्रमतो गृणानो य. पार्थिवानि विममे स रजासि मर्त्यः। किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य इत्य् आह मन्त्रदृग् ऋषिः पुरुषस्य यस्य। "भगवान की महिमा अपार है। जो मनुष्य इसका पार पाना चाहता है वह मानों पृथिवी के परमाणुओं को गिन डालना चाहता है। उनके सम्बन्ध में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा है कि 'ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न है, न होगा'।"

इस श्लोक की भाष्यकार ने इस प्रकार व्याख्या की है : उरु बाहु विक्रमतो विष्णोर् महिम्नः पारं यो गृणानो भवति। स मर्त्यः पार्थिवानि रजांस्य् अपि विममे गणितवान्। यथा पार्थिवः परमाणु-गणनम् अशक्यं तथा विष्णोर् गुण-गणनम् अशक्य इत्य् अर्थः। तथा च मन्त्रो 'विष्णोर् नु क वीर्याणि' इति। एतद् एव मन्त्रान्तरार्थं सूचयन् आह यस्य पुरुषस्य पूर्ण महिम्नः पारम् मन्त्र-दृग् ऋषिर् वसिष्ठ इत्य् एवम् आह। कथम। किं जायमानो जातो वा उपैति न कोऽपि इति वदन्न् अनन्तत्वेन एवाह इत्य् अर्थः। तथा च मन्त्रो 'न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परम् अन्तम् आप' इति। "जिस मनुष्य ने विस्तृत पाद क्षेपी विष्णु की महिमा का पार पा लिया है, उसने मानों पृथिवी के परमाणुओं की गणना कर ली है। अर्थ यह है कि जिस प्रकार पृथिवी के परमाणुओं की गणना असम्भव है, उसी प्रकार विष्णु के गुणों की गणना भी

असम्भव है। एक सूक्त (ऋग्वेद १.१५४) में यह कथन है : 'मैं विष्णु के पराक्रमों का वर्णन करता हूँ,' इत्यादि। एक दूसरे सूक्त के आशय को उद्दिष्ट करके वह इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त करता है : 'वेद के एक द्रष्टा, महर्षि वसिष्ठ ने उन पुरुष की महिमा की सीमा के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है :' कैसे ? 'क्या कोई पुरुष जो जन्म ले चुका है, जो लेगा, अथवा जो आज है, उनकी महिमा का पार पा सकता है ?' कोई नहीं। इसके द्वारा वह उनकी अनन्तता को सूचित करता है। इसीलिये मन्त्र में कहा गया है : 'ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न है, न होगा, जो, हे विष्णुदेव ! तुम्हारी महिमा का पार पा सके'।"

प्रस्तुत सूक्त के छठवें मन्त्र पर निरुक्त २.६,७ में इस प्रकार टीका की गई है : सर्वेऽपि रश्मयोगाव उच्यन्ते। ......तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरि-शृङ्गाः ...अयासोऽयनाः। तत्र तद् उरुगायस्य विष्णोर् महागतेः परमम् पदम् परार्ध्यस्थम् अवभाति भूरि। "सभी किरणें गौ कहलाती हैं। तुम दोनों के उन निवासस्थानों को जाने की (हम) इच्छा करते हैं जहाँ किरणें अत्यन्त कान्तियुक्त हैं, प्रभूत हैं।... विशाल गतिवाले विष्णु का सबसे ऊँचा पद अच्छी तरह सब पर चमकता है।"

इस श्लोक का अनुवाद करने के बाद रॉथ (इल० ऑफ निरुक्त, पृ० १९) इस प्रकार टिप्पणी करते हैं : "यह श्लोक विष्णु को समर्पित एक सूक्त में आता है। अतः द्विवचन 'वाम्' से सूक्त के देवता का तात्पर्य नहीं हो सकता। दुर्ग भी, जैसा कि अन्य भाष्यकार भी असुविधाजनक द्विवचनों की दशा में करते हैं, इसकी यह कहकर व्याख्या करते हैं : 'वाम् इति दम्पती अभिप्रेत्य', अर्थात् 'वाम से होता और उसकी पत्नी का तात्पर्य है।' परन्तु यहाँ इस बात का प्रमाण मिलता है कि वेदों में अनेक स्थलों पर मन्त्रों को गलत स्थानों पर रख दिया गया है। यह मन्त्र सम्भवतः मित्र और वरुण को समर्पित है, तथा इन्हीं देवताओं को समर्पित प्रस्तुत सूक्त के ठीक पहले के सूक्त का हो सकता है। इस मन्त्र को इसलिये गलत स्थान पर घुसा दिया गया है, क्योंकि इसमें विष्णु का नाम आता है। तुलना कीजिये मन्त्र ३। इस असुविधाजनक पाठ को वाजसनेयि संहिता में बदल दिया गया है जहाँ 'ता वा वास्तून्य् उश्मसि', इत्यादि पाठ मिलता है।

अगले सूक्त में इन्द्र और विष्णु, दोनों की साथ-साथ स्तुति की गई है :

ऋग्वेद १.१५५,१ : प्र वः पान्तम्[१९] अन्धसो धियायते महे शूराय

[१९] 'पान्तम्' = 'पानीयम्,' निरुक्त ७.२५।

विष्णवे च अर्चत । या सानुनि पर्वतानाम् अदाभ्या महस् तस्थतुर् अर्वतेव साधुना । २. त्वेषम् इत्था समरणम्[20] शिमीतोर् इन्द्रा-विष्णू सुत-पा वाम् उरुष्यति । या मर्त्याय प्रतिधीयमानम् इति कृशानोर् अस्तुर् असनाम् उरुष्यथः । ३. ता ईं वर्धन्ति महि अस्य पौंस्यम् नि मातरा नयति रेतसे भुजे । दधाति पुत्रो अवरम परम् पितुर् नाम तृतीयम् अधि रोचने दिवः । ४. तत् तद् इद् अस्य पौंस्यं गृणीमसि इनस्य त्रातुर् अवृकस्य मीळ्हुष. । यः पार्थिवानि त्रिभिर् इद् विगामिभर् उरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे । ५. द्वे इद् अस्य क्रमणे स्वर्दृशो अभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति । तृतीयम् अस्य नकिर् आ दधर्षति वयश् चन पतयन्तः पतत्रिणः । ६. चतुर्भिः साकं नवतिञ्च नामभिश् चक्रं न वृत्तम् व्यतीँर् अवीविपत् । बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर् युवाऽकुमारः प्रति एति आहवम् ।

"तुम स्तुतिप्रिय और महावीर इन्द्र तथा विष्णु के लिये पीने योग्य सोम तैयार करो । वे दोनों दुर्धर्ष और महिमावाले हैं । वे मेघरूपी पर्वतों पर इस प्रकार भ्रमण करते हैं मानो सुशिक्षित अश्व पर भ्रमण करते हों । २. इन्द्र तथा विष्णु ! तुम लोग दृष्ट-पद हो इसलिये यज्ञ में बचे हुये सोम पीनेवाले यजमान तुम्हारे दीप्तिपूर्ण आगमन की प्रशस्ति करते हैं । तुम लोग मनुष्यों के लिये शत्रुविमर्दक अग्नि से प्रदातव्य अन्न सदा प्रेरित करते हो । ३. समस्त प्रसिद्ध आहुतियों (विष्णु के) महान पौरुष की वृद्धि करती हैं । विष्णु सबकी मातृभूता धात्रा पृथिवी के रेत, तेज और उपभोग के लिये वही शक्ति प्रदान करते हैं । पुत्र का नाम निकृष्ट है और पिता का नाम उत्कृष्ट । द्युलोक के दीप्तिमान प्रदेश में तृतीय नाम या पौत्र का नाम है अथवा वह द्युलोक में रहनेवाले इन्द्र और विष्णु के अधीन है । ४. हम सबके स्वामी, पालक, शत्रु-रहित और तरुण विष्णु ने प्रशंसनीय लोक-रक्षा के लिये तीन बार पाद-विक्षेप[21] द्वारा सारे पार्थिव लोकों की विस्तृत रूप से प्रदक्षिणा[22] की है । ५. मनुष्यगण कीर्तन करते हुये स्वर्गदर्शी विष्णु के दो पाद-क्षेप प्राप्त करते हैं । उनके तृतीय पाद-क्षेप को मनुष्य नहीं पा सकते, आकाशचारी पक्षी या मरुद्गण भी नहीं प्राप्त कर सकते । विष्णु ने गति विशेष द्वारा विविध स्वभाववाले काल के ९४ अंशों को चक्र की भाँति वृत्ताकार परिचालित कर रक्खा है । विष्णु

[20] 'समरण = संग्राम-नाम,' निघण्टु २.१७ ।

[21] तुकी० ऋग्वेद १.२२, १७ १८, और १ १५४, १ ३ ।

[22] तुकी० ऋग्वेद ६ ६९,५ ।

विशाल स्तुति से युक्त और स्तुति द्वारा जानने योग्य हैं। वे नित्य, तरुण, और अकुमार हैं। वे युद्ध में या आह्वान पर आते हैं।"

ऋग्वेद १.१५६,१ : भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर् विभूत-द्युम्न एवया उ सप्रथाः। अधा ते विष्णो विदुषा चिद् अर्घ्यः स्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता। २. यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति। यो जातम् अस्य महतो महि ब्रवत् स इद् उ श्रवोभिर् युज्यं चिद् अभि असत्। ३. तम् उ स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन। आ अस्य जानन्तो नाम चिद विवक्तन महस् ते विष्णो सुमतिम् भजामहे। ४. तम् अस्य राजा वरुणस् तम् अश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। दाधार दक्षम् उत्तमम् अहर्विदं व्रज च विष्णुर् सखिवान् अपोर्णुते। ५. आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः। वेधा अजिन्वत् त्रिपधस्थ आर्य्यम् ऋतस्य भागे यजमानाम् आ भजत्।

"१. विष्णुदेव ! मित्र की भाँति तुम हमारे सुखदाता, घृताहुति-भाजन, प्रकृत अन्नवान, रक्षाशील, और पृथुव्यापी बनो। विद्वान् यजमान द्वारा तुम्हारा स्तोत्र बार-बार कहने योग्य है, और तुम्हारा यज्ञ हविवाले यजमान का आराधनीय है। २. जो व्यक्ति प्राचीन, मेधावी, नित्य नवीन, और जगन्मादन-शील स्त्रीवाले[२३] विष्णु को हव्य प्रदान करता है; जो महानुभाव विष्णु की पूजनीय आदि कथा कहता है, वह उनके समीप स्थान पाता है।[२४] ३ स्तोताओ, प्राचीन यज्ञ के गर्भभूत विष्णु को जैसा जानते हो वैसे ही स्तोत्र आदि के द्वारा उनको प्रसन्न करो। विष्णु का नाम जानकर कीर्तन करो। विष्णु ! तुम महानुभाव हो, तुम्हारी वृद्धि की हम उपासना करते हैं। ४. राजा वरुण और अश्विनीकुमार ऋत्विक्युक्त यजमान के यज्ञरूप विष्णु की सेवा करते हैं।

---

[२३] सायण ने 'सुमज्-जानि' शब्द की दो व्याख्यायें की हैं। प्रथम के अनुसार इसका तात्पर्य 'स्वयम् एवोत्पन्नाय' है और इसके प्रमाण के रूप मे आप निरुक्त ६ २२ को उद्धृत करते हैं 'सुमत् स्वयम् इत्य् अर्थ.।' दूसरी व्याख्या इस प्रकार है · 'स ता राम मादयति इति सुमत्। तद्वशी जाया यस्य स··· । तस्मै सर्व-जगत्-मादनशील-श्री-पतये।

[२४] तुकी० ऋग्वेद २ २८,१० मे 'युज्यो वा सखा वा,' जहाँ 'युज्य' सायण के अनुसार = योजन समर्थ· पित्रादिर् वा। ऋग्वेद १.२२,९ को भी देखिये जहाँ इसी 'युज्य' शब्द को 'अनुकूल' का समानार्थी माना गया है। तुकी० ऋग्वेद ८ ५१,२ मे 'अयुज' भी।

अश्विनीकुमार और विष्णु मित्र होकर उत्तम और दिनज्ञ[१५] बल धारण करते हैं और मेघ का आच्छादन हटाते हैं। ५. जो स्वर्गीय और अतिशय शोभनकर्मा विष्णु शोभनकर्मा इन्द्र के साथ मिलकर आते हैं, उन्हीं मेधावी, तीनों लोकों में पराक्रमशाली विष्णु ने आनेवाले यजमान को प्रसन्न किया है और उसे यज्ञ-भाग दिया है।"

ऋग्वेद १,१६४,३६ (अवे० ९.१०,१७, निरुक्त परि० २.२१): सप्त अर्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस् तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि। ते धीतिभिर् मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वत.। "सात किरणें आधे वर्ष तक गर्भ धारण या वृष्टि को उत्पन्न करके तथा ससार में रेत'-स्वरूप-जगत् का सारभूत होकर विष्णु के कार्य में नियुक्त हैं। वे ज्ञाता और सर्वतोगामी हैं। वे प्रज्ञा द्वारा भीतर-ही भीतर सारे जगत् को व्याप्त किये हुये हैं।"

मैं इस अस्पष्ट तथा रहस्यवादी उक्ति की व्याख्या करने का प्रयास नहीं करूँगा। फिर भी ऋग्वेद ९.८६,२९ की तुलना कीजिये जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा और जिसमें ये ही 'प्रदिश्' तथा 'विधर्मन्' शब्द आते हैं।

ऋग्वेद १.१८६,१० . प्रो अश्विनाव् अवसे कृणुध्वम् प्र पूषण स्वतवसो हि सन्ति। अद्वेषो विष्णुर् वातः ऋभुक्षाः अच्छा सुम्नाय ववृतीय देवान्। "ऋत्विको! हमारी रक्षा के लिये अश्विनीकुमारों और पूषा की स्तुति करो। द्वेषशून्य विष्णु, वायु और ऋभुक्षा नाम के स्वतन्त्र बलविशिष्ट देवों की स्तुति करो। सुख के लिये मैं सारे देवों को सम्मुख लाऊँगा।"

ऋग्वेद २.१,३ : त्वम् अग्ने इन्द्रो वृषभः सताम् असि त्वं विष्णुर् उरुगायो नमस्य। त्वम् ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त्तः सचसे पुरन्ध्या। "अग्निदेव! तुम साधुओं का मनोरथ पूर्ण करते हो, इसलिये तुम ही इन्द्र हो, तुम ही विस्तृत पादक्षेपी और स्तुतिमात्र विष्णु हो, तुम नमस्कार के योग्य हो। धनवान स्तुति के अधिपति! तुम मन्त्रों के स्वामी हो, तुम विविध पदार्थों की सृष्टि करते हो और विभिन्न बुद्धियों में रहते हो।

ऋग्वेद २.२२,१ (सावे० १.४५७): त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस् तृपत् सोमम् अपिबद् विष्णुना सुतं यथाऽवशत्। स ईम् ममाद महि कर्म कर्त्तवे महाम् उरुं स एन सश्चद् देवो देव सत्यम् इन्द्र सत्य इन्दुः। "बहुबलशाली और तृप्तिकर इन्द्र ने जैसे पहले इच्छा की थी वैसे ही त्रिकद्रुक को यव मिलाया। अभिषुत सोम विष्णु के साथ पान करें।

[१५] ऋग्वेद १ २,२ पर सायण द्वारा 'अहर्विद्' शब्द की व्याख्या देखिये।

महान् सोम ने तेजस्वी इन्द्र को महान् कार्य की सिद्धि के लिये प्रसन्न किया था। सत्य और दीप्यमान सोम सत्य और प्रकाशमान इन्द्र को व्याप्त करे।

ऋग्वेद ३.६,४ : महान सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो अन्तर् द्यावा माहिने हर्यमाणः। आस्क्रे सपत्नी अजरे अमृक्ते सबर्दुघे उरुगायस्य[२६] धेनू। "महान और यजमानों के प्रिय अग्नि द्यावा-पृथिवी के बीच, महिमावाले अपने स्थान पर बैठे हैं। आक्रमणशील[२७], सपत्नीभूता, जरारहिता, अहिंसिता, और क्षीर-प्रसविनी द्यावा-पृथिवी अत्यन्त गमनशील अग्नि की गायें हैं।"

ऋग्वेद ३ ५४,१४ : विष्णुं स्तोमासः पुरु-दस्मम् अर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन्। उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वीर् न मर्धन्ति युवतयो जनित्री'। "धन का हेतुभूत यह स्तोत्र और पूजा के योग्य हवि इस महान् यज्ञ में बहुकर्मा विष्णु के निकट गमन करे। सबकी जनयित्री और परस्पर असंकीर्ण दिशायें जिस विष्णु को नष्ट नहीं करतीं वह विष्णु उरु-विक्रमी है। उन्होंने अपने एक ही पाँव से सम्पूर्ण जगत् को ढँक लिया था।"

ऋग्वेद ३.५५,१० : विष्णुर् गोपाः[२८] परमम् पाति पाठः प्रिया धामानि अमृता दधानः अग्निष् टा विश्वा भुवनानि वेद महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम्। "विष्णु सर्वपालक, प्रियतम[२९] और क्षयरहित तेज को धारण करनेवाले परम स्थान की रक्षा करते हैं। अग्नि उन सम्पूर्ण भूतजात को जानते है। देवताओं का महान् बल एक ही है।

ऋग्वेद ४.२,४ : अर्यमण वरुणम् मित्रम् एषाम् इन्द्रा–विष्णु मरुतो अश्विना उत। सु–अश्वो अग्ने सु–रथः सु-राधाः आ इद् उ-वह सुहविषे जनाय। "हे अग्नि! तुम्हारा अश्व उत्तम है, रथ उत्तम है, और धन भी उत्तम है। इन मनुष्यों के मध्य में शोभन हविवाले यजमान के लिये अर्यमा, वरुण, मित्र, इन्द्रा-विष्णू, मरुद्गण और अश्विद्वय का आनयन करो।"

ऋग्वेद ४.३,७ : कथा महे पुष्टिम् भराय पूष्णे वद् रुद्राय सु–मखाय

---

[२६] 'पृथुगमनस्य अधिक–स्तुतेर् वा,' सायण, जो अग्नि को देवता बताते हैं, यद्यपि आप द्यावा-पृथिवी को सूर्य की पत्नियाँ कहते है।

[२७] अथवा डा० रॉथ के अनुसार 'सयुक्त'।

[२८] तुलना कीजिये ऋग्वेद १ २२,१८। भाष्यकार ने यहाँ 'विष्णु' शब्द को अग्नि की उपाधि मानते हुये इसका 'व्याप्त' अर्थ किया है।

[२९] अथवा 'विस्तृत'। भाष्यकार 'प्रिय' शब्द का 'अपरिमित' अर्थ करता है (ऋग्वेद ३ ३२,७ की टीका मे)।

हविर्-दे। कद् विष्णवे उरु-गायाय रेतो[30] ब्रवः कद् अग्ने शरवे बृहत्यै। "हे अग्नि! महान् एवम् पुष्टिप्रद पूषा से वह पाप-कथा क्यों कहते हो? बृहत् निर्ऋति से वह कथा क्यों कहते हो?"

ऋग्वेद ४.१८,११ : उत माता महिषम् अन्ववेनद् अमी त्वा जहति पुत्र देवाः। अथ अब्रवीद् वृत्रम् इन्द्रो हनिष्यन् सखे विष्णो वितर विक्रमस्व। "इन्द्र की माता ने महान इन्द्र से पूछा : 'क्या ये देवता तुम्हें त्याग रहे हैं?' तब इन्द्र ने विष्णु से कहा : 'सखे' तुम यदि वृत्र को मारने की इच्छा करते हो तो अत्यन्त पराक्रमशाली होओ।"

इस मन्त्र के अन्तिम शब्द आठवें मण्डल के ८९ वें सूक्त के बारहवें मन्त्र के आरम्भिक शब्द बन गये है। मैं अब उसी को उद्धृत कर रहा हूँ।

ऋग्वेद ८.८९,१२ : सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व द्यौर् देहि लोकवज्राय विष्कभे। हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धून् इन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः। "हे सखा विष्णु! तुम विस्तृत विक्रमण करो।' आकाश, वज्र को प्रहार करने के लिये स्थान दो, हम वृत्र का वध करें और जलों को मुक्त करें; मुक्त हो कर वह जल इन्द्र द्वारा खोले गये मार्ग पर प्रवाहित हो।"

ऋग्वेद ४.५५, ४ : त्रि अर्यमा वरुणश् चेति पन्थाम् इषस्-पतिः सुवितं गातुम् अग्निः। इन्द्रा-विष्णू नृ-वद् उ षु स्तवाना शर्म नो यन्तम् अमवद् वरूथम्। "अर्यमा और वरुण ने यज्ञमार्ग ज्ञापित कर दिया है। हविलक्षण अन्न के पति अग्नि ने सुखकर मार्ग दिखा दिया है। इन्द्र और विष्णु सुन्दर रूप से स्तुत हो कर हम लोगों को पुत्र-पौत्रादि तथा बल से युक्त रमणीय सुख का दान करें।"

ऋग्वेद ५.३,१–३ : त्वम् अग्ने वरुणो जायसे यत् त्वम् मित्रो भवसि यत् समिद्धः। त्वे विश्वे सहसस्-पुत्र देवास् त्वम् इन्द्रो दाशुषे मर्त्याय। २. त्वम् अर्यमा भवसि यत् कनीनाम् नाम स्वधावन् गुह्यम् बिभर्षि। अञ्जन्ति मित्र सुधितं न गोभिर् यद् दम्पती समनसा कृणोषि। ३. तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त[31] रुद्र यत् ते जनिम चारु चित्रम्। पदं यद् विष्णोर् उपमं निधायि तेन पासि गुह्य नाम गोनाम्।

"हे अग्नि! तुम उत्पन्न होते ही वरुण होते हो। समिद्ध होकर तुम मित्र होते हो। समस्त देवगण तब तुम्हारा अनुवर्तन करते हैं। हे बलपुत्र!

---

[30] डा० ऑफरेख्त का परामर्श है कि मूलपाठ 'रेपस् = आगस्' (पाप) रहा हो सकता है।

[31] तुकी० ऋग्वेद ७ ३,५।

तुम हव्यदाता के इन्द्र हो। २. हे अग्नि! तुम कन्याओं के सम्बन्ध में अर्यमा होते हो। हे हव्यवान अग्नि! तुम गोपनीय नाम धारण करते हो। जब तुम दम्पती को एक मन वाले बना देते हो तब वे तुम्हें बन्धु की भाँति गव्य द्वारा सिक्त करते हैं। ३. हे अग्नि! तुम्हारे आश्रय के लिये मरुद्गण अन्तरिक्ष का मार्जन करते हैं।[32] हे रुद्र! तुम्हारे लिये वैद्युत-लक्षण, अतिविचित्र और मनोहर जो विष्णु का अगम्य पद है वह स्थापित हुआ। उसके द्वारा तुम उदक के गुह्य नाम का पालन करो।"

ऋग्वेद ५.४६,२–४ (= वाज० सं० ३३.४८,४९): अग्ने इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्रयन्त मारुत उत विष्णो। उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त। ३. इन्द्राग्नी मित्रावरुणा अदिति स्वः पृथिवीं द्याम् मरुतः पर्वतान् अपः। हुवे विष्णुम् पूषणम् ब्रह्मणस्पतिम् भगं नु शंसं सवितारम् ऊतये। ४. उत नो विष्णुर् उत वातो अस्रिधो द्रविणोदाः उत सोमो मयस् करत्। उत ऋभवः उत राये नो अश्विना उत त्वष्टा उत विभ्वा अनु मांसते। "हे इन्द्र, वरुण, मित्र, आदि देवो! तुम सब हमें बल प्रदान करो। विष्णु और मरुद्गण बल प्रदान करें। नासत्य-द्वय, रुद्र, देवपत्नियाँ, पूषा, भग, और सरस्वती हम लोगों की पूजा से प्रसन्न हों। ३. हम रक्षा के लिये इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, अदिति, आदित्य, द्यावा-पृथिवी, मरुद्गण, पर्वत, जल, विष्णु, पूषा, ब्रह्मणस्पति, और सविता का आह्वान करते हैं। ४. विष्णु अथवा अहिंसाकारी वायु अथवा धनदाता सोम हम लोगों को सुख प्रदान करें। ऋभुगण, अश्विद्वय, त्वष्टा, और विभु हम लोगों को ऐश्वर्य प्रदान करने के लिये अनुकूल हों।"

ऋग्वेद ५.५१, ९: सजूर् मित्रा वरुणाभ्यां सजूः सोमेन विष्णुना। आ याहि अग्ने अत्रि-वत् सुते रण। "हे अग्नि! तुम मरुद्गण, मित्र, वरुण, सोम तथा विष्णु के साथ मिलकर आओ। यज्ञ में जैसे अत्रि रमण करते हैं, वैसे ही तुम भी अभिषुत सोम में रमण करो।"

ऋग्वेद ५.८७,१ (सावे० १.४६२): प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्। प्र शर्धाय प्रयज्यवे सुखादये तवसे भन्दद् इष्टये धुनि-व्रताय शवसे।...४. स चक्रमे महतो निर् उरु क्रमः समान-स्मात् सदस एवयामरुत्। यदा अयुक्त त्मना स्वाद् अधि ष्णुभिर् विष्पर्धसो विमहसो जिगाति शेवृधो नृभिः।...८. अद्वेषो नो मरुतो गातुम् आ इतन श्रोता हवं जरितुर् एवयामरुत्। विष्णोर् महः समन्यवो युयोतन

[32] जैसा कि डा० आफरेख्त का विचार है, इससे झञावात के समय आकाश में विद्युत की उत्पत्ति का तात्पर्य है।

रमद् रथ्यो न दसना अप द्वेषासि सनुतः । "एवया ऋषि के वचन-निष्पन्न स्तोत्र मरुतों के साथ विष्णु के निकट उपस्थित हों और वे ही स्तोत्र बलशाली, पूजनीय, शोभनालङ्कृत, शक्ति सम्पन्न, स्तुति-प्रिय, मेघसंचालनकारी,[33] और द्रुतगामी मरुतों के निकट उपस्थित हों ।' '४. मरुतों के स्वेच्छानुसार गमन करनेवाले अश्व जब रथ में युक्त होते हैं, तब एवयामरुत् उनके लिये अपेक्षा करते हैं । सर्वव्यापी मरुद्गण महान तथा सर्वसाधारण स्थान अन्तरिक्ष से निर्गत हुये हैं । परस्पर स्पर्द्धाकारी, बलशाली, और सुख-दाता मरुद्गण निर्गत हुये । "८ हे विद्वेषहीन मरुतो ! तुम लोग हमारे स्तोत्र के सन्निहित होओ एव स्तवनकारी एवयामरुत् का आह्वान श्रवण करो । हे इन्द्र के साथ एकत्र यज्ञ भाग प्राप्त करनेवाले मरुतो ! योद्धा लोग जिस प्रकार शत्रुओं को अपसारित करते हैं उसी प्रकार तुम लोग हमारे गूढ़ शत्रुओं को दूर करो ।"

इस कठिन सूक्त का, जिससे उक्त मन्त्र लिये गये हैं, प्रो० बेनफे ने सामवेद के ग्लॉसरी में अनुवाद किया है ।

ऋग्वेद ६.१७,११ : वर्धान् यं विश्वे मरुत सजोषाः पचत् शतम् महिषान् इन्द्र तुभ्य । पूषा विष्णुस् त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहनम् मदिरम् अंशुम् अस्मै । 'हे इन्द्र ! सम्पूर्ण मरुद्गण समान प्रीतिभाजन होकर स्तोत्र द्वारा तुम्हें वर्द्धित करते हैं और तुम्हारे निमित्त पूषा तथा विष्णुदेव शतसंख्यक महिषों का पाक करते हैं । तीन पात्रों को पूर्ण करने के लिये मदकारक और वृत्तविनाशक सोम धावित होता है । सोमपान के बाद वृत्र-विनाश में इन्द्र समर्थ होते हैं ।"[34]

ऋग्वेद ६.२०,२ : दिवो न तुभ्यम् अनु इन्द्र सत्रा असुर्यं देवेभिर् धायि विश्वम् । अहिं यद् वृत्रम् अपो वव्रिवासं हन् ऋजीषिन् विष्णुना सचानः । "हे इन्द्र ! स्तोताओं ने स्तोत्र द्वारा सूर्य की भाँति तुममे सचमुच समस्त बल अर्पित किया था ।[35] हे नीरस सोमपान करनेवाले इन्द्र ! तुमने

---

[33] अथवा 'तीव्र ध्वनिवाले', रॉथ ।

[34] अन्तिम पक्ति की व्याख्या के लिये डा० आफरेख्त ने मुझे एक अन्य स्थल की सकेत किया है, यथा ऋग्वेद ८ ६६,४ 'एकया प्रतिधाऽपिवत् साकम् सारसि त्रिंशतम् । इन्द्र सोमस्य काणुका ।' "इन्द्र ने एक बार मे ही सोम के ३६ सरो का पान कर लिया ।" यह मन्त्र निरुक्त ५ ११ मे उद्धृत है । मैंने कठिन शब्द 'काणुका' का अनुवाद करने का प्रयास नही किया है । देखिये रॉथ का इल० ऑफ निरुक्त, पृ० ६० ।

[35] सायण के अनुसार 'स्तोतृभि' ।

विष्णु के साथ युक्त होकर वल द्वारा वारिनिरोधक आदि वृत्र का वध किया था।"

ऋग्वेद ६.२१,९ : प्र ऊतये वरुणम् मित्रम् इन्द्रम् मरुतः कृष्व अवसे नो अद्य। प्र पूषणं विष्णुम् अग्निम् पुरन्धिम् सवितारम् ओषधीः पर्वतांश्च। "तुम हम लोगों की तृप्ति और रक्षा के लिये वरुण, मित्र, इन्द्र, मरुद्गण, पूषा, विष्णु, अग्नि, पुरन्धि, सविता, तथा ओषधियों और पर्वतों को स्तुति के अभिमुख करो।"

ऋग्वेद ६.४८,१४ : त वः इन्द्रम् न सुक्रतुं वरुणम् इव मायिनम्। अर्यमणं न मन्द्र सृप्र[36] भोजस विष्णुं न स्तुषे आदिशे। "मरुतो! तुम इन्द्र के महान् कर्मों के अनुष्ठाता हो, वरुण की तरह बुद्धिमान् हो, अर्यमा के समान स्तुतिपात्र हो, विष्णु के समान दानशील हो। धन के लिये मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ।"[37]

ऋग्वेद ६.४९, १३ : यो रजांसि विममे[38] पार्थिवानि त्रिश् चिद् विष्णुर् मनवे बाधिताय। तस्य ते शर्मन्न् उप-दद्यमाने राया मदेम तन्वा तना च। 'जिन विष्णु ने उपद्रुत मनु के लिये त्रिपाद पराक्रम के द्वारा पार्थिव लोकों को नाप डाला था, वही तुम्हारे द्वारा प्रदत्त गृह में निवास करे और हम धन, देह और पुत्र द्वारा अनुभव करें।[39]

ऋग्वेद ६.५०,१२ : ते नो रुद्र. सरस्वती सजोषाः मळ्हुष्मन्तो विष्णुर् मृळन्तु वायुः। ऋभुक्षाः वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्यावाता पिप्यताम् इष नः। "रुद्र, सरस्वती, विष्णु, वायु, ऋभुक्षा, वाज और विधाता समान रूप से प्रसन्न होकर हमें सुखी करें। पर्जन्य और वायु हमारे अन्न को बढ़ायें।"

---

[36] 'सृप्र' शब्द ऋग्वेद १ ९६,३; १८१ ३; ३ १८,५; ४ ५०,२; ८ २५,५; और ८ ३२,१० = सावे० १ २१७, मे भी आता है। निरुक्त ६ १७ मे यास्क ने इसे सृप्' (जाना) धातु से व्युत्पन्न माना है। सायण इसका 'सर्पण-शील,' 'प्रसृत' इत्यादि अर्थ करते हैं। देखिये बेनफे की ग्लॉसरी टु सामवेद)।

[37] सायण ने 'आदिश्' का यही आशय माना है। विलसन के संस्कृत कोश मे 'प्रदेशन' शब्द का 'देवो को समर्पित हवि या कोई भी उपहार' अर्थ दिया गया है।

[38] 'त्रिभिर् एव विक्रमणै परिमितवान्,' सायण। तुकी० ऋग्वेद १ १५४, १, और ७.१००,४।

[39] 'असुरैर् हिंसिताय,' सायण।

ऋग्वेद ६.६९,१-८ : स वां कर्मणा सम् इषा हिनोमि इन्द्राविष्णू अपसस् पारे अस्य। जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तम् अरिष्टैर् नः पथिभिः पारयन्ता। २. या विश्वासां जनितारा मतीनाम् इन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना। प्र वां गिरः शस्यमाना अवन्तु प्र स्तोमासो गीयमानासो अर्कैः। ३. इन्द्रा-विष्णू मदपती मदानाम् आ सोमं यातं द्रविणो दधाना। सं वाम् अञ्जन्तु अक्तुभिर् मतीनां सं स्तोमासः शस्यमानास उक्थैः। ४. आ वाम् अश्वासो अभिमातिषाहः इन्द्राविष्णू सधमादो वहन्तु। जुषेथां विश्वा हवना मतीनाम् उप ब्रह्माणि शृणुतं गिरो मे। ५. इन्द्रा-विष्णू तत् पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे। अकृणुतम् अन्तरिक्षं वरीयो अप्रथतं जीवसे नो रजांसि। ६. इन्द्राविष्णू हविषा वावृधाना अग्राद्वाना नमसा रातहव्या। घृतासुती द्रविणं धत्तम् अस्मे समुद्रः स्थः कलशः सोमधानः। ७. इन्द्रा-विष्णू पिबतम् मध्वो अस्य सोमस्य दस्रा जठरम् पृणेथाम्। आ वाम् अन्धांसि मदिराणि अग्मन् उप ब्रह्माणि शृणुतं हवम् मे। ८. (ऋग्वे० ७ ९९.१) उभा जिग्यथुर् न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः। इन्द्रश्च विष्णो यद् अपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तद् ऐरयेथाम्।

"हे इन्द्र और विष्णु! तुम्हें लक्ष्य करके मैं स्तोत्र और हवि प्रेरित करता हूँ। इस कर्म के समाप्त होने पर तुम लोग यज्ञ की सेवा करो। तुम उपद्रव शून्य मार्ग द्वारा हमें पार करते हो, तुम हमें धन दो। २. इन्द्र और विष्णु! तुम स्तुतियों के जनक हो। तुम कलश स्वरूप तथा सोम के निधान-भूत हो। कहे जानेवाले स्तोत्र तुम्हें प्राप्त हों। स्तोताओं द्वारा गीयमान स्तोत्र तुम्हें प्राप्त हों। ३. इन्द्र और विष्णु! तुम सोमों के अधिपति हो। धन देते हुए तुम सोम के अभिमुख आओ। स्तोत्र, उक्थों के साथ, तुम्हें तेज द्वारा वर्द्धित करें।" ४. इन्द्र और विष्णु! हिंसकों को हरानेवाले और एकत्र मत्त अश्वगण तुम्हें वहन करें। स्तोताओं के सभी स्तोत्रों का तुम सेवन करो। मेरे स्तोत्रों और वचनों को भी सुनो। ५. इन्द्र और विष्णु! सोम का मद उत्पन्न होने पर तुम लोग विस्तृत रूप से परिक्रमा करते हो।[41] तुमने अन्तरिक्ष को विस्तृत किया है।

[40] तुकी० ऋग्वेद ३.१७,१।

[41] इस पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है 'यद्यपि विष्णोर् एव विक्रमस् तथाप्य् एकार्थत्वाद् उभयोर् इत्य् उच्यते।' "यद्यपि यह विक्रमण केवल विष्णु का ही कर्म है, तथापि दोनो देवो के एक ही उद्देश्य के कारण ऐसा कहा गया है।" ऋग्वेद ७ ९९, ६ मे भी 'उरुक्रम' उपाधि इसी प्रकार दोनो देवो के लिये व्यवहृत है। हरिवंश ७४१८ मे यह शिव के लिये व्यवहृत है।

तुमने लोकों को हमारे जीने के लिये प्रसिद्ध किया है। तुम्हारे ये सब कर्म प्रशंसनीय हैं। ६. घृत और अन्न से युक्त इन्द्र और विष्णु! तुम सोम से बढ़ते हो और सोम के अग्रभाग का भक्षण करते हो। नमस्कार के साथ यजमान तुम्हें हव्य देते है। तुम हमें धन दो। तुम लोग समुद्र की भाँति हो। तुम सोम की खान और कलस के रूप हो। ७. दर्शनीय इन्द्र और विष्णु! तुम इस मदकारी सोम का पान करो और अपने उदरों को भरो। तुम्हारे पास मदकर सोम-रूप अन्न जाय। मेरा स्तोत्र और आह्वान सुनो। ८. इन्द्र और विष्णु! तुम विजयी हो; कभी पराजित नहीं होते। तुम दोनों में से कोई भी पराजित होनेवाला नहीं है। तुमने जिस वस्तु के लिये असुरों के साथ स्पर्धा की है, वह यद्यपि त्रिधा स्थित तथा असंख्य है, तथापि तुमने अपने विक्रम से उसे प्राप्त किया है।[४२]

ऋग्वेद ७.३५,९ (=अवे० १९.१०,९): श नो अदितिर् भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः सु-अर्काः। श नो विष्णुः शं उ पूषा नो अस्तु श नो भवित्र श उ अस्तु वायुः। "कर्म द्वारा अदिति हमें शान्ति दें। शोभन स्तुतिवाले मरुद्गण हमें शान्ति दें। विष्णु हमें शान्ति दें। पूषा हमें शान्ति दें। वायु, और भवित्र[४३] हमें शान्ति दें।"

ऋग्वेद ७.३६,९ : अच्छ अयं यो मरुतः श्लोकः एतु अच्छ विष्णुं निषिक्त पां अवोभिर् इत्यादि। "मरुतो! हमारा यह श्लोक तुम्हारे सामने जाय। आश्रय-दाता और गर्भ-पालक विष्णु के निकट भी जाय", इत्यादि।

---

[४२] भाष्यकार इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है यद् यद् वस्तु प्रत्य् अपस्पृधेथाम् असुरै सह अस्पृधेथा त्रेवा लोक-वेद-वागात्मना त्रिधा स्थित सहस्रम् अमित च वि तद् ऐरयेथा व्यक्रमेथाम् इत्य् अर्थ। तथा च ब्राह्मणम् "उभा जिग्ययुर् इत्य् अच्छावाकस्य। उभौ हि तौ जिग्ययुर् न पराजयेथे न परोजिग्ये इति न हि तयो कतरश्चन पराजिग्ये 'इन्द्रश् च विष्णो यद अपस्पृधेथा त्रेधा सहस्र वि तद् ऐरयेथाम्' इति। इन्द्रश् च ह वै विष्णुश् च असुरैर् युयुधाते तान् ह स्म जित्वा ऊचतु कल्पामहा इति। ते ह तथा इत्य् असुरा ऊचु। सोऽब्रवीद् इन्द्रो यावद् एवाय विष्णुस् त्रिर् विक्रमते तावद् अस्माकम् अथ युष्माकम् इतरद् इति। स इमान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान् अथो वाचम्। तद् आहु किं तत् सहस्रम् इति इमे लोका इमे वेदा अथो वाग् इति ब्रूयात्। ऐरयेथाम् [इत्य् अच्छावाक उक्थ्येऽभ्यस्यति।" ऐत० ब्रा० ६ १५।

[४३] 'भवित्र' शब्द की सायण ने ='भुवनम् अन्तरिक्षम् उदक वा' के रूप मे व्याख्या की है। डा० आफरेख्त मुझे सूचित करते है कि यह शब्द वेदो मे पुन नही मिलता।

ऋग्वेद ७.३९,५ : आ अग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुणम् इन्द्रम् अग्निम्। आ अर्यमाणम् अदितिं विष्णुम् एषां सरस्वती मरुतो मादयन्ताम्। "अग्नि! तुम द्युलोक से स्तुति-योग्य मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अर्यमा, अदिति और विष्णु को हमारे यज्ञ में बुलाओ। सरस्वती और मरुद्गण हृष्ट हों।"

ऋग्वेद ७.४०,५ अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया: विष्णोर् एषस्य[४८] प्रभृथे हविर्भिः। विदे हि रुद्रो रुद्रियम् महित्वं यासिष्टं वर्तिर् अश्विनाव् इरावत्। अन्य देवगण यज्ञ में हव्य द्वारा प्रापणीय और अभीष्टदाता विष्णु के अंशरूप हैं। रुद्र अपनी महिमा प्रदान करें। अश्विनो! तुम हमारे हव्यवाले गृह में आओ।"

ऋग्वेद ७.४४,१ : दधिक्रां व: प्रथमम् अश्विना उषसम् अग्निं समिद्धम् भगम् ऊतये हुवे। इन्द्रं विष्णुम् पूषणम् ब्रह्मणस्पतिम् आदित्यान् द्यावा-पृथिवी अपः स्वः। "तुम्हारी रक्षा के लिये पहले मैं दधिक्रा देव को बुलाता हूँ। इसके पश्चात अश्विद्वय, उषा, समिद्ध, अग्नि और भग देवता का आह्वान करता हूँ। इन्द्र, विष्णु, पूषा, ब्रह्मणस्पति, आदित्यगण, द्यावापृथिवी, जल और सूर्य को बुलाता हूँ।"

---

[४८] प्रस्तुत मन्त्र के प्रथम शब्द की सायण इस प्रकार व्याख्या करते हैं. 'विष्णोः सर्वदेवात्मकस्य अस्य देवस्य अन्ये देवा वया शाखा इव भवन्ति।" "अन्य देवता मानो इस देवता, विष्णु, की शाखायें हैं, जब कि यह स्वयं सब देवों का आत्मा है।" सायण ने 'एहस्य' की इस प्रकार व्याख्या की है 'प्रभृथे हविर्भिर् हवी-रूपैर् अन्नैं एहस्य प्राप्रणीयस्य'। "वह जिसके पास यज्ञ में हविरूपी अन्न के द्वारा पहुँचा जा सके।" यही 'एष' विशेषण ऋग्वेद के दो निम्नलिखित स्थलों पर भी विष्णु के लिये प्रयुक्त हुआ है ऋग्वेद २ ३४,११ : 'तान् वो महो मरुत एवयाव्नो विष्णोर् एषस्य प्रभृथे हवामहे। इत्यादि।' "विष्णु के यज्ञ में, हे महान और वेगवान् मरुतो! हम तुम्हारा आह्वान करते हैं। इत्यादि।" ऋग्वेद ८ २०,३ "विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्मम् उग्रम् मरुताम् शिमीवताम्। विष्णोर् एषस्य मीढुषाम्।" "हम कर्मवान विष्णु और अभिलषणीय जल के सेचक रुद्रपुत्र मरुतों के उग्र बल को जानते हैं।" डा० आफरेख्त 'एष' की व्याख्या को अत्यन्त सन्दिग्ध मानते हैं। आप यह प्रश्न करते हैं कि इन तीनों स्थलों को विष्णु की अपेक्षा रुद्र को समर्पित क्यों न माना जाय? फिर भी, इनमें विष्णु शब्द आने के कारण मैंने इन्हें यहाँ उद्धृत कर दिया है।

ऋग्वेद ७.९३,८ : एता अग्ने आशुषाणास् इष्टीर् युवोः सचा अभि-अश्याम वाजान्। मा इन्द्रो नो विष्णुर् मरुतः परिख्यन् इत्यादि। "अग्नि! शीघ्र इस यज्ञ का आश्रय करते हुये हम एक साथ ही तुम्हारा अन्न प्राप्त करें। इन्द्र, विष्णु और मरुद्गण हमें छोड़कर दूसरे को न देखें। इत्यादि।"

ऋग्वेद ७.९९,१ : पुरो मात्रया[४५] तन्वा वृधान न ते महित्वम् अनु अश्नुवन्ति। उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देवत्वम् परमस्य वित्से। २. न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परम् अन्तम् आप। उद् अस्तभ्नाः नाकम् ऋष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभम् पृथिव्याः। ३. (=वाज० स० ५.१६) इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे[४६] दशस्य। वि अस्तभ्नाः रोदसी विष्णो एते दाधर्थ पृथिवीम् अभितो मयूखैः। ४. उरु यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकं जनयन्ता सूर्यम् उषासम् अग्निम्। दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर् नरा पृतनाज्येषु। ५. इन्द्रा-विष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्। शतं वर्चिनः सहस्रं च शाकं हथो अप्रति असुरस्य वीरान्। ६. इयम् मनीषा बृहती बृहन्ता उरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती। ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतम् इषो वृजनेषु इन्द्र। ७. (सावे० २.९७७) वषट् ते विष्णो आसः आ कृणोमि तद् मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्। वर्धन्तु त्वा सुष्टु-तयो गिरो मे यूयम् पात स्वस्तिभिः सदा नः। "विष्णु! तन्मात्राओं से अतीत शरीर से तुम्हारे बढ़ने पर कोई तुम्हारी महिमा नहीं जान सकता। हम तुम्हारे दोनों लोकों को जानते हैं। किन्तु तुम ही, हे देव! परम लोक को जानते हो। २ विष्णु देव! जो पृथिवी पर हो चुके हैं और जो जन्म लेंगे, उनमें से कोई भी तुम्हारी महिमा का अन्त नहीं पा सकता। दर्शनीय और विराट् द्युलोक को तुमने ऊपर धारण कर रक्खा है। तुमने पृथिवी की पूर्व दिशा को धारण कर रक्खा है।[४७] ३. द्यावापृथिवी! तुम स्तोता मनुष्य को दान करने की इच्छा से अन्नवाली, धेनुवाली, और सुन्दर जौ वाली हुई हो। विष्णु! द्यावापृथिवी को तुमने विविध प्रकार से नीचे-ऊपर धारण कर रक्खा है। सर्वत्र-स्थित पर्वत द्वारा तुमने उस पृथिवी को धारण कर रक्खा है। ४. इन्द्र और विष्णु! सूर्य, अग्नि तथा उषा को उत्पन्न करके तुमने यजमान के लिये

---

[४५] तुकी० 'परो-मात्रम् ऋचीषमम् इन्द्रम्', ऋग्वेद ८.५७,१।

[४६] यजुर्वेद ५.१६ मे 'मनवे' पाठ है।

[४७] तुकी इसियाह ४० २२; ४५.१२,१८।

विशाल स्वर्ग का निर्माण किया है। नेताओ! तुमने वृषशिप्र नाम के दास की माया को संग्राम में विनष्ट किया है। ५. इन्द्र और विष्णु! तुमने शम्बर के ९९ और दृढ़ पुरों को नष्ट किया है। तुमने वर्चि नामक असुर के सौ और हज़ार वीरों को नष्ट किया है। ६. यह महती स्तुति बृहत्, विस्तीर्ण, विक्रम से युक्त और बलवान इन्द्र तथा विष्णु को बढ़ावेगी। विष्णु और इन्द्र! यज्ञस्थल में तुम लोगों को हमने स्तोत्र प्रदान किया है। युद्ध में तुम हमारा अन्न बढ़ाना। ७ विष्णु! तुम्हारे लिये यज्ञ में मुख से मैंने वषट्कार किया है। शिपिविष्ट विष्णु! हमारे उस हव्य का आश्रय करो। हमारी शोभन स्तुति और वाक्य तुम्हें बढ़ावें। तुम सदा स्वस्ति द्वारा हमारा पालन करो।

ऋग्वेद ७.१००,१ : नू मर्त्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णवे उरुगायाय दाशत्। प्र य. सत्राचा मनसा यजाते एतावन्त नर्यम् आविवासत्। २. त्व विष्णो सुमति विश्वजन्याम् अप्रयुताम् एवयावो मति दाः। पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेर् अश्वावतः पुरुपश्चन्द्रस्य रायः। ३. त्रिर् देवः पृथिवीम् एप एता वि चक्रमे शतर्चसम् महित्वा। प्र विष्णुर् अस्तु तवसस् तवीयान् त्वेष हि अस्य स्थविरस्य नाम। ४. वि चक्रमे पृथिवीम् एप एतां क्षेत्राय विष्णुर् मनुषे दशस्यन्। ध्रुवासो अस्य कीरयो जनासः उरुक्षितिं सुजनिमा चकार। ५. (सावे० २.९७६; निरुक्त ५.९) प्र तत् ते अद्य शिपिविष्ट नाम अर्यः शसामि वयुनानि विद्वान्। त त्वा गृणामि तवसम् अतव्यान् क्षयन्तम् अस्य रजसः पराके। ६ (सावे० २.९७५; निरुक्त ५ ८) किम इत् ते विष्णो परिचक्ष्यम् भूत्[४८] प्र यद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मद् अप गूह एतद् यद् अन्यरूपः समिथे बभूथ।

"जो मनुष्य बहुतों के कीर्तनयोग्य विष्णु को हव्य प्रदान करता है, जो एक साथ कहे मन्त्रों से पूजा करता है, और मनुष्यों के हितैषी विष्णु की सेवा करता है, वह मनुष्य धन की इच्छा करके उसे प्राप्त करता है। २. मनोरथ-पूरक विष्णु! सबके लिये हितकारक और दोपरहित अनुग्रह हमें प्रदान करें। जिससे भली-भाँति पानेयोग्य, अनेक अश्वोंवाले और बहुतों के लिये आह्लादक धन प्राप्त किया जाय, ऐसा करो। ३. इन विष्णुदेव ने सौ किरणों से युक्त पृथिवी पर अपनी महिमा से तीन बार चरण-क्षेप किया। वृद्ध से वृद्ध विष्णु हमारे स्वामी हों। प्रवृद्ध विष्णु का रूप दीप्तियुक्त है। ४. इस पृथिवी को मनुष्य के निवास के लिये देने की इच्छा करके इन विष्णु ने पृथिवी को

[४८] सामवेद मे 'परिचक्षि नाम।

पदक्रमण किया था। इन विष्णु के स्तोता निश्चल होते हैं। सुजन्मा विष्णु ने विस्तृत निवास-स्थान बनाया था। ५. शिपिविष्ट विष्णु ! आज हम स्तुतियों के स्वामी और ज्ञातव्य विषयों को जानकर तुम्हारे उस प्रसिद्ध नाम का कीर्त्तन करेंगे। तुम प्रवृद्ध हो और हम अवृद्ध है, तो भी तुम्हारी स्तुति करेंगे; क्योंकि तुम रज (लोक) के पार रहते हो। ६. विष्णु ! मैं जो 'शिपिविष्ट' नाम कहता हूँ उसे प्रख्यापित करना क्या तुम्हे उचित है ? युद्ध में तुमने अन्य प्रकार का रूप धारण किया है। हमारे पास से अपना शरीर मत छिपाओ।"[४३]

ऋग्वेद ८.९,१२ : यद् इन्द्रेण सरथ याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा। यद् आदित्येभिर् ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर् विक्रमणेषु तिष्ठथः। "अश्विद्वय ! यदि तुम लोग इन्द्र के साथ एक रथ पर जाते हो, यदि वायु के साथ एक स्थान के निवासी हो, यदि अदिति के पुत्र ऋभु के साथ प्रसन्न हो, और यदि विष्णु के पाद-क्षेप के साथ तीनों लोकों मे अवस्थान करते हो, तो आओ।"

ऋग्वेद ८.१०, २ : बृहस्पति विश्वान्देवान् अहं हुवे इन्द्रा-विष्णू

---

[४३] सामवेद के इसी के समानान्तर स्थल के भाष्य से प्रो० बेनफे ने इस मन्त्र की व्याख्या के लिये यह उद्धरण दिया है : "पुरा खलु विष्णु स्वं रूपम् परित्यज्य कृत्रिमं रूपान्तरं धारयन् सग्रामे वसिष्ठस्य साहाय्य चकार। त जानन् ऋषिर् अनया प्रत्याचष्टे।" "पूर्वसमय मे अपने रूप का त्याग करके तथा एक अन्य कृत्रिम रूप धारण करके विष्णु ने वसिष्ठ की युद्ध मे सहायता की। उस देवता को पहचान कर इस मन्त्र से ऋषि ने उसकी स्तुति की।" निरुक्त ५.८,९ मे यास्क ने प्रस्तुत सूक्त के ५ वें और ६ वें मन्त्रो को उलटे क्रम से उद्धृत किया है। यास्क का कथन है कि "विष्णु के दो नाम, शिपिविष्ट तथा विष्णु, हैं, जिनमे से औपमन्यव के अनुसार प्रथम नाम कुत्सितार्थक है" (शिपिविष्टो विष्णुर् इति विष्णोर् द्वे नमनी भवत। कुत्सितार्थीयम् पूर्वम् भवति इत्य् औपमन्यव)। तदनन्तर ६ वें मन्त्र का उद्धरण देकर यास्क यह कहते हैं : "किं ते विष्णोऽप्रख्यातम् एतद् भवत्य् अप्रख्यापनीयं यन् न. प्रब्रूपे। शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मि इत्य् अप्रतिपन्न-रश्मिः। अपि वा प्रशसा–नामैव अभि-प्रेतं स्यात्। किं ते विष्णो प्रख्यातम् एतद् भवति प्रख्यापनीयं यद् उत प्रब्रूपे शिपिविष्टोऽस्मि इति प्रतिपन्न-रश्मि.। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैर् आविष्टो भवति। मा वर्पो अस्मद् अपगूह एतत्। वर्प इति रूप–नाम" यद् अन्य रूपः समिथे सग्रामे भवसि सयत–रश्मि'।"

अश्विनाव् आशु-हेपसा। "मैं वृहस्पति, समस्त देवों, इन्द्र, विष्णु, और शीघ्रगामी अश्वोंवाले अश्विनों को बुलाता हूँ।"

ऋग्वेद ८.१२,१६ (= सावे० १.३८४, अवे० २० १११, १): यत् सोमम् इन्द्र विष्णवि यद् वा घ त्रिते आप्त्ये। यद् वा मरुत्सु मन्दसे सम् इन्दुभिः। २५. यद् इन्द्र पृतनाज्ये देवास् त्वा दधिरे पुर.। आद् इन् ते हर्यता हरी ववक्षतुः। २६. यदा वृत्रं नदी-वृत शवसा वज्रिन्न् अवधीः। तद् आद् इद् इत्यादि। २७ यदा ते विष्णुर् ओजसा त्रीणि पदा विचक्रमे। आद् इद् इत्यादि।

"हे इन्द्र! विष्णु, आप्त्रित, अथवा मरुतों के आने पर दूसरों के यज्ञ में उनके साथ सोमपान कर प्रमत्त होते हो, तथापि हमारे सोम से भी भली-भाँति प्रमत्त होओ।...२५. इन्द्र! देवों ने जिस समय तुम्हें सम्मुख धारण किया था, उसी समय कमनीय हरि नामक अश्वों ने तुम्हें वहन किया था। २६. वज्रधर इन्द्र! जिस समय तुमने जल को रोकनेवाले वृत्र को वल के द्वारा मारा था उसी समय कमनीय हरि तुम्हें ले आये थे। २७. जिस समय तुम्हारे (अनुज) विष्णु ने अपने तीन पैरों से तीनों लोकों को नापा था, उसी समय तुम्हें दोनों कमनीय हरि ले आये थे।"

ऋग्वेद ८.१५,८ (= सावे० २९९६, अवे० २०.१०६, २६): तव द्यौर् इन्द्र पौंस्यम् पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वाम् आपः पर्वतासश् च हिन्विरे। ९. त्वा विष्णुर् बृहन् क्षयो[५०] मित्रो गृणाति वरुणः। त्वा शर्धो मदति अनु मारुतम्। १०. त्व वृषा जनानाम् मंहिष्ठः इन्द्र जज्ञिषे। सत्रा विश्वा सु-अपत्यानि दधिषे।

"८. इन्द्र! द्युलोक तुम्हारे वल को वढ़ाता है, पृथिवी तुम्हारे यश की वृद्धि करती है, अन्तरिक्ष और मेघ तुम्हें प्रसन्न करते हैं। ९. इन्द्र महान् और निवास-कारण विष्णु! मित्र तथा वरुण तुम्हारी स्तुति करते हैं। मरुद्गण तुम्हारी मत्तता के अनन्तर मत्त होते हैं। १०. तुम वर्षक और देवों में सर्वापेक्षा दाता हो। तुम सुन्दर पुत्रादि के साथ सारा धन धारण करते हो।"

ऋग्वेद ८.२५, ११: ते नो नावम् उरुष्यत दिवा-नक्त सुदानवः। अरिष्यन्तो नि पायुभिः सचेमहि। १२ अघ्नते विष्णवे वयम् अरिष्यन्तः

---

[५०] वेनफे ने अपने सामवेद के अनुवाद मे 'क्षय' शब्द का 'राजा' अनुवाद किया है। रॉथ ने अपने कोश मे इस आशय को अप्रामाणिक माना है, और 'वृहन् क्षय' का 'उच्च आवास' अथवा 'स्वर्ग' अनुवाद किया है। आप का यह भी अनुमान है कि इस स्थल पर शुद्ध पाठ 'वृहत्-क्षय' होना चाहिये।

सुदानवे। श्रुधि स्वयावन् सिन्धो पूर्व-चित्तये। १३. (निरुक्त ५.१) तद् वार्यम् वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्। मित्रो यत् पान्ति वरुणो यद् अर्यमा। १४. उत नः सिन्धुर् अपां तद मरुतस् तद् अश्विना। इन्द्रो विष्णुर् मीढ्वांसः सजोषसः। "शोभन दानवाले मरुतो! तुम लोग अहिंसित हो। तुम लोग दिन-रात हमारी नौका[५१] की रक्षा करो। हम तुम्हारे पालन से इकट्ठे होंगे। १२. हम अहिंसित होकर हिंसाशून्य सुदाता विष्णु की स्तुति करेंगे। अकेले ही युद्धकर्ता विष्णु! तुम स्तोताओं को धन देनेवाले हो। जिसने यज्ञ प्रारम्भ किया है उसकी स्तुति सुनो। १३. हम श्रेष्ठ, सबके रक्षक, और वरणीय धन आश्रित करते हैं। मित्र, वरुण और अर्यमा इस धन की रक्षा करते हैं। १४. हमारे धन की रक्षा मेघ करें, मरुद्गण और अश्विद्वय भी रक्षा करें, इन्द्र, विष्णु और समस्त अभीष्टवर्षक देवता मिल कर रक्षा करें।"

ऋग्वेद ८.२७,८ : आ प्रयात मरुतो विष्णो अश्विना पूषन् माकीनया धिया। इन्द्र आयतु प्रथमः सनिष्युभिर् वृषा यो वृत्रहा गृणे। "मरुद्गण, विष्णु, अश्विद्वय और पूषा! मेरी स्तुति के साथ यज्ञ में पधारो। देवों के बीच प्रथम इन्द्र भी आवें। इन्द्राभिलाषी स्तोता लोग इन्द्र को वृत्रहा कहते हैं।"

निम्नोद्धृत सूक्त, जिसके सातवें मन्त्र में विष्णु का उल्लेख है, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें विभिन्न देवों की विशेषताओं का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद ८,२९, १ : बभ्रुर् एको विषुणः सूनरो युवा अञ्जि अंक्ते हिरण्ययं। २. योनिम् एक आ ससाद द्योतनो अन्तर् देवेषु मेधिरः। ३. वाशीम् एको बिभर्त्ति हस्ते आयसीम् अन्तर् देवेषु निध्रुविः। ४. वज्रम् एको बिभर्त्ति हस्ते आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते। ५. तिग्मम् एको बिभर्त्ति हस्ते आयुधं शुचिर् उग्रो जलाष-भेषजः। ६. पथ एकः पीपाय तस्करो यथा एष वेद निधीनाम्। ७ त्रीणि एक उरुगायोवि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति। ८ विभिर् द्वा चरतः एकया सह प्र प्रवासा इव वसतः।

[५१] डा० आफरेख्त मुझे सूचित करते हैं कि 'नावम्' शब्द पर इस प्रकार स्वर लगा है कि इसका अर्थ 'नौका' नहीं हो सकता। आप इसे 'नु' धातु से व्युत्पन्न पुल्लिङ्ग सज्ञा मानते हुये इससे 'सूक्त' या 'ऋषि' का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। 'नाव' शब्द भी है, यह बात ऋग्वेद ९.४५ ५ से सिद्ध हो जाता है : "इन्दु नावा अनूषत।' यहाँ इसका अर्थ यह होना चाहिये : 'ऋषियो अथवा सूक्तो ने इन्दु की प्रशस्ति की।'

९. सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि संराजा सर्पिरासुती। १०. अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यम् अरोचयन्।

"बभ्रुवर्ण, सवर्ग, रात्रियों के नेता, युवक और एकाकी"[५२] सोमदेव हिरण्मय आभरण को प्रकाशित करते हैं। २. देवों में दीप्यमान्, मेधावी और अकेले"[५३] अग्नि अपना स्थान प्राप्त करते हैं। ३ देवों के बीच निश्चल स्थान में वर्तमान त्वष्टा[५४] हाथों मे लौहमय कुठार को धारण करते है। ४. इन्द्र[५५] अकेले हस्त-निहित वज्र धारण करते और वृत्रादि का नाश करते हैं। ५. सुखावह भिषक् पवित्र और उग्र रुद्र[५६] हाथों में तीक्ष्ण आयुध रखते हैं। ६. एक (पूषा)[५७] मार्ग की रक्षा करते हैं। वे चोर के समान सारे धनों को जानते है। ७. एक[५८] बहुतों की स्तुति के योग्य हैं। उन्होंने तीन पगों से तीनों लोकों का प्रक्रमण किया। इससे देवता प्रसन्न हुये। ८. दो,[५९] एक स्त्री के साथ, दो प्रवासी पुरुषों के समान रहते तथा अश्व द्वारा सचरण करते है। ९—१०. अपनी कान्ति के परस्पर उपमेय दो[६०] अतीव दीप्तिशाली और घृतरूप हविवाले है। वे द्युलोक के स्थान का निर्माण करते हैं। स्तोता महान साम-मन्त्र का उच्चारण करके सूर्य को दीप्त करते हैं।"

ऋग्वेद ८.३१,१० : आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम् आ विष्णोः सचा-भुवः। "हम पर्वत के सुख तथा नदी के सुख की प्रार्थना करते है। देवों के साथ विष्णु के सुख की भी हम प्रार्थना करते हैं।"

ऋग्वेद ८.३५,१ १४ : अग्निना इन्द्रेण वरुणे न विष्णुना आदित्यैः

---

[५२] भाष्यकार के अनुसार चन्द्रमा के रूप मे सोम। एम० लँग्लोइ का विचार है कि यहाँ सूर्य का तात्पर्य है। डा० आफरेख्त के विचार से मरुद्गण का तात्पर्य है क्योकि उन्ही की 'बभ्रु' उपाधि का यहाँ व्यवहार है।

[५३] भाष्यकार के अनुसार अग्नि।

[५४] त्वष्टा।

[५५] इन्द्र।

[५६] रुद्र। तुकी० ऋग्वेद १ ४३,४ जहाँ रुद्र के नाम के साथ यही 'जलाप-भेषज' उपाधि व्यवहृत है। ऋग्वेद ७.३५,६ भी देखिये जहाँ रुद्र को 'जलाप' कहा गया है ?

[५७] पूषा।

[५८] विष्णु।

[५९] अश्विद्वय, देवी उषा है।

[६०] मित्र और वरुण।

रुद्रैर् वसुभिः सचा-भुवा। सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमम् पिबतम् अश्विना। १४. अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर् गच्छथो हवम् इत्यादि। "अश्विद्वय! तुम लोग अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, आदित्यगण, रुद्रगण, और वसुगण के साथ और उषा तथा सूर्य के साथ मिलकर सोम-पान करो। १४. अश्विद्वय! तुम लोग अङ्गिरा, विष्णु और मरुतों के साथ स्तोता के आह्वान की ओर जाओ,' इत्यादि।"

ऋग्वेद ८.६६,१० : विश्वा इत् ता विष्णुर् आभरद् उरुक्रमस् त्वा इषितः। शतम् महिषान् क्षीर-पाकम् ओदनं वराहम् इन्द्र एमुषम्। "इन्द्र! तुम्हारा जो सब जल है उसे विष्णु प्रदान करते हैं। विष्णु आकाश में भ्रमण करनेवाले और तुम्हारे द्वारा प्रेरित हैं। इन्द्र ने सौ महिषों, क्षीरपक्व अन्न तथा जल चुरानेवाले एमुष को भी दिया।"

डा० आफरेख्त इस मन्त्र में किसी ऐसी पुराकथा का सन्दर्भ देखते हैं (ऋग्वेद १.६१,७ में भी) जिसमें विष्णु को इन्द्र के लिये पशु, एमुष तथा अन्य वस्तुयें चुरानेवाला कहा गया है। तुकी० प्रो० विलसन का ऋग्वेद १. ६१,७ पर नोट। ऋग्वेद ६.१७,११ में भी यही कथा उद्दिष्ट हो सकती है।

ऋग्वेद ८.७२,७ (=वाज० सं० ३३.४७) : अधि न इन्द्र एषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतो अश्विना। "इन्द्र, विष्णु, मरुतो, और अश्विनो! समान जातिवालों में हमारे ही पास आओ।',

ऋग्वेद ९.३३,३ (सावे० २.११६) : सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमा अर्षन्ति विष्णवे। "अभिषुत सोम इन्द्र, वायु, वरुण, मरुद्गण, और विष्णु के प्रति गमन करते हैं।"

ऋग्वेद ९.३४,२ : सुत इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमो अर्षति विष्णवे। "अभिषुत सोम इन्द्र, वायु, वरुण, मरुद्गण, और विष्णु के अभिमुख जाते हैं।"

ऋग्वेद ९.५६,४ : त्वम् इन्द्राय विष्णवे स्वादुर् इन्दो परि स्रव। नॄन् स्तोतॄन् पाहि अंहसः। "सोम, प्रिय-रस! तुम इन्द्र और विष्णु के लिये क्षरित होओ। कर्मों के नेताओं और स्तुतिकर्त्ताओं को पाप से छुड़ाओ।"

ऋग्वेद ९.६५,२० (सावे० २.३४५) : आप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमो अर्षति विष्णवे। "जल के संभक्ता सोम, इन्द्र, वायु, वरुण, विष्णु तथा अन्यान्य देवों के लिये बहते हैं।

ऋग्वेद ९.९०,५ : मत्सि सोम वरुणम् मत्सि मित्रम् मत्सि इन्द्रम् इन्दो पवमान विष्णुम्। मत्सि शर्धो मारुतम् मत्सि देवान् मत्सि महाम्

इन्द्रम् इन्दो मदाय । "क्षरणशील सोम ! तुम वरुण को, मित्र को, विष्णु को, बली मरुद्गणों को, इन्द्र और अन्य देवों को मदोन्मत करते हो । इन सबको तृप्त करो ।"

ऋग्वेद ९.९६,५ (= साम० २.२९३) : सोमः पवते जनिता मतीना जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिता अग्नेर् जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता उत विष्णोः । "सोम क्षरित होते हैं । सोम ही, स्तुति, द्युलोक, पृथिवी, अग्नि, प्रेरक सूर्य, इन्द्र तथा विष्णु, सब के जनक हैं ।

उद्धृत करके इस मन्त्र पर निरुक्त परिशिष्ट में इस प्रकार टीका की गई है : २.१२ : सोमः पवते । सोम. सूर्यः प्रसवनात् । जनिता मतीना प्रकाश-कर्मणाम् आदित्य रश्मीनां दिवो द्योतन कर्मणाम् आदित्य-रश्मीनां पृथिव्या प्रथन-कर्मणाम् आदित्य-रश्मीना अग्नेर् गति-कर्मणाम् आदित्य-रश्मीना सूर्यस्य स्वीकरण-कर्मणाम् आदित्य-रश्मीनां इन्द्रस्य ऐश्वर्य्य कर्मणाम् आदित्य-रश्मीना विष्णोर् व्याप्ति-कर्मणाम् आदित्य रश्मीनां इत्य् अधिदैवतम् । अथ अध्यात्मम् । सोम आत्माऽप्य् एतस्माद् एवेन्द्रियाणा जनिता इत्य् अर्थ । अपि वा सर्वाभिर् विभूतिभिर् विभूतत (?) आत्मा इत्य् आत्मगतिम् आचष्टे । "सोम क्षरित होता है । प्रसव करने से सोम सूर्य है । यह स्तोत्रों अर्थात् उन सूर्य-रश्मियों का जनक है जिनका कार्य ज्योतित करना है, पृथिवी, अर्थात उन सूर्य-रश्मियों का जनक है जिनका कार्य फैलना है, अग्नि का, अर्थात् उन सूर्य-रश्मियों का जनक है जिनका कार्य गतिशील होना है, सूर्य का, अर्थात् उन सूर्य रश्मियों का जनक है जिनका कार्य स्वीकार करना है; इन्द्र का, अर्थात उन सूर्य-रश्मियों का जनक है जिनका कार्य ऐश्वर्य है, विष्णु का, अर्थात उन सूर्य-रश्मियों का जनक है जिनका कार्य व्याप्ति है यह आधिदैविक व्याख्या है । अब आध्यात्मिक व्याख्या की जा रही है : सोम आत्मा भी है, और इस कारण यह इन्द्रियों का जनक है ऐसा अर्थ है । अथवा इस प्रकार वह आत्मा की गति को कहते हैं, अर्थात यह कि अपनी समस्त परिवर्तनशील विभूतियों के साथ यह विभिन्न प्रकार से परिवर्तित होता है ।"

ऋग्वेद ९.१००,६ (= साम० २ २६६) : पवस्व वाज-सातमः पवित्रे धारया सुतः । इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तम । "सोम ! अत्यन्त अन्नदाता और अभिषुत तुम पवित्र में धारा से गिरो । सोम ! तुम इन्द्र, विष्णु और अन्ये देवों के लिये मधुर बनो ।"

ऋग्वेद १०.१,३ : विष्णुर् इत्था परमम् अस्य विद्वान् जातो बृहन्न्

अभि पाति तृतीयम् । आसा यद् अस्य पयो अक्रत स्वं सचेतसो अभि अर्चन्ति अत्र । "उत्कृष्ट, विद्वान, प्रादुर्भूत और महान् विष्णु त्रित का रक्षण करे । मनुष्य यहाँ उनकी उस समय सार्वभौमिक रूप से पूजा करते हैं जब वे आमने-सामने उन्हें हवि समर्पित करते हैं ।"[६१]

ऋग्वेद १०.६५,१ : अग्निर् इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः । आदित्याः विष्णुर् मरुतः स्वर् बृहत् सोमो रुद्रो अदितिर् ब्रह्मणस्पतिः । "अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, आदित्यगण, विष्णु, मरुद्गण, स्वर्, बृहत्, सोम, रुद्र, अदिति, और ब्रह्मणस्पति मिलकर अपनी महिमा से अन्तरिक्ष को पूरित करते हैं ।"

ऋग्वेद १०.६६,४.५ : अदितिर् द्यावा-पृथिवी ऋतम् महद् इन्दा-विष्णू मरुतः स्वर् बृहद् । देवान् आदित्यान् अवसे हवामहे वसून् रुद्रान् सवितारं सुदंशसम् । ५. सरस्वान् धीभिर् वरुणो धृतव्रतः पूषा विष्णुर् महिमा वायुर् अश्विना । ब्रह्म-कृतो अमृताः विश्व-वेदस. शर्म नो यंसन् त्रिवरूथम् अंहसः । "अदिति, द्यावापृथिवी, महान सत्य अग्नि, इन्द्र, मरुत्, विशाल स्वर्ग, आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, और उत्तम दाता सूर्य को हम बुला रहे हैं । ये हमारी रक्षा करें । ५. ज्ञानी समुद्र, कर्मनिष्ठ वरुण, पूषा, महिमावाले विष्णु, वायु, अश्विद्वय, स्तोताओं को अन्न देनेवाले, ज्ञानी, पापियों के नाशक और अमर देवतागण तीन तल्लोंवाला गृह हमें दें ।"

ऋग्वेद १०.९२,११ : ते हि द्यावा-पृथिवी भूरि-रेतसा नराशासश् चतुरङ्गो यमोऽदितिः । देवस् त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुर् अर्हिरे । "नराशस नामक यज्ञ में चार अग्नि स्थापित किये गये । बहुवृष्टि-वर्षक द्यावापृथिवी, यम, अदिति, धनद, त्वष्टा, ऋभु, रुद्र की स्त्री, मरुद्गण, तथा विष्णु ने यज्ञ में स्तोत्र प्राप्त किया था ।"

ऋग्वेद १०.११३,१ : तम् अस्य द्यावा-पृथिवी सचेतसा विश्वेभिर् देवर् अनु शुष्मम् आवताम् । यद् ऐत् कृण्वानो महिमानाम् इन्द्रियम् पीत्वी सोमस्य क्रतुमान् अवर्धत । २. तम् अस्य विष्णुर् महिमानम् ओजसा अशु दधन्वान् मधुनो वि रप्शते । देवेभिर् इन्द्रो मघवा सयाव-भिर् वृत्रं जघन्वान् अभवद् वरेण्यः । "अन्यान्य देवों के साथ द्यावा-पृथिवी मनोयोगपूर्वक इन्द्र के बल की रक्षा करें । जब कि वह वीरता प्राप्त करते-करते अपनी उपयुक्त महिमा को प्राप्त हुये तब सोमपान करते-करते अनेक कार्यों का सम्पादन करके वृद्धिगत हुये । २. विष्णु ने मधुर सोमलता को

---

[६१] तुकी० ऋग्वेद १.९५,३; और १० ४५,१ ।

भेजकर इन्द्र की उस महिमा की, उत्साह के साथ, घोषणा की। धनी इन्द्र सहयोगी देवों के साथ एकत्र होकर और वृत्र का वध करके सर्वश्रेष्ठ हुये।"

ऋग्वेद १०.१२८,२ (अवे० ५.३३) : मम देवा विहवे सन्तु सर्वे इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुर् अग्निर इत्यादि। "इन्द्र आदि देवता, मरुद्गण, विष्णु, और अग्नि युद्ध के समय मेरे पक्ष में रहें, इत्यादि।"

ऋग्वेद १०.१४१,३ (वाज० स० ९.२६, अवे० ३.२०,४) : सोमं राजानम् अवसेऽग्नि गीर्भिर् हवामहे[६२]। आदित्यान् विष्णुं सूर्यम् ब्रह्माणञ्च बृहस्पतिम्। ५ (वाज० स० ९.२७, अवे० ३.२०,७) अर्यमणम् बृहस्पतिम् इन्द्र दानाय चोदय। वात विष्णु सरस्वतीं सवितारञ्च वाजिनम्। "अपनी रक्षा के लिये हम राजा सोम, अग्नि, सूर्य, आदित्यगण, विष्णु, बृहस्पति और प्रजापति[६३] को बुलाते हैं। ५. स्तोता! अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु सरस्वती, और सवितादेवता को दान के लिये प्रार्थना करो।"

ऋग्वेद १०.१८१,१ प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नाम आनुष्टुभस्य हविषो हविर् यत्। धातुर् द्युतानात् सवितुश्च विष्णो. रथन्तरम् आ जभारा वसिष्ठः। २ अविन्दन् ते अनिहितं यद् आसीद् यज्ञस्य धाम परम गुहा-यत्। धातुर् द्युतानाद् सवितुश्च विष्णोर् भरद्वाजो बृहद् आ चक्रे अग्नेः। ३. तेऽविन्दन् मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नम् प्रथम देवयानम्। धातुर् द्युतानाद् सवितुश्च विष्णोर् आ सूर्याद् अभरन् घर्मम् एते।

"जिनके वंशज प्रथ हैं और जिनके वंश के सप्रथ हैं उनमें से वसिष्ठ धाता, दीप्त सविता और विष्णु के पास से रथन्तर ले आये हैं। वह अनुष्टुप् को और घर्म नामक हवि को शुद्ध करनेवाला है। २. जिस अतिनिगूढ़ 'बृहत्' द्वारा यज्ञानुष्ठान होता है और जो तिरोहित था, उसे सविता आदि ने पाया था। धाता, दीप्त सविता, विष्णु, और अग्नि के पास से भरद्वाज बृहत् को लाये। ३. अभिषेक-क्रिया-निष्पादक घर्म यज्ञकार्य में, प्रधान रूप से, उपयोगी है, धाता आदि देवों ने उसका मन ही मन ध्यान करके उसे पाया था। पुरोहित लोग धाता, विष्णु और सूर्य के पास से घर्म को ले आये।"

ऋग्वेद १०.१८४,१ (= अवे० ५.२५,५) : विष्णुर् योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर् धाता गर्भं दधातु ते।

---

[६२] वाज० स० मे 'गीर्भिर् हवामहे' के स्थान पर 'अन्वारभामहे' पाठ है।

[६३] मैं 'ब्रह्म' शब्द को प्रजापति ब्रह्मा के अर्थ में ग्रहण करने मे सकोच का अनुभव कर रहा हूँ।

"स्त्री के वराङ्ग को विष्णु गर्भाधान के योग्य कर दें, त्वष्टा स्त्री-पुरुष के अभिव्यञ्जक चिह्नों का अवयव कर दें; प्रजापति वीर्यपात में सहायक हों और धाता तुम्हारे गर्भ का धारण करें।

खण्ड २—अन्य देवताओं की अपेक्षा विष्णु की ऋग्वेद के सूक्तों में एक हीन स्थिति

ऊपर सभी अथवा प्रायः सभी ऐसे स्थलों को उद्धृत किया गया है जो ऋग्वेद में विष्णु से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद १.२२,१६ और बाद (ऊपर उद्धृत) की अपनी टिप्पणी में मैंने वेद के दो सर्वाधिक प्राचीन व्याख्याकारों, शाकपूणि, और और्णवाभ, के विष्णु सम्बन्धी विचारों को उद्धृत किया है। इनमें से प्रथम व्याख्याकार विष्णु को एक ऐसा देवता मानते है जो अपने तीन पगों द्वारा त्रिविध रूप में प्रगट होते है : अग्नि के रूप में पृथिवी पर, इन्द्र अथवा वायु के रूप में अन्तरिक्ष में, और सूर्य के रूप मे द्युलोक में। द्वितीय लेखक, और्णवाभ, दूसरी ओर, विष्णु के तीन पगों की सूर्य के उदय, मध्याह्न स्थिति, तथा अस्त के रूप में व्याख्या करते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, इन तीन पगों का ऋग्वेद १.१५४, १.२ ३.४; १५५,४.५; ६ ४९,१३; ७.१००,३.४, ८.२९,७ में भी उल्लेख है, जब कि अन्य स्थानों (ऋग्वेद २.१,३; ३.५४,१४, ४.३,७, १८,१ ; ८.८९,१२, ५ ३,३, ८७,४, ८.९,१२, ६६,१०; १० १,३) पर 'उरुक्रम' अथवा 'उरुगायः' उपाधियाँ या तो इन देवता के लिये व्यवहृत हैं, अथवा इनके इस कार्य का कोई न कोई उल्लेख अवश्य है। ऋग्वेद ६.६९,५ और ७.९९,६, में विस्तृत पाद-विक्षेप में इन्द्र को भी विष्णु के साथ संयुक्त किया गया है, कुछ और उच्चतर प्रकृति के कार्यों को भी विष्णु से सम्बद्ध किया गया है। ऋग्वेद १ १५४,१ २, ७ ९९,२.३, मे यह कहा गया है कि इन्होंने आकाश और पृथिवी को स्थापित किया और इनके पाद-प्रक्षेप में ही सारा संसार रहता है। ऋग्वेद ६.६९,५, और ७ ९९,४ में यह कथन है कि इन्द्र के साथ इन्होंने अन्तरिक्ष को विस्तृत किया, लोकों को फैलाया, तथा सूर्य और उषा को उत्पन्न किया। ऋग्वेद १ १५६,४ के अनुसार वरुण इनकी पूजा करते है, और ऋग्वेद ७ ९९,२ में इन्हें मनुष्यों के लिये अविज्ञेय कहा गया है। इनमें से कुछ स्थलों पर विष्णु के जिन गुणों की चर्चा की गई है, वे स्थल यदि ऋग्वेद में अकेले होते तो यह माना जाता कि वैदिक ऋषिगण इस देवता को देवाधिदेव मानते थे। परन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐसे स्थलों पर भी जहाँ इस देवता की महिमा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, इन्द्र भी इसके साथ सयुक्त हैं (जैसे ऋग्वेद १ १५५,१ और बाद; ६ ६९,१

और बाद, ७ ९०,४ और बाद, ८ १५,१० में)। इतना ही नहीं, एक स्थल (ऋग्वेद ८ १२,२७) पर यह कहा गया है कि तीन पाद-प्रक्षेप की शक्ति को विष्णु ने इन्द्र से प्राप्त किया। दो अन्य स्थलों (ऋग्वेद ८ १५,९, और १० ११३,२) पर विष्णु को इन्द्र की स्तुति करता हुआ दिखाया गया है, जब कि ऋग्वेद ९ ९६,५ में सोम को विष्णु का जनक कहा गया है।

यह भी एक सत्य है, जो ऋग्वेद के सभी अध्येताओं को ज्ञात है, कि जो सूक्त या मन्त्र इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, मरुद्गण, अश्विन आदि को समर्पित हैं, उनकी सख्या बहुत अधिक है, जब कि ऐसे सम्पूर्ण सूक्तों या मन्त्रों की, जिनमें विष्णु की स्तुति हो, सख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है, और ऐसे सभी, अथवा प्राय. सभी स्थलों को गत पृष्ठों में उद्धृत किया जा चुका है।

पाठकों ने इस बात पर भी ध्यान दिया होगा कि मैंने जिन बहुसख्यक अपेक्षाकृत छोटे स्थलों को उद्धृत किया है उनमें विष्णु को अनेक अन्य ऐसे देवताओं के साथ ही प्रस्तुत किया गया है जिनसे ये किसी प्रकार श्रेष्ठ अथवा विशिष्ट नहीं हैं। इस तथ्य के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इन स्थलों के लेखक इन्हें अन्य देवताओं के समकक्ष ही मानते थे।

साथ ही, ऋग्वेद में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें ऋषिगण इन्द्र, वरुण, तथा अन्य देवों को उन्हीं उच्च तथा भयकर गुणों से सयुक्त करते हैं जिनको ऊपर उद्धृत स्थलों में विष्णु के साथ भी सयुक्त किया गया है। मैं ऐसे स्थलों को पर्याप्त सख्या में उद्धृत करूँगा जिससे यह दिखाया जा सके कि ऋग्वेद में विष्णु की अनेक अन्य देवताओं की तुलना में स्थिति किसी भी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। दूसरी ओर, यदि हम उन बहुसख्यक स्थलों को जिनमें, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, अन्य देवों की प्रशस्ति है, तथा अपेक्षाकृत उन अल्पसख्यक स्थलों को जिनमें अकेले विष्णु की स्तुति है, देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्राचीन ऋषियों की दृष्टि में विष्णु की स्थिति अपेक्षाकृत हीन थी।

सर्वप्रथम मैं अनेक ऐसे स्थलों को उद्धृत करूँगा जिनमें इन्द्र के श्रेष्ठतम प्रकार के दिव्य गुणों तथा पराक्रमों का उल्लेख है।

ऋग्वेद १ ७,३ इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आ सूर्यं रोहयद् दिवि, इत्यादि। "दूरस्थ मनुष्यों को देखने के लिये ही इन्द्र ने सूर्य को आकाश में रक्खा है," इत्यादि।

ऋग्वेद १.५२,८ : अयच्छथा' बाह्वोर् वज्रम् आयसम् अधारयो दिवि आ सूर्यं दृशे। "१२. त्वम् अस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्य् ओजाः अवसे धृषन्-मनः। चकृषे भूमिम् प्रतिमानम् ओजसोऽपः स्वः परिभूर् एषि आ दिवम्। १३. त्वम् भुवः प्रतिमानम् पृथिव्या ऋष्व-

वीरस्य बृहतः पतिर् भूः। विश्वम् आप्रा अन्तरिक्षम् महित्वा सत्यम् अद्धा नकिर् अन्यस् त्वावान्। १४. न यस्य द्यावा-पृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तम् आनशुः। नोत स्व-वृष्टिम् मदे अस्य युध्यत एको अन्यच् चकृषे विश्वम् आनुषक्।

"तुमने दोनों हाथों में लौह-वज्र ग्रहण किया और हमारे देखने के लिये आकाश में सूर्य को स्थापित किया। ·· १२. इस व्यापक अन्तरिक्ष के ऊपर रहकर निज भुजबल से तुमनें हमारी रक्षा के लिये भूलोक की सृष्टि की है।[६४] तुम बल के परिमाण हो; तुम सुगन्तव्य अन्तरिक्ष और स्वर्ग व्याप्त किये हुये हो। १३. तुम विपुलायतना पृथिवी के परिमाण हो, तुम दर्शनीय देवों के बृहत् स्वर्ग के पालनकारी हो। सचमुच तुम अपनी महिमा-द्वारा समस्त अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुये हो।[६५] फलतः तुम्हारे समान कोई नहीं।[६६] १४. जिन इन्द्र की व्याप्ति को द्युलोक और पृथिवीलोक नहीं पा सके हैं, अन्तरिक्ष के ऊपर का प्रवाह जिनके तेज का अन्त नहीं पा सका है, वही इन्द्र! तुम अकेले अन्य सारे भूतों को अपने वश में किये हुये हो।"

ऋग्वेद १.५५,१ : दिवश् चिद् अस्य वरिमा वि पप्रथे इन्द्र न मह्ना पृथिवी चन प्रति। "आकाश की अपेक्षा भी इन्द्र का प्रभाव विस्तीर्ण है, महत्त्व में पृथिवी भी इन्द्र की समता नहीं कर सकती।"

ऋग्वेद १.६१,९ : अस्य इद् एव प्ररिरिचे महित्वं दिवस् पृथिव्याः परि अन्तरिक्षात् इत्यादि। "द्युलोक, भूलोक, और अन्तरिक्ष की अपेक्षा भी इन्द्र की महिमा अधिक है।"

ऋग्वेद १.८१,५ : आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि। न तावान् इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते अति विश्व ववक्षिथ। "अपने तेज से इन्द्र ने पृथिवी और अन्तरिक्ष को परिपूर्ण किया है, द्युलोक में चमकते नक्षत्र स्थापित किये हैं। इन्द्र देव! तुम्हारे समान न कोई हुआ, न होगा। तुम विशेष रूप से सारे जगत को धारण करो।"

ऋग्वेद १ १०२,८ : त्रिविष्टि धातु प्रतिमानम् ओजसस् तिस्रो भूमीर् नृपते त्रीणि रोचना। अति इदं विश्वम् भुवनं ववक्षिथ अशत्रुर् इन्द्र

---

[६४] तुकी० ऋग्वेद १ १०२,८, २ १२,९, १०.१११,५। 'प्रतिमान' शब्द ऋग्वेद १० १३८,३ मे भी आता है।

[६५] तुकी० ऋग्वेद १.८१ ५, २ १५,२, ६.१७,७, ७ २०,४, ७ ९८,३, और १०.१३४,१।

[६६] तुकी० ऋग्वेद १.८१,५, ४ ३०,१; ६.३०,४; और ७ ३२,२३

जनुषा सनाद् असि। "नर रक्षक इन्द्र! तुम त्रिगुणित रस्सी की भाँति सारे प्राणियों के बल के परिमाण स्वरूप हो। तुम तीनों लोकों में तीन प्रकार के तेज हो। तुम इस संसार को चलाने में पूर्ण समर्थ हो, क्योंकि इन्द्र! तुम बहुत समय से जन्मावधि, शत्रुशून्य हो।"[६७]

ऋग्वेद १.१०३,२ : स धारयत् पृथिवीम पप्रथश्च वज्रेण हत्वा निर् अपः ससर्ज्ज। अहन्न् अहिम् इत्यादि। "इन्द्र ने पृथिवी को धारण और विस्तृत किया है। इन्द्र ने वज्र द्वारा वृत्र का वध करके वृष्टि-जल को बाहर किया है। उन्होंने अहि को मारा है। इत्यादि।"

ऋग्वेद १.१२१,२ ' स्तम्भीद् ह द्यां इत्यादि। ३.'''तस्तम्भद् द्यां चतुष्पदे नर्याय द्विपदे। "उन्होंने आकाश को धारण किया, इत्यादि। ३ वे मनुष्यों, चतुष्पदों, और द्विपदों के हितार्थ दृढ़रूप से आकाश धारण करते हैं।"

ऋग्वेद २ १२,१ (निरुक्त १०.१०) : यो जातः एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्[६८]। यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः। २. यः पृथिवीं व्यथमानाम् अदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्याम् अस्तभ्नात स जनास इन्द्रः। ६.'''यो विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव यो अच्युत-च्युत् स जनास इन्द्रः। १३ द्यावा चिद् अस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच् चिद् अस्य पर्वताः भयन्ते, इत्यादि।

"मनुष्यो या असुरो! जो प्रकाशित है, जिन्होंने जन्म के साथ ही देवों मे प्रधान और मनुष्यों मे अग्रणी होकर वीरकर्म द्वारा सारे देवों को विभूषित किया था, जिनके शरीर-बल से द्यावा-पृथिवी भीत हुई थी, और जो महती सेना के नायक थे, वे ही इन्द्र हैं। २. मनुष्यो या असुरो! जिन्होंने व्यथित पृथिवी को दृढ़ किया है, जिन्होंने प्रकुपित पर्वतों को नियमित किया है, जिन्होंने प्रकाण्ड अन्तरिक्ष को बनाया है,[६९] और जिन्होंने द्युलोक को निस्तब्ध

---

[६७] तुकी० ऋग्वेद ८ २१,१३, १० १३३,२।

[६८] 'क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षद् अत्यक्रामद् वा। नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन', निरुक्त। अन्त मे टीकाकार इतना और जोड देता है . 'इति ऋषेर् दृष्टार्थस्य प्रीतिर् भवत्य् आख्यान-संयुक्ता।"

[६९] तुकी० ऋग्वेद १.१५४,१ ३ तथा अन्य समानान्तर स्थल। ऋग्वेद २ १५,३ भी देखिये। मन्त्र के प्रथम अंश के साथ ऋग्वेद १० १४९,१ की तुलना कीजिये।

किया है वे ही इन्द्र हैं। ९. "जो सारे संसार के प्रतिनिधि हैं, जो क्षय-रहितों को भी नष्ट करते हैं, वे ही इन्द्र हैं। १३. ' द्यावापृथिवी उन्हें प्रणाम करती हैं; उनके बल के आगे पर्वत भी काँपते हैं,' इत्यादि।"

ऋग्वेद २.१५,१ : प्र घ नु अस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्। त्रिकद्रुकेषु अपिबत् सुतस्य अस्य मदे अहिम् इन्द्रो जघान। २. अवंशे द्याम् अस्तभायद् बृहन्तम् आ रोदसी अपृणद् अन्तरिक्षम्। स धारयत् पृथिवीम् पप्रथच्च सोमस्य ता मदे इन्द्रश् चकार। ३. सद्मेव प्राचो विममाय मानैर् वज्रेण खानि अतृणद् नदीनाम् इत्यादि।

"मैं सत्य-संकल्प इन्द्र की यथार्थ और महती कीर्त्तियों का वर्णन करता हूँ। इन्द्र ने त्रिकद्रु यज्ञ में सोमपान किया है। सोमजन्य प्रसन्नता होने पर इन्द्र ने अहि का वध किया। २. आकाश में इन्द्र ने द्युलोक को रोक रक्खा है।[७०] द्यावा-पृथिवी और अन्तरिक्ष को अपने तेज से पूर्ण किया है। विस्तीर्ण पृथिवी को धारण तथा प्रसिद्ध किया है। सोमजन्य हर्ष उत्पन्न होने पर इन्द्र ने यह सब कार्य किया है। ३. यज्ञगृह की भाँति इन्द्र ने नाप करके सारे संसार को पूर्वाभिमुख करके बनाया, उन्होंने वज्र द्वारों को खोल दिया,' इत्यादि।"

ऋग्वेद ३.३०,८ : नि सामनाम इषिराम् इन्द्र भूमिम् महीम् अपाराम् सदने ससत्थ। अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम् अर्षन्तु आपस त्वयेह प्रसूताः। "इन्द्र, तुमने महती, अनन्ता और चला[७१] पृथिवी को समभावापन्न करके उसके स्थान में निविष्ट किया था। अभीष्टवर्षक इन्द्र ने द्युलोक और अन्तरिक्ष को इस प्रकार धारण किया कि वे पतित न हों। इन्द्र ! तुम्हारा प्रेरित जल पृथिवी पर आये।"

ऋग्वेद ३.३२,७ : यजाम इद् नमसा वृधम् इन्द्रम् बृहन्तम् ऋष्वम् अजरं युवानम्। यस्य प्रिये ममतुर् यज्ञियस्य न रोदसी महिमानम् ममाते। ८. इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे। दाधार यः पृथिवीं द्याम् उतेमां जजान सूर्यम् उषसं सुदंसाः। ९. अद्रोघ सत्यं तव तद् महित्वं सद्यो यज् जातो अपिबो ह सोम। न द्याव इन्द्र तवसस् ते ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त।[७२]

---

[७०] तुकी० ऋग्वेद १०.१४९,१; और जाँव २६.७। देखिये ऋग्वेद १०.१११,५ और ६.७२,२ भी।

[७१] प्रो० रॉथ 'इषिर' का 'ताजा', 'पुष्पित—प्रफुल्लित' आदि अर्थ करते हैं।

[७२] तुकी ऋग्वेद ८.७७,३ : न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्ते।

"फलतः हम हव्य द्वारा प्रवृद्ध और महान्, अजर और नित्य तरुण स्तोतव्य इन्द्र की पूजा करते हैं। परिमाणशून्य[73] द्यावापृथिवी यज्ञार्ह इन्द्र की महिमा को परिमित नहीं कर सकती। ८. सारे देवगण इन्द्र के कर्म की हिंसा नहीं कर सकते। इन्द्रदेव भूलोक, द्युलोक, और अन्तरिक्ष को धारण किये हुये हैं। उनका कर्म रमणीय है। उन्होंने सूर्य और उषा को उत्पन्न किया।[74] ९. दौरात्म्यशून्य इन्द्र! तुम्हारी महिमा ही वास्तविक महिमा है; क्योंकि तुम उत्पन्न होकर ही सोमपान करते हो। तुम बलवान् हो। स्वर्गादिलोक तुम्हारे तेज का निवारण नहीं कर सकते। दिन, मास, और वर्ष भी निवारण नहीं कर सकते।"

ऋग्वेद ३ ४४,३ : द्याम् इन्द्रो हरिधायसम् पृथिवीं हरिवर्पसम्। अधारयद् इत्यादि। "हरिवर्ण रश्मिवाले द्युलोक को तथा ओषधियों से हरिद्वर्ण पृथिवी को इन्द्र ने धारण किया।"

ऋग्वेद ४.१६,५ : ववक्षे इन्द्रो अमितम् ऋजीषी उभे आ प्रपौ रोदसी महित्वा। अतश् चिद् अस्य महिमा विरेचि अभि यो विश्वा भुवना बभूव। "ऋजीषी[75] इन्द्र अमित महिमा धारण करते हैं। वे अपनी महिमा के बल से द्यावा और पृथिवी दोनों को परिपूर्ण करते हैं। इन्द्र ने समस्त भुवनों को अभिभूत किया, उनकी महिमा समस्त भुवनों से अधिक है।"

ऋग्वेद ४.३०,१ : नकिर् इन्द्र त्वद् उत्तरो न ज्यामान् अस्ति वृत्रहन्। नकिर् एव यथा त्वम्। "वृत्रनाशक इन्द्र! लोक में तुम्हारी अपेक्षा कोई भी उत्कृष्टतर नहीं है, तुम्हारे समान भी कोई नहीं है।"

ऋग्वेद ६.१७,७ : प्राप्राथ क्षाम् महि दंसो वि ऊर्वीम् उप द्याम् ऋष्वो बृहद् इन्द्र स्तभायः। अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य। "हे इन्द्र! तुमने अपने महान् कर्मों से विस्तीर्ण पृथिवी को पूर्ण किया है।

[73] सायण 'प्रिये' की 'अपरिमिते' व्याख्या करते हैं। देखिये ७ ८७,२ भी।

[74] डा० आफरेख्त यहाँ 'मा' धातु के दो रूपों में प्रयोग को निरर्थक मानते हुये यह मत व्यक्त करते हैं कि 'मन्' का पूर्ण रूप 'ममतु' हो सकता है और इसका 'ममन्तु' अथवा 'मम्नतु' के लिये प्रयोग किया गया है। तुकी० 'ससन्वान' के लिये 'ससवान्'; तथा 'अमत' आदि की तुलना कीजिये। देखिये ऋग्वेद ७.३१,७ भी 'महान् असि यस्य तेऽनु स्वधावरी सह। मम्नाते इन्द्र रोदसी।'

[75] देखिये 'ऋजीषिन्' शब्द के अन्तर्गत बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश; ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेन्ट मे ऋग्वेद १.३२,६ पर बेनफे की टिप्पणी।

तुमने महान् द्युलोक को धारण किया है जिससे वह पतित न हो। तुमने द्यावापृथिवी को धारण किया है। देवता द्यावा-पृथिवी के पुत्र हैं। द्यावा-पृथिवी पुरातन यज्ञ के निर्माता तथा महान् हैं।"

ऋग्वेद ६.३०,४ : सत्यम् इत् तद् न त्वावान् अन्यो अस्ति इन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान इत्यादि। "हे इन्द्र! यह सत्य है कि तुम्हारे सदृश कोई देव, कोई मनुष्य, अथवा कुछ और नहीं है।" इत्यादि।

ऋग्वेद ६.३१,२ : त्वद् भिया इन्द्र: पार्थिवानि विश्वा अच्युता चित् च्यावयन्ते रजांसि। द्यावा-क्षामा पर्वतासो वनानि विश्व हळ्हम् भयते अज्मन्न् आते। "हे इन्द्र! तुम्हारे भय ने व्यापक अन्तरिक्षोद्भूत उदक पतनयोग्य न होने पर भी बरसाये जाते है। तुम्हारे आगमन से द्यावा-पृथिवी, पर्वत, वृक्ष और सम्पूर्ण स्थावर प्राणिजात भीत होते हैं।"

ऋग्वेद ६.३८,३ : तं वो धिया परमया पुराजाम् अजरम् इन्द्रम् अभि अनूषि अर्कैर् इत्यादि। "हे इन्द्र! तुम प्राचीन और क्षयरहित हो। हम उत्कृष्टतम स्तुति और हव्य द्वारा तुम्हारा स्तवन करते है, इत्यादि।"

ऋग्वेद ७.२०,४ : उभे चिद् इन्द्र रोदसी महित्वा आ पप्राथ तुविषीभिस् तुविष्मः इत्यादि। "बहुधनशाली इन्द्र! तुमने अपनी महिमा और बल से द्यावा-पृथिवी दोनों को परिपूर्ण किया है।" इत्यादि।

ऋग्वेद ७.३२,१६ : तव इद् इन्द्र अवमं वसु त्वम् पुष्यसि मध्यमम्। सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिस् त्वा गोपु वृण्वते। ...२२. अभि त्वा शूर नोनुमः अदुग्धाः इव धेनवः। ईशानम् अस्य जगतः स्वर्दृशम् ईशानम् इन्द्र तस्थुषः। २३. न त्वावान् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जानिष्यते इत्यादि।[७६]

"इन्द्र! पृथिवीस्थ धन तुम्हारा ही है। अन्तरिक्षस्थ धन तुम्हारा ही है। तुम सारे उत्तम धनों के कर्ता हो। गौ के सम्बन्ध में तुम्हें कोई भी नहीं हटा सकता। ' २२. वीर इन्द्र! तुम इस जङ्गम पदार्थ के स्वामी हो। तुम स्थावर पदार्थ के ईश्वर और सर्वदर्शक हो। हम अदोहित गौ के समान तुम्हारी स्तुति करते है। २३. धनी इन्द्र! तुम्हारे समान न तो पृथिवी पर किसी ने जन्म लिया और न लेगा', इत्यादि।"

ऋग्वेद ७.९८,३ (=अवे० २०.८७,३): ...आ इन्द्र प्रपाथ उरु अन्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश् चकर्थ। ..."तुमने विस्तृत अन्तरिक्ष को

---

[७६] मूलर: ऐसंलि०, पृ० ५४३ औ बाद, मे इस सम्पूर्ण सूक्त का अनुवाद है।

अपने तेज से पूर्ण किया। युद्ध से देवों के लिये तुमने धन उत्पन्न किया है।"[७७]

ऋग्वेद ८.३,६ (= सावे० २.९३८) : इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच् छवः इन्द्रः सूर्यम् अरोचयत्। इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे, इत्यादि। "अपने बल की महिमा से इन्द्र ने द्यावा-पृथिवी को विस्तारित किया है। इन्द्र ने सूर्य को दीप्त किया है। सारे भुवन इन्द्र द्वारा नियमित हैं, इत्यादि।"[७८]

ऋग्वेद ८.२१,१३ (= सावे० १.३९९, अवे० २०.११४, १) : अभ्रातृव्यो अना त्वम् अनापिर् इन्द्र जनुषा सनाद् असि। युधा इद् आपित्वम् इच्छसे। "इन्द्र! जन्म-काल से तुम शत्रुशून्य हो और चिरकाल से बन्धुहीन हो। जो मैत्री तुम चाहते हो उसे केवल युद्ध द्वारा प्राप्त करते हो।"

ऋग्वेद ८.३६,४ : जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः इत्यादि। "द्युलोक के जनक, पृथिवी के जनक' इत्यादि।"

ऋग्वेद ८.३७,३ : एकराड् अस्य भुवनस्य राजसि इत्यादि! "इन्द्र! तुम इस भुवन के एकमात्र राजा हो', इत्यादि।"

ऋग्वेद ८.५१,२ : अयुजो असमो नृभिर् एकः कृष्टीर् अयास्यः। पूर्वीर् अति प्रवावृधे विश्वा जातान्य् ओजसा इत्यादि। "असहाय, असम देवों में मुख्य और अविनाशी इन्द्र पुरातन प्रजा[७९] को अतिक्रम करके बढ़ते हैं, इत्यादि।"

ऋग्वेद ८.५९, ५ (= सावे० १.२७८) : यद् द्याव इन्द्र ते शत शतम् भूमीर् उत स्युः। न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्याः अनु न जातम अष्ट रोदसी। "इन्द्र! यदि सौ द्युलोक हो जायँ तो भी तुम्हारा परिमाण नहीं कर सकते।

---

[७७] इस मन्त्र के अन्तिम शब्द ऋग्वेद १.५९,५ मे भी आते हैं। 'वरिव' के लिये तुकी० ऋग्वेद १.६३,७ 'अंहो राजन् वरिवः पूरवे क'।' ऋग्वेद ९.९७,१६ मे यह शब्द बहुवचन मे 'वरिवासि कृण्वन्' के रूप मे आता है। निघण्टु २ १० मे इसका अर्थ 'धन' किया गया है।

[७८] इस सूक्त के आठवें मंत्र मे (= सावे० २ ९२४; वाजस० ३३,९७, अवे० २० ९९,२) ये शब्द आते हैं . 'अस्येद् इन्द्रो वावृधे वृष्ण्य शवो मदे सुतस्य विष्णवि।' वाज० स० के भाष्यकार ने यहाँ आये 'विष्णवि' शब्द की 'सर्व-शरीरव्यापके' के रूप मे व्याख्या की है। सायण भी इसे 'कृत्स्न देहस्य व्यापके' कहते हैं।

[७९] डा० आफरेख्त 'पूर्वी कृष्टी.' की इन्द्र के पूर्व के देवताओ के रूप मे व्याख्या करते हैं। देखिये जजओसो० मे डा० रॉथ का लेख भी।

यदि सौ पृथिवियाँ हो जायँ तो भी तुम्हें नहीं माप सकतीं। यदि सौ सूर्य हो जायँ तो भी तुम्हे प्रकाशित नहीं कर सकते। इस लोक में जो कुछ जन्मा है वह और द्यावापृथिवी भी तुम्हारी सीमा नहीं कर सकते।"

इस मन्त्र को उद्धृत करके निरुक्त परिशिष्ट में इस पर संक्षिप्त टीका की गई है (१.१ और बाद): अथेमा अतिस्तुतय इत्य् आचक्षतेऽपि वा सम्प्रत्य एव स्याद् महाभाग्याद् देवतायाः। 'यदि ते इन्द्र शत दिवः शतम् भूमयः प्रतिमानानि स्युर् न त्वा वज्रिन् सहस्रम् अपि सूर्या न द्यावा-पृथिव्याव् अत्य् अभ्यश्नुवीताम् इति। "ये अति स्तुतियाँ हैं, अथवा ये देवता की महिमा के कारण पूर्ण आस्था की अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं।" तदनन्तर अग्नि और वरुण से सम्बद्ध स्थलों को उद्धृत करने के बाद लेखक प्रस्तुत मन्त्र को उद्धृत करके इस प्रकार प्रस्तुत करता है: "हे इन्द्र! यदि सौ आकाश, सौ पृथिवी भी हों तो वे भी तुम्हारी समता नहीं कर सकते। 'हे वज्रिन! एक हजार सूर्य, अथवा आकाश तथा पृथिवी भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते।"

ऋग्वेद ८.६७,५: नकीम् इन्द्रो निकर्त्तवे न शक्रः परिशक्तवे विश्वं शृणोति पश्यति। "इन्द्र किसी का तिरस्कार नहीं करते। इन्द्र किसी से हार नहीं सकते। वे संसार को देखते और सुनते हैं।"[८०]

ऋग्वेद ८.७७,४: योद्धाऽसि क्रत्वा शवसोत दंसना विश्वा जाता अभि मज्मना। आ त्वा अयम् अर्क ऊतये ववर्त्तति यं गोतमा अजीजनन्। ५. (सावे० १.३१२) प्र हि रिरिक्षे ओजसा दिवो अन्तेभ्यस[८१] परि। न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवम् अनु स्वधां ववक्षिथ। "इन्द्र! कर्म और बल के द्वारा तुम शत्रुओं के विनाशक हो। तुम अपने कर्म और बल द्वारा सारी वस्तुओं को जीत लेते हो। देवों का पूजक यह स्तोता, अपनी रक्षा के लिये, तुममें अपने को लगाता है। गौतमों ने तुम्हें आविर्भूत किया। ५. द्युलोक-पर्यन्त प्रदेश से भी तुम प्रधान हो। पार्थिव लोक तुम्हे व्याप्त नहीं कर सकता। तुम हमारा अन्न ले जाने की इच्छा करो।"[८२]

---

[८०] त्सीगे० मे मूलर ने इस सूक्त का अनुवाद किया है (१८५३, पृ० ३७५)

[८१] 'अन्तेभ्य' के बदले सावे० मे 'सदोभ्य' है।

[८२] इस मंत्र के अन्त मे सावे० का पाठ यह है 'अति विश्वम् ववक्षिथ।' 'स्वधा' के आशय के लिये देखिये रॉथ इल० ऑफ निरुक्त, पृ० ४० और बाद, तथा १५३।

ऋग्वेद ८.७८,५ (= सावे० २.७७९ और बाद) : यज् जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्र-हत्याय । तत् पृथिवीम् अप्रथयस् तद् अस्तभ्ना उत द्याम् । ६. तत् ते यज्ञो अजायत तद् अर्क उत हस्कृतिः । तद् विश्वम् अभिभूर् असि यज् जातं यच्च जन्त्वम् ।[८३]

"अपूर्व धनी इन्द्र ! वृत्रवध के लिये जिस समय तुम प्रगट हुये उस समय तुमने पृथिवी को दृढ किया और द्युलोक को रोका । ६. उस समय तुम्हारे लिये यज्ञ उत्पन्न हुआ और प्रसन्नतादायक मन्त्र उत्पन्न हुये । उस समय तुमने समस्त उत्पन्न और उत्पन्न-होनेवाले ससार को अभिभूत किया ।"

ऋग्वेद ८.८२,११ : यस्य ते नू चिद् आदिश न मिनन्ति स्वराज्य न देवो न अध्रिगुर् जनः । "इन्द्र ! आज भी तुम्हारे बल और राज्य की न तो कोई देवता और न क्षिप्रकारी वीर ही हिंसा कर सकता है ।"

ऋग्वेद ८ ८६,९ : न त्वा देवास आशत न मर्त्यासो अद्रिवः । विश्वा जातानि शवसा अभिभूर् असि इत्यादि । १०. (सावे० १.३७०) विश्वाः पृतना अभिभूतरं नर[८४] सजूस ततक्षुर् इन्द्र जजनुश् च राजसे । क्रत्वा वरिष्ठं वरे[८५] आमुरिम् उताग्रम् ओजिष्ठ तवसम्[८६] तरस्विनम् ।

"वज्रधर इन्द्र ! देवता लोग तुम्हें व्याप्त नहीं कर सकते : मनुष्य भी नहीं कर सकते, इत्यादि । १०. सारी सेना परस्पर मिलकर शत्रुओं के विजेता और नेता इन्द्र को आयुध आदि के द्वारा तीक्ष्ण करते हैं । स्तोता अपने प्रकाशन के लिये यज्ञ में सूर्यरूप इन्द्र की सृष्टि करते हैं । कर्म के द्वारा बलिष्ठ और शत्रुओं के सामने विनाशक, उग्र, ओजस्वी, प्रवृद्ध तथा वेगवान् इन्द्र की धन के लिये स्तोता स्तुति करते हैं ।"

ऋग्वेद ८.८७,२ : त्वम् इन्द्र अभिभूर् असि त्वं सूर्यम् अरोचयः । विश्वकर्मा विश्वदेवो महान् असि । "इन्द्र ! तुम शत्रुओं को दबानेवाले हो । तुमने आदित्य को तेज के द्वारा प्रदीप्त किया है । तुम विश्वकर्मा, विश्वदेव और महान् हो ।"

ऋग्वेद १०.४३,५ (= अवे० २०.१७,५, निरु० ५.२२) : कृतं न

---

[८३] तुकी० पुरुष सूक्त (ऋग्वेद १० ९०,२) मे 'यद् भूत यच्च भाव्यम्' शब्दो की ।

[८४] सामवेद मे 'नर ' पाठ है ।

[८५] सामवेद मे 'क्रत्वे वरे स्थेमन्य आमुरीम्' पाठ है ।

[८६] सामवेद मे 'तरस' पाठ है ।

श्वघ्नी विचिनोति देवने संवर्गं यद् मघवा सूर्यं जयत्। न यत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकद् न पुराणो मघवन् न उत नूतनः। "जूए के अड्डे पर जैसे जुआड़ी अपने विजेता को खोजकर परास्त करता है वैसे ही इन्द्र वृष्टि-रोधक[८७] सूर्य को परास्त करते हैं।[८८] इन्द्र! धनाधिपति! कोई भी प्राचीन वा नवीन तुम्हारे वीरत्व के अनुसार कार्य नहीं कर सकता।"

ऋग्वेद १०.४८,३ : मह्यं त्वष्टा वज्रम् अतक्षद् आयसम् मयि देवासो अवृजन्न् अपि क्रतुम्। मम अनीकं सूर्यस्य इव दुस्तरम् माम् आर्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च। "त्वष्टा ने मेरे लिये लौह वज्र बनाया था। देवता मेरे लिये यज्ञ करते है। मेरी सेना सूर्य के समान दुर्गम्य है। वृत्र-वधादि करने के कारण मेरे पास सब जाते हैं।

ऋग्वेद १०.८६,१ (=अवे० २०.१२६,१)··· विश्वस्माद् इन्द्रः उत्तरः। (इन शब्दों को इस सूक्त को प्रत्येक मन्त्र के अन्त में दोहराया गया है) : "इन्द्र अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं।"

ऋग्वेद १०.१११,१ : मनीषिणः प्र भरध्वम् मनीषां यथा यथा मतयः सन्ति नृणाम्। इन्द्रं सत्यैर् एरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर् विदानः। २. ऋतस्य हि सदसो धीतिर् अद्यौत् सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिर् आनट्। उद् अतिष्ठत् तविषेण रवेण महान्ति चिद् सविव्याचा रजांसि। ३. इन्द्रः किल श्रुत्यै अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत् सूर्याय। आद् मेनां कृण्वन्न् अच्युतो भुवद् गोः पतिर् दिवः सनजा अप्रतीतः। ४. इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य व्रता अमिनाद् अङ्गिरोभिर् गृणानः। पुरूणि चिद् नि ततान रजांसि दाधार यो धरुण सत्यताता। ५. इन्द्रो दिवः प्रतिमानम् पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम्। महीं चिद् द्याम् अतनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित् स्कम्भनेन स्कभीयान्।

"स्तोताओ! तुम्हारी बुद्धि का उदय जैसे-जैसे होता है वैसे-वैसे तुम लोग

---

[८७] सायण ने 'सवर्गम्' शब्द की ='संयग् वृष्टेर् वर्जयितारम्' के रूप मे व्याख्या की है। जैसा कि डॉ० ऑफरेख्त ने मुझे सूचित किया है। ये शब्द केवल एक वार ऋग्वेद ८ ६४,१२ मे इस प्रकार आते हैं : 'संवर्गम् स रयिं जय।' देखिये शतपथ ब्रा० १ ७,२,२४ 'पितुर् दायम् उपेयु ''कथं न्व् इमम् अपि सवृञ्जीमहि।' शतब्रा० १ ९,२, ३४ 'सर्वं यज्ञ सवृज्य (= समाप्ति पूर्वं संहृत्य)। ऋग्वेद मे इन्द्र को 'सवृक् समत्सु' कहा गया है।

[८८] यही तुलना ऋग्वेद १० ४२,९ और अवे० ७ ५०,६; २०.८९,७ मे भी आती है।

स्तोत्र पाठ करो। सत्कर्मानुष्ठान करके इन्द्र को बुलाया जाय, क्योंकि वीर इन्द्र स्तोत्र जानने पर स्तोताओं को प्यार करते हैं। २. जल के आधार को धारण करनेवाले इन्द्र प्रकाशित होते हैं। अल्पवयस्क गाय के गर्भ से उत्पन्न वृष जैसे गायों के साथ मिलता है वैसे ही इन्द्र सर्वव्यापी होते हैं। विलक्षण कोलाहल के साथ इन्द्र प्रगट होते हैं। वे वृहत-वृहत जलराशि बनाते हैं। ३. इस स्तोत्र का श्रवण इन्द्र ही जानते हैं। वे जयशील हैं। उन्होंने सूर्य का मार्ग बना दिया है। अविचल इन्द्र ने सोम को प्रगट किया। वे गायों के स्वत्वाधिकारी और स्वर्ग के प्रभु हुये। वे चिरन्तन हैं और उनके विपक्ष में कोई नहीं जा सकता। ४. अङ्गिरा की सन्ततियों ने जिस समय स्तोत्र किया उस समय इन्द्र ने अपनी महिमा से विशाल मेघों[९] का कार्य नष्ट किया। उन्होंने बहुत अधिक जल बनाया। उन्होंने सत्य रूप द्युलोक में बल धारण किया। ५. एक ओर इन्द्र हैं दूसरी ओर द्यावा-पृथिवी। वे सारे सोम-यज्ञों की बातें जानते हैं। वे ताप नष्ट करते हैं। सूर्य के द्वारा उन्होंने प्रकाण्ड आकाश को सुसज्जित किया। वे धारण करने में पटु हैं। मानों खम्भे के द्वारा उन्होंने आकाश को ऊपर धारण कर रक्खा है।"[१०]

ऋग्वेद १०.१३३,२ (= सावे० २.११५१): त्वं सिन्धून् अवासृजः अधराचो अहन् अहिम्। अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे विश्वम् पुष्यसि वार्यम् इत्यादि। "नीचे बहनेवाली जलराशि को तुमने मुक्त किया। तुमने ही अहि का वध किया। इन्द्र! तुम अजेय तथा शत्रु के लिये अवध्य होकर जन्मे हो। तुम्हारे पास सब कुछ है', इत्यादि।"

ऋग्वेद १०.१३४,१ (= सावे० १.३७९) उभे यद् इन्द्र रोदसी आपप्राथ उषा इव। महान्तं त्वा महीना सम्राज चर्षणीनाम्। देवी जनित्री अजीजनद् भद्रा जनित्री अजीजनत्[११] "इन्द्र! तुम उषा के समान द्यावा पृथिवी को तेज से परिपूर्ण करते हो। तुम महान से भी महानतर हो। तुम मनुष्यों के सम्राट हो। तुम्हारी कल्याणमयी माता ने तुम्हें उत्पन्न किया है।"

इन्द्र को चाहे जितने भी महान गुणों से युक्त किया गया हो, हम यहाँ यह देखते हैं कि उन्हें स्वयम्भु नहीं बल्कि एक माता का पुत्र कहा गया है।

---

[९] 'अर्णव' शब्द से यही तात्पर्य है, ऐसा इस स्थल द्वारा व्यक्त होता है: ऋग्वेद १० ६७, २—'इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानम् अभिनद् अर्बुदस्य, इत्यादि।"

[१०] तुकी० ऋग्वेद ६ ७२,२।

[११] बाद के सभी पाँच मन्त्रों मे इस अन्तिम पक्ति को दोहराया गया है।

नीचे के दो स्थलों पर अन्य देवताओं के साथ इन्द्र का उल्लेख है :

ऋग्वेद ६.७२,२ : इन्द्राः सोमा वासयथ उषासम् उत् सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह। उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेन अप्रथतम् पृथिवीम् मातरं वि। "इन्द्र और सोम! तुम उषा को प्रकाशित करो और सूर्य को ज्योति के साथ ऊपर उठाओ : तुमने अन्तरिक्ष के द्वारा द्युलोक को स्तम्भित किया।[१२] तुमने माता पृथिवी को विस्तीर्ण किया है।"

ऋग्वेद ७.८२,५ : इन्द्रा वरुणा यद् इमानि चक्रथुर् विश्वा जातानि भुवनस्य मज्मना। "इन्द्र और वरुण! तुम लोगों ने संसार के सारे प्राणियों का निर्माण किया है।"

अगले स्थले पर वरुण के दिव्य गुणों की प्रशस्ति है :

ऋग्वेद १.२४,८ : उरु हि राजा वरुणश् चकार सूर्याय पन्थाम् अनुएतवै उ इत्यादि। "राजा वरुण ने सूर्य के लिये चौड़े मार्ग का निर्माण किया', इत्यादि।"

ऋग्वेद २.२७,१० : त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्त्ताः। "दिव्य वरुण! तुम देवता हो या मनुष्य सबके राजा हो।" मूलर के ऐसंलि० पृ० ५३४ में उद्धृत।

ऋग्वेद ६.७०,१ : घृतवती भुवनानाम् अभिश्रिया ऊर्वी पृथिवी मधुदुघे सुपेशसा। द्यावा-पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा। "हे द्यावापृथिवी! तुम जलवती, भूतों के आश्रयस्थल, विस्तीर्ण, प्रसिद्ध, जलदोहक, सुरूप, वरुण के धारण द्वारा पृथक् रूप से धारित, नित्य, तथा बहुकर्मा हो।"

ऋग्वेद ७.८६,१ : धीरा तु अस्य महिना जनूषि वियस् तस्तम्भ रोदसी चिद् उर्वी। प्रनाकम् ऋष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रम् पप्रथच् च भूम। "महिमा से वरुण का जन्म धीर अथवा स्थिर हुआ। इन्होंने विशाल द्यावा-पृथिवी को स्थापित कर रक्खा है। इन्होंने आकाश और दर्शनीय नक्षत्र को दो बार प्रेरित किया है। इन्होंने भूमि को विस्तृत किया है।" इस सूक्त का मूलर के ऐसलि० पृ० ५४० और बाद में अनुवाद किया गया है।

ऋग्वेद ७.८७,१ : रदत् पथो वरुणः सूर्याय प्र अर्णांसि समुद्रिया नदीनाम्। सर्गो न सृष्टो अर्वतीर् ऋतायन् चकार महीर् अवनीर् अहभ्यः। २. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् पशुर् न भूणिर् यवसे ससवान्। अन्तर् मही बृहती रोदसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि।

---

[१२] तुकी० ऋग्वेद २.१५,२; १० १११,५; और १०.१४९, १।

"इन्हीं वरुणदेव ने सूर्य के लिये अन्तरिक्ष में मार्ग प्रदान किया था। वरुण ने नदियों को अन्तरिक्ष में उत्पन्न जल प्रदान किया था। अश्व जैसे घोड़ी के प्रति दौड़ता है, वैसे ही शीघ्र जाने की इच्छा करके वरुण ने विशाल रात्रियों को दिन से अलग किया था। २. वरुण! तुम्हारा वायु जगत की आत्मा है। वह जल को चारों ओर भेजता है। घास देने पर जैसे पशु अन्नवान् होता है वैसे ही संसार का भरण करनेवाला वायु अन्नवान होता है। महती और बड़ी द्यावा पृथिवी के बीच के तुम्हारे सारे स्थान लोकप्रिय है।"[१३]

ऋग्वेद ८.४२,१ : अस्तभ्नाद् द्याम् असुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणम् पृथिव्या। आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वा इत तानि वरुणस्य व्रतानि। २. एवा वन्दस्वा वरुण बृहन्त नमस्या धीरम् अमृतस्य गोपाम्। स नः शर्म त्रिवरूथ वियसद् इत्यादि।

"सर्वज्ञ और बली (असुर) वरुण ने द्युलोक को रोक रक्खा था, पृथिवी के विस्तार का परिणाम किया था[१४] और सारे भुवनों के सम्राट् होकर आसीन हुये थे। वरुण के ऐसे अनेक कार्य हैं। २. स्तोता! इस प्रकार बृहत् वरुण की वन्दना करो। अमृत के रक्षक और धीर वरुण को नमस्कार करो। वरुण हमें त्रिविध सम्पन्नता प्रदान करें, इत्यादि।"

अगले स्थल सूर्य, आदित्य अथवा सविता से सम्बद्ध हैं :

ऋग्वेद १.५०,७ : वि द्याम् एषि रजस् पृथ्व् अहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यन् जन्मानि सूर्य। "हे सूर्य! तुम उसी दीप्ति के द्वारा रात्रि के साथ दिवस को उत्पन्न और प्राणियों का अवलोकन करके विस्तृत अन्तरिक्ष लोक में भ्रमण करते हो।"

ऋग्वेद १.१६०,४ : अयं देवानाम् अपसाम् अपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशम्भुवा। वि यो ममे रजसी सुक्रतूयया अजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे। "वे देवों में देवतम और कर्मियों में कर्मश्रेष्ठ है। उन्होंने सर्व सुखदाता द्यावापृथिवी को प्रगट किया है और प्राणियों के सुख के लिये द्यावापृथिवी को विभक्त करते हैं। उन्होंने सुदृढ शङ्कु में इन्हे स्थिर किया है।"[१५]

ऋग्वेद ८.९०, ११.१२ (=सावे० २.११३८.९) : बड् महान् असि सूर्य बड् आदित्य महान् असि। महस् ते सतो महिमा पनस्यते अद्धा

[१३] देखिये ऊपर ऋग्वेद ३ ३२, ७ पर टिप्पणी।

[१४] देखिये ऊपर

[१५] देखिये ऋग्वेद १० १११, ५ और ६.७२, २।

देव महान् असि। बट् सूर्य श्रवसा महान् असि सत्रा देव महान् असि। मह्ना देवानाम् असुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिर् अदाभ्यम्। "सूर्य! सचमुच तुम महान हो; आदित्यतम महान् हो यह बात सत्य है। तुम महान् हो, तुम्हारी महिमा स्तुत है। देव, तुम महान् हो, यह बात सत्य है। तुम सुनने में महान् हो, यह बात सत्य है। देवों में तुम महिमा के द्वारा महान हो, यह बात सत्य है। तुम शत्रुविनाशक और देवों के हितोपदेशक हो। तुम्हारा तेज महान् और अहिंसनीय है।"

ऋग्वेद १०.१४९, १ : सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णाद् अस्कम्भने सविता द्याम् अदृहत्। अश्वम् इव अधुक्षद् धुनिम् अन्तरिक्षम् अतूर्त्ते बद्ध सविता समुद्रम्। २. यत्र समुद्रः स्कभितो वि औनद् अपा नपात् सविता तस्य वेद। अतो भूर् अत आ उत्थित रजो अतो द्यावा-पृथिवी अप्रथेताम्। "नाना यन्त्रों से सविता ने पृथिवी को सुस्थिर रक्खा है। उन्होंने बिना अवलम्बन[१९] के द्युलोक को दृढ़ रूप से बाँध रक्खा है। आकाश में समुद्र

---

[१९] बाद के समयो मे, जैसा कि सुविदित है, पृथिवी को हिन्दू पुराकथाओ मे शेष के मस्तक अथवा किसी अन्य आधार पर टिका कहा जाने लगा। इस प्रकार विष्णु पुराण २ ५,१९ मे यह कथन मिलता है 'स बिभ्रत् शेखरीभूतम् अशेष क्षिति-मण्डलम्। आस्ते पाताल-मूल-स्थ शेषोऽशेषसुरार्चित।" "सभी देवो से स्तुत्य शेष, सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल को एक मुकुट के समान धारण करते है। ये पाताल के मूल हैं।" सिद्धान्त अथवा ज्योतिष ग्रन्थ, फिर भी, यही मानते हैं कि पृथिवी किसी वस्तु पर टिकी नही है। इस प्रकार सिद्धान्त शिरोमणि मे यह कथन है ३.२. "भूमेः पिण्ड. शशाङ्क-ज्ञ-कवि-रवि-कुजेज्यार्कि-नक्षत्र-कक्षा-वृत्तैर् वृत सन् मृद्-अनिल-सलिल-व्योय-तेजोमयोऽयम्। नान्याधारः स्व-शक्त्यैव वियति नियत तिष्ठति इत्यादि, ...४. मूर्त्तो धर्त्ता चेद् धरित्र्यास् तद-अन्यस् तस्याप्यन्योऽस्यैवम् अत्रानवस्था। अन्त्ये कल्प्या चेत्स्व-शक्ति किम् आद्ये किं नो भूमिर् इत्यादि।" इसका श्री एल० विलिकन्सन ने विव० इ० स० १३ मे इस प्रकार अनुवाद किया है ' "२. भूमि का यह पिण्ड, जो मिट्टी, वायु, जल, आकाश, और अग्नि से बना है, पूर्णतया वृत्ताकार है; चन्द्रमा मगल, बुध, सूर्य, बृहस्पति, शुक्र और शनि आदि नक्षत्रो की कक्षा से यह आवृत्त है। इसका कोई आधार नही है। यह अपनी आन्तरिक शक्ति से ही व्योम मे दृढ रूप से स्थित है। इस पर सर्वत्र स्थावर और जङ्गम प्राणी, दनुज, तथा मानव, देवता और दैत्य निवास करते हैं।" ...४. यदि पृथिवी किसी मूर्त्त अथवा चेतन वस्तु पर आधारित होती तब एक द्वितीय आधार की भी आवश्यकता

के समान मेघ अवस्थित हैं। मेघ घोड़े के समान गात्र करते हैं। यह निरुपद्रव स्थान में बद्ध है। इसी से सविता जल निकालते हैं। २. जिस स्थान पर रहकर समुद्र के समान मेघ पृथिवी को आर्द्र करते हैं उस स्थान को जल पुत्र सविता जानते हैं। सविता से पृथिवी, आकाश विस्तीर्ण हुये।"

उपरोक्त मन्त्रों में से प्रथम को यास्क ने उद्धृत करके उस पर इस प्रकार टिप्पणी की है (निरुक्त १०.३२). सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरमयत। अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्याम् अदृंहद् अश्वम् इव अधुक्षद् धुनिम् अन्तरिक्षे मेघम् बद्धम् अतूर्त्ते बद्धम् अतूर्णे इति वाऽत्वरमाणे इति वा सविता समुदितारम् इति। कम् अन्यम् मध्यमाद् एवम् अवक्ष्यत्। आदित्योऽपि सविता उच्यते। "सविता ने अपने उपकरणों से इस पृथिवी को स्थिर किया है। सविता ने अवलम्बन रहित अन्तरिक्ष में द्युलोक को एक घोड़े के समान बाँध रक्खा है। सविता ने अचल अन्तरिक्ष में आबद्ध जलमय मेघों का दोहन किया है। मध्यम देवता (अर्थात् अन्तरिक्ष में निवास करने-वाले देवता) के अतिरिक्त अन्य किसका हम इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं? सूर्य को भी (जो द्युलोक में स्थित हैं) सविता कहते हैं।"

प्रो० रॉथ ने (इल० आफ निरुक्त, पृ० १४३) में इस श्लोक का इस प्रकार अनुवाद किया है 'सविता ने पृथिवी को उपकरणों से दृढ़ किया। उन्होंने अवलम्बन-रहित शून्य में द्युलोक को आबद्ध किया। उन्होंने एक अश्व के समान प्रकम्पित करते हुये अन्तरिक्ष से उस जलधारा का दोहन किया जो अपनी सीमा में स्थित है।" (अपने कोश में रॉथ ने 'धुनि' को 'ध्वनित' आशय प्रदान किया है)। तदनन्तर आप यह मत व्यक्त करते हैं. "यास्क के अनुसार जिस सविता का यहाँ वर्णन किया गया है, उसे वर्षा कराने के अपने कार्य के कारण मध्यम देवता ही मानना चाहिये।"

होती, तथा इस दूसरे के लिये एक तीसरे की। इस प्रकार हमें यहाँ एक अनन्त श्रृङ्खला मिलती। यदि इस श्रृङ्खला के अन्तिम सदस्य को अपनी आन्तरिक शक्ति से ही दृढ मान लें तो हम इसी सदस्य को प्रथम क्यों न मानें अर्थात् इस पृथिवी को? क्योंकि क्या पृथिवी भी शिव का एक रूप नहीं है?" आर्यभट्ट, जो प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक ज्योतिषियों में से सर्वाधिक प्राचीनों में से एक हैं, यहाँ तक मानते हैं कि दिन और रात का कारण पृथिवी का अपनी धुरी पर घूमना है। इन के शब्दों को श्री कोलब्रूक ने (एमेज़, २ ३९२) इस प्रकार उद्धृत किया है 'भू-पञ्जर स्थिरो भूर् एवावृत्यावृत्य प्रातिदैवसिकाव् उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्र-ग्रहाणाम्।"

निम्नलिखित स्थल अग्नि से सम्बद्ध हैं :

ऋग्वेद १.५९,५ : दिवश् चित् ते बृहतो जातवेदो वैश्ववानर प्र रिरिचे महित्वम् । राजा कृष्टीनाम् असि मानुषीणाम् युधा देवेभ्यो वरिवश् चकर्थ । "जातवेदस ! तुम सब प्राणियों को जानते हो । आकाश से भी तुम्हारा माहात्म्य अधिक है । तुम मानव-प्रजाओं के राजा हो । तुमने देवों के लिये युद्ध करके धन का उद्धार किया है ।"

ऋग्वेद १.६७,३ : अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्थम्भ द्याम् मन्त्रेभिः सत्यैर् इत्यादि । "सूर्य की भाँति अग्नि पृथिवी और अन्तरिक्ष को धारण किये हुये हैं । साथ ही सत्य मन्त्र द्वारा आकाश को धारण करते हैं', इत्यादि ।"

अगले मन्त्रों में पर्जन्य की महानता की प्रशस्ति है :

ऋग्वेद ७.१०१,४ : यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस् तिस्रो द्यावस् त्रेधा सस्रुर् आप इत्यादि । ६. स रेतोधा वृषभः शश्वतीना तस्मिन्न् आत्मा जगतश् तस्तुषश्च । (तुकी० ऋग्वेद १.११५,१) । "जिनमें सभी भुवन अवस्थित हैं, जिनमें द्युलोक आदि तीनों लोक स्थित हैं, जिनमें जल तीन प्रकार से निकलता है, इत्यादि । ६. वृषभ की भाँति वे पर्जन्य अनेक ओषधियों के लिये रेत के धारक हैं । स्थावर जङ्गम की देह पर्जन्य में ही रहती है ।"

अगला स्थल गन्धर्वों से सम्बद्ध है :

ऋग्वेद १०.१३९,५ : दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः । "दिव्य गन्धर्व, लोकों को नापनेवाले; इत्यादि ।"

अब मैं स्थलों के जिस अन्तिम वर्ग को उद्धृत करूँगा उसमें सोम की महानता की प्रशस्ति है ।

ऋग्वेद ९.६१,१६ (=सावे० १.४८४) : पवमानो अजीजनद् दिवश् चित्र न तन्यतुम् । ज्योतिर् वैश्वानरम् बृहत् । "त्वरित होते-होते सोम ने वैश्वानर नामक ज्योति को, द्युलोक के चित्र का विस्तार करने के लिये, वज्र के समान उत्पन्न किया ।"

ऋग्वेद ९.८६,२८ : तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसस् त्व विश्वस्य भुवनस्य राजसि । अथेद विश्वम् पवमान ते वशे त्वम् इन्द्रो प्रथमो धामधा असि । २९. त्वं समुद्रो असि विश्ववित् कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मिण । त्वं द्यां च पृथिवींच् चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः । ३०. त्वम् पवित्रे रजसो विधर्मिण देवेभ्यः सोम पवमान पूयसे । त्वाम् उशिजः प्रथमा अगृभ्णत तुभ्येमा विश्वा भुवनानि येमिरे ।

देवता नहीं है जिन्हे वेद में उच्चतम दिव्य गुणों से युक्त किया गया है, बल्कि, इसके विपरीत, इन्हीं गुणों को, कहीं अधिक वार अनेक अन्य देवताओं से भी संयुक्त किया गया है।

प्रो० मूलर के ऐसंलि०, पृ ५३२, से उद्धृत निम्नलिखित स्थल यह दिखाता है कि स्तोओं ने सभी प्रमुख वैदिक देवताओं को स्तुति करते समय श्रेष्ठतम ही माना है :

"जव इन अलग-अलग देवताओं का आवाहन किया जाता है, तब किसी अन्य देवता की श्रेष्ठ अथवा हीन शक्ति के द्वारा इनके गुणों को सीमित नहीं माना जाता। स्तुति के समय प्रत्येक देवता को श्रेष्ठतम, निरपेक्ष तथा एक वास्तविक देवता ही माना जाता है, यद्यपि हमारी समझ से जहाँ अनेक देवता हों वहाँ उनमें श्रेष्ठता का कोई क्रम होना चाहिये। थोड़े समय के लिये कवि की दृष्टि से अन्य सब देवता ओझल हो जाते हैं, और केवल वही देवता, जिसकी वह अपनी इच्छापूर्ति के लिये स्तुति कर रहा होता है, उस समय पूर्ण वैभव के साथ प्रस्तुत होता है। 'देवगण! तुममें न तो कोई बड़ा है और न छोटा, और न तो कोई युवा। तुम सभी वास्तव में महान हो',[९८] स्तुति की एक ऐसी भावना है जिसे यद्यपि इतनी स्पष्टता से व्यक्त नहीं किया गया है जितनी स्पष्टता से मनु वैवस्वत व्यक्त करते है, तथापि यह सम्पूर्ण वैदिक काव्य की पृष्ठभूमि है। यद्यपि कभी कभी देवों की स्पष्टरूप से बड़ों और छोटों के रूप में स्तुति की गई है (ऋग्वेद १.२७,१३), तथापि यह दिव्य शक्तियों को व्यापक रूप से व्यक्त करने का प्रयास मात्र है, और कहीं भी किसी देवता को कहीं-न-कहीं श्रेष्ठतम तथा निरपेक्ष अवश्य कहा गया है। दूसरे मण्डल के पहले सूक्त में अग्नि को विश्व का शासक,[९९] मनुष्यों का अधिपति, बुद्धिमान राजा, पिता, भ्राता, पुत्र, तथा मनुष्यों का सखा कहा गया है,[१००] इतना ही नहीं अन्य सबकी सम्पूर्ण शक्ति तथा सबके नामों तक को अग्नि से संयुक्त किया गया है। यह सूक्त, इसमें सन्देह नहीं कि, आधुनिक रचनाओं मे से एक है; फिर भी यद्यपि इसमें अग्नि को सर्वाधिक उच्चता के पद पर आसीन किया गया है, तथापि ऐसा कुछ नहीं कहा गया है जिसमें अन्य देवों के दिव्य चरित्र में कोई कमी आये। सूक्तों तथा ब्राह्मणों में भी इन्द्र की देवों में

---

[९८] ऋग्वेद ८.३०,१।

[९९] 'त्व विश्वानि स्वनीक पत्यसे', २.१,८। देखिये निरुक्त परिशिष्ट १ मी।

[१००] २ १,९।

सर्वाधिक शक्तिशाली के रूप में प्रशस्ति की गई है, और दसवें मण्डल के एक सूक्त[101] की प्रमुख पंक्ति यह है : 'विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः।' सोम के लिये कहा गया है कि यह महान ही उत्पन्न हुये, और यह सब पर विजय प्राप्त करते हैं।[102] इन्हें लोकों का राजा[103] कहा गया है, यह मनुष्यों की आयु में वृद्धि कर सकते हैं,[104] और एक दृष्टि से इन्हें आकाश, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र तथा विष्णु तक का स्रष्टा कहा गया है।[105] यदि हम इसके बाद के सूक्त को देखें, जो वरुण को सम्बोधित हैं, तो हमें पता लगेगा कि यहाँ यही देवता कवि के मन में श्रेष्ठतम तथा सर्वशक्तिमान हैं। फिर भी, यह एक ऐसा देवता है जिसको प्रायः सदैव एक अन्य देवता, मित्र, के सखा के रूप में ही व्यक्त किया गया है, और प्रस्तुत सूक्त तक के छठवें मन्त्र में मित्र और वरुण की युगल स्तुति है। फिर भी दिव्य तथा श्रेष्ठतम शक्ति के विचार को व्यक्त करने के प्रयास के समय एक मानव-भाषा उससे अधिक और क्या कह सकती है जो कवि ने वरुण के सम्बन्ध में कहा है : "असुर वरुण ! तुम देवता हो या मनुष्य, सबके राजा हो' (ऋग्वेद २.२७, १०), अथवा एक अन्य सूक्त की यह उक्तिः 'तुम सबके अधिपति हो, तुम पृथिवी और आकाश के अधिपति हो।

खण्ड २—आदित्यों में से एक के रूप में विष्णु

वैदिक सूक्तों में आदित्यों अथवा अदिति के पुत्रों की संख्या कहीं सात और कहीं आठ बताई गई है, परन्तु केवल छः देवताओं को ही, जिनमें विष्णु नहीं हैं, नामोल्लेख के साथ इस वर्ग के अन्तर्गत रक्खा गया है।[106] नीचे मैं उन स्थलों को उद्धृत कर रहा हूँ मात्र जिन्हें मैं इस विषय के लिये आवश्यक समझता हूँ।

ऋग्वेद २.२७,१ (निरुक्त १२.३६) : इमा गिरः आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि। शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस् तुविजातो

---

[101] १० ८,६।

[102] ९ ५९।

[103] ९ ९६,१० भुवनस्य राजा।

[104] ९ ९६,१४।

[105] ९ ९६,५।

[106] देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे 'आदित्य। जजओसो० भाग ६ पृ० ६८ और बाद मे आदित्य पर रॉथ का लेख भी देखिये। फिर भी ऋग्वेद १० ८८,११ (निरुक्त ७ २९) मे सूर्य को आदित्य कहा गया है।

वरुणो दक्षो अंशः। "मैं जुहू-द्वारा, सर्वदा शोभन आदित्यों को लक्ष्य कर घृत स्राविणी स्तुति का अर्पण करता हूँ। मित्र, अर्यमा, भग, बहुव्यापक वरुण, दक्ष और अंश मेरी स्तुति सुनें।' यास्क 'तुविजातः' को = 'बहुजातश् च धाता' बना देते हैं और इस प्रकार इसे धाता का द्योतक मानते हैं।

ऋग्वेद ९.११४,३ : सप्त दिशो नाना सूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभिरक्ष नः। "सूर्य के आश्रय के स्थल; जो सात दिशायें हैं, जो होमकर्त्ता सात पुरोहित है, और जो सात आदित्य है, उनके साथ, हे सोम! हमारी रक्षा करो।"

एक अन्य स्थल (ऋग्वेद १०.७२, ८.९) पर, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, यह कहा गया है कि अदिति के आठ पुत्र थे, किन्तु उन्होंने सात ही पुत्र देवों को समर्पित किया और आठवें, मार्त्तण्ड, को छोड़ दिया।

ऊपर उद्धृत प्रथम स्थल (ऋग्वेद २.२७,१) की व्याख्या करते हुये सायण आदित्यों के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त करते हैं : ते च तैत्तिरीये 'अष्टौ पुत्रासो अदितेर्' इत्य् उपक्रम्य स्पष्टम् अनुक्रान्ताः। 'मित्रश्च वरुणश्च धाताच अर्यमाच अंशुश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वांश् च एते' इति। "अदिति के आठ पुत्र, मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, इन्द्र, तथा विवस्वत', इन शब्दों से आरम्भ होनेवाले तैत्तिरीय के स्थल पर उनकी (आदित्यों) स्पष्ट गणना की गई है।"

शतपथ ब्राह्मण (३.१, ३,३ और बाद) में ऋग्वेद १०. ७२, ८.९ के अनुकूल आदित्यों की संख्या आठ ही बताई गई है। किन्तु इसी ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर बारह आदित्यों का उल्लेख है।

शतपथ ब्रा० ६.१,२,८ : स मनसैव वाचम् मिथुन समभवत् स द्वादश द्रप्सान् गर्भ्य अभवत्। ते द्वादश आदित्या असृज्यन्त तान् दिव्य् उपादधात्। "उसने अपने मन के द्वारा वाच में प्रवेश किया। दोनों ने मिथुन किया। वह बारह विन्दुओं से गर्भवती हुई। वही बारह आदित्य हुये। इनको उसने आकाश में स्थित किया।"

शतपथ ब्राह्मण ११.६,३,८ (= बृह० उप० आरण्यक ३.९,५) : कतमे आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्य एते आदित्याः। एते हि इदं सर्वम् आददाना यन्ति। ते यद् इदं सर्वम् आददाना यन्ति तस्माद् आदित्या इति। "आदित्य कितने हैं? एक वर्ष में बारह मास होते है। यही आदित्य हैं। क्योंकि यही इस सबका आदान करते हुये चलते हैं। यतः ये सब का आदान करते हुये चलते हैं अतः इन्हें आदित्य करते हैं।"

निरुक्त २.१३ में आदित्यों की इस प्रकार चर्चा है : आदित्यः।

कस्माद् । आदत्ते रसान् । आदत्ते भासं ज्योतिषाम् । आदीप्तो भासा इति वा । अदितेः पुत्रः इति वा । अल्पप्रयोगं तु अस्य एतद् आर्चाम्याम्नाये सूक्त भाक् "सूर्यम् आदितेयम्" अदितेः पुत्रम । एवम् अन्यासाम् अपि देवतानाम् आदित्य प्रवादाः स्तुतयो भवन्ति । तद् यथा एतद् । मित्रस्य वरुणस्य अर्यम्णो दक्षस्य भगस्य अंशस्य इति । "आदित्य कैसे ? रसों को लाता है,[१०७] ज्योति पुञ्जों का प्रकाश लाता है, या प्रकाश से आदीप्त है। या अदिति का पुत्र है । ऋचाओं के सम्पूर्ण संग्रह में इसका प्रयोग बहुत कम है । केवल एक सूक्त[१०८] मे—'सूर्य को जो अदिति का पुत्र है ।' इसी प्रकार दूसरे देवताओं की भी स्तुतियाँ आदित्य के नाम से होती हैं, जैसे मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग, और अंश की ।"

नीचे दिये जा रहे महाभारत तथा पुराणों के स्थलों से आदित्यों की, यद्यपि इनके नामों का सदैव एक समान ही उल्लेख नहीं है, केवल एक स्थान को छोड़कर जहाँ इन्हें ग्यारह कहा गया है, संख्या बारह बताई गई है । विष्णु को सदैव एक आदित्य बताया गया है; और यतः इन ग्रन्थों की रचना के समय तक सामान्य गुणों की दृष्टि से इनकी महानता में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी, अतः इन्हें बारहों में से सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।

महाभारत १.२५१९, और २५२२ और बाद : मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात् तु इमाः प्रजाः । प्रजज्ञिरे महाभागा दक्ष-कन्यास् त्रयोदश । २५२२ : अदित्या द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः । ये राजन् नामतस् तांस् ते कीर्त्तयिष्यामि भारत । धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस् त्व् अंश एवच । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस् तथा ।

---

[१०७] 'सहस्र-गुणम् उत्स्रष्टुम् आदत्ते हि रसान रवि ।' "क्योकि सूय रसो को ग्रहण करके उन्हे पुन सहस्र गुणो मे प्रदान करता है ।" रघुवश २ १८ । 'अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस् तोय हरति रश्मिभि । तथा हरेत् कर राष्ट्राद् नित्यम् अर्कवत हि तत् ।' "यत आठ मास तक आदित्य अपनी किरणो से जल को खीचता है, अत उसे अपने देश से कर लेने दो, क्योकि यह उसका एक नित्य का कर्म है ।" मनु, ९ ३०५ ।

[१०८] डा० आफरेख्त का अनुमान है कि 'सूक्त-भाक्' शब्द को 'असूक्त-भाक्' पढना चाहिये, क्योकि इनका केवल एक मन्त्र (ऋग्वेद १० ८८, ११, निरुक्त ७ २९) मे ही उल्लेख है । फिर भी, दुर्गाचार्य, जिन्हे रॉथ ने (इल० पृ० २१) उद्धृत किया है, इस प्रकार कहते हैं 'सूक्त-भाग् एव चैतद् अभिधान न हविर्भाक् ।'

एकादशस् तथा त्वष्टा । द्वादशो विष्णुर् उच्यते । जघन्यजस् तु सर्वेषाम् आदित्यानां गुणाधिकः । "कश्यप मरीचि के पुत्र थे : और कश्यप से ये लोग उत्पन्न हुये । दक्ष की तेरह सौभाग्यवती कन्यायें थीं।...२५२२ हे भारत, मैं अब इन बारह भुवनेश्वर आदित्यों का नाम से उल्लेख करूँगा जो अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुये थे : धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र (इन्द्र), वरुण, अंश, भग, विवस्वान् , पूषा, और दसवे सविता; ग्यारहवे त्वष्टा, और बारहवें विष्णु, जो यद्यपि सबसे बाद में उत्पन्न हुये, परन्तु गुणों में अन्य सब आदित्यों से श्रेष्ठ हैं।"

महाभारत १.२५९८ : मरीचेः कश्यपः पुत्र. कश्यपस्य सुरासुराः । जज्ञिरे नृप-शार्दूल लोकानाम् प्रभवस् तु सः । ...२६००. द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्र-मुख्या नराधिप । तेषाम् अवरजो विष्णुर् यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः । "कश्यप से, जो मरीचि के पुत्र थे, हे राजन् , देव और असुर उत्पन्न हुये; और इनसे ही समस्त प्राणी उत्पन्न हुये।... २६०० : शक्र से आरम्भ करके अदिति के बारह पुत्र थे। इनमें से विष्णु सबसे छोटे थे, किन्तु इनमें ही समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं।"

महाभारत १३.७०९२ और बाद : अशो भगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः । तथा धाताऽर्यमा चैव जयन्तो भास्करस् तथा । त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुर् उच्यते । इत्य् ते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति श्रुतिः ।

"अंश, भग, मित्र, जलेश्वर वरुण, धाता, अर्यमा, जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, और बारहवें विष्णुः ये काश्यप के पुत्र, बारह आदित्य है, ऐसी श्रुति है।"

महाभारत ५.३५०१ और बाद : अक्षयश् चाव्ययश् चैव ब्रह्मा लोकपितामहः । तथैव भगवन्तौ तौ नर-नारायणाव् ऋषी । आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुर् एकः सनातनः । अजय्यश् चाव्ययश् चैव शाश्वतः प्रभुर् ईश्वरः । निमित्त-मरणाश् चान्ये चन्द्र-सूर्य-महीजलम् । वायुर अग्निस तथाऽऽकाशं ग्रहास् तारा-गणास् तथा । ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकात्रय सदा । क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः । मुहूर्त्त-मरणास् त्व् अन्ये मानुषा मृगपक्षिणः । "राजन् ! जैसे लोकपितामह ब्रह्म अक्षय और अविनाशी है, उसी प्रकार वे दोनो भगवान् नर=नारायण ऋषि भी हैं। अदिति के सभी पुत्रों में अथवा सम्पूर्ण आदित्यों में एकमात्र भगवान विष्णु ही अजेय, अविनाशी, नित्य, एवं सर्वसमर्थ सनातन परमेश्वर है। अन्य सब लोग तो किसी न किसी निमित्त से मृत्यु को प्राप्त

होते हैं [जैसे कल्पान्त के समय][109] चन्द्रमा, सूर्य, पृथिवी, जल,[110] वायु, अग्नि, आकाश, ग्रह तथा नक्षत्र, ये सभी नाशवान हैं। जगत का विनाश होने के पश्चात् ये चन्द्र सूर्य आदि तीनों लोकों का सदा के लिये परित्याग करके नष्ट हो जाते हैं। फिर सृष्टि काल में इन सब की बारम्बार सृष्टि होती है। इनके अतिरिक्त ये दूसरे जो मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि, मुहूर्त्तमात्र में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।"

विष्णुपुराण १ १५,१२८ और बाद : पूर्व-मन्वन्तरे श्रेष्ठा द्वादशासन् सुरोत्तमाः। तुषिता नामतेऽन्योन्यम् ऊचुर् वैवस्वतेऽन्तरे। उपस्थितेऽतियशसश् चाक्षुषस्यान्तरे मनोः। समवायीकृता. सर्वे समागम्य परस्परम। आगच्छत द्रुतं देवाः अदिति सम्प्रविश्य वै। मन्वन्तरे प्रसूयामस् तन न. श्रेयो भवेद् इति। एवम् उक्त्वा तु ते सर्वे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः। मारीचात् कश्यपाज् जातास् तेऽदित्या दक्ष-कन्यया। तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनर् एव हि। अर्यमा चैव धाताच त्वष्टा पूषा तथैव च। विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च। अंशो भगश् चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृता.। चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वम् आसन् ये तुषिताः स्मृताः। वैवस्वतेऽन्तरे ते वै आदित्या द्वादश स्मृताः। "पूर्व (चाक्षुष) मन्वन्तर में तुषित नामक बारह श्रेष्ठ देवगण थे। ये यशस्वी सुरश्रेष्ठ चाक्षुष मन्वन्तर के पश्चात् वैवस्वत मन्तन्वर के उपस्थित होने पर एक दूसरे के पास जाकर मिले और परस्पर कहने लगे : 'हे देवगण! आओ हम लोग शीघ्र ही अदिति के गर्भ में प्रवेश कर हम वैवस्वत मन्वन्तर में जन्म लें, इसी में हमारा हित है।' इस प्रकार चाक्षुष मन्वन्तर में निश्चय करके उन सब ने मरीचिपुत्र कश्यप के यहाँ दक्षकन्या अदिति के गर्भ से जन्म लिया। वे अतितेजस्वी उसमें उत्पन्न होकर विष्णु, इन्द्र, अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान, सविता, मित्र, वरुण, अंश और भग नामक द्वादश आदित्य कहलाये। इस

---

[109] मैं समझता हूँ कि 'निमित्त-मरण' को व्यावहारिक दृष्टि से इसी अर्थ मे ग्रहण किया जाना चाहिये। देखिये विलसन का विष्णु पुराण पृ० ५६, ६३०, नोट। नारायण ने अपनी महाभारत की टीका मे इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है 'निमित्तम् प्रलयादि-निमित्तम् मरण नाशो येषा ते निमित्त-मरणा।'

[110] रामायण मे इसे सबसे प्रथम कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण और मनु भी देखिये जिन्हे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

इस प्रकार पहले चाक्षुष मन्वन्तर में जो तुषित नामक देवगण थे वे ही वैवस्वत मन्वन्तर में द्वादश आदित्य हुये।"

इसी कथा को प्रायः इन्हीं शब्दों में हरिवंश, १७१ और बाद, में दोहराया गया है।

नीचे हरिवंश का एक अन्य स्थल उद्धृत है: ११५४२ और बाद: अदित्यां जज्ञिरे राजन् आदित्याः कश्यपाद् अथ। इन्द्रो विष्णुर् भगस् त्वष्टा वरुणोऽंशोऽर्यमा रविः। पूषा मित्रश्च वरदो मनुः पर्जन्य एव च। इत्य् एते द्वादशादित्या वरिष्ठास् त्रिदिवौकसः। "कश्यप तथा अदिति से आदित्यों का जन्म हुआ: इन्द्र, विष्णु, भग, त्वष्टा वरुण, अंश, अर्यमा, कवि, पूषा, वरदाता मित्र, मनु, और पर्जन्य—ये वारह आदित्य श्रेष्ठ देवता हैं।

इस ग्रन्थ मे पुनः यह वर्णन है: १२४५६: अर्यमा वरुणो मित्रः पूषा धाता पुरन्दर। त्वष्टा भगोऽंशः सविता पर्जन्यश्चेति विश्रुताः। अदित्यं जज्ञिरे देवाः कश्यपाल् लोक-भावनः। "अर्यमा, वरुण, मित्र, पूषा, धाता, इन्द्र, त्वष्टा, भग, अंश सविता और पर्जन्य—ये लोकभावन देवता कश्यप के अंश और अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुये।"

इस सूची में केवल ग्यारह नाम ही आते हैं।

आगे इसी ग्रन्थ से इसी विषय पर एक अन्य कथा दी जा रही है। यहाँ आदित्यों की एक सर्वथा भिन्न उत्पत्ति कही गई है। यहाँ इन्हें विवस्वत् अथवा मार्त्तण्ड से उत्पन्न वताया गया है।

हरिवंशः ४८९ और बाद: ततो निर्भासितं रूपं तेजसा संहतेन वै। कान्तात् कान्ततरं द्रष्टुम् अधिकं शुशुभे तदा। मुखे निवर्त्तितं रूप तस्य देवस्य गोपतेः। ततः-प्रभृति देवस्य मुखम् आसीत् तु लोहितम्। मुख-रागन्तु यत् पूर्वम् मार्त्तण्डस्य मुख-च्युतम्। आदित्या द्वादशैवेह सम्भूता मुख-सम्भवाः। धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोऽंशो भगस् तथा। इन्द्रो-विवस्वान् पूषा च पर्जन्यो दशमस् तथा। ततस् त्वष्टा ततो विष्णुर् अजघन्यो जघन्यजः। हर्षं लेभे ततो देवो दृष्ट्वाऽऽदित्यान् स्व-देह-जान्।"

"इस प्रकार तेज के छिल जाने से उनका रूप खिल उठा और उनका रूप रम्यातिरम्य होकर अधिक सुशोभित होने लगा। तव से किरणों के स्वामी भगवान सूर्य के मुख का रूप वदल गया। उस समय से उनका मुख रक्तवर्ण हो गया। उन मार्तण्ड के मुख से धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, दसवें पर्जन्य, त्वष्टा, और वारहवें विष्णु उत्पन्न हुये जो अन्त में होने कारण सवसे छोटे होकर भी गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। अपने देह से उत्पन्न इन आदित्यों को देखकर भगवान सूर्य अत्यन्त प्रसन्न हुये।"

यह कथा न केवल अदिति-पुत्रों के रूप में आदित्यों के साधाधारण विवरण के ही विरुद्ध है वरन् स्वयं अपने भी विपरीत है। विवस्वत भी आदित्यों में से एक है, जो विवस्वत से ही उत्पन्न हुये हैं। इसी प्रकार कथा के आरम्भिक अंशों में त्वष्टा पहले से ही विद्यमान हैं। विष्णु पुराण में भी विवस्वत के सम्बन्ध में यही कथा मिलती है, परन्तु यहाँ आदित्यों के जन्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

भागवत पुराण ६.६,२४ और बाद : शृणु नामानि लोकानाम् मातॄणां शंकराणि च। अथ कश्यप-पत्नीनां यत-प्रसूतम् इद जगत्। अदितिर् दितिर् इत्यादि।... ३८. और बाद : अथातः श्रूयतां वशो योऽदितेर् अनुपूर्वशः। यत्र नारायणो देवो स्वांशेनावातरद् विभुः। विवस्वान् अर्यमा पूपा त्वष्टाऽथ सविता भगः। धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्रः उरुक्रमः। "अब तुम कश्यप-पत्नियों के मंगलमय नाम सुनो। ये सब लोक-मातायें हैं। उन्हीं से यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। उनके नाम ये हैं : अदिति, दिति, इत्यादि।... अब क्रमश, अदिति की वंपपरम्परा सुनो। इस वंश में सर्वव्यापक देवाधिदेव नारायण ने अपने अंश से अवतार लिया था। अदिति के पुत्र ये हैं : विवस्वान्, अर्यमा, पूपा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र और उरुक्रम (= विष्णु) : ये बारह आदित्य कहलाये।"

खण्ड ४—शतपथ ब्राह्मण, तैत्तितीय आरण्यक, पञ्चविंश ब्राह्मण, रामायण, महाभारत तथा पुराणों से विष्णु सम्बन्धी आख्यान

निम्नोद्धृत आख्यान में, जिसे शतपथ ब्राह्मण से लिया गया है (इसमें विष्णु को वामन तथा यज्ञ के रूप में सम्पूर्ण पृथिवी पर विजय प्राप्त करनेवाला बताया गया है) वामन अवतार की कथा का बीज निहित हो सकता है।

शतपथ ब्राह्मण १ २,५,१ और बाद : देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यम् इव आसुर्। अथ ह असुरा मेतिरे 'आस्मकम् एव इदं खलु भुवनम्' इति। २. ते ह ऊचुर् 'हन्त इमाम् पृथिवीं विभजामहै तां विभज्य उपजीवाम' इति। ताम् औक्ष्णैश् चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः। ३. तद् वै देवाः शुश्रुवुर् 'विभजन्ते ह वै इमाम् असुराः पृथिवीम् प्रेत तद् एष्यामो यत्र इमाम् असुरा विभजन्ते। के तत. स्याम यद् अस्यै न भजेमहि' इति। ते यज्ञम् एव विष्णुम् पुरस्कृत्य ईयुः। ४. ते ह ऊचुः 'अनु नोऽस्याम पृथिव्याम्

आभजत अस्त्व् एव नोऽप्य् अस्याम् भागः' इति। तेऽसुराः असूयन्त इव ऊचुर् 'यावद् एव एष विष्णुर् अभिषेते तावद् वो दद्मः' इति। ५ वामनो ह विष्णुर् आस। तद् देवा न जिहीडिरे 'महद् वै नोऽदुर् ये नो यज्ञ-सम्मितम् अदुर्' इति। ६. ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिर् अभितः पर्यगृह्णन् 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति दक्षिणतस्। 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति पश्चात्। 'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति उत्तरतः। ७. तं छन्दोभिर् अभितः परिगृह्य अग्निम् पुरस्तात् समाधाय तेन अर्चन्तः श्राम्यन्तश् चेरुः। तेन इमां सर्वाम् पृथिवीं समविन्दन्त। तद् यद् एनेन (अनेन?) इमा सर्वां समविन्दन्त तस्माद् वेदिर् नाम। तस्माद् आहुर् 'यावती वेदिस् तावती पृथिवी' इति। एतया हि इमां सर्वां समविन्दन्त। एवं ह वै इमां सर्वां सपत्नानाम् सवृंक्ते निर्भजत्य् अस्यै सपत्नान् यः एवम् एतद् वेद। ८. सोऽयं विष्णुर् ग्लानश् छन्दोभिर् इतः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्ताद् न आपक्रमणम् आस। स तत एव ओषधीनाम् मूलान्य् उप मुम्लोच। ९. ते ह देवाः ऊचुः 'क नु विष्णुर् अभूत क नु यज्ञोऽभूद्' इति। ते ह ऊचुश् 'छन्दोभिर् इतः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्ताद् न अपक्रमणम् अस्त्य् अत्रैव अन्विछत इति तं खनन्त इव अन्वीषुस् तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस् तस्मात् त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्। तद् उ ह अपि पाञ्चिस् त्र्यङ्गुलाम् एव सौम्यस्य अध्वरस्य वेदिं चक्रे। १०. तद् उ तथा न कुर्याद् इत्यादि।

"देवता और असुर, जो दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे, आपस में स्पर्धा करते थे। तब देवगण मानो हीन हो गये, और असुरों ने विचार किया : 'यह भुवन अब निश्चित रूप से हमारा है।' २. तब उन्होंने कहा : 'आओ हम इस पृथिवी को विभाजित करें, और विभाजित करने के बाद इसी पर रहें।' तब उन लोगों ने तदनुसार वृषभ चर्म से इसे पश्चिम से पूर्व की ओर विभाभित करना आरम्भ किया। ३. देवों ने इसे सुना, और कहा : 'असुर गण इस पृथिवी को विभाजित कर रहे हैं। आओ हम लोग भी वहाँ चलें जहाँ वे इसे विभाजित कर रहे हैं। यदि हम लोग भी इसमें अपना भाग नहीं प्राप्त करेंगे तो हमारा क्या होगा?' विष्णु रूपी यज्ञ को आने करके वे लोग वहाँ आये, ४. और कहा : 'पृथिवी को हमारे अधिकार में करो; हमें भी इसमें अंश दो।' असुरों ने झिझकते हुये कहा : 'हम तुम्हें उतनी भूमि दे सकते हैं जितने पर ये विष्णु लेट सकें।'[१११] ५ अब, विष्णु वामन थे। देवों

[१११] इस आख्यान से इसी के समान अन्य की तुलना कीजिये जिन्हें ऊपर

ने इस शर्त को अस्वीकृत नहीं किया, परन्तु आपस में कहा : 'उन लोगों (असुरों) ने हमें काफी दे दिया; उन्होंने हमें उतना दे दिया है जितना यज्ञ के बराबर है ।' तब विष्णु को पूर्व में स्थित करके उन लोगों ने छन्दों को लेकर उन्हें घेर लिया और कहने लगे : दक्षिण की ओर हम तुम्हें गायत्री छन्द से घेरते हैं', पश्चिम की ओर 'तुम्हें त्रिष्टुभ छन्द से घेरते हैं', उत्तर की ओर 'तुम्हें जगती छन्द से घेरते हैं ।' उन्हें इस प्रकार छन्दों से घेर कर उन लोगों ने पूर्व में अग्नि को स्थित किया, और इस प्रकार यजन तथा श्रम करते रहे । इससे उन लोगों ने इस सम्पूर्ण पृथिवी को प्राप्त कर लिया, और यतः इसी से उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी को प्राप्त किया (समविन्दत), अतः यज्ञ स्थल को 'वेदि' ('विद्' धातु से) कहते हैं । इसीलिये मनुष्य कहते हैं . 'जितनी बड़ी वेदी है उतनी ही बड़ी पृथिवी है', क्योंकि इसी के द्वारा उन लोगों ने सम्पूर्ण पृथिवी को प्राप्त किया था । अतः जो इसे इस प्रकार समझता है, वह इस सब (पृथिवी) को प्रतिद्वन्द्वियों से जीत लेता है, इससे प्रतिद्वन्द्वियों को बहिष्कृत कर देता है । ८. तब श्रान्त होने के कारण यह विष्णु, जो छन्दों तथा पूर्व में अग्नि से घिरे थे, अपक्रमण नहीं कर सके, किन्तु तब उन्होंने ओषधियों के मूल में ऐसा किया । ९. तब देवगण बोले : विष्णु का क्या हुआ ? यज्ञ का क्या हो गया ?' उन्होंने कहा : 'छन्दों से घिरे तथा पूर्व में अग्नि के कारण वह अपक्रमण नहीं कर रहे हैं, उन्हें यहाँ ढूँढ़ो ।' तब भूमि खोद कर उन लोगों ने उन्हें खोजा और तीन अंगुल नीचे उन्हें पाया । इसी लिये वेदि को तीन अंगुल गहरा रखना चाहिये । इसीलिये 'पाञ्चि'[११२] ने भी सोमयज्ञ के लिये इसी प्रकार की वेदिका बनाया । १०. किन्तु और कोई ऐसा न करे", इत्यादि ।

दूसरा आख्यान, जिसे इसी ग्रन्थ से लिया गया है, इस बात का वर्णन करता है कि विष्णु किस प्रकार देवों में प्रमुख हुये और कैसे इन्हें अपना मस्तक खोना पडा । यहाँ भी इन्हें यज्ञ के साथ समीकृत किया गया है :

ऋग्वेद ६ ६९,८ पर टिप्पणी करते हुये ऐतरेय ब्राह्मण ६.१५ से उद्धृत किया गया है ।

[११२] 'पाञ्चि सोम-यागस्यापि वेदिं त्र्यङ्गुल-खाताम् एव मेने ।' "पाञ्चि ने सोचा कि सोमयज्ञ की वेदी भी तीन अङ्गुल गहरी होनी चाहिये ।" शतपथ ब्राह्मण २.१,४,२७ मे आसुरि और माधुकि के साथ पाञ्चि का पुन उल्लेख है, जहाँ भाष्यकार इन्हे तीन मुनि बताता है (आसुरि-प्रभृतयस् त्रयो मुनय.) । देखिये वेबर इण्डिशे स्टूडियन १ १९२, ४३४ ।

शतपथ ब्राह्मण १४.१,१,१ और बाद : देवा ह वै सत्रं निषेदुर् अग्निर् इन्द्रः सोमो मखो विष्णुर् विश्वे-देवा अन्यत्रैव अश्विभ्याम्। २. तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनम् आस। तस्माद् आहुः 'कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्' इति। तस्माद् यत्र क च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तद् एव मन्यते 'इदं देवयजनम्' इति तद् हि देवानां देवयजनम्। ३. ते आसत। 'श्रियं गच्छेम यशः स्याम अन्नादाः स्याम' इति तथो एवेमे सत्रम् आसते 'श्रियं गच्छेम यशः स्याम अन्नादः स्याम' इति। ४. ते ह ऊचुर् 'यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेन आहुतिभिर् यज्ञस्य उदृचम् पूर्वोऽवगच्छात् स नः श्रेष्ठोऽसत् तद् उ नः सर्वेषां सह' इति 'तथा' इति। ५. तद् विष्णुः प्रथमः प्राप। स देवानां श्रेष्ठोऽभवत् तस्माद् आहुर् 'विष्णुर् देवानां श्रेष्ठः इति। ६. स यः स विष्णुर् यज्ञः स। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्य। तद् ह इदं यशो विष्णुर् न शशाक संयन्तुम्। तद् इदम् अप्य् एतर्हि नैव सर्व इव यशः शक्नोति सयन्तुम्। ७. स तिसृ धन्वम् आदाय अपचक्राम। स धनुर्-आर्त्न्यं शिरः उपस्तभ्य तस्थौ। त देवा अनभिधृष्णुवन्तः समन्तम् परिण्यविशन्त। ८. त ह वम्र्य ऊचुः। इमा वै वम्र्यो यद् उपदीकाः। 'योऽस्य ज्याम् अप्यद्यात् किम् अस्मै प्रयच्छेत' इति 'अन्नाद्यम् अस्मै प्रयच्छेम अपि धन्वन्न् अपोऽधिगच्छेत् तथा अस्मै सर्वम् अन्नाद्यम् प्रयच्छेम' इति। ९ तस्य उपपरासृत्य ज्याम् अविजक्षुस् तस्यां छिन्नायां धनुर्-आर्त्न्यौ विष्फुरन्त्यो विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः। १०. तद् घ्रिण् इति पपात। 'तत् पतित्वाऽसाव् आदित्योऽभवत्। अथ इतरः प्राण एव प्रावृज्यत। तद् यद् घ्रिण् अपतत् तस्माद् घर्मः। अथ यत् प्रावृज्यत तस्माद् प्रवर्ग्यः। ११. ते देवाः अब्रुवन्। 'महान् वत नो वीरोऽपादि' इति तस्माद् महावीरः। तस्य यो रसो व्यक्षरत् तम् पाणिभिः सम्ममृजुस् तस्मात् सम्राट्। १२. त देवा अभ्यमृज्यन्त यथा वित्ति वेत्स्यमाना एवं। तम् इन्द्रः प्रथमः प्राप। तम् अन्वङ्गम् अनुन्यपद्यत। तम् पर्यगृह्णात्। तम् परिगृह्य इदं यशोऽभवद् यद् इदम् इन्द्रो यशः। यशो ह भवति य एव वेद। १३. स उ एव मखः स विष्णुः। तत इन्द्रो मखवान् अभवद्। मखवान् ह वै तम् मघवान् इत्य् आचक्षते परोक्षम्। परोक्ष-कामाः हि देवा.। १४. ताभ्यो वम्रीभ्योऽन्नाद्यम् प्रायच्छन्। आपो वै सर्वम् अन्न ताभिर् हि इदम् अभिक्नूयम् इव अदन्ति। यद् इदम् किं वदन्ति। १५. अथ इमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त।... तेन अपशीर्षणा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश् चेरुः।

"अग्नि, इन्द्र, सोम, यज्ञरूप विष्णु आदि देवगण, तथा अश्विनों के अति-

रिक्त अन्य सब देवगण एक यज्ञसत्र के समय उपस्थित थे। २. उनके देवयज्ञ का स्थान कुरुक्षेत्र था। इसीलिये मनुष्य कहते हैं कि कुरुक्षेत्र ही वह क्षेत्र है जहाँ देवगण देवयज्ञ करते हैं। फलस्वरूप, मनुष्य कुरुक्षेत्र के चाहे किसी भी भाग में जाय, वह उसे देवयज्ञ का ही स्थान मानता है क्योंकि यही वह स्थल था जहाँ देवों ने यज्ञ किया था। ३. वहाँ उन्होंने कहा : 'हम यश, श्री, और अन्न आदि प्राप्त करें।' और बिल्कुल उसी तरह ये (मनुष्य) भी यह कहते हुये यज्ञसत्र में आते हैं : 'हम श्री, यश, और अन्नादि प्राप्त करें।' ४. तब (देवों ने) कहा : 'हम में से जो श्रम, तपस्या, श्रद्धा, यज्ञ, और आहुतियों से यज्ञ की उत्पत्ति का पहले ज्ञान प्राप्त करता है, वही हममें सर्वश्रेष्ठ होगा यह हम सबके लिये होगा।' [उन लोगों ने यह कहते हुये सहमति दी] 'ऐसा ही हो।' ५. विष्णु ने सर्वप्रथम इसे [प्रस्तावित उद्देश्य को] प्राप्त कर लिया। वह देवों में सर्वश्रेष्ठ हो गये : इसीलिये मनुष्य कहते हैं : 'विष्णु ही देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं।' ६. जो यह विष्णु है वही यह यज्ञ है। जो यह यज्ञ है वही आदित्य है। विष्णु इस यश को धारण नहीं कर सके।[११३] और अब भी यही स्थिति है कि सभी व्यक्ति यश को धारण नहीं कर पाते। ७. अपने धनुष तथा तीन बाणों को लेकर उन्होंने प्रस्थान किया। वह अपने धनुष के किनारे पर अपना सर रखकर विश्राम कर रहे थे। उन्हें पराभूत करने में असमर्थ होने के कारण देवगण उनके चारों ओर बैठ गये। ८. तब चींटियों ने उनसे (ये चींटियाँ 'उपदीक' ही थीं) कहा : 'तुम उसे क्या दोगे जो धनुष की प्रत्यञ्चा को काट देगा?' [देवों ने कहा] : 'हम उसे अन्न से आनन्दित करेंगे और उसे मरुभूमि तक में जल प्राप्त होगा, इस प्रकार हम उसे अन्नादि का प्रत्येक आनन्द प्रदान करेंगे।' ९. [तब चींटियों ने] निकट आकर उसकी प्रत्यञ्चा को काट दिया। जब वह विभक्त हो गई तब धनुष के दोनों किनारों ने अलग होते हुये विष्णु का सर काट दिया। १०. वह मस्तक 'घृण्' की ध्वनि करता हुआ गिर पड़ा। गिरकर वह आदित्य हुआ। तब उसका शेष धड़ पूर्व की ओर बढ़ा। यत, उसका मस्तक 'घृण्' की ध्वनि के साथ गिरा, अतः 'घर्म' बना, और यत. वह बढ़ा (प्रावृज्यत) अत. 'प्रवर्ग्य' बना। ११. तब देवों ने कहा : 'हमारा एक महान् वीर गिर पड़ा'। अत महावीर (एक यज्ञ पात्र) की उत्पत्ति हुई।[११४] उन लोगों ने उससे बहे रक्त को अपने हाथों

[११३] यहाँ शब्दो का कौशल मात्र प्रतीत होता है। 'यश' से 'स य स विष्णु' इत्यादि, 'स य स यज्ञ' इत्यादि का सन्दर्भ है।

[११४] कात्यायन श्रौत सूत्र २६ मे घर्म, प्रवर्ग्य, और महावीर का विस्तृत विवरण मिलता है।

से पोंछा (सम्ममृजुः)। अतः 'समाट्' नाम की उत्पत्ति हुई। १२. देवों ने उसका (विष्णु का) स्पर्श (?) किया, जैसे 'धन' की इच्छा करनेवाले मनुष्य करते हैं। सबसे पहले इन्द्र उसके पास आये। वह उनके अंग से अङ्ग के सम्पर्क में आये। उसने उनका आलिङ्गन किया। उसका आलिङ्गन करने से वह यह यश हुये, जो इन्द्र हैं। जो इसे ऐसा जानता है वह यशस्वान होता है। १३. वह विष्णु वास्तव में यज्ञ (मख) थे। अतः इन्द्र मखवान् हुये। वह मखवान् है : उन्हें परोक्ष रूप से मघवन् कहते हैं; क्योंकि देवगण परोक्षकामी होते है। १४ उन लोगों (देवों) ने उन चींटियों को अन्न दिया। सभी अन्न जल है, क्योंकि मनुष्य खाये जाने वाले अन्न को जल से सिक्त करते हैं : ऐसी किंवदन्ती है। १५. तब उन लोगों ने इस यज्ञ रूपी विष्णु का तीन अंशों मे विभाजन किया। "उस अपशीर्ष यज्ञ से देवगण अर्चन तथा श्रम करते रहे।"

मैं अगले दो स्थलों के लिये प्रो० वेवर का आभारी हूँ। इनमें से पहला तैत्तिरीय आरण्यक से है, और दूसरा पञ्चविंश ब्राह्मण से। दोनो ही शतपथ ब्राह्मण के उपरोक्त आख्यान से सम्बद्ध है।

तैत्तिरीय आरण्यक : ५.१,१–७ : देवा वै सत्रम् आसत ऋद्धि-परिमित यशस्कामाः। तेऽब्रुवन् "यन् नः प्रथमं यश ऋछात् सर्वेषां नस् तत् सहासद्" इति। तेषां कुरुक्षेत्र वेदिर् आसीत्। तस्यै खाण्डवो दक्षिणार्ध आसीत् तूर्घ्नम् उत्तरार्धः परीणज् जघनार्धो मरव उत्करः। २. तेषाम् मखं वैष्णवं यश आर्छत्। तद् न्यकामयत। तेन अपाक्रामत्। तं देवा अन्वायन् यशोऽवरुरुत्समानाः। तस्य अन्वागतस्य सव्याद् धनुर् अजायत दक्षिणाद् इषवः। तस्माद् इषुधन्वम् पुण्य-जन्म तज्ञ-जन्म हि। ३. तम् एक सन्तम् बहवो न अभ्यधृष्णुवन्। तस्माद् एकम् इषुधन्वं वीरम् बहवोऽनिषुधन्वा न अभिधृष्णुवन्ति। सोऽस्मयत "एकम् मा सन्तम् बहवो न अभ्यधर्षिषुर्" इति। तस्य सिष्मीयाणस्य तेजोऽपाक्रामत्। तद् देवा ओषधीषु न्यमृजुः। ते श्यामाका अभवन्। स्मयाका वै नाम एते। ४. तत् स्मयाकानां स्मयाकत्वम्। तस्माद् दीक्षितेन अपिगृह्य स्मेतव्यं तेजसो धृत्यै। स धनुः प्रतिस्कभ्य अतिष्ठत्। ता उपदीका अब्रुवन्। "वर वृणमहै। अथ वा इमं रन्धयाम। यत्र क च खनाम तद् अपोऽभितृणदाम" इति। तस्माद् उपदीका यत्र क च खनन्ति तद् अपोऽभितृन्दन्ति। ५. वरवृत ह्य् आसाम्। तस्य ज्याम् अप्यादन्। तस्य धनुर् विप्रवमाणं शिर उदवर्त्तयत्। तद् द्यावापृथिवी

अनुप्रावर्त्तत । यत् प्रावर्त्तत तत् प्रवर्ग्यस्य प्रवर्ग्यत्वम् । यद् घ्रॉ इत्य् अपतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम् । महतो वीर्यम् अपप्तद् इति तद् महावीरस्य महावीरत्वम् । ६. यद् अस्याः समभरंस् तत् सम्राजः सम्राटत्वम् । तं स्तृतं देवतास् त्रेधा व्यगृह्णन । अग्निः प्रातःसवनम् इन्द्रो माध्यन्दिनं सवन विश्वेदेवास् तृतीय सवनम् । तेन अपशीर्ष्णा यज्ञेन यजमानाः न आशिषोऽवारुन्धत न सुवर्गं लोकम् अभ्यजयन् । ते देवा अश्विनाव् अब्रवन् । ७. "भिषजौ वै स्थ । इद यज्ञस्य शिर. प्रतिधत्तम्" इति । ताव् अब्रूता "वरं वृणावहै ग्रह एव नाव् अत्रापि गृह्यताम्" इति । ताभ्याम् एतम् आश्विनम् अगृह्णन् । ताव् एतद् यज्ञस्य शिर' प्रत्यधत्तं यत् प्रवर्ग्यः । तेन सशीर्ष्णा यज्ञेन यजमाना अव आशिषोऽरुन्धत । अभि सुवर्गं लोकम् अजयन् । यत् प्रवर्ग्यम् प्रविणक्ति यज्ञस्यैव तच् छिरः प्रतिदधाति । तेन सशीर्ष्णा यज्ञेन यजामानोऽव आशिषोरुन्धेऽभि सुवर्ग लोका जयति । तस्माद् एष अश्विन-प्रवया इव यत् प्रवर्ग्यः ।

"यश की कामना से देवगग एक सर्वाङ्ग पूर्ण यज्ञसत्र में उपस्थित हुये । उन्होंने कहा : 'जो भी यश हम लोगों को सर्वप्रथम प्राप्त होगा वह समान रूप से हम सब का होगा ।' कुरुक्षेत्र उनकी वेदी थी । खाण्डव उसका दक्षिणी, तूर्घ्न उत्तरी, और परीणः पृष्ठ भाग था । उससे खोदी गई मिट्टी मरु थी । २. उनके बीच मख के पास वैष्णव यश आया । इस यश की उसने इच्छा की; और इसके साथ चला गया । देवों ने इस यश की इच्छा से उसका पीछा किया । जब उसका इस प्रकार पीछा किया जा रहा था तब उसके बायें (हाथ) से एक धनुष, और दाहिने हाथ से बाण उत्पन्न हुआ । इसीलिये धनुष तथा बाणों को पुण्यजन्मा कहते हैं, क्योंकि इनकी यज्ञ से उत्पत्ति हुई । ३. बहुत होते हुये भी वे (देवगण) उसे, जो केवल अकेला था, पराभूत नहीं कर सके । अतः बिना धनुष और बाणवाले अनेक व्यक्ति भी धनुष-बाण वाले एक वीर को पराभूत नहीं कर सकते । उसने हँसकर कहा : 'यद्यपि ये अनेक हैं तथापि मुझ अकेले को पकड़ नहीं पा रहे हैं ।' जब वह मुस्करा रहा था तब उससे तेज उत्पन्न हुआ । इसे देवों ने ओषधियों पर रख दिया । तब वे श्यामाक हो गये, क्योंकि ये मुस्करानेवाले (स्मयाका.) हैं । ४. इसीलिये इसका यह नाम है । इसलिये जो व्यक्ति दीक्षित हो उसे कम मुस्कराना चाहिये जिससे वह अपने तेज को धारण किये रहे । वह अपने धनुष पर टिक कर खड़ा हुआ । चींटियों ने (देवों से) कहा : 'हमें एक वर दो, उसके बाद हम उसे पराभूत करेंगे । हम जहाँ भी खोदें हम जल का उद्घाटन करें ।' इसलिये जहाँ भी चींटियाँ खोदती है उन्हें जल प्राप्त होता है । ५. क्योंकि

उन्होंने यही वर माँगा था।[115] उन सब ने उसकी (विष्णु की) प्रत्यञ्चा को कुतर डाला। उसकी धनुष के दोनों किनारे अलग हो गये और इससे उसका सर कटकर ऊपर उछल पड़ा। वह आकाश और पृथिवी में भ्रमण करता रहा। उसके घ्राँ की ध्वनि से गिरने से ही 'घर्म' का नामकरण हुआ। ६. उनके[116] द्वारा उसके समभरण से सम्राट् का नामकरण हुआ। जब वह भूमि पर पड़ा था तब देवों ने उसे तीन भागों में विभक्त किया, अग्नि ने प्रातः सवन लिया; इन्द्र ने माध्यन्दिन सवन और विश्वेदेवों ने तृतीय सवन लिया। इस शीर्ष-विहीन यज्ञ से यजन करते हुये उन लोगों (देवों) ने न तो कोई आशीर्वाद प्राप्त किया और न स्वर्ग को ही जीता। ७. देवों ने आश्विनों से कहा: 'तुम दोनों भिषज हो, इस यज्ञ के सर को पुनः रक्खो।' उन लोगों (अश्विनों ने कहा: 'हमें एक वर दो; हमें भी यहाँ हमारा ग्रह (सोम हवि) प्राप्त हो।' फलस्वरूप देवों ने इस हवि को अश्विनों के लिये भी प्राप्त किया। अश्विनों ने यज्ञ के सर को पुनः लगा दिया, जो यह प्रवर्ग्य है। इस शीर्षयुक्त यज्ञ से यजन करते हुये उन लोगों ने आशीर्वाद प्राप्त किया, स्वर्ग को जीत लिया। जब व्यक्ति प्रवर्ग्य को फैलाता है तब वह यज्ञ के शीर्ष को प्रतिष्ठित करता है। शीर्षयुक्त यज्ञ से यजन करते हुये मनुष्य आशीर्वाद प्राप्त करता है और स्वर्ग को जीत लेता है। इसीलिये यह प्रवर्ग्य मुख्यतः अश्विनों की हवि से सम्बद्ध होता है।"

पञ्चविंश ब्राह्मण ७.५.६ : देवा वै यशस्कामाः सत्रम् आसत अग्निर्

---

[115] जिस शब्द का यह अनुवाद है उसे प्रो० वेबर द्वारा भेजी गई प्रति-लिपि मे रोमन अक्षरो मे 'वारेवृतम्' लिखा गया है। फिर भी इसी प्रकार के ऐतरेयब्राह्मण के दो निम्नोद्धृत स्थलो के आधार पर निर्णय करने पर शुद्ध पाठ 'वरवृतम्' होना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण १ ७ यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्। ते देवा न किञ्चनाशक्नुवन् कर्तुम्।...न प्राजानन्स् तेऽब्रुवन्न् अदितिम् त्वयेम यज्ञ प्रजानामेति'। सा तथेत्य् अब्रवीत्। सा वै वर वृणा इति। वृणीष्वेति। सैतन् एव वरम् अवृणीता मत्प्रायणा यज्ञा. सन्तु मद्-उदयना इति। तथेति। तस्माद् आदित्तश् चरु प्रायणीयो भवत्य्। आदित्य उदयनीयो। वरवृतो ह्य्, अस्या।" ऐतरेय ब्राह्मण २ ३ "अग्निषोमाभ्या वा इन्द्रो वृत्रम् अहस् ताव् एनम् अब्रूताम्। आवाभ्या वै वृतम् अवधीर् वर ते वृणावहा इति। 'वृणाथाम्' इति। ताव् एतम् एव वरम् अवृणाताम्। स्व सुत्यायाम् पशुम्। सु एनयोर् एषोऽच्युतो वरवृती ह्य एनयो.।"

[116] यह स्पष्ट नही है कि (स्त्रीलिङ्ग मे) 'तस्या.' से क्या तात्पर्य है।

इन्द्रो वायुर् मखस् तेऽब्रुवन् 'यन् नो यश ऋच्छात तन् नः सहासद्' इति । तेषां मख यश आर्च्छत् । तद् आदाय अपाक्रामत् । तद् अस्य प्र सहादित्सन्त तम् पर्ययतन्त । स धनुः प्रतिष्टभ्य अतिष्ठत् तस्य धनुर्-आर्त्निर् ऊर्ध्वा पतित्वा शिरोऽछिनत् स प्रवर्ग्योऽभवत् । यज्ञो वै मखः । यत् प्रवर्ग्यम् प्रवृञ्जन्ति यज्ञस्यैव तच् छिरः प्रतिदधति ।

"यश की कामना से अग्नि, इन्द्र, वायु और मख (यज्ञ) आदि देवता यज्ञ-सत्र में उपस्थित हुये । उन्होंने कहा : 'हमें जो सबसे पहले प्राप्त होगा वह हम सब का होगा ।' उनके बीच मख के पास यश आया । इसे लेकर वह चला गया । अन्य ने इसमें अपना भाग प्राप्त करना चाहा । उन लोगों ने उसका पीछा किया । वह अपनी धनुष पर टिककर खड़ा था । धनुष के किनारे ने ऊपर उछल कर उसके सर को काट दिया । वह प्रवर्ग्य बना । मख यज्ञ है । जब मनुष्य प्रवर्ग्य को फैलाते हैं तब वे मख के सर को पुनः यथा-स्थान स्थापित करते हैं ।"

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु से सम्बद्ध ये दो स्थल मिलते हैं : १.१ 'अग्निर् वै देवानाम् अवमो । विष्णुः परमस् । तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः । "देवों में अग्नि निम्नतम तथा विष्णु उच्चतम हैं । अन्य सब देवता इन्हीं के बीच में स्थित हैं ।" ऐसलि०, पृ० ३९०, नोट, में प्रो० मूलर ने यह टिप्पणी की है : "अग्नि और विष्णु की सापेक्षिक महानता के सम्बन्ध में यह स्थल कुछ भी सिद्ध नहीं करता ।" पुनः ऋग्वेद १.१५६,४ को उद्धृत करके १.३० में ऐतरेय यह कहता है : विष्णुर् वै देवाना द्वारपः । स एवास्मा एतद् द्वार विवृणोति । "विष्णु देवों के द्वारपाल हैं, वह उनके लिये द्वार खोलते हैं ।"

रामायण के निम्नलिखित स्थल पर वामन अवतार के बाद के रूप का विवरण मिलता है :

रामायण (श्लेगेल सस्करण) १.२१,२ : इह राम महाबाहो विष्णुर् देव-नमस्कृतः । तपश्-चरण-योगार्थम् उवास स महातपाः । ३. एष पूर्वा-श्रमो राम वामनस्य महात्मनः । सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो यत्र-महातप । ४. अभिभूय च देवेन्द्रम् पुरा वैरोचनिर् बलिः । त्रैलोक्य-राज्यम् बुभुजे बलोत्सेक-मदान्वितः । ५. तत् बलौ तदा यज्ञ यजमाने भयार्दिताः । इन्द्रादयः सुरगणा विष्णुम् ऊचुर् इहाश्रमे । ६. "बलिर् वेरोचनिर् विष्णो यजतेऽसौ महाबल. । काम द सर्व-भूतानाम् महर्द्धिर् असुराधिप । ७. ये चैनम् अधिवर्त्तन्ते याचितार इतस्ततः । यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति । ८. स त्व सुर-हितार्थाय माया-योगम्

उपाश्रितः। वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणम् उत्तमम्। ६.[117] [एतस्मिन्न् अन्तरे राम कश्यपोऽग्नि-सम-प्रभः। अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा। १०. देवी-सहायो भगवान् दिव्य-वर्ष-सहस्रकम्। व्रतं समाप्य वर-दं तुष्टाव मधुसूदनम्। ११. "तपोमयं तपो-राशि तपो-मूर्त्ति तपो धनम्। तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम्। १२. शरीरे तव पश्यामि जगत सर्वम् इदम् प्रभो। त्वम् अनादिर् अनिर्देश्यस् त्वाम् अहं शरणं गतः"। १३. तम उवाच हरिः प्रीतः कश्यपं धूत कल्मषम्। वरं वरय भद्र ते वरार्होऽसि मतो मम। १४. तच् छुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत्। "पुत्रत्वं गच्छ भगवन्न् अदित्या मम चानघ। १५. भ्राता भव यवीयांस् त्वं शक्रस्यासुर-सूदन। शोकार्त्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुम् अर्हसि।" १६. अथ विष्णुर् महातेजा अदित्या समजायत। छत्री भिक्षुक-रूपेण कमण्डलु-शिखोज्ज्वलः।] १७. एवम् उक्तः सुरैर् विष्णुर् वामन रूपम् आस्थितः। वैरोचनिम् उपागम्य त्रीन् ययाचात्मनः क्रमान्। १८ लब्ध्वा च त्रीन् क्रमान् विष्णुः कृत्वा रूपम् अथाद्भुतम्। त्रिभिः क्रमैस् तदा लोकान् आजहार त्रि-विक्रमः। १९. एकेन हि पदा कृत्स्नाम् पृथिवीं सोऽभ्यतिष्ठत। द्वितीयेनाव्ययं व्योम द्यां तृतीयेन राघव। २०. तं चासुरम् बलि कृत्वा पाताल-तल-वासिनम्। त्रैलोक्य राज्यम इन्द्राय ददाव् उद्धृत्य कण्टकम्।

अब मैं नीचे सिग्नोर गोरेसियो के संस्करण से इसी स्थल का उद्धरण दे दे रहा हूँ :

रामायण (गोरेसियो सं०) १.३२,२ : एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः। सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो यत्र महायशाः। ३. विष्णुर् वामन-रूपेण तप्यमानो महत् तपः। त्रैलोक्यराज्येऽपहृते बलिनेन्द्रस्य राघव। [४,५,६ श्लोक शब्दशः श्लेगेल के सस्करण जैसे हैं] ७. त त्वं वामन रूपेण गत्वा भिक्षितुम् अर्हसि। विक्रमांस् त्रीन् महाबाहो दाता हि नियतं स ते। ८. भिक्षितो विक्रमान् एतांस् त्रीन् वीर्य-बल-दर्पितः।

---

[117] ९-१६ श्लोको को श्लेगेल ने प्रक्षिप्त मानते हुये कोष्ठ के भीतर रखकर उचित ही किया है। ८ वें श्लोक की १७ वे से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम के ठीक बाद ही यह द्वितीय (१७ वाँ) श्लोक आरम्भ हुआ होगा। महाभारत और भागवत पुराणो के विवरणो की तुलना कीजिये जहाँ वामन को कश्यप और अदिति का पुत्र कहा गया है। आदित्यो मे से एक के रूप मे भी विष्णु की यही पैतृकता है।

परिभूय जगन्नाथं तुभ्यं वामन रूपिणे। ६. ये ह्य एनम् अभियाचन्ते लिप्समानः स्वम् ईप्सितम्। तान् कामैर् ईप्सितै सर्वान् योजयत्य् असुरेश्वरः। १० स त्वं त्रैलोक्यराज्यं नो हृतम् भूयो जगत् पते। दातुम् अर्हसि निर्जित्य विक्रमैर् भूरिभिस् त्रिभिः। ११. अथ सिद्धा श्रमोनाम सिद्धकर्मा भविष्यति। तस्मिन् कर्मणि ससिद्धे तव सत्य-पराक्रम। [गोरेसियो के संस्करण में उनमें से कोई श्लोक नहीं आते जिन्हें, अर्थात् ९-१६ को, श्लेगेल ने प्रक्षिप्त माना है] १२. एवम् उक्तः सुरैर् विष्णुर् वामनं रूपम् आस्थितः। वैरोचनिम् उपागम्य त्रीण् अयाचत विक्रमान्। [शेष श्लोक शब्दशः श्लेगेल के संस्करण के समान हैं]।

नीचे श्लेगेल के पाठ का अनुवाद दिया जा रहा है :

विश्वामित्र ने कहा : २. "हे महाबाहो राम! पूर्वकाल में यहाँ देववन्दित विष्णु ने तपस्या तथा ध्यान के लिये निवास किया था। ३. हे राम! यह पहले महात्मा वामन का आश्रम था जिसकी सिद्धाश्रम के रूप में प्रसिद्धि थी क्योंकि यहाँ उस महान तपस्वी को सिद्धि मिली थी। ४. पहले विरोचन कुमार, बलि, इन्द्र को पराजित करने के बाद तीनों लोकों का राज्य प्राप्त करके अपनी शक्ति वृद्धि के कारण मदोन्मत्त हो गये। ५. जब बलि एक यज्ञ का आयोजन कर रहे थे, तब भयभीत इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने इसी आश्रम में आकर विष्णु से कहा : ६. 'हे विष्णु! वह विरोचन-कुमार पराक्रमी बलि एक यज्ञ कर रहा है—वह असुरों का समृद्ध अधिपति जो समस्त प्राणियों की इच्छा पूर्ण करता है। ७. इस समय जो भी याचक इधर-उधर से आकर उसके यहाँ याचना के लिये उपस्थित होता है उसे वह समस्त वस्तुयें अर्पित कर देता है। अतः, विष्णु! आप देवताओं के हित के लिये अपनी योगमाया का आश्रय ले वामन रूप धारण करके उस यज्ञ में जाइये और हमारा उत्तम कल्याण-साधन कीजिये।' ९-१० : श्रीराम! इसी समय अग्नि के समान तेजस्वी महर्षि कश्यप धर्मपत्नी अदिति के साथ अपने तेज से प्रकाशित होते हुये वहाँ आये। वे एक सहस्र दिव्य वर्षों तक चलनेवाले महान् व्रत को अदिति देवी के साथ ही समाप्त करके आये थे। उन्होंने वरदायक भगवान मधुसूदन की इस प्रकार स्तुति की :। ११. 'भगवन्! आप तपोमय है। तपस्या की राशि हैं। तप आपका स्वरूप है। आप ज्ञानस्वरूप हैं। मैं, भली-भाँति तपस्या करके उसके प्रभाव से, आप पुरुषोत्तम का दर्शन कर रहा हूँ। १२. प्रभो! मैं इस सारे जगत को आपके शरीर में स्थित देखता हूँ। आप अनादि है। देश, काल, और वस्तु की सीमा से परे होने के कारण आपका इदमित्थ रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता। मैं आपकी शरण में आया हूँ।' १३.

कश्यप जी के सारे पाप धुल गये थे। भगवान् हरि ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे कहा . 'महर्षे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी इच्छा के अनुसार कोई वर माँगो; क्योंकि तुम मेरे विचार से वर पाने के योग्य हो।' १४. भगवान् का यह वचन सुनकर मरीचिनन्दन कश्यप ने कहा : 'भगवन्! आप मेरे और अदिति के पुत्र हो जायें। १५. असुरसूदन! आप इन्द्र के छोटे भ्राता हों और शोक से पीडित हुये इन देवताओं की सहायता करें।' १६. तदनन्तर महातेजस्वी विष्णु अदिति के गर्भ से प्रगट हुये। उनके ऊपर एक छत्र था, और एक भिक्षुक के रूप में शिखा से युक्त वह एक कमण्डलु लिये हुये ज्योतिर्मान होने लगे]। १७. देवों से इस प्रकार सम्बोधित विष्णु ने वामन रूप ग्रहण किया और विरोचन कुमार के पास जाकर तीन पग भूमि की याचना की। १८. तीन पग भूमि की स्वीकृति मिलने पर त्रिविक्रम विष्णु ने अद्भुत रूप धारण किया और तीन पगों से त्रिलोकी को अपने अधिकार में कर लिया। १९. हे राघव! एक पग से उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी पर अधिकार किया; दूसरे से अनन्त अन्तरिक्ष पर और तीसरे से द्युलोक पर अधिकार किया। २०. तब असुरराज बलि को उन्होंने पाताल में निवास प्रदान किया, तथा त्रिलोकी के राज्य को, शत्रु की समाप्ति के बाद, इन्द्र को दे दिया।"

यतः गोरेसियो का पाठ श्लेगेल के पाठ से कुछ भिन्न है अतः मैं उसके उन भागों का नीचे अनुवाद कर रहा हूँ जो भिन्न हैं।

"२. हे राम! यह पूर्वसमय का महात्मा वामन का आश्रम है जिसे सिद्धाश्रम कहते हैं। यहाँ महायशस्वी विष्णु ने सिद्धि प्राप्त की थी। ३. एक वामन के रूप में उन्होंने यहाँ उस समय महान तपस्या की थी जब बलि ने इन्द्र से त्रिलोकी का राज्य छीना था। [४-६ श्लोक शब्दशः श्लेगेल के समान हैं]। ७. 'अब वामन रूप में जाकर, हे महाबाहो! आप तीन पग भूमि की याचना कीजिये; ८. क्योंकि लोकों के अधिपति (इन्द्र) पर अपनी विजय के बाद अपनी शक्ति और पराक्रम के मद में वह निश्चित रूप से वामनरूपी आपको तीन पग भूमि दे देगा। ९. क्योंकि वह असुरराज सभी याचकों की इच्छा पूर्ण करता है। १०. हे लोकाधिपति! तीन विस्तृत पगों से जीतने के बाद आप हमें त्रिलोकी राज्य वापस करें। ११. हे महाबली! जब आप इस कार्य को पूर्ण कर लेंगे तब यह आश्रम सिद्धाश्रम के रूप में विख्यात होगा।' देवों द्वारा इस प्रकार सम्बोधित होने पर विष्णु ने वामन रूप धारण किया और विरोचन कुमार के पास जा कर तीन पग भूमि की याचना की।" [शेष अंश श्लेगेल के अनुरूप है]।

नीचे महाभारत से वामन अवतार के दो संक्षिप्त उद्धरण दिये जा रहे हैं।

महाभारत, १२.३३९,७९ और बाद . वैरोचनस्य बलवान् बलिः पुत्रो महासुरः । अवध्यः सर्व-लोकानाम स देवासुर-रक्षसांम् । भविष्यति स शक्रञ्च स्व राज्याद् चारयिष्यति = (च्यावयिष्यति ?) । त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शचीपतौ । अदित्य द्वादशादित्यः सम्भविष्यामि कश्यपात् । ततो राज्यम् प्रदास्यामि शक्रायामित-तेजसे । देवताः स्थापयिष्यामि स्वेषु स्थानेषु नारद । बलिञ्चैव करिष्यामि पाताल-तल-वासिनम् । दानवञ्च बलिम् श्रेष्ठम् अवध्यम् सर्वदैवतः । "विष्णु ने नारद से कहा : 'विरोचन के एक बलवान् पुत्र होगा जो महासुर बलि के नाम से विख्यात होगा । उसे देवता, असुर, तथा राक्षसों सहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं मार सकेंगे । वह इन्द्र को राज्य से च्युत कर देगा । जब वह त्रिलोकी का अपहरण कर लेगा और शचीपति इन्द्र युद्ध में पीठ दिखाकर भाग जायँगे, उस समय मैं कश्यप के अंश और अदिति के गर्भ से बारहवाँ आदित्य होकर वामन के रूप में प्रगट होऊँगा । मैं तीन पगों से त्रिलोकी को नापकर उसका सारा राज्य अमित तेजस्वी इन्द्र को समर्पित कर दूँगा । नारद ! इस प्रकार मैं सम्पूर्ण देवताओं को यथास्थान स्थापित कर दूँगा । साथ ही, सम्पूर्ण देवताओं के लिये अवध्य श्रेष्ठ दानव बलि को भी पाताल का निवासी बना दूँगा ।"

महाभारत, ३.१२, २५[११८] : अदितेर् अपि पुत्रत्वम् एत्य यादवनन्दने । त्व विष्णुर् इति विख्यात इन्द्राद् अवरजो विभुः । शिशुर् भूत्वा दिवं खञ्च पृथिवीञ्च परन्तप । त्रिभिर् विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवान् असि तेजसा । सम्प्राप्य दिवम् आकाशम् आदित्य-सदने स्थितः । अत्यारोहश्च भूतात्मन् भास्कर स्वेन तेजसा । प्रादुर्भाव-सहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो । अधर्म-रुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः । "यदुनन्दन ! आप अदिति के पुत्र और इन्द्र के छोटे भाई होकर सर्वव्यापी विष्णु के नाम से विख्यात हैं । परन्तप श्रीकृष्ण ! आपने वामनावतार के समय छोटे-से बालक होकर भी अपने तेज से तीन पगों द्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक— तीनों को नाप लिया । भूतात्मन् ! आपने सूर्य के रथ पर स्थित हो द्युलोक और आकाश में व्याप्त होकर अपने तेज से भगवान् भास्कर को भी अत्यन्त प्रकाशित किया है । विभो ! आपने सहस्रों अवतार धारण किये हैं और उन अवतारों में सैकड़ों असुरों का, जो अधर्म में रुचि रखनेवाले थे, वध किया है ।"

---

[११८] देखिये लासन इण्डियन ऐण्टीक्विटीज़, भाग १, पृ० ४८९ नोट, और पृ० ७७९, नोट ।

अगला स्थल, जो इसी अवतार से सम्बद्ध है, विष्णुपुराण से लिया गया है :

विष्णुपुराण ३.१ : मन्वन्तरे तु सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज। वामनः कश्यपाद् विष्णुर् अदित्यां सम्बभूव ह। त्रिभिः क्रमैर् इमान् लोकान् जित्वा येन महात्मना। पुरन्दराय त्रैलोक्यं दत्तं निहतकण्टकम्। "वैवस्वत मन्वन्तर के आने पर विष्णु ने वामन रूप में अदिति तथा कश्यप के पुत्र के रूप में जन्म लिया। इस महान् व्यक्ति ने, तीन पगों से त्रिलोकी को जीतने के बाद, इन्द्र को उनके शत्रुओं का नाश करके इन तीनों लोकों को दे दिया।"

विष्णु के वामन अवतार की कथा का भागवतपुराण के आठवें स्कन्ध के पन्द्रहवें तथा बाद के अध्यायों में विस्तार से कथन है। यतः सम्पूर्ण कथा इतनी बड़ी है कि उसे पूरी तरह यहाँ उद्धृत करना असम्भव है, अतः मैं इन अध्यायों के कुछ चुने हुये स्थलों को उद्धृत करके महत्त्वपूर्ण अंशों का अनुवाद प्रस्तुत करूँगा। कथा इस प्रकार आरम्भ होती है :

भागवतपुराण ८.१५,१ : बलेः पद-त्रयम् भूमेः कस्माद् हरिर् अयाचत। भूतेश्वरः कृपण-वल् लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम्। २. एतद् वेदितुम इच्छामो महत् कौतूहलं हि नः। यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्य् अनागसः।

राजा ने पूछा : "श्रीहरि स्वयं ही सबके स्वामी हैं। फिर उन्होंने दीन-हीन की भाँति राजा बलि से तीन पग पृथिवी की याचना क्यों की? तथा जो कुछ वे चाहते थे वह मिल जाने पर भी उन्होंने बलि को क्यों बाँधा? २. मेरे हृदय में इस बात का बड़ा कौतूहल है कि स्वयं परिपूर्ण यज्ञेश्वर भगवान के द्वारा याचना और निरपराध का बन्धन—ये दोनों कैसे सम्भव हुये? हम लोग यह जानना चाहते हैं।" ऋषि ने कहा (श्लोक ३ और बाद) कि जब इन्द्र ने बलि को पराजित करके उसके प्राण भी ले लिये तब भृगुनन्दन शुक्राचार्य ने उसे पुनः जीवित कर दिया। बलि की सेवा से भृगवंशी ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुये। उन लोगों ने स्वर्ग पर विजय प्राप्त करने की इच्छावाले बलि का महाभिषेक करके उससे विश्वजित नामक यज्ञ कराया। तदनन्तर बहुत बड़ी आसुरी सेना लेकर उसने इन्द्रपुरी पर चढ़ाई की। यहाँ इन्द्रपुरी अमरावती तथा उसके वैभव का विस्तार से वर्णन किया गया है। जब बलि ने इन्द्रपुरी को घेर लिया तब इन्द्र ने अपने गुरु, बृहस्पति, से बलि की शक्ति के सम्बन्ध में पूछा जिसके कारण वह अपराजेय प्रतीत हो रहा था :

गुरु बृहस्पति ने कहा (८.१५,२८ और बाद) : जानामि मघवन् शत्रोर् उन्नतेर् अस्य कारणम्। शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर् ब्रह्म-

वादिभि'। २६. भवद्-विधो भवान् वाऽपि वर्जयित्वेश्वरं हरिम्। नास्य शक्तः पुरः स्थातुम् कृतान्तस्य यथा जनाः। ३०. तस्माद् निलयम् उत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम्। यात कालम् प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर् विपर्ययः। ३१. एष विप्र-बलोदर्कः सम्प्रत्य् ऊर्जित-विक्रम.। तेषाम् एवावमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति।

"हे मघवन्! मैं तुम्हारे शत्रु की उन्नति का कारण जानता हूँ। ब्रह्मवादी भृगुवंशियों ने अपने शिष्य वलि को महान् तेज देकर शक्तियों का आगार बना दिया। २९. सर्वशक्तिमान् भगवान् को छोड़कर तुम या तुम्हारे-जैसा और कोई भी वलि के सामने उसी प्रकार नहीं ठहर सकता, जैसे काल के सामने प्राणी। ३०. इसलिये तुम लोग स्वर्ग को छोड़कर कहीं छिप जाओ और उस समय की प्रतीक्षा करो जब तुम्हारे शत्रु का भाग्य-चक्र पलटे। ३१. इस समय ब्राह्मणों के तेज से वलि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। उसकी शक्ति अत्यन्त बढ़ गई है। जब यह उन्हीं ब्राह्मणों का तिरस्कार करेगा तब अपने परिवार-परिकर के साथ नष्ट हो जायगा।'

(यहाँ यह भविष्यवाणी कि ब्राह्मणों के तिरस्कार के फलस्वरूप वलि का पतन होगा, आगे फलित होती है। देखिये नीचे ८.२०,१४ और बाद)।

अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये इन्द्र तथा अन्य देवों ने स्वर्ग छोड़ दिया और वलि ने उस देवताओं की राजधानी पर अधिकार कर लिया। तब भृगुओं ने उससे सौ अश्वमेध यज्ञ कराये।

इस स्कन्ध का १६ वाँ अध्याय, दैत्यों के हाथों अपने पुत्रों के त्रस्त होने पर देवमाता अदिति के कष्ट के विवरण से आरम्भ होता है। तदनन्तर कुछ समय के बाद उनके पति प्रजापति कश्यप, उनके आश्रम पर आये। उन्होंने अदिति को दु:खी देखकर उनके शोक के कारण के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये। अदिति के उत्तर देने पर उन्होंने इस प्रकार कहा :

वही, ८.१६,१८ और बाद 'एवम् अभ्यर्थितोऽदित्यो कस् ताम् आह-स्मयन्न् इव। अहो माया-बलं विष्णोः स्नेह-बद्धम् इद जगत्। १६. क देहो भौतिकोऽनात्मा क चात्मा प्रकृते' पर'। कस्य के पति-पुत्राद्या मोह एव हि कारणम्। २०. उपतिष्ठस्व पुरुषम् भगवन्तं जनार्दनम्। सर्व भूत-गुहावास वासुदेव जगद्-गुरुम्। २१. स विधास्यति ते कामान् हरिर् दीनानुकम्पनः। अमोघा भगवद्भक्तिर् नेतरेति मतिर् मम।

"अदिति ने जब कश्यप से प्रार्थना की तब वे (क)[११९] कुछ विस्मित होकर बोले : 'बड़े आश्चर्य की बात है। भगवान् की माया भी कैसी प्रबल

[११९] इस शब्द की व्याख्या के लिये देखिये ऊपर नोट ३०।

है। यह सारा जगत स्नेह के बन्धन से बँधा है। १९. कहाँ यह पञ्चभूतों से बना शरीर और कहाँ प्रकृति से परे आत्मा ?[120] न किसी का कोई पति है, न पुत्र है, और न तो सम्बन्धी है।[121] मोह ही मनुष्य को नचा रहा है। २०. प्रिये ! तुम संपूर्ण प्राणियों के हृदय में विराजमान अपने भक्तों के दुःख को मिटानेवाले जगद्गुरु वासुदेव की आराधना करो। २१. वे बड़े दीनदयालु हैं। अवश्य ही वह श्रीहरि तुम्हारी कामनायें पूर्ण करेंगे। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान की भक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है।"

तब अदिति ने पूछा कि अपनी इच्छापूर्ति के लिये वह किस प्रकार विष्णु की आराधना करें। तब कश्यप ने उन्हें पयोव्रत का पालन करने का उपदेश दिया।

अदिति ने तदनुसार यह व्रत किया जिसके बाद पीताम्बर धारण किये हुये, चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा आदि लिये हुये पुरुषोत्तम भगवान श्री-हरि उनके सामने प्रगट हुये। अदिति ने उनकी स्तुति की और भगवान् ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि वह उनकी तपस्या से प्रसन्न है अतः उनकी तपस्या निष्फल नहीं होगी। तदनन्तर भगवान् ने इस प्रकार कहा :

वही ८.१७,१८ और बाद : त्वयार्चितश् चाहम् अपत्यगुप्तये पयोव्रतेनानुगुण समीडितः। स्वांशेन पुत्रत्वम् उपेत्य ते सुतान् गोप्तास्मि मारीच तपस्य् अधिष्ठितः। १९. उपधाव पतिम् भद्रे प्रजापतिम् अकल्मषम्। मा च भावयती पत्याव् एवं रूपम् अवस्थितम्। २०. नैतत् परस्मा आख्येयम् पृष्टयाऽपि कथञ्चन। सर्वं सम्पद्यते देवि देव-गुह्यं सुसंवृतम्। २१. शुक उवाच। एतावद् उक्त्वा भगवांस् तत्रैवान्तरधीयत। अदितिर् दुर्लभं लब्ध्वा हरेर् जन्मात्मनि प्रभोः। उपाधावत् पतिम् भक्त्या परया कृत-कृत्य-वत्। २२. स वै समाधि-योगेन कश्यपस् तद् अबुध्यत। प्रविष्टम् आत्मनि हरेर् अंशं ह्य् अवितथेक्षणः। २३. सोऽदित्यां वीर्यम् आधत्त तपसा चिर-सम्भृतम्। समाहित-मना राजन् दारुण्य् अग्निं यथाऽनिलः।

तुमने अपने पुत्रों की रक्षा के लिये ही विधिपूर्वक पयोव्रत से मेरी पूजा की है। अतः मैं अंश रूप से कश्यप के वीर्य में प्रवेश करूँगा और तुम्हारा पुत्र

[120] तुलना कीजिये रघुवंश १२ क्व सूर्य-प्रभवो वंश क्व चाल्प-विषया मति।

[121] देखिये रामायण, श्लेगेल सं० २ १०८,३ और बाद।

बनकर तुम्हारी सन्तान की रक्षा करूँगा। १९. कल्याणी! तुम अपने पति, कश्यप, में मुझे इसी रूप में स्थित देखो और उन निष्पाप प्रजापति की सेवा करो। २०. देवि! देखो, किसी के पूछने पर भी यह बात दूसरे को मत बताना। देवताओं का रहस्य जितना गुप्त रहता है उतना ही सफल होता है।' २१. शुकदेव जी कहते हैं: इतना कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। उस समय अदिति यह जानकर कि स्वयं भगवान् मेरे गर्भ से जन्म लेंगे, अपने को कृत कृत्य मानने लगीं। भला यह कितनी दुर्लभ बात है! वह बड़े प्रेम से अपने पति कश्यप की सेवा करने लगीं। कश्यप जी सत्यदर्शी थे। उनके नेत्रों से कोई बात छिपी नहीं रहती थी। अपने समाधियोग से उन्होंने जान लिया कि भगवान का अंश मेरे अन्दर प्रविष्ट हो गया है। जैसे वायु काष्ठ में अग्नि का आधान करती है वैसे ही कश्यप ने समाहित चित्त से अपनी तपस्या के द्वारा चिर सञ्चित वीर्य का अदिति में आधान किया।"

मैं इस बात की ओर पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि आदित्यों में से एक होने के रूप में विष्णु कश्यप तथा अदिति के पुत्र भी थे। अतः प्राचीन आख्यान के साथ सम्बन्ध यहाँ सुरक्षित है।

१८ वें अध्याय में इस बात का वर्णन है कि सभी प्राणियों को आह्लादित करते हुये श्रीहरि ने किस प्रकार अदिति के गर्भ से जन्म लिया और फिर कैसे वामन रूप धारण किया।

वही ८.१८,१२ : यत् तद् वपुर् भाति-विभूषणायुधैर् अव्यक्त-चिद् व्यक्तम् अधारयद् हरिः। बभूव तेनैव स वामनो वटुः सम्पश्यतोर् दिव्य-गतिर् यथा नटः। "भगवान् स्वयं अव्यक्त और चित्स्वरूप हैं। उन्होंने जो परम कान्तिमय आभूषण एवं आयुधों से युक्त वह शरीर ग्रहण किया था, उसी शरीर से कश्यप और अदिति के देखते देखते वामन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया—ठीक वैसे ही जैसे नट अपना वेश बदल लेता है।"

तब वह नर्मदा-तट पर भृगुओं द्वारा कराये जा रहे बलि के अश्वमेध यज्ञ में आये।[१२२] बलि ने इस युवक ब्राह्मण वामन का आदारपूर्वक स्वागत और आसन देकर चरण प्रक्षालन किया। आगे कथा इस प्रकार है :

वही ८.१८,२८ और बाद ' तत् पाद शौच जन कल्मषापहं स धर्म-विद् मूर्ध्न्य् अधात् सुमङ्गलम्। यद्देव देवा गिरिशश् चन्द्रमौलिर् दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या। २९. बलिर् उवाच। स्वागतं ते नमस् तुभ्यम्

[१२२] यहाँ यह देखा जा सकता है कि इस यज्ञ का स्थान पृथिवी पर स्थित है, यद्यपि बलि ने इन्द्र के स्वर्गलोक पर भी अधिकार कर लिया था।

ब्रह्मन् किं करवाम ते । ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षाद् मन्ये त्व् आर्य वपुर्-धरम् । ३२. यद् यद् वटो वाञ्छसि तत् प्रतीच्छ मे त्वाम् अर्थिनम् विप्र-सुतानुतर्कये । गां काञ्चनं गुणवद् धाम मृष्टं तथाऽन्न-पेयम् उत वा विप्रकन्याम् । ग्रामान् समृद्धांस् तुरगान् गजान् वा रथांस् तथाऽर्हत्तम् सम्प्रतीच्छ । "भगवान के चरणों का प्रक्षालन परम मंगलमय है। उससे जीवों के सारे पाप-ताप धुल जाते हैं। स्वयं देवाधिदेव चन्द्रमौलि ने अत्यन्त भक्ति भाव से उसे अपने सर पर धारण किया था। आज वही चरणामृत धर्म के मर्मज्ञ, राजा वलि को प्राप्त हुआ। उन्होंने वडे प्रेम से उसे अपने मस्तक पर रक्खा। ' २९. ब्राह्मणकुमार ! आपका स्वागत है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आज्ञा कीजिये मैं आप की क्या सेवा करूँ ? आर्य ! ऐसा प्रतीत होता है कि वडे-वड़े ब्रह्मर्षियों की तपस्या ही स्वय मूर्तिमान् होकर मेरे सम्मुख उपस्थित हुई है। ३२. ऐसा प्रतीत होता है कि आप कुछ चाहते हैं। परम् पूज्य ब्रह्मचारी ! आप जो चाहते हों, गाय, सोना, सामग्रियों से सुसज्जित गृह, पवित्र अन्न, पीने की वस्तु, विवाह के लिये ब्राह्मण की कन्या, सम्पत्तियों से परिपूर्ण ग्राम, घोडे, हाथी, रथ—वह सव आप मुझ से माँग लीजिये। अवश्य ही वह सव मुझसे माँग लीजिये।"

१९ वें अध्याय में वामन ने वलि की कुलपरम्परा की प्रशंसा करते हुये उनकी स्तुतियों का उत्तर दिया, और अन्त में साधारण-सी प्रतीत होनेवाली तीन पग भूमि की याचना की :

वही ८.१९,१६ और वाद : तस्मात् त्वत्तो महीम् ईषद् वृणेऽहं वरदर्षभात् । पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानो पदा मम । १७. नान्यत्ते कामये राजन् वदान्याज् जगदीश्वरात् । नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावद्-अर्थ प्रतिग्रहः । १८. वलिर् उवाच । अहो ब्राह्मण-दायाद वाचस् ते वृद्ध सम्मताः । त्वम् वालो वालिश-मतिः स्वार्थम् प्रत्य् अवुधो यथा । १९. मां वचोभिः समाराध्य लोकानाम् एकम् ईश्वरम् । पद-त्रयं वृणीते योऽवुद्धिमान् द्वीप-दाशुषम् । २०. न पुमान् माम् उपव्रज्य भूयो-याचितुम् अर्हति । तस्माद् वृत्तिकरीम् भूमि वटो कामम् प्रतीच्छ मे । २१. श्री-भगवान् उवाच । यावन्तो विषया. प्रेष्ठास् त्रिलोक्याम् अजितेन्द्रियम् । न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप । २२. त्रिभिः क्रमैर् असन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते । नव-वर्ष-समेतेन सप्तद्वीप-वरेच्छया । ·· २७. तस्मात् त्रीणि पदान्य् एव वृणे त्वद् परदर्षभात् । एनावतैव सिद्धोऽहम् वित्तं यावत् प्रयोजनम् । २८. शुक उवाच । इत्य् उक्तः स

हसन्न् आह वञ्छितम् प्रतिगृह्यताम् । वामनाय महीं दातुं जग्राह जल-भाजनम् ।

"दैत्येन्द्र ! आप मुँह माँगी वस्तु देनेवालों में श्रेष्ठ हैं, इसी से मैं आपसे थोड़ी-सी पृथिवी—केवल अपने पैरों से तीन डग—माँगता हूँ । १७. माना कि आप सारे जगत् के स्वामी और अत्यन्त उदार हैं । फिर भी, आपसे इससे अधिक कुछ नहीं चाहता । विद्वान् पुरुष को केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार ही दान स्वीकार करना चाहिये । इससे वह प्रतिग्रह-जन्य पाप से बच जाता है । १८. राजा बलि ने कहा : ब्राह्मण कुमार ! तुम्हारी बातें तो वृद्धों जैसी हैं, परन्तु तुम्हारी बुद्धि अभी बच्चों की सी ही है । अभी तो तुम बालक ही हो, इसी से अपना हानि-लाभ नहीं समझ रहे हो । १९. मैं तीनों लोकों का एकमात्र अधिपति हूँ, और द्वीप का द्वीप दे सकता हूँ । जो मुझे अपनी वाणी से प्रसन्न कर ले और मुझसे केवल तीन पग भूमि माँगे, उसे भी क्या बुद्धिमान कहा जा सकता है ? २०. जो एक बार कुछ माँगने के लिये मेरे पास आ गया, उसे फिर कभी किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये । अतः अपनी आजीविका चलाने के लिये तुम्हें जितनी भूमि की आवश्यकता हो उतनी मुझसे माँग लो । २१ श्री भगवान् ने कहा : संसार के समस्त वाञ्छित विषय एक मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हैं, यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाला न हो । २२. जो तीन पग भूमि से सन्तोष नहीं कर लेता उसे नौ वर्षों से युक्त एक द्वीप भी दे दिया जाय तो भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता क्योंकि उसके मन में सातों द्वीप पाने की इच्छा बनी रहेगी ।[123]... २७. इसमें सन्देह नहीं कि आप मुँह माँगी वस्तु देनेवालों में शिरोमणि हैं, इसलिये मैं आपसे केवल तीन पग भूमि ही माँगता हूँ । इतने से ही मेरा कार्य बन जायगा । धन उतना ही संग्रह करना चाहिये जितने की आवश्यकता हो । २९. शुक ने कहा : भगवान के इस प्रकार कहने पर राजा बलि हँस पड़े । उन्होंने कहा : 'अच्छी बात है, जितनी तुम्हारी इच्छा हो उतनी ही ले लो ।' यों कह कर वामन को तीन पग पृथिवी का संकल्प करने के लिये उन्होंने जलपात्र उठाया ।"

फिर भी, बलि के आचार्य और पुरोहित, उशना, ने वामन के रूप में विष्णु को पहचान लिया । विष्णु की इच्छा को जानकर उन्होंने हस्तक्षेप करते हुये राजा को याचित भूमि देने से रोका ।

---

[123] इन सप्तद्वीपों और वर्षों के विवरण के लिये प्रस्तुत कृतिका प्रथम भाग देखिये ।

वही ८.१९,२९ और बाद : विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तम् उशना असुरेश्वरम्। जानंश् चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यम् प्राह विदा वरः। ३०. शुक्राचार्य उवाच। एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुर् अव्ययः। कश्यपाद् अदितेर् जातो देवाना कार्य-साधकः। ३१. प्रतिश्रुतं त्वैतस्मै यद् अनर्थम् अजानता। न साधु मन्ये दैत्यानाम् महान् उपगतोऽनयः। ३२. एषते स्थानम् ऐश्वर्य्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्। दास्यत्य् आच्छिद्य शक्राय माया-माणवको हरिः। ३३. त्रिभिः क्रमैर् इमान् लोकान् विश्व-कायः क्रमिष्यति। सर्वस्व विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्त्तिष्यसे कथम्। ३४. क्रमतो गाम् पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः। खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः। ३५. निष्ठाम् ते नरके मन्ये ह्य् अप्रदातुः प्रतिश्रुतम्। प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुम् भवान्। ३६. न तद् दानम् प्रशंसन्ति येन वृत्तिर् विपद्यते। दानं यज्ञस् तपः कर्म लेके वृत्तिमतो यतः।

२९-३०. "उशना सब कुछ जानते थे। उनसे विष्णु की यह लीला छिपी नहीं रही। उन्होंने राजा वलि को पृथिवी देने के लिये तैयार देख कर उनसे कहा। शुक्राचार्य ने कहा : विरोचन कुमार ! ये स्वयं अविनाशी भगवान् विष्णु हैं। देवताओं की कार्यसिद्धि के लिये ये कश्यप-पत्नी अदिति के गर्भ से अवतीर्ण हुये हैं। ३१. तुमने यह अनर्थ न जानकर कि ये तुम्हारा सब कुछ छीन लेंगे, इन्हें दान देने की प्रतिज्ञा कर ली है। यह तो दैत्यों पर बहुत बड़ा अन्याय होने जा रहा है। इसे मैं उचित नहीं समझता। ३२. स्वयं भगवान ही अपनी योगमाया से यहाँ ब्रह्मचारी बनकर बैठे हुये हैं। ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज, और विश्वविख्यात कीर्ति—सब कुछ तुमसे छीन कर इन्द्र को दे देंगे। ३३. ये विश्वरूप हैं। तीन पग में तो ये सारे लोकों को नाप लेंगे। मूर्ख ! जब तुम अपना सर्वस्व ही विष्णु को दे डालोगे तो तुम्हारा जीवान-निर्वाह कैसे होगा। ३४. ये विश्व-व्यापक भगवान एक पग में पृथिवी, और दूसरे पग में स्वर्ग को नाप लेंगे। इनके विशाल शरीर से आकाश भर जायगा। तब इनका तीसरा पग कहाँ जायगा ? ३५. तुम उसे पूरा न कर सकोगे। ऐसी दशा में मैं समझता हूँ कि प्रतिज्ञा करके पूरा न कर पाने के कारण तुम्हें नरक में ही जाना पड़ेगा, क्योंकि तुम अपनी की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ होओगे। ३६. विद्वान् पुरुष उस दान की प्रशंसा नहीं करते, जिसके वाद जीवन-निर्वाह के लिये कुछ वचे ही नहीं। जिसका जीवन उचित रूप से चलता है वही संसार में दान, यज्ञ, तप और परोपकार के कर्म कर सकता है।"

अगले श्लोकों में शुक्राचार्य ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि राजा वलि वामन को दिये अपने वचन को पूर्ण करने के उत्तरदायित्व से किस प्रकार वच सकते हैं।

फिर भी, वलि अपनी प्रतिज्ञा भंग करने के लिये प्रस्तुत नहीं हुये; चाहे इसका कोई भी परिणाम हो। इस पर गुरु शुक्राचार्य ने अपनी अवज्ञा पर राजा वलि को शाप दिया.

वही ८.२०,१४ और बाद. एवम् अश्रद्धितं शिष्यम अनादेशकरं गुरुः। शशाप दैव प्रहितः सत्यसन्धम् मनस्विनम्। १५. दृढम् पण्डितमान्य् अज्ञः स्तब्धोऽस्य अस्मद्-उपेक्षया। मच्-छाशनातिगो यस् त्वम् अचिराद् भ्रश्यसे श्रियः। १६. एव शप्तः स्व-गुरुणा सत्याद् न चलितो महान्। वामनाय ददाव् एनाम् अर्चित्वोदक-पूर्वकम्। १७. विन्ध्या वलिस् तदाऽऽगत्य पत्नी जालक-मालिनी। आनिन्ये कलश हैमम् अवनेजन्य् अपाम् भृतम्। १८. यजमानः स्वय तस्य श्रीमत्-पाद-युग मुदा। अवनिज्यावहद् मूर्ध्नि तद् अपो विश्व-पावानीः।

"१४. जब शुक्राचार्य ने देखा कि उनका शिष्य गुरु के प्रति अश्रद्धालु है तथा उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन कर रहा है तब दैव की प्रेरणा से उन्होंने वलि को शाप दे दिया, यद्यपि वे सत्यप्रतिज्ञ और उदार होने के कारण शाप के पात्र नहीं थे। १५. शुक्राचार्य ने कहा : 'मूर्ख! तू है तो अज्ञानी परन्तु अपने को बहुत पण्डित मानता है। तू मेरी उपेक्षा करके गर्व कर रहा है। तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिये शीघ्र ही तू अपनी लक्ष्मी खो बैठेगा।' १६. राजा वलि वड़े महात्मा थे। अपने गुरु के शाप के विपरीत भी वह सत्य से विचलित नहीं हुये। उन्होंने वामन की विधिपूर्वक पूजा की और हाथ में जल लेकर तीन पग भूमि का संकल्प कर दिया। १७. उसी समय राजा वलि की पत्नी विन्ध्यावली, जो मोतियों के अलङ्कारों से सुसज्जित थीं, वहाँ आई और अपने हाथों वामन के चरण-प्रक्षालन के लिये जल से भरा सोने का कलश लाकर दिया। १८. वलि ने स्वय अत्यन्त आनन्द से उनके सुन्दर-युगल चरणों का प्रक्षालन किया और चरणों के विश्वपावन जल को अपने सर पर चढ़ाया।"

वलि के इस महान कार्य की देवताओं तथा अन्य दिव्य प्राणियों ने अत्यन्त प्रशसा की, उन पर आकाश से पुष्प वरसाये, और एक साथ ही अनेक दिव्य वाद्य वजने लगे। इसी समय, वामन का शरीर वढ़ने लगा :

वही ८.२०,२१ : तद् वामन रूपम् अवर्धताभूतं हरेर् अनन्तस्य गुण-त्रयात्मकम्। भूः ख दिशो द्यौर् विवराः पयोधयस् तिर्यङ्-नृ-देवा ऋषयो यद् आसत। "इसी समय एक अद्भुत घटना घटी। अनन्त भगवान्

का वह त्रिगुणात्मक वामन रूप बढ़ने लगा। वह यहाँ तक बढ़ा कि पृथिवी, आकाश, दिशायें, स्वर्ग-पाताल, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता, और ऋषि—सब के सब उसी में समा गये।"

इस विशाल शरीर का और अधिक विवरण, तथा इसने असुरों और अन्य प्राणियों पर जो प्रभाव उत्पन्न किया उसका वर्णन २२–३२ श्लोकों में किया गया है। तदनन्तर इस देवता के पादक्रमण का इस प्रकार वर्णन है :

वही ८.२०,३३ : क्षितिम् पदैकेन बलेर् विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः। पद द्वितीयं क्रमतस् त्रिविष्टप न वै तृतीयाय तदीयम् अण्व् अपि। उरुक्रमस्याङ्घ्रीर् उपर्य् उपर्य् अथो महर्जनाभ्यां तपसः पर गतः। "उन्होंने अपने एक पग से बलि की पृथिवी नाप ली; शरीर से आकाश और भुजाओं से दिशायें घेर लीं; दूसरे पग से उन्होंने स्वर्ग को भी नाप लिया। तीसरा पैर रखने के लिये बलि की तनिक-सी भी कोई वस्तु नहीं बची। भगवान् का वह दूसरा पग ही ऊपर की ओर जाता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपलोक से भी ऊपर सत्यलोक में पहुँच गया।"[१२४]

हरि की विजय पर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करने के लिये सभी देवता एकत्र हुये। उन लोगों ने अत्यन्त आनन्द मनाया और ऋक्षराज जाम्बवान् मन के समान वेग से दौड़कर दिशाओं में भेरी बजाकर भगवान् की विजय की घोषणा कर आये।

वही ८.११,८ और बाद : जाम्बवान् ऋक्ष-राजस् तु भेरि-शब्दैर् मनोजवः। विजय दिक्षु सर्वासु महोत्सवम् अघोषयत्। ९. महीं सर्वाम् हृता दृष्ट्वा त्रि पद-व्याज-याच्ञया। ऊचुः स्वभर्त्तुर् असुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः। १०. न वा अयम् ब्रह्म-बन्धुर् विष्णुर् मायाविनां वरः। द्विज-रूप-प्रतिच्छन्नो देव-कार्यं चिकीर्षति। ११. अनेन याचमानेन शत्रुना वटु-रूपिणा। सर्वस्व नो हृतम् भर्त्तर् न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि। १२. सत्य-व्रतस्य सतत दीक्षितस्य विशेषतः। नानृतम् भाषितुं शक्यम् ब्रह्मण्यस्य दयावतः। १३. तस्माद् अस्य बधे धर्मो भर्त्तुः शुश्रूषणे च नः। इत्य् आयुधानि जगृहुर् बलेर् अनुचरासुरः। १४. ते सर्वे वामनं हन्तुम् शूल-पट्टिश पाणयः। अनिच्छतो बलेः राजन् प्राद्रवन् जातमन्यव.।

८. "उस समय ऋक्षराज जाम्बवान् मन के वेग के समान दौड़कर सब

---

[१२४] इन लोको के वर्णन के लिये देखिये विलसनः विष्णुपुराण, पृ० ४८, नोट १० और पृ० २१३।

दिशाओं में भेरी बजाकर भगवान की मंगलमय विजय की घोषणा कर आये। ९. दैत्यों ने देखा कि वामन ने तीन पग पृथिवी मांगने के बहाने सम्पूर्ण पृथिवी ही छीन ली। तब वे सोचने लगे कि हमारे स्वामी बलि इस समय यज्ञ में दीक्षित हैं, वो तो कुछ कहेंगे नहीं, अतः अत्यन्त चिढ़कर वे आपस में कहने लगे। १०. 'अरे, यह ब्राह्मण नहीं बल्कि सबसे बड़ा मायावी विष्णु है। ब्राह्मण के रूप में छिपकर यह देवताओं का कार्य सिद्ध करना चाहता है। ११. जब हमारे स्वामी यज्ञ में दीक्षित होकर किसी को किसी प्रकार का दण्ड देने के लिये उपरत हो गये हैं, तब इस शत्रु ने ब्रह्मचारी का वेश बनाकर पहले तो याचना की और फिर हमारा सर्वस्व हरण कर लिया। १२. यों तो हमारे स्वामी सदा ही सत्यनिष्ठ हैं, परन्तु यज्ञ में दीक्षित होने पर वे इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं। वे ब्राह्मणों के अत्यन्त भक्त हैं तथा उनके हृदय में दया भी बहुत है। इसीलिए वे कभी असत्य नहीं बोल सकते। १३. ऐसी अवस्था में हम लोगों का यही धर्म है कि इस शत्रु को मार डालें। इससे हमारे स्वामी बलि की सेवा भी होती है।' इस प्रकार विचार कर राजा बलि की इच्छा न होने पर भी वे सब बड़े क्रोध से शूल, पट्टिश, आदि लेकर वामन को मारने के लिये टूट पड़े।"[१२५]

फिर भी, असुरों के इस आक्रमण को विष्णु के अनुगामियों ने विफल कर दिया। देवताओं ने कुछ असुरों का वध भी कर दिया परन्तु बलि ने कहा कि उस समय काल तथा भाग्य उनके विपरीत है। तदनन्तर वरुण बलि को बाँध लेते हैं तथा प्रतिज्ञा पूर्ण करने में असफल हो जाने पर विष्णु बलि की भर्त्सना करते हैं :

वही ८.२१,२६ और बाद. अथ तार्क्ष्य-सुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभु-चिकीर्षितम्। बबन्ध वारुणैः पाशैर् बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ। २७. हाहा-कारो महान् आसीद् रोदस्योः सर्वतो-दिशम्। गृह्यमाणेऽसुर-पतौ विष्णुना प्रभविष्णुना। २८. तम् बद्ध वारुणैः पाशैर् भगवान् आह वामनः। नष्ट श्रियम् स्थिर-प्रज्ञम् उदार-यशसं नृप। २९. पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर मह्य त्वयाऽसुर। द्वाभ्या क्रान्ता मही सर्वा तृतीयम् उप-कल्पय। ३०. यावत् तपत्य् असौ गोभिर् यावद् इन्दुः सहोडुभिः।

---

[१२५] यह देखा जा सकता है कि यहाँ वामन का अभी वामन रूप ही है, जब कि ऊपर उसके विशाल रूप धारण कर लेने का वर्णन है। यद्यपि यह एक ब्राह्मण वामन थे तथापि इनके अनुगामियो ने बलि की आसुरी सेना को पराजित कर दिया।

यावद् वर्षति पर्जन्यस् तावती भूर् इयां तव। ३१. पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस् तनोः। स्वर्लोकस् तु द्वितीयेन पश्यतस् ते स्वम् आत्मना। ३२. प्रतिश्रुतम् अदातुस् ते निरये वास इष्यते। विश त्वं निरयं तस्माद् गुरुणा चानुमोदितः। ३३. वृथा मनोरथस् तस्य दूर-स्वर्गः पतत्य् अधः। यो विप्राय प्रतिश्रुत्यन तद् अर्पयतेऽर्थितम्। ३४. विप्रलब्धो ददामीति त्वयाऽहं चाढ्य-मानिना। तद् व्यलीक-फलम् भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित् समाः।

"उनके जाने के बाद भगवान् के हृदय की बात जानकर पक्षिराज गरुड ने वरुण के पाशों[१२६] से बलि को बाँध दिया। उस दिन उनके अश्वमेध यज्ञ में सोमपान होनेवाला था। २७. जब सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ने बलि को इस प्रकार बँधवा दिया तब पृथिवी, आकाश, और समस्त दिशाओं में लोग हाहाकार करने लगे। २८. यद्यपि बलि वरुणपाश से बँधे थे और उनकी सम्पत्ति भी उनके हाथों से निकल गई थी, तथापि उनकी बुद्धि निश्चयात्मक थी और सब उनके उदार यश का गान कर रहे थे। उस समय विष्णु ने बलि से कहा: २९. 'असुर! तुमने मुझे पृथिवी के तीन पग दिये थे; दो पगों में तो मैंने सारी त्रिलोकी को नाप लिया, अब तीसरा पग पूरा करो। ३०. जहाँ सूर्य का ताप पहुँचता है, जहाँ तक नक्षत्रों तथा चन्द्रमा की किरणे पहुँचती हैं, और जहाँ तक बादल जाकर वर्षा करते हैं वहाँ तक की समस्त पृथिवी तुम्हारे अधिकार में थी। ३१. तुम्हारे देखते ही देखते मैंने अपने एक पग से भूलोक, शरीर से आकाश और दिशायें, एवं दूसरे से स्वर्लोक नाप लिया है। इस प्रकार तुम्हारा सर्वस्व अब मेरा हो चुका है। ३२. फिर भी, तुमने जो प्रतिज्ञा की थी उसे पूरा न कर सकने के कारण अब तुम्हें नरक में निवास करना पड़ेगा। तुम्हारे गुरु की तो इस विषय में सम्मति है ही; अब जाओ, तुम नरक में प्रवेश करो। ३३. जो याचक को देने की प्रतिज्ञा करके उसे पूर्ण नहीं करता और इस प्रकार उसे धोखा देता है, उसके सारे मनोरथ व्यर्थ होते हैं। स्वर्ग की बात तो दूर, उसे नरक में गिरना पड़ता है। ३४. तुम्हें इस बात का गर्व था कि तुम बड़े धनी हो। तुमने मुझ से 'दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके धोखा दे दिया। अब तुम कुछ वर्षों तक इस झूठ का फल नरक में भोगो।"

बलि विष्णु को इस प्रकार उत्तर देते हैं:

---

[१२६] देखिये मनु० ८ ८२; ९ ३०८। ऋग्वेद ७ ६५,३ मे मित्र और वरुण को 'भूरि-पाशाव् अनृतस्य' कहा गया है। जजओसो०, भाग ६, पृ० ७३ पर रॉथ का लेख भी देखिये।

वही ८.२२,२ और बाद : यद्य् उत्तम-श्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीक सुर-वर्य्य मन्यते। करोम्य् ऋतं तद् न भवेत् प्रलम्भनम् पादं तृतीय कुरु शीर्ष्णि मे निजम्। ३. बिभेमि नाहं निरयात् पद-च्युतो न पाश-बन्धाद् व्यसनाद् दुरत्ययात्। नैवार्थ कृच्छ्राद् भवतो विनिग्रहात् असाधु-वादाद् भृशम् उद्विजे यथा।

"आपकी कीर्ति अत्यन्त पवित्र है। क्या आप मेरी बात को असत्य समझते हैं? ऐसा नहीं है। मैं उसे सत्य कर दिखाता हूँ। आप धोखे में नहीं पड़ेंगे। आप कृपा करके अपना तीसरा पग मेरे सर पर रख दीजिये। ३, मुझे नरक में जाने अथवा राज्यच्युत होने का भय नहीं है। मैं पाश में बँधने अथवा अपार दुःख से भी भयभीत नहीं। मेरे पास कोई धन न रहे, अथवा आप मुझे घोर दण्ड दें—यह भी मेरे भय का कारण नहीं। मैं केवल अपनी अपकीर्ति से भयभीत हूँ।"

तदनन्तर वह अपने विजेता की श्रेष्ठता, तथा स्वयं भाग्य के अधीन होने का उल्लेख करते हैं। इसी समय उनके पितामह, प्रह्लाद, ने आकर उन्हे सान्त्वना दी। तदनन्तर उनकी पत्नी विन्ध्यावलि विष्णु की स्तुति करती है; और फिर ब्रह्मा स्वयं असुरराज के पक्ष का समर्थन करते हैं। तब विष्णु इस प्रकार उत्तर देते हैं:

वही ८.२२,२८ और बाद : एष दानव दैत्यानाम् अग्रणीः कीर्त्तिवर्धन.। अजैषीद् अजयाम् मायां सीदन्न् अपि न मुह्यति। २९. क्षीणरिक्थश् च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः। ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनाम् अनुयापितः। ३०. गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः। छलैर् उक्तो मया धर्मो नायम् त्यजति सत्यवाक्। ३१. एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापम् अमरैर् अपि। सावर्णेर् अन्तरस्यायम् भवितेन्द्रो मद्-आश्रयः। ३२. तावत् सुतलम् अध्यास्तां विश्वकर्म-विनिर्मितं। यन् नाधयो व्याधयश्च क्लमस् तन्द्रा पराभवः। नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेच्छया।

"यह बलि दानव और दैत्य दोनों ही वंशों में अग्रगण्य और उनकी कीर्त्ति को बढ़ाने वाला है। इसने उस माया पर विजय प्राप्त कर ली है जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है। तुम देख रहे हो कि इतना दुःख सहन करने पर भी यह मोहित नहीं हुआ। २९-३० इसका धन छीन लिया गया, इसे राज्य पद से अलग कर दिया गया, इस पर अनेक आक्षेप किये गये, शत्रुओं ने इसे बाँध लिया, बन्धु-बान्धव छोड़कर चले गये—इतनी यातनायें सहन करने पर भी, और यहाँ तक कि अपने गुरु के शाप के विपरीत भी इस दृढ़व्रती ने अपनी

प्रतिज्ञा का परित्याग नहीं किया। ३१. अतः मैंने इसे वह स्थान दिया है जो बड़े-बड़े देवताओं को भी कठिनता से प्राप्त होता है। सावर्णि मन्वन्तर में यह मेरा परम भक्त इन्द्र होगा। ३२. तब तक यह विश्वकर्मा द्वारा निर्मित सुतल में रहेगा। वहाँ रहनेवाले लोग मेरी कृपादृष्टि का अनुभव करते हैं। इसलिये उन्हें शारीरिक अथवा मानसिक व्याधि, थकावट, तन्द्रा, बाहरी अथवा भीतरी शत्रुओं से पराजय, और किसी प्रकार के विघ्नों का सामना नहीं करना पड़ता।"

वही ८.२३,२ और बाद (बलि इस प्रकार उत्तर देते हैं) : अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्न-भक्तार्थ-विधौ समाहितः। यल्लोकपालैस् त्वदनुग्रहोऽमरैर् अलब्ध पूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः। ३. शुक उवाच। इत्य् उक्त्वा हरिम् आनम्य ब्रह्माणं स-भवं ततः। विवेश सुतलम् प्रीतो बलिर् मुक्तः सहासुरैः।

"२. प्रभो ! मैंने तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करने मात्र की चेष्टा ही की; किन्तु उसी से मुझे वह फल मिला जो आपके चरणों के शरणागत भक्तों को प्राप्त होता है। बड़े-बड़े लोकपाल और देवताओं पर आपने जो कृपा कभी नहीं की वह मुझ जैसे अधम असुर को सहज ही प्राप्त हो गई। ३. शुकदेव ने कहा : यों कहते ही बलि वरुण के पाशों से मुक्त हो गये। तब उन्होंने भगवान् , ब्रह्मा, और शम्भु को प्रणाम किया। इसके बाद अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने असुरों के साथ सुतल लोक की यात्रा की।"

अब विष्णु असुरराज बलि के गुरु, उशना, को सम्बोधित करते हैं :

वही ८.२३,१३ और बाद : अथाहोशनसं राजन् हरिर् नारायणोऽन्तिके। आसीनम् ऋत्विजाम् मध्ये सदसि ब्रह्म-वादिनाम्। १४. ब्रह्मन् सन्तनु शिष्यस्य कर्म-छिद्रं वितन्वतः। यत् तत् कर्मसु वैषम्यम् ब्रह्म-दृष्टं समम् भवेत्। १५. शुक्र उवाच। कुतस् तत्-कर्म वैषम्य यस्य कर्मेश्वरो भवान्। यज्ञेशो यज्ञपुरुष. सर्वभावेन पूजितः। १६. मन्त्रतस् तन्त्रतश् छिद्रं देश-कालार्ह वस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रम् अनुसङ्कीर्त्तनं तव। १७. तथापि वदतो भूमन् करिष्याम्य् अनुशासनम्। एतच् छ्रेयः परम् पुंसां यत् तवाज्ञामुपालनम्। १८. शुक उवाच। अभिनन्द्य हरेर् आज्ञाम् उशना भगवान इति। यज्ञ-छिद्रं समाधत्त बलेर् विप्रर्षिभिः सह। १९. एवम् बलेर् महीम् राजन् भिक्षित्वा वामनो हरि। ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत् परैर् हृतम्।

"उस समय भगवान श्रीहरि ने ब्रह्मवादी ऋत्विजों की सभा में अपने पास ही बैठे शुक्राचार्य से कहा। १४. 'ब्रह्मन् ! आपका शिष्य यज्ञ कर रहा

था। उसमें जो त्रुटि रह गई है उसे आप पूर्ण कर दीजिये क्योंकि कर्म करने में जो भूल-चूक हो जाती है वह ब्राह्मणों की कृपादृष्टि से सुधर जाती है।' १५. शुकाचार्य ने कहा . भगवन्! जिसने अपना समस्त कर्म समर्पित करके सब प्रकार से यज्ञेश्वर, यज्ञ-पुरुप आपकी पूजा की है, उसके कर्म में कोई त्रुटि या विपमता कैसे रह सकती है? १६. क्योंकि मन्त्रों की, अनुष्ठान-पद्धति की, देश, काल, पात्र और वस्तु की समस्त भूलें आपके नाम के सकीर्तन मात्र से सुधर जाती हैं, आपका नाम सारी त्रुटियों को पूर्ण कर देता है। १७. तथापि अनन्त! जब आप स्वय कह रहे हैं तब मैं आपकी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगा। मनुष्य के लिये सबसे बडा कल्याण का साधन यही है कि वह आपकी आज्ञा का पालन करे। १८. शुकदेव ने कहा: भगवान् शुक्राचार्य ने भगवान् श्रीहरि की यह आज्ञा स्वीकार करके दूसरे ब्रह्मर्पियों के साथ बलि के यज्ञ में जो कमी थी उसे पूर्ण कर दिया। १९. इस प्रकार वामन भगवान् ने वलि से पृथिवी की भिक्षा माँगकर अपने बड़े भ्राता महेन्द्र[१२७] को स्वर्ग का राज्य दे दिया जिसे उनके शत्रुओं ने छीन लिया था।"

यद्यपि इस सम्पूर्ण आख्यान का, और वास्तव मे सम्पूर्ण भागवत पुराण का स्वर विष्णु को, जिन्होंने ही वामन अवतार लिया था, श्रेष्ठतम देवता के रूप में प्रस्तुत करता है तथापि अब यह विचित्र ही प्रतीत होता है कि ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं ने वामन का लोकपालों के स्वामी के पद पर अभिपेक कर दिया।

वही ८.२३,२० और बाद : प्रजापति-पतिर् ब्रह्मा देवर्पि-पितृ भूमिपै'। दक्ष भृग्व्-अङ्गिरो-मुख्यैः कुमारेण भवेन च। २१. कश्यपस्य्-अदितेः प्रीत्यै सर्व-भूत-भवाय चा। लोकानाम् लोक-पालानाम अकरोद् वामनम् पतिम्। २२. वेदाना सर्व-देवाना धर्मस्य यशसः श्रियः। मङ्गलानां व्रतानाञ्च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः। २३. उपेन्द्र कल्प-याञ्चक्रे पतिं सर्व-विभूतये। तदा सर्वाणि भूतानि भृशम् मुमुदिरे नृप।

"इसके बाद प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्मा ने देवर्पि, पितर, मनु, दक्ष, भृगु, अङ्गिरा, सनत्कुमार, और शङ्कर के साथ कश्यप एव अदिति की प्रसन्नता के लिये तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अभ्युदय के लिये समस्त लोक और लोकपालों के स्वामी के पद पर वामन भगवान् का अभिपेक कर दिया। २२.२३ वेद, समस्त देवता, धर्म, यश, लक्ष्मी, मङ्गल व्रत, स्वर्ग, और अपवर्ग—सबके

[१२७] यहाँ विष्णु को उपेन्द्र (छोटा या उप-इन्द्र) कहा गया है और इन्द्र को महेन्द्र।

रक्षक के रूप में सबके परम् कल्याण के लिए सर्वशक्तिमान वामन भगवान् को उन्होंने उपेन्द्र का पद दिया। उस समय सभी प्राणियों को अत्यन्त आनन्द हुआ।"

यह अध्याय उस श्लोक से समाप्त होता है जिसे मैं ऊपर विष्णु की प्रशस्ति के रूप में उद्धृत कर चुका हूँ। तदनन्तर वामन अवतार की कथा के श्रवण के माहात्म्य का कथन आता है।

खण्ड ५—निरुक्त, रामायण, महाभारत, और पुराणों के अनुसार विष्णु

गत पृष्ठों में मैंने जिन स्थलों को उद्धृत किया है उनसे यह स्पष्ट है कि विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देवता न तो ऋग्वेद मे ही माना गया है और न ब्राह्मणों मे। इन प्राचीन ग्रन्थों मे इन्हें केवल विभिन्न देवों में से एक माना गया है और ये शेष देवताओं से श्रेष्ठतर नहीं हैं। ऊपर मैंने निरुक्त से जो स्थल (१२.१९) उद्धृत किया है उससे भी यही प्रगट होता है कि न तो यास्क स्वय, और न वेद के प्राचीन व्याख्याकार शाकपूणि और और्णवाभ ही विष्णु को उससे ऊँचा स्थान देते हैं जो इन लोगों ने हिन्दू देव सभा के अन्य सदस्यों को दिया है। निरुक्त के एक अन्य स्थल (७.५) से भी, जिसे मैं ऊपर उद्धृत कर चुका हूँ, ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के प्राचीन प्रतिपादक वेदों में स्तुत्य देवताओं को प्रमुखतः तीन प्राथमिक महत्त्व के देवताओं के ही प्रतिनिधि मानते थे, और विष्णु इन तीन के अन्तर्गत नहीं आते। यतः जिस स्थल से यह उद्धरण लिया गया था उसका अत्यधिक महत्त्व है, अतः मैं उसको यहाँ विस्तार से उद्धृत करूँगा :

निरुक्त ७. ४ : तद् येऽनादिष्ट–देवता मन्त्रास् तेपु देवतोपपरीक्षा। यद् दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्ग वा तद्–देवता भवन्ति। अथ अन्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा काम-देवता स्यात् प्रायो-देवता वा। अस्ति ह्य् आचारो बहुल लोके देव-देवत्यम् अतिथि-देवत्यम् पितृ-देवत्यम्। यज्ञ-दैवतो मन्त्र इति। अपि ह्य् अदेवता देवता-वत् स्तूयन्ते। यथाऽश्व-प्रभृतीन्य् ओपधि-पर्यन्तान्य् अथाप्य् अष्टौ द्वन्द्वानि। स न मन्येत आगन्तून् इव अर्थान् देवतानाम् प्रत्यक्ष–दृश्यम् एतद् भवति। महाभाग्याद् देवताया च एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानाम् प्रकृति–भूमभिर् ऋषयः स्तुवन्ति इत्य् आहु। प्रकृति-सार्वना-म्याच् च इतरेतर-जन्मानो भवन्ति इतरेतर-प्रकृतयः कर्म-जन्मान आत्म-

जन्मानः। आत्मा एव एषा रथो भवत्य् आत्माऽधाः आत्माऽऽयुधम् आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य। ५. तिस्र एव देवताः इति नैरुक्ताः अग्नि पृथिवी स्थानो वायुर् वा इन्द्रो वाऽन्तरिक्ष स्थानः सूर्यो द्यु-स्थान। तासाम् महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्म पृथक्त्वाद् यथा होताऽध्वर्युर् ब्रह्मा उद्गाता इत्य् अप्य् एकस्य सतः। अपि वा पृथग् एव स्युः। पृथग् हि स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि। यथो एतत् "कर्म-पृथक्त्वाद्" इति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्व सम्भोगैकत्व च उपेक्षितव्यम्। यथा पृथिव्याम मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्। सम्भोगैकत्व च दृश्यते यथा पृथिव्या पर्जन्येन च वाय्व्-आदित्याभ्यां च सम्भोगो-ग्निना च इतरस्य लोकस्य। तत्र एतद् नर-राष्ट्रम इव। ६. अथाकार-चिन्तनं देवतानाम्। पुरुष विधाः स्युर् इत्य् एकम्। चेतनावद्-वद् हि स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि। अथापि पौरुष-विधिकैर् अङ्गैः संस्तूयन्ते। ...अथापि पौरुष-विधिकैर् द्रव्य-संयोगैः। ...अथापि पौरुष-विधिकैः कर्मभिः। ७. अपुरुष-विधाः स्युर् इत्य अपरम। अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुष-विधं तत्। यथाऽग्निर् वायुर् आदित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति। यथो एतत् "चेतनावद्-वद् हि स्तुतयो भवन्ति" इत्य् अचेतनान्य् अप्य् एव स्तूयन्तेऽक्ष-प्रभृतीन्य् ओषधि-पर्यन्तानि। यथो एतत् "पौरुष-विधिकैर् अङ्गैः संस्तूयन्ते" इत्य् अचेतनेष्व् अप्य एतद् भवति। "अभि क्रन्दन्ति हरितेभिर् आसभिर्" इति ग्राव-स्तुतिः। यथो एतत् "पौरुष विधिकैर् द्रव्य-संयोगैर्" इत्य् एतद् अपि तादृशम् एव। "सुख रथ युयुजे सिन्धुर् अश्विनम्" इति नदी स्तुतिः। यथो एतत् "पौरुष-विधिकैः कर्मभिर्" इत्य् एतद् अपि तादृशम् एव। "होतुश् चित् पूर्वे हविर् अद्यम् आशत" इति ग्राव-स्तुतिर् एव। अपि च उभय-विधाः स्युः। अपिवा पुरुष विधानाम् एव सता कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य। एष च आख्यान-समयः। ८. तिस्र एव देवता इत्य् उक्तम् पुरस्तात्। तासान् भक्ति-साहचर्यं व्याख्या-स्यामः। अथ एतान्य् अग्नि भक्तीन्य् अय लोकः प्रातः सवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्-स्तोमो रथन्तर साम ये च देव गणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थानेऽग्नायी पृथिवी इला इति स्त्रियः। अथ अस्य कर्म वहन च हवि-षाम् आवहनं च देवताना यच्च च दार्ष्टि-विषयिकम् अग्नि-कर्मैव तत्। अथ अस्य संस्तविका देवा इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः। आग्ना-वैष्णवं हविर् न तु ऋक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथ अप्य्

आग्ना-पौष्णं हविर् न तु संस्तवः । · ···१०. अथ एतानि इन्द्र-भक्तीन्य् अन्तरिक्ष-लोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस् त्रिष्टप् पञ्चदश-स्तोमो बृहत्-साम ये च देव-गणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रिय. । अथ अस्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्र-वधो या च का च बल-कृतिर् इन्द्र-कर्मैव तत् । अथ अस्य संस्तविका देवा अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर् ब्रह्मण-स्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर् वायु' । अथ अपि मित्रो वरुणेन संस्तूयते । पूष्णा रुद्रेण च सोमः । अग्निना च पूषा । वातेन च पर्जन्यः ११. अथ एतान्य् आदित्य-भक्तीन्य् असौ लोकस् तृतीय-सवनं वर्षा जगती सप्तदश-स्तोमो वैरूपं साम ये च देव-गणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः । अथ अस्य कर्म रसादानं रश्मिभिश् च रसाधारण यच् च किञ्चित् प्रवल्हितम् आदित्य-कर्मैव तत् । चन्द्रमसा वायुना सवत्सरेण इति सस्तवः । एतेष्व् एव स्थान-व्यूहेष्व् ऋतु-छन्दः-स्तोम-पृष्ठस्य भक्ति-शेषम् अनुकल्पयीत । शरद्-अनुष्टुब-एकविंश-स्तोमो वैराज साम इति पृथिव्य्-आयतनानि । हेमन्तः पक्तिस त्रिणव-स्तोमः शाकरम् साम इत्य् अन्तरिक्षायतनानि । शिशिरोऽविच्छन्दास् त्रयस्त्रिंश-स्तोमो रैवतम् साम इति द्यु-भक्तीनि ।

"जिन मन्त्रों में देवता का उल्लेख नहीं, उनके देवता का निर्णय करते हैं। जिन देवता का यज्ञ हो, या यज्ञ का खण्ड भी हो—उन्हीं देवता के वे (मन्त्र) होते हैं। यज्ञ से भिन्न-स्थानों में—याज्ञिकों के अनुसार प्रजापति (मन्त्र) के देवता होते हैं, और निरुक्तकारों के अनुसार नराशंस।[१२८] अथवा ये ऐच्छिक देवता या देवताओं के समूह के हों। ससार में सचमुच यह व्यवहार देखने में आता है कि देवता के लिये, अतिथि के लिये, और पितरों के लिये पवित्र वस्तु (दी जाती है)। मन्त्र उस देवता का है जिसके लिये यज्ञ हुआ, किन्तु अ-देवता की स्तुति भी देवता के समान होती है, जैसे—घोडे से लेकर ओषधि तक (निघण्टु ५.३ और निरुक्त ९.१-२८) और आठ जोडे भी (निघण्टु ५.३ और निरुक्त ९.३५ और बाद)। किन्तु कोई देवता विषयक अर्थ को विलक्षण न मान ले, यह तो प्रत्यक्ष रूप से देखने की चीज़ है—देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति भिन्न भिन्न प्रकार से होती

---

[१२८] प्रो० रॉथ निरुक्त ९ ९ का सन्दर्भ देते हैं जहाँ इस 'नाराशस' शब्द की इस प्रकार परिभाषा की गई है ' 'येन नरा प्रशस्यन्ते स नाराशसो मन्त्र ।' 'ऐसा सूक्त जिसमे मनुष्यो की प्रशस्ति हो, नाराशंस कहलाता है।' इस प्रकार के सूक्त के उदाहरण के रूप मे यास्क ऋग्वेद १ १२६,१ का उदाहरण देते है।

है। अन्य देवता एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं। अथवा जैसा लोग कहते हैं—वस्तुओं (नामों) की प्रकृति (धातु) की विभिन्नता के कारण और उसकी सर्वव्यापकता के कारण ऋषिगण स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से जन्म पाते हैं, वे एक दूसरे की प्रकृति है। उनका जन्म कर्म से भी और आत्मा से भी होता है, आत्मा ही उनका रथ है, आत्मा शस्त्र है, आत्मा वाण है—आत्मा ही देवताओं का सब कुछ है।

"५. निरुक्तकारों के मत से तीन ही देवता है—(१) पृथिवी में रहनेवाले अग्नि, (२) अन्तरिक्ष में रहनेवाला वायु या इन्द्र, (३) स्वर्ग में रहनेवाला सूर्य। इनकी बड़ी महिमा के कारण इनमें प्रत्येक के बहुत से नाम है। अथवा कर्म अलग-अलग होने के कारण—जैसे एक को ही होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, और उद्गाता कहते हैं। अथवा ये अलग-अलग ही हैं क्योंकि स्तुतियाँ और उनके नाम भी अलग-अलग हैं। यह जो कहा कि 'कर्म अलग अलग होने के कारण [एक के अनेक नाम हैं]', तो बहुत से लोग भी तो आपस में बाँटकर वे ही कार्य कर सकते हैं ? ऐसी दशा में उनके अधिकार क्षेत्र और भोग-क्षेत्र की समानता देखनी चाहिये, जैसे मनुष्यों, पशुओं, और देवताओं का पृथिवी-विषयक अधिकार साम्य और भोग-साम्य देखते हैं। पुनः मेघ द्वारा पृथिवी का भोग, वायु और आदित्य के साथ (देखते हैं), किन्तु दूसरे लोक का (भोग) अग्नि के साथ। वहाँ ये सभी मनुष्यों के राज्य के समान ही हैं।

"६. अब देवताओं के स्वरूप का वर्णन होगा। कुछ लोगों के विचार से ये मनुष्य के समान हैं क्योंकि (१) इनकी स्तुतियाँ और सम्बोधन भी चेतन जीवों के समान होते हैं। पुनः (२) इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अंगों से इन्हें संयुक्त करके होती हैं।··· पुनः (३) मनुष्यों की वस्तुओं से सयुक्त करके।·· पुनः (४) मनुष्यों के कार्यों से संयुक्त करके (स्तुति होती है)।···

"७ कुछ लोगों के विचार से (देवता) मनुष्यों के समान नहीं हैं क्योंकि (इनके विषय में) जो देखते है, वह मनुष्यों से भिन्न है, जैसे—अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा। यह जो कहा कि 'चेतन के समान स्तुतियाँ होती हैं', वैसी तो अचेतन की भी स्तुतियाँ होती हैं, जैसे—पासे से लेकर ओषधि तक (निघण्ट ५ ३; निरुक्त ३.७ और बाद)। यह जो कहा कि 'इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अंगों से सयुक्त करके होती हैं वैसी तो अचेतन की भी होती हैं जैसे—'अपने हरे मुँह से चिल्लाते हैं' (ऋग्वेद १०. ९४,२), यह पाषाण की स्तुति है। यह जो कहा कि 'मनुष्यों की वस्तुओं से संयुक्त करके (स्तुतियाँ होती हैं)', वैसी तो यहाँ (अचेतन में) भी है,

'सिन्धु ने घोड़े का सुखद रथ जोता' (ऋग्वेद १०.७५,९), यह नदी की स्तुति है। यह जो कहा कि मनुष्यों के कामों से संयुक्त करके (स्तुतियाँ होती है)', वैसी ही तो यहाँ भी हैं जैसे 'होता के ही सामने भोज्य हवि खाया' (ऋग्वेद १०.९४,२), यह भी पाषाण की स्तुति है। अथवा ये (देवता) दोनों तरह के हैं अथवा ये मनुष्यों में न पाई जानेवाले (पृथिवी आदि वस्तुओं) के कर्म के रूप में है जैसे—यज्ञ यजमान का (कर्म-स्वरूप) है। यह मत कथा में प्रवीण लोगों का है।[१२९]

"८. पहले कहा जा चुका है कि तीन ही देवता हैं। हम उनके विभाग तथा सहचरों की व्याख्या करेंगे। अग्नि के ये विभाग हैं—यह लोक (पृथिवी), प्रातःकाल का सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, तीन बार का स्तोम, रथन्तर नाम का साम, प्रथम स्थान में गिनाये गये देवतागण; तथा अग्नायी, पृथिवी और इला नामक स्त्रियाँ। इनके कार्य ये है . हवि पहुँचाना और देवताओं को बुलाना। जो कुछ दृष्टि-विषयक है, वह अग्नि का ही कार्य है। इनके साथ स्तुति किये जानेवाले देवता ये है : इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतुये। अग्नि और विष्णु को संयुक्त हवि देते है, किन्तु (संयुक्त) स्तुति की ऋचा (ऋग्वेद के) दस भागों में कहीं नहीं है। इसी प्रकार अग्नि और पूषा को संयुक्त हवि देते हैं, किन्तु वैसी स्तुति नहीं है।...

"१०. ये इन्द्र के विभाग हैं : अन्तरिक्ष लोक, दोपहर का (माध्यन्दिन) सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पन्द्रह बार का स्तोम, बृहत् नाम का साम, मध्यस्थान में गिनाये गये देवता और स्त्रियाँ। इनके काम ये हैं : रस-दान करना और वृत्र को मारना। जो कुछ बल का काम है वह इन्द्र का ही काम है। इनके साथ स्तुति किये जानेवाले देवता ये है : अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु। पुनः मित्र की स्तुति वरुण के साथ होती है, सोम की पूषा और रुद्र के साथ, पूषा की अग्नि के साथ, और पर्जन्य की वात के साथ।

"११. ये आदित्य के विभाग हैं . वह लोक (स्वर्ग), तीसरा (सायं) सवन, वर्षा ऋतु, जगती-छन्द, सत्रह बार का स्तोम, वैरूप नाम का साम,

[१२९] भाष्यकार दुर्ग (जैसा कि मैंने प्रो० रॉथ की टिप्पणी, इल० ऑफ निरुक्त, पृ० १०, से जाना है) इस उक्ति को महाभारत से सम्बद्ध करते है और मूल मे व्यक्त विचारो के उदाहरण के रूप मे 'एक स्त्री के रूप मे प्रगट होकर पृथिवी द्वारा एक ब्राह्मण से अपना बोझ कम करने के निवेदन, और ब्राह्मण के रूप मे अग्नि द्वारा वासुदेव तथा अर्जुन से अपने अंश के रूप मे खाण्डव-वन माँगने, तथा उसे भस्म करने' की कथा को प्रस्तुत करते हैं।

उत्तम स्थान में गिनाये गये देवता और स्त्रियाँ। इनके काम ये हैं: रस-ग्रहण करना और किरणों से उसे धारण करना। जो कुछ गुप्त अर्थ है वह आदित्य का ही काम है। इनकी स्तुति चन्द्रमा, वायु और सवत्सर के साथ की जाती है। स्थान के इन्हीं विभागों से ऋतु, छन्द, स्तोम-भाग के अवशिष्ट अंशों का विभाजन कर लें, जैसे शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, इक्कीस वार का स्तोम, वैराज नाम का साम—ये पृथिवी के विषय हैं। हेमन्त ऋतु, पंक्ति-छन्द, सत्ताइस वार का स्तोम, शाक्कर नामक साम, ये अन्तरिक्ष के विषय हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दा छन्द, तैंतीस वार का स्तोम, रैवत नामक साम—ये स्वर्ग से सम्बद्ध हैं।"[१३०]

यह देखा जा सकता है कि देवों के उपरोक्त वर्गीकरण में प्रमुख स्थान अग्नि, वायु अथवा इन्द्र, और सूर्य को दिया गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय तक इन्हें ही देवों की वह त्रयी माना जाता था जिनके माध्यम से परमात्मा अपने को व्यक्त करता था। विष्णु को केवल उन देवों में से एक कहा गया है जिनकी इन्द्र के साथ संयुक्त रूप से स्तुति की जाती थी, और रुद्र की भी सोम के साथ ही उपासना का उल्लेख है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिमूर्ति के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र का संयुक्तीकरण यास्क को अज्ञात था।

यह सत्य है कि ऊपर मैंने जिस स्थल का उद्धरण दिया है, तथा साथ ही साथ, अपनी कृति के अन्य भागों से भी यास्क का उद्देश्य वैदिक देवों का वर्गीकरण करना था, और यह कहा जा सकता है कि पौराणिक पुराकथाशास्त्र, (जिसके अन्तर्गत ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की त्रिमूर्त्ति आती है) का भी विकास वैदिक के साथ-साथ ही हुआ था। फिर भी, मेरे विचार से, इस धारणा के प्रति यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि यास्क को वैदिक पुराकथाशास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी का भी पता होता (कम से कम, यदि उन्होंने किसी अन्य को थोड़ा भी महत्व दिया होता) तो उन्होंने उसका कोई न कोई सन्दर्भ दे कर वैदिक के साथ उसके सामञ्जस्य का भी प्रयास अवश्य किया होता। यत उनकी कृति से हमें इस प्रकार का कोई चिह्न नहीं मिलता, अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि या तो उनके समय में पौराणिक पुराकथाशास्त्र का कोई अस्तित्व नहीं था, अथवा वह इसे नगण्य समझते थे।

अगला, बृहद्देवता का स्थल, जिसमें यास्क के दृष्टिकोणों को ही दोहराया गया है, वेबर के इण्डिशे स्टूडियन, १.११३ और बाद, से लिया गया है:

[१३०] रॉथ ने अपने इल० ऑफ निरुक्त, पृ० १०१ और बाद में इस सम्पूर्ण स्थल का अनुवाद किया है।

बृहद्देवता १.१३ : भवद्-भूत (स्य भ) व्यस्य जङ्गम-स्थावरस्य च। अस्यैके सूर्यम् एवैकम् प्रभवम् प्रलयं विदुः। असतश् च सतश् चैव योनिर् एप प्रजापतिः। यद् क्षरं च वाच्यं (?) च यथैव ब्रह्म शाश्वतम्। कृत्वैष हि त्रिधाऽऽत्मानम् एषु लोकेषु तिष्ठति। वही १.१४ :… तिस्र एवेह देवताः। एतासाम् एव माहात्म्याद् नामान्यत्व विधीयते। तत् च स्थान-विभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते। "१.१३ : कुछ लोग इस स्थावर-जङ्गम, भूत, वर्तमान और भविष्य, सभी के प्रभव और प्रलय का सूर्य को एकमात्र कारण मानते हैं। और प्राणियों का यह ईश्वर (प्रजापति) ही सत्, असत्, क्षर, अक्षर, सब का शाश्वत ब्रह्म के समान स्रोत है। यही त्रिविध रूप से इन लोकों में प्रतिष्ठित है। १.१४ : केवल तीन ही देवता हैं; और इनकी महानता के कारण इनके लिये विविध नामों का प्रयोग होता है। स्थान-भेद के आधार पर किये गये विभिन्न विभेदों में इसे देखा जा सकता है।"

ऊपर मनु से उद्धृत एक स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ नारायण शब्द 'ब्रह्मा' के लिये व्यवहृत हुआ है, किन्तु वहाँ सृष्टि आदि से सम्बद्ध होने के रूप में विष्णु का कोई उल्लेख नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मनु ने निम्नलिखित श्लोक में विष्णु का केवल एक[131] बार ही उल्लेख किया है :

१२.१२१ : मनसीन्दुम् दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुम् बले हरम्। वाच्य् अग्निम् मित्रम् उत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम्। "मन में चन्द्रमा को, कानों में दिशाओं को, चरणों में विष्णु को, बल (सामर्थ्य) में शिव को, वचन में अग्नि को, गुदा में मित्र को, शिश्न में प्रजापति को लीन हुआ समझकर एकत्व की भावना करे।" यहाँ भी अन्य देवताओं की अपेक्षा विष्णु किसी प्रकार श्रेष्ठतर नहीं हैं।

रामायण की एक प्राचीन शाखा से ऊपर जो एक उद्धरण दिया जा चुका है (पृ० ३२) उसमें भी ब्रह्मा का ही न केवल स्रष्टा के रूप में वरन् उस देवता के रूप में भी उल्लेख है जिन्होंने सागर के तल से पृथिवी को ऊपर उठाया था।

पुनः, महाभारत तथा पुराणों के विभिन्न स्थल (ऊपर पृ० १११ और बाद देखें) भी, जहाँ विष्णु का बारह आदित्यों में से एक के रूप में उल्लेख है, इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं कि मूलतः इन्हें (विष्णु को) अदिति के अन्य पुत्रों की

---

[131] लासन इण्डिया, १.७७७ नोट।

अपेक्षा कोई श्रेष्ठतर देवता नहीं माना जाता था, और इस परिस्थिति की, कि इनमें से कुछ स्थलों पर इनको कुछ उच्चतर विशिष्टतासूचक उपाधियों से व्यक्त करके अन्य देवताओं से इनका विभेद किया गया है, इस मान्यता के आधार पर सरलता से व्याख्या हो जाती है कि इन स्थलों की रचना अथवा इनमें परिवर्तन एक बाद के ऐसे समय में हुआ था जब इनकी (विष्णु की) श्रेष्ठता को मान्यता प्राप्त होने लग गई थी।

रामायण के भी कुछ पहले के स्थलों में, जहाँ विष्णु को प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि इनको इन्द्र तथा अन्य देवताओं (मूलतः जिनके साथ इन्हें समानता का ही स्थान प्राप्त था) से उच्चतर पद दिया गया है, तथापि इन्हें न तो उस प्रकार की उपाधियों से व्यक्त किया गया है जिनका विष्णु तथा भागवत पुराणों में और महाभारत के कुछ स्थलों में इनके लिये व्यवहार हुआ है, और न इन तीन ग्रन्थों की भाँति इन्हें परमात्मा का ही पद दिया गया है। इसके प्रमाण के रूप में मैं रामायण के इस स्थल का उद्धरण दूँगा :

१ १५,१ और बाद (श्लेगेल संस्करण) 'मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिद् इदम् उत्तरम्। लब्ध-संज्ञस् ततस् त तु वेदज्ञो नृपम् अब्रवीत्। इष्टं तेऽन्यां करिष्यामि पुत्रीयाम् पुत्र कारणात्। अथर्वशिरसि प्रोक्तैर् मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। ततः प्रचक्रमे कर्तुम् इष्टिं काम-समृद्धये। तस्य राज्ञो हितान्वेषी विभाण्डक-सुतो वशी। तत्र देवाः स गन्धर्वाः सिद्धाश्च मुनिभिः सह। भाग-प्रतिग्रहार्थं वै पूर्वम् एव समागताः। ब्रह्मा सुरेश्वरः स्थाणुस् तथा नारायणः प्रभुः। इन्द्रश् च भगवान् साक्षाद् मरुद्गण वृतस् तथा। अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञस् तस्य महात्मनः। तत्र भागार्थिनो देवान् आगतान् सोऽभ्ययाचत। अय राजा दशरथः पुत्रार्थी तप्तवास् तपः। इष्टवान् अश्वमेधेन भक्तः श्रद्धयाऽन्वितः। इष्टिं च पुत्र-कामोऽन्याम् पुनः कर्तुं समुद्यतः। तद् अस्य पुत्र कामस्य प्रसाद कर्तुम् अर्हथ। अभियाचे च वः सर्वान् अस्यार्थेऽह कृताञ्जलिः। भवेयुर् अस्य चत्वारः पुत्रास् त्रैलोक्य-विश्रुताः। ते तथेत्य् अब्रुवन् देवा ऋषि पुत्रं कृताञ्जलिम्। माननीयोऽसि नो विप्र राजा चैव विशेषतः। प्राप्स्यते परम कामम् एतयेष्ट्या नराधिपः। इत्य् उक्त्वाऽन्तर्हिता देवास् ततः शक्र पुरोगमाः। ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः। अब्रुवन् लोक-कर्त्तारम् ब्रह्माणं वचनं ततः। त्वत्-प्रदिष्ट-वरो ब्रह्मन् रावणो नाम राक्षसः। सर्वान् नो बाधते दर्पाद् महर्षींश् च तपो-रतान्। त्वया हि अस्य वरो दत्तः प्रीतेन भगवन् पुरा। देव-दानव-यक्षाणाम् अवध्यो-

ऽसीति कामतः। मानयन्तश्च ते वाक्यं सर्वम् अस्य सहामहे। स बाधयति लोकांश् त्रीन् विहिंसन् राक्षसेश्वरः। ...१६. तद् महद् नो भयं तस्माद् राक्षसाद् घोर-दर्शनात्। बधार्थं तस्य भगवन्न् उपायं कर्त्तुम् अर्हसि। एवम् उक्तः सर्वेश् चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत् हन्तायं विहितस् तस्य बधोपायो दुरात्मनः। तेन "गन्धर्व-यक्षाणां देव-दानव-रक्षसाम्। अबध्यः स्याम्" इति प्रोक्त तथेत्य् उक्तं च तद् मया। अवज्ञाय तु तद् रक्षो मनुपान् नान्वकीर्त्तयत्। तस्मात् स मानुपाद् बध्यो मृत्युर् नान्यो-ऽस्य विद्यते। एतच् छ्रुत्वा प्रियं वाक्यम् ब्रह्मणा समुदाहृतम्। देवाः शक्र-पुरोगास् ते हर्पिता सर्वतोऽभवन्। एतस्मिन्न् अन्तरे विष्णुर् उपयातो महाद्युतिः। शङ्ख-चक्र गदा-पाणिः पीत-वासा जगन्-पतिः। वैनतेयं समारुह्य भास्करस्य तोयदं यथा। तप्त-हटक-केयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः। तम् अब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टत्य सन्नताः। आर्त्तानाम् असि लोकानाम् आर्त्ति-हा मधुसूदन। याचामहेऽतस् त्वाम् आर्त्ताः शरणं नो भवाच्युत। ब्रूत किं करवाणीति विष्णुस् तान् अब्रवीद् वचः। इति तस्य वचः। श्रुत्वा पुनर् ऊचुर् इदं सुराः। राजा दशरथो नाम तप्तवान् सुमहत् तपः। इष्टवांश् चाश्वमेधेन प्रजा-कामः स चा प्रजः। अस्मन् नियोगात् त्वं विष्णो तस्य पुत्रत्वम् आप्नुहि। तस्य भार्यासु तिसृपु ह्री-श्री-कीर्त्य्-उपमासु च। विष्णो पुत्रत्वम् आगच्छ कृत्वाऽऽ-त्मानं चतुर्विधम्। तत्र त्वम् मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोक-कण्टकम्। अबध्यं दैवतैर् विष्णो समरे जहि रावणम्। ...२४. त्वं गतिः परमा देव सर्वेपाम् नः परन्तप। बधाय देव-शत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु। स नियुक्तस् तथा देवैः साक्षाद् नारायणः प्रभुः। तान् उवाच इत्यादि।

उस ऋषि (ऋष्यश्रृङ्ग) ने, जो अत्यन्त मेधावी तथा वेदज्ञ था, थोड़ी देर तक ध्यान लगा कर अपने भावी कर्त्तव्य का निश्चय किया। फिर ध्यान से विरत हो उसने राजा से इस प्रकार कहा : 'महाराज! मैं आपको पुत्र की प्राप्ति कराने के लिये अथर्ववेद के मन्त्रों से पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करूँगा। वेदोक्त विधि के अनुसार अनुष्ठान करने पर यह यज्ञ अवश्य सफल होगा।' यह कह कर तब उस विभाण्डक के पुत्र, ने, जो इन्द्रियों को आपने वश में रखता था, राजा के हित की इच्छा से उनकी मनोकामना पूर्ण करने के लिये यज्ञ का आरम्भ किया। तब देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्पिगण विधि के अनुसार अपना

[१२२] यहाँ यह देखा जा सकता है कि अन्य देवो की ही भाँति विष्णु भी अपना अंश ग्रहण करने के लिये उपस्थित होते हैं।

अपना भाग ग्रहण करने के लिये उस यज्ञ में एकत्र हुये। देवों के अधिपति ब्रह्मा, स्थाणु (महादेव), भगवान नारायण,[132] तथा दिव्य इन्द्र भी मरुद्गणों से घिरे हुये वहाँ दृव्य रूप में एकत्र हुये। ऋष्यश्रृङ्ग ने तब वहाँ अपना-अपना अंश ग्रहण करने के लिये महात्मा राजा (दशरथ) के उस महान अश्वमेध यज्ञ म उपस्थित हुये देवताओं की इस प्रकार स्तुति की : 'इन राजा दशरथ ने पुत्र की इच्छा से यज्ञ का अनुष्ठान किया है और निष्ठा के साथ अश्वमेध यज्ञ द्वारा आप की उपासना कर चुके हैं। पुत्र की इच्छा से वह एक वार और यज्ञ करने के लिये प्रस्तुत है। अतः आप सब उन पुत्राकांक्षी राजा पर कृपा करें। मैं उनकी ओर से आप सब से इसके लिये करबद्ध प्रार्थना करता हूँ। आप उन्हें लोकों में विख्यात चार पुत्र प्रदान करें।' तब देवों ने उस करबद्ध ऋषिपुत्र से कहा ' 'तथास्तु! हे ब्रह्मन्! तुम हमारे आदर के पात्र हो, और विशेषतः राजा भी। वह मनुष्यों के अधिपति इस यज्ञ द्वारा अपनी कामना को प्राप्त करेंगे।' इस प्रकार कह कर इन्द्र सहित सभी देवता वहीं अन्तर्धान हो गये।

"तब उस आवास[133] में एकत्र होकर इन देवताओं ने प्रजापति ब्रह्मा को सम्बोधित करते हुये कहा : 'हे ब्रह्मा! आप से वर प्राप्त करके रावण नामक एक राक्षस गर्वोन्मत्त होकर हम सब को तथा यज्ञरत महर्षियों को अत्यधिक त्रस्त कर रहा है। प्रभो! आपने प्रसन्न होकर उसे देव, दानव, अथवा यक्ष से अवध्य होने का वर दे दिया है। हम लोग उस वर का आदर करते हुये उसके समस्त अपराधों का सहन करते आ रहे हैं। वह राक्षस राज अपनी क्रूरता से तीनों लोकों को त्रस्त कर रहा है।''' १९. वह राक्षस देखने में भी अत्यन्त भयकर है। उससे हमें महान् भय प्राप्त हो रहा है; अतः भगवन्! उसके वध के लिये आपको कोई न कोई उपाय अवश्य करना चाहिये।' समस्त देवताओं के ऐसा कहने पर ब्रह्मा कुछ विचार कर के बोले : 'देवताओ! लो, उस दुरात्मा के वध का उपाय मेरी समझ में आ गया। उसने वर माँगते समय यह बात कही थी कि 'मैं गन्धर्व, यक्ष, देवता तथा राक्षसों के हाथ न मारा जाऊँ'। मैंने भी तथास्तु कह कर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी। मनुष्यों को वह तुच्छ समझता था, अतः उनके प्रति अवहेलना होने के कारण उसने उनसे अवध्य होने का वरदान नहीं माँगा। अतः अब मनुष्य के हाथ से ही

---

[133] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ कुछ छूट गया है, क्योंकि पहले किसी 'आवास' का उल्लेख नही किया गया है। विष्णु को भी इन्ही देवो के साथ होना चाहिये था क्योंकि वह इनसे अलग नही हुये थे, फिर भी इनके वहाँ वाद मे आगमन का उल्लेख किया गया है।

उसका वध होगा। उसकी मृत्यु का अन्य कोई उपाय नहीं है।' ब्रह्मा की कही हुई प्रिय बात को सुन कर उस समय समस्त देवता और महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुये। इसी समय महान् तेजस्वी भगवान् विष्णु भी मेघ के ऊपर उपस्थित हुये सूर्य की भाँति गरुड़ पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीर पर पीताम्बर, और हाथ में शंख, चक्र, एवं गदा आदि आयुध शोभा पा रहे थे। उनकी दोनों भुजाओं में तपाये हुये सुवर्ण के बने केयूर प्रकाशित हो रहे थे। उस समय सम्पूर्ण देवताओं ने उनकी वन्दना करके कहा: 'हे मधुसूदन! आप समस्त लोकों के कष्ट का निवारण करनेवाले हैं। हे अच्युत! इसीलिये हम त्रस्त हुये लोग आपकी शरण में उपस्थित हुये हैं।' तब विष्णु ने उनसे कहा: 'मुझे बतायें कि आपके लिये मैं क्या करूँ।' उनके इस उत्तर को सुन कर देवों ने पुनः इस प्रकार कहा: 'एक दशरथ नामक राजा ने महान तप किये है, और पुत्र की इच्छा से उन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ का भी अनुष्ठान किया है क्योंकि वह पुत्र-विहीन हैं। अत. हे विष्णु! हमारे निवेदन पर आप उन राजा के पुत्रत्व को ग्रहण कीजिये। अपने चार रूप बना कर राजा की तीनों रानियों के, जो ह्री, श्री, और कीर्त्ति स्वरूपा हैं, गर्भ से पुत्र रूप में अवतीर्ण हों। इस प्रकार मनुष्य रूप से प्रगट होकर आप संसार के लिये प्रबल कंटक रूप रावण का, जो देवताओं के लिये भी अवध्य है, समरभूमि में वध कीजिये।··· २४. शत्रुओं को संताप देनेवाले देव! आप ही इस सब लोगो की परम गति हैं! अतः इन देव-द्रोहियों का वध करने के लिये आप मनुष्य लोक में अवतार लेने का निश्चय कीजिये।' देवों के इस प्रकार नियुक्त करने पर साक्षात् नारायण प्रभु ने, इत्यादि", अपने हस्तक्षेप करने के कारणों पर और प्रकाश डालने के लिये कहा। देवों ने इस प्रकार के हस्तक्षेप का प्रतिपादन करने के बाद विष्णु से कहा कि अकेले वही दुष्ट राक्षस का वध करने में समर्थ हैं (त्वत्तो हि नान्यस् तम् पापं शक्तो हन्तु दिवौकसाम्)। तब देवेश, त्रिदश-पुङ्गव, तथा सर्वलोक-नमस्कृत विष्णु देवों को आश्वस्त करते हुये रावण का वध करने तथा पृथिवी पर ग्यारह सहस्र वर्ष तक राज्य करने का वचन देते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि गत पृष्ठों में उद्धृत स्थलों पर विष्णु को जिस रूप में व्यक्त किया गया है वह बाद की कृतियों में मिलनेवाले रूप से भिन्न है। किन्तु यह भी निश्चित नहीं कि उपरोक्त स्थल भी अपने मूल रूप में रामायण का एक अंश ही रहा होगा। मैं लासन के इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़, भाग १, पृ० ४८८, से रामायण तथा महाभारत में किये गये प्रक्षेपों के सम्बन्ध में उनकी टिप्पणी को उद्धृत कर रहा हूँ:

"यह सत्य है कि महाकाव्यों में राम और कृष्ण विष्णु के अवतारों के रूप में आते हैं, किन्तु साथ ही साथ, ये हमारे सम्मुख मानव नायकों के रूप में भी प्रगट होते हैं। ये दोनों ही चरित्र (दिव्य और मानव) एक दूसरे के साथ समाविष्ट होने से इतने दूर हैं कि अधिकांशतः इन दोनों ही लोकनायकों को अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न मनुष्यों के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् ये मानव प्रेरणाओं के अनुसार ही कार्य करते हैं और अपनी दिव्य श्रेष्ठता का कोई लाभ नहीं उठाते। केवल कुछ खण्डों में ही, जिनको इनके दिव्य चरित्र को सशक्त बनाने के लिये ही सम्मिलित किया गया प्रतीत होता है, ये विष्णु के रूप में सामने आते हैं। इस बात पर ध्यान गये बिना इनमें से किसी भी महाकाव्य को पढ़ना असम्भव है कि जिन स्थलों पर इन नायकों को दिव्य प्रकृति से युक्त किया गया है उनका स्वरूप अपेक्षाकृत आधुनिक है और इन अंशों को प्रस्तुत करने में कुशलता का भी अभाव है। यह भी देखा जा सकता है कि शेष कथा से इनका सम्बन्ध भी बहुत शिथिल है, और कथा-प्रवाह के लिये इनकी विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।"[134]

---

[134] अपने विष्णुपुराण के सस्करण की भूमिका, पृ० ix पर, प्रो० विल्सन ने भी कुछ इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है· "किन्तु वैयक्तित और व्यक्तिगत देवताओ को सार्वभौमिक और आध्यात्मिक परमात्मा के गुणो से युक्त करना निश्चित रूप से वेदो के, और प्रत्यक्षत उस रामायण से भी बाद के समय की ओर सकेत करता है जिसमे राम, विष्णु का अवतार होते हुये भी, केवल मानव-रूप मे ही सामने आते हैं। महाभारत मे श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे भी स्थिति कुछ ऐसी ही है, मुख्यत दार्शनिक अश, भगवद्गीता मे। अन्य स्थलो पर श्रीकृष्ण की दिव्य प्रकृति को अपेक्षतया कम निश्चितता के साथ व्यक्त किया गया है, कुछ स्थलो पर तो इसको विवादास्पद माना या अस्वीकार किया गया है। अधिकाश परिस्थितियो मे, जहाँ ये कोई कार्य करते हैं, एक राजा या योद्धा ही प्रतीत होते हैं देवता नही। ये अपनी या अपने मित्रो की रक्षा के लिये, अथवा शत्रुओ के विनाश या पराजय के लिये मानवेतर गुणो का आश्रय नही लेते। फिर भी, प्रत्यक्षत महाभारत विभिन्न समयो मे लिखी गई रचना है, अत इसके प्रामाण्य के विशुद्ध निर्धारण के लिये इसको आद्योपान्त सतर्कता से पढने की आवश्यकता है।" प्रो० गोल्डस्टूकर भी अपने मानवकल्पसूत्र, पृ० ३१, की भूमिका मे यह मत व्यक्त करते हैं : "मेरे लिये यहाँ, सक्षेप मे भी न केवल महाभारत के समय का, वरन् इसके विभिन्न अंशो

पृ० ४८९, नोट में ये अधिक विशेष रूप से इस प्रकार टिप्पणी करते हैं। "जहाँ तक रामायण का प्रश्न है, फॉन श्लेगेल ने मुझसे अक्सर कहा है कि जिन अध्यायों में राम की विष्णु के अवतार के रूप में कल्पना की गई है, उन्हें कथासूत्र को क्षति पहुँचाये विना सर्वथा निकाल दिया जा सकता है। वास्तव में जहाँ दशरथ के चार पुत्रों के रूप में विष्णु के अवतार का वर्णन है (रामायण १.१५ और वाद) वहाँ मुख्य अश्वमेध यज्ञ पहले ही समाप्त हो चुका है, तथा उसके समाप्त होने के वाद पुरोहितों आदि को दक्षिणा तक दी जा चुकी है। तदनन्तर एक नवीन यज्ञ आरम्भ होता है जिसमें देवगण उपस्थित और फिर अन्तर्धान होते हैं, और फिर सर्वप्रथम वार विष्णु से अवतार ग्रहण करके का प्रस्ताव करते हैं। यदि यह कथा का मूल अंश होता, तो देवों ने निश्चित रूप से परिस्थिति पर और पहले ही विचार किया होता, और मुख्य यज्ञ विना हस्तक्षेप के ही समाप्त हो गया होता। इसी काण्ड के ७४,७५ अध्यायों में एक पहले के (अथवा 'परशु-) राम को सहसा इसलिये प्रस्तुत किया गया है हि वह इस वात की घोषणा करें कि यह नवीन राम वस्तुतः विष्णु हैं।"

रामायण के आरम्भिक अंशों के परीक्षण द्वारा श्लेगेल के इस मत की पुष्टि होती प्रतीत होती है कि १५वें तथा वाद के अध्याय, जिनमें राम तथा अनेक भ्राताओं के विष्णु के अवतार के रूप में अद्भुत प्राकट्य का वर्णन है, मूल काव्य में एक वाद के प्रक्षेप प्रतीत होते हैं। मैं आठवें तथा उसके वाद के जिन विभिन्न स्थलों को अभी उद्धृत करूँगा उनसे यह स्पष्ट होगा कि दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के स्पष्ट उद्देश्य से ही अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। परन्तु यदि स्थिति ऐसी थी तो एक नवीन यज्ञ की, जिसकी १५ वें अध्याय के आरम्भ में पुत्रेष्टि यज्ञ के रूप में चर्चा की गई है, क्या आवश्यकता थी? जिन स्थलों से मेरा तात्पर्य है वे इस प्रकार हैं :

रामायण : १.८,१ और वाद : तस्य त्व् एवम्-प्रभावस्य धार्मिकस्य महात्मनः। सुतार्थम् तप्यमानस्ये नासीद् वंश-करः सुतः। तस्य चिन्तयतो बुद्धिर् उत्पन्नेयम् महामतेः। सुतार्थम् वाजिमेधने किमर्थं न यजाम्य अहम्। सुनिश्चिताम् मति कृत्वा यष्टव्ये वासुधाधिपः। "इतने

के सापेक्षिक समय का निर्धारण करना असम्भव है। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि जिसने भी इसे पढा होगा उसे यह प्रतीत हुआ होगा कि यह भारतीय साहित्य के अत्यन्त दूरस्थ समयो मे रचित साहित्यिक कृतियो का एक सग्रह मात्र है।"

प्रभावशाली, धर्मज्ञ तथा महात्मा राजा के अब तक कोई भी पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ था, यद्यपि उन्होंने इस उद्देश्य से घोर तपस्या की थी। पुत्र के लिये चिन्ता करते-करते एक दिन उन महामनस्वी नरेश के मन में यह विचार हुआ कि 'मैं पुत्र-प्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ क्यों न करूं'? तब इस बात का निश्चय करके शुद्ध-बुद्धि राजा ने, इत्यादि।"

पुनः १.१२,१ में यह कहा गया है : अथ काले व्यतिक्रान्ते शिशिरे तदनन्तरम्। वसन्त समये प्राप्ते राजा यष्टुम् मनो दधे। ततः प्रमाद्य शिरसा त विप्र देव वर्चसम्। यज्ञाय वरयामास सन्तानार्थं कुलस्यवै। "तब जब शिशिर ऋतु व्यतीत हो गई और वसन्त ऋतु आई, तब राजा ने यज्ञ आरम्भ करने का विचार किया। तत्पश्चात् उन्होंने देवोपम कान्तिवाले विप्रवर ऋष्यश्रृङ्ग को मस्तक झुका कर प्रणाम किया तथा वंशपरम्परा की रक्षा के लिये पुत्र-प्राप्ति के निमित्त यज्ञ कराने के उद्देश्य से उनका वरण किया।"

तदनन्तर अपने ब्रह्मवादी ऋत्विजों, वामदेव, जाबालि, वसिष्ठ, आदि को बुला कर उन्होंने कहा. (श्लोक ८): मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम्। तद अहं हय-मेधेन यजेयम इति मे मतिः। तद्-अर्थं यष्टुम् इच्छामि हय-पूर्वेण कर्मणा। "मैं पुत्र के लिये निरन्तर सतप्त रहता हूँ परन्तु मुझे संतोष नहीं हो रहा है। अतः मैंने यह निश्चय किया है कि इसके लिये अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करूँ।

पुनः २० श्लोक में यह कहा गया है : ततः स गत्वा ताः पत्नीर् नरेन्द्रो हृदयङ्गमाः। उवाच दीक्षा विशत यक्ष्येऽहं सुत-कारणात्। "तब अपनी प्रिय पत्नियों के पास जाकर राजा ने उनसे कहा. 'अब तुम लोग दीक्षा ले लो, क्योंकि मैं पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ करने जा रहा हूँ'।"

और १३ वें अध्याय के आरम्भ में यह कहा गया है : पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः सवत्सरोऽभवत्। प्रसवार्थम् गतो यष्टुम् हयमेधने वीर्यवान्। "जब एक वर्ष के बाद द्वितीय वसन्त आया तो शक्तिशाली राजा दशरथ संतान के लिये अश्वमेध यज्ञ करने के लिये गये।

तदनन्तर यज्ञ के लिये सम्पूर्ण तैयारी की जाती है (१३ वाँ अध्याय), और अन्त: इसे सम्पन्न किया जाता है (१४ वाँ अध्याय)। पुत्र की इच्छा से रानी कौशल्या ने सुस्थिर चित्त हो बलि किये गये अश्व के पास एक रात निवास किया : पतत्रिणा तदा सार्द्धम् सुस्थितेन च चेतसा। अवसद् रजनीम् एकाम् कौशल्या पुत्र-काम्मया। अन्य दोनों रानियाँ भी इनके पास ही रहीं।[१३५]

---

[१३५] देखिये विलसन का ऋग्वेद का अनुवाद, भग २, प्रस्तावना पृ०

१४ वें अध्याय के अन्त (५४ श्लोक और बाद) में यज्ञ की समाप्ति का इस प्रकार वर्णन है :

दक्षिणाः परिगृह्याथ सुप्रीत-मानसा द्विजाः । ऊचुर् दशरथं तत्र कामं ध्यायेति वै तदा । ततोऽब्रवीद् ऋष्यश्रृङ्गं राजा दशरथस् तदा । कुलस्य वर्द्धनं तत् तु कर्त्तुम् अर्हसि सुव्रत । तथेति स च राजानम् उवाच द्विज-सत्तमः । भविष्यन्ति सुता राजंश् चत्वरस् ते कुलोद्वहाः । "दक्षिणा आदि ग्रहण करने के बाद अत्यन्त सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणों ने राजा दशरथ से कहा : 'आप अपनी मनोकामना का ध्यान कीजिये ।' राजा ने तब ऋष्यश्रृङ्ग से कहा : 'हे सुव्रत ! आप मेरे कुल का वर्द्धन कराइये ।' उस द्विजसत्तम ने तब कहा : 'राजन् ! ऐसा ही होगा । आपकी कुलपरम्परा को अग्रसर करनेवाले आपको चार पुत्र होंगे ।'"

तब १५ वें अध्याय के आरम्भ में हमें यह बताया जाता है कि अपने उपरोक्त उत्तर पर विचार करके ऋष्यश्रृङ्ग राजा के लिये पुत्रार्थ अथर्ववेद के मन्त्रों से एक अन्य यज्ञ करने का निश्चय करते है । तदनन्तर आप इस नवीन यज्ञ का अनुष्ठान कराते हैं, यद्यपि उपरोक्त अश्वमेध के वर्णन के समान इस नवीन यज्ञ के कोई भी विवरण नहीं दिये गये है । तब आगे यह बताया जाता है कि देवों से, जो अश्वमेध यज्ञ में अपना अंश ग्रहण करने के लिये आये थे, ऋष्यश्रृङ्ग यह कहते हैं कि राजा ने पुत्र के लिये तपस्या की थी और अश्वमेध यज्ञ भी उसी के लिये किया था । अब वही राजा पुत्र प्राप्ति के लिये एक अन्य यज्ञ करने जा रहे हैं । इस दूसरे यज्ञ की आवश्यकता प्रतीत नही होती; क्योंकि अश्वमेध जैसे महत्त्वपूर्ण यज्ञ का इस कार्य के लिये अपर्याप्त होना कुछ आश्चर्य-जनक है । इस बात का भी कारण नहीं दिखाई देता कि प्रथम अवसर पर ही देवों से यह क्यों नहीं कहा गया कि राजा को पुत्र चाहिये, क्योंकि उस प्रथम यज्ञ का भी यही उद्देश्य था । इस प्रकार का निवेदन दूसरे यज्ञ के आरम्भ में किया जाना आश्चर्यजनक है ।

१६ वें अध्याय में हमें यह बताया जाता है कि देवों को दिये गये अपने वचन का ध्यान करके विष्णु ने अपने चार रूपों में अवतीर्ण होने के लिये दशरथ को अपना पिता चुना । तदनन्तर ब्रह्मा को आदरपूर्वक सम्बोधित करने के बाद विष्णु स्वर्गलोक से अन्तार्धान हो जाते हैं, और जब पुत्र के लिये

XIII । वाजसनेयि सहिता २३.२० और बाद, तथा भाष्य, शतपथ ब्राह्मण पृ० ९९० और बाद, कात्यायन सूत्र पृ० ९७३; और महाभारत १४. २६४५ भी देखिये ।

दशरथ दूसरा यज्ञ कर रहे होते हैं, तब वह (विष्णु) एक जाज्वल्यमान प्राणी के रूप में अग्नि से प्रगट होते हैं और अपने को प्रजापति कहते हैं (प्राजापत्य नरम) और हाथ में खीर का एक बड़ा पात्र लिये हुये हैं। उन्होंने कहा कि वह खीर राजा दशरथ अपनी रानियों को दे दें जिससे उन्हें पुत्र होगा। तदनन्तर विष्णु अन्तर्धान हो जाते हैं।

१८. वें अध्याय में यज्ञ की समाप्ति के १२ मास बाद दशरथ के पुत्र उत्पन्न होते हैं, जिसका इस प्रकार वर्णन है (ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः। ततश्च द्वादशे मासे. इत्यादि)। श्रीराम के जन्म के समय के मास, दिन, तथा नक्षत्रों आदि का उल्लेख करने के बाद लेखक आगे इस प्रकार कहता है : जगन्नाथं सर्वलोक-नमस्कृतम्। कौशल्याऽजनयद् रामं दिव्य लक्षण-संयुतम्। कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामित-तेजसा। यथाऽधिपेन देवानाम् अदितिर् वज्र पाणिना। [भवाय स हि लोकानां रावणस्य वधाय च। विष्णोर् वीर्यार्द्धतो जज्ञे रामो राजीव-लोचन। भरतो नाम कैकेय्या जज्ञे सत्य पराक्रमः। साक्षाद् विष्णोश् चतुर्भाग सर्वैः समुदितो गुणैः। अथ लक्ष्मण च शत्रुघ्नौ सुमित्राऽजनयत सुतौ। दृढ़-भक्ति महोत्साहौ विष्णोर् अर्ध समन्वितौ।] पुष्ये जातस् तु भरतो मीन-लग्ने प्रसन्न-धीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ। "कौशल्या देवी ने दिव्य लक्षणों से युक्त, सर्वलोकवन्दित जगदीश्वर श्री राम को जन्म दिया। उस अमित तेजस्वी पुत्र से कौशल्या की बड़ी शोभा हुई : ठीक उसी तरह जैसे सुरश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्र से देवमाता अदिति सुशोभित हुई थीं। [क्योंकि कमलनयन श्री राम का विष्णु के आधे वीर्य से लोकों के हितार्थ तथा रावण के वध के लिये आविर्भाव हुआ था। तदनन्तर कैकेयी से सत्य पराक्रमी भरत का जन्म हुआ जो साक्षात् भगवान विष्णु के चतुर्थांश से भी न्यून भाग से प्रगट हुये थे। ये समस्त सद्गुणों से सम्पन्न थे। इसके बाद रानी सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। ये दोनों वीर साक्षात् भगवान् विष्णु के अर्धभाग से सम्पन्न और सब प्रकार के अस्त्रों की विद्या में कुशल थे।] भरत सदा प्रसन्न-चित्त रहते थे। उनका जन्म पुष्य नक्षत्र तथा मीन लग्न में हुआ था। सुमित्रा के दोनों पुत्र आश्लेषा नक्षत्र और कर्क लग्न में उत्पन्न हुये थे। उस समय सूर्य अपने उच्च स्थान में विराजमान थे।

यदि श्लेगेल की यह मान्यता कि उनके संस्करण के १३ वें तथा बाद के अध्याय प्रक्षिप्त हैं, ठीक है तो यह सर्वथा बोधगम्य हो जाता है कि उपरोक्त

उद्धरण में बड़े ब्रैकेट में रक्खे गये स्थल भी, जिनमें विष्णु के अंशों से दशरथ के पुत्रों के जन्म का वर्णन है, प्रक्षिप्त हो सकते हैं, क्योंकि कथा-सूत्र में बिना किसी व्यवधान के ही इन्हें छोड़ा जा सकता है। यदि इन स्थलों को रहने दिया जाय तो हम देखेंगे कि भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के जन्मों का दो बार वर्णन आ जाता है। इस दशा में 'जगन्नाथ' तथा 'सर्वलोकनमस्कृत' उपाधियों को, जो उपरोक्त उद्धरण के आरम्भ में आती है, बाद में जोड़ दिया गया हो सकता है, और इनके स्थान पर पहले अपेक्षाकृत संकीर्ण विशेषण ही रहे हो सकते हैं। वास्तव में यदि राम को मूलतः ही विष्णु का अवतार माना जाता रहा हो तो उनके जन्म की इन्द्र (जो विष्णु की अपेक्षा कम महान देवता हैं) के साथ तुलना उपयुक्त नहीं प्रतीत होती, जैसा कि ऊपर के एक ऐसे श्लोक में किया गया है जिसे मैं प्राचीन तथा मूलतः उपस्थित मानता हूँ।

रामायण के एक बाद के अध्याय (१.७५) में हमें बताया जाता है कि राम का उन परशुराम से मिलन हुआ जिन्होंने विष्णु तथा महादेव के बीच पूर्व समय में हुये एक युद्ध का वर्णन किया। वह कहते हैं कि विश्वकर्मा ने दो दिव्य धनुषों का निर्माण किया था जिनमें से एक महादेव को तथा दूसरा विष्णु को प्राप्त हुआ। तदनन्तर कथा इस प्रकार अग्रसर होती है :

१.७५,१४ और बाद : तदा तु देवताः सर्वा पृच्छन्ति स्म पितामहम्। सितिकण्ठस्य विष्णोस् च बलावल निरीक्षया। अभिप्राय तु विज्ञाय देवतानाम् पितामहः। विरोध जनयामास तयोः सत्यवतं वरः। विरोधे तु महद् युद्धम् अभवद् रोम-हर्षणम्। शितिकण्ठस्य विष्णोश् च परस्पर-जयैषिणोः। तदा तु जृम्भितम् शैवं धनुर् भीम-पराक्रमम्। हुङ्कारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः। देवैस् तदा समागम्य सर्षि-सङ्घैः स-चारणैः। याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस् तौ सुरोत्तमौ। जृम्भितं तद् धनुर् दृष्ट्वा शैव विष्णु-पराक्रमे। अधिकम् मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षि-गणास् तथा। धनू रुद्रस् तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशा। देवरातस्य राजर्षेर् ददौ हस्ते स-सायकम्। इदं तु वैष्णव राम धनुः पर-पुरञ्जयम्। ऋचीके भार्गवे प्रादाद् विष्णुः स न्यासम् उत्तमम्। "उन दिनों समस्त देवताओं ने भगवान शिव और विष्णु के बलाबल की परीक्षा के लिये पितामह ब्रह्मा से पूछा था कि 'इन दोनों देवताओं में कौन अधिक बलवान है।' देवताओं के इस अभिप्राय को जानकर सत्यवादियों में श्रेष्ठ पितामह ने उन दोनों देवताओं में विरोध उत्पन्न कर दिया। विरोध उत्पन्न होने पर एक दूसरे को जीतने की इच्छावाले शिव और विष्णु में अत्यन्त भीषण युद्ध हुआ जो रोमाञ्चित कर देने

वाला था। उस समय भगवान विष्णु ने हुंकार मात्र से शिव की भयंकर बलशाली भुजाओं को शिथिल तथा त्रिनेत्रधारी महादेव को स्तम्भित कर दिया। तब ऋषिसमूहों तथा चारणों सहित देवताओं ने आकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओं से शान्ति के लिये याचना की; फिर वे दोनों वहाँ शान्त हो गये। भगवान् विष्णु के पराक्रम से शिव के उस धनुष को शिथिल हुआ देख ऋषियों सहित देवताओं ने विष्णु को श्रेष्ठ माना। तदनन्तर कुपित हुये महायशस्वी रुद्र ने बाण-सहित अपना धनुष विदेहराज राजर्षि देवरात, के हाथ में दिया। श्रीराम! शत्रुनगरी पर विजय प्राप्त करनेवाले इस वैष्णव धनुष को विष्णु ने भृगुवंशी ऋचीक मुनि को उत्तम धरोहर के रूप में दिया था।" उनके पास से यह धनुष परशुराम के पिता, जमदग्नि, को मिला और उनसे परशुराम को। परशुराम इस वैष्णव धनुष पर श्री राम से प्रत्यञ्चा चढ़ाने के लिये कहते हैं। श्री राम उस धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उस पर एक बाण लगाते हैं और परशुराम से कहते हैं कि वह उन पर प्रहार नहीं करेंगे क्योंकि वह ब्राह्मण हैं। परशुराम तब श्रीराम की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेते हैं (श्लोक १७ और बाद)।

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने विष्णु को जिस रूप में भी ग्रहण किया हो—चाहे परमात्मा के अथवा अन्य रूप में—किन्तु इस स्थल पर कोई ऐसी उपाधि या अभिव्यक्ति नहीं है जो इस प्रकार की व्याख्या को आवश्यक बनाये। साथ ही, यह भी देखा जा सकता है कि विष्णुपुराण (विलसन का अनुवाद पृ० ५९४ और बाद), हरिवंश (अध्याय १८३-१८४) तथा भागवत पुराण (१०.६४ तथा इसके पूर्व के कुछ अध्याय), जो निश्चित रूप से विष्णु को परमेश्वर मानते हैं, इनके तथा महादेव के बीच युद्ध का भी वर्णन करते हैं। फिर भी, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि रामायण के युद्धकाण्ड के ११७ वें अध्याय में, जिसका अब मैं आगे उद्धरण दूँगा, श्री राम का परमेश्वर के अवतार के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। मैं कलकत्ता से नये रामायण के संस्करण से उद्धरण दूँगा। यह संस्करण यद्यपि उत्तर भारत के देवनागरी संस्करण के अनुरूप है, तथापि इस अध्याय में यह कुछ श्लोकों के क्रम-भेद को छोड़ कर गोरेसियो के संस्करण से भिन्न नहीं है। यहाँ विष्णु के लिये व्यवहृत उपाधियों के आधार पर यह निर्णय करूँगा कि यह अध्याय, जैसा इसका आज स्वरूप है, मूल रामायण का अंग नहीं रहा होगा। इस काव्य के पूर्ववर्ती अंशों में यह कहा गया है कि रावण-वध के बाद जब श्री राम ने सीता को छुड़ा लिया तब उन्होंने उनकी पवित्रता पर शंका की, और इसके फलस्वरूप सीता को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। ११७ वाँ अध्याय इस प्रकार आरम्भ होता है

रामायण, युद्धकाण्ड ११७.१ और बाद : ततो हि दुर्मना रामः श्रुत्वैव

वदतां गिरः। दध्यौ मुहूर्त्त धर्मात्मा वाष्प व्याकुल-लोचनः। ततो वैश्रवणो राजा यमश् च पितृभिः सह। सहस्राक्षश् च देवेशो वरुणश्च जलेश्वरः। षड्-अर्द्ध-नयनः श्रीमान् महादेवो वृषध्वजः। कर्त्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा ब्रह्म-विदां वरः। [[१३९]स च राजा दशरथो विमानेनान्त-रीक्ष-गः। अभ्याजगाम तं देशं देव-राज-सम-द्युतिः।] एते सर्वे समा-गम्य विमानैः सूर्य-सन्निभैः। आगम्य नगरीं लङ्काम् अभिजग्मुश् च राघवम्। ततः स-हस्ताभरणान् प्रगृह्य विपुलान् भुजान्। अब्रुवन् त्रिदश श्रेष्ठां राघवम् प्राञ्जलि स्थितम्। कर्त्ता सवस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः। उपेक्षसे कथ सीताम् पतन्तीप हव्यवाहने। कथ देव-गण-श्रेष्ठम् आत्मान नाववुध्यसे। ऋत-धामा वसुः पूर्वं वसूनां च प्रजा-पतिः। त्वम् त्रयाणा हि लोकानाम् आदिकर्त्ता स्वयम् प्रभुः। रुद्राणाम् अष्टमो रुद्रः साध्यानाम् अपि पञ्चमः। अश्विनौ चापि ते कर्णौ चन्द्रा-दित्यौ च चक्षुषी। अन्ते चादौ च भूतानां दृश्यसे त्वम् परन्तप। उपेक्षसे च वदेहीम् मानुपः प्राकृतो यथा। इत्य् उक्तो लोकपालैस् तैः स्वामी लोकस्य राघवः। अब्रवीत् त्रिदश-श्रेष्ठान् रामो धर्म-भृता वरः। आत्मानम् मानुषम् मन्ये रामं दशरथात्मजम्। सोऽहं यश्च यतश् चाहं भगवास् तद् ब्रवीतु मे। इति ब्रुवाण काकुत्स्थ ब्रह्मा ब्रह्म-विदां वरः। अब्रवीत् शृणु मे वाक्य सत्यं सत्य-पराक्रम। भवान् नारायणः देवः श्रीमांश् चक्रायुधः प्रभुः। एक-शृङ्गो वराहस् त्वम् भूत-भव्य-सपत्न जित्। अक्षरम् ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव। लोकाना त्वम् परो धर्मो विश्वक्सेनश् चतुर्भुजः। शार्ङ्ग-धन्वा हृषीकेशः पुरुष. पुरुषोत्तमः। अजितः खड्ग-धृग् विष्णुः कृष्णश् चैव बृहद्बलः। सेनानीर् ग्रामणीः सत्यस् त्वम् बुद्धिस् त्व क्षमा दमः। प्रभवश् चाव्ययश् च त्वम् उपेन्द्रो मधुसूदनः। इन्द्र-कर्मा महेन्द्रस् त्वम् पद्मनाभो रणान्त-कृत्। शरण्यं शरणं च त्वाम् आहुर दिव्या महर्षय। सहस्र-शृङ्गो वेदात्मा शत-शीर्षो महर्षभः। त्व त्रयानां हि लोकानाम् आदि-कर्त्ता स्वयम् प्रभुः। सिद्धा-नाम् अपि साध्यानाम् आश्रयश् चासि पूर्वज। त्वं यज्ञस् त्वं वषट्कारस् त्वम् ओंकारः परात् परः। प्रभवं निधन वा ते न विदुः को भवान् इति। दृश्यसे सर्व भूतेषु ब्राह्मणेषु च गोषु च। दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च। सहस्र-चरणः श्रीमान शत-शीर्षः सहस्र दृक्। त्व धारयसि भूतानि वसुधां च स-पर्वताम्। अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वम् महोरगः। त्रीन् लोकान् धारयन् राम देव-गन्धर्व-दानवान्। अहं ते हृदय राम जिह्वा

---

[१३९] यह श्लोक केवल गोरेसियो के सस्करण मे ही मिलता है।

देवी सरस्वती। देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिता प्रभो। निमेषस् ते स्मृता रात्रिर् उन्मेषो दिवसस् तथा। संस्कारास् तेऽभवन् वेदा नैतद् अस्ति त्वया विना। जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्। अग्निः कोपः प्रसादस् ते सोमः श्रीवत्सलक्षण। त्वया लोकास् त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर् विक्रमैस् त्रिभिः। महेन्द्रश् च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम्। [[137] यत् परं श्रूयते ज्योतिर् यत् परं श्रूयते तमः। यत् परम् परतश् चैव परमात्मेति कथ्यते। परमात्मनः परं यच् च त्वम् एव परिगीयसे। स्थित्युत्पत्ति-विनाशानां त्वाम् आहुः परमां गतिम्।] सीता लक्ष्मीर् भवान् विष्णुर् देवः कृष्णः प्रजापतिः। वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् इत्यादि।

"तदनन्तर धर्मात्मा श्रीराम हाहाकार करनेवाले वानर और राक्षसों की बातें सुनकर मन ही मन बहुत दुखी हुये और आँखों में आँसू भर कर दो घड़ी तक कुछ सोचते रहे। इसी समय विश्रवा के पुत्र यक्षराज कुबेर, पितरों सहित यमराज, देवताओं के स्वामी सहस्र नेत्रधारी इन्द्र, जल के अधिपति वरुण, त्रिनेत्रधारी श्रीमान् वृषभध्वज महादेव, तथा सम्पूर्ण जगत के स्रष्टा ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा, [एक दिव्य रथ में स्थित होकर राजा दशरथ भी, जो देवराज इन्द्र के समान द्युतिमान हो रहे थे, वहाँ आये]; ये सब देवता सूर्यतुल्य विमानों द्वारा लङ्कापुरी में आकर श्री रघुनाथ जी के पास गये। भगवान उनके सामने करबद्ध खड़े थे। वे श्रेष्ठ देवता आभूषणों से अलंकृत अपनी विशाल भुजाओं को उठाकर उनसे बोले। श्रीराम! आप सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक, ज्ञानियों में श्रेष्ठ और सर्वव्यापक हैं। फिर इस समय आग में गिरी हुई सीता की उपेक्षा कैसे कर रहे हैं? आप समस्त देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु ही हैं। इस बात को कैसे नहीं समझ रहे हैं? पूर्वकाल में वसुओं के प्रजापति जो ऋतुधामा नामक वसु थे वे आप ही हैं। आप तीनों लोकों के आदिकर्ता स्वयं प्रभु हैं। रुद्रों में आठवें रुद्र और साध्यों में पाँचवें साध्य भी आप ही हैं। दो अश्विनीकुमार आपके कान हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा नेत्र हैं। शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले देव! सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य में भी आप ही दिखाई देते हैं। फिर एक साधारण मनुष्य की भाँति आप सीता की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं?' उन लोकपालों के ऐसा कहने पर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ लोकनाथ रघुनाथ श्रीराम ने उन श्रेष्ठ देवताओं से कहा 'देवगण! मैं तो अपने को मनुष्य[138] और दशरथ

---

[137] ये दो श्लोक केवल गोरेसियो के संस्करण में ही मिलते हैं।

[138] महाभारत के कुछ अंशों में जहाँ कृष्ण को परमेश्वर से समीकृत किया

पुत्र राम ही समझता हूँ। भगवन् ! मैं जो हूँ और जहाँ से आया हूँ वह सब आप ही मुझे बताइये।' श्रीराम के ऐसा कहने पर ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने उनसे इस प्रकार कहा: 'सत्यपराक्रमी श्रीरघुवीर ! आप मेरी सच्ची बात सुनिये। आप चक्र धारण करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीमान् भगवान् नारायण देव हैं, एक डाढ़वाले पृथिवीधारी वराह हैं, तथा देवताओं के भूत एवं भावी शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। रघुनन्दन ! आप अविनाशी पर-ब्रह्म हैं। सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में सत्यरूप से विद्यमान हैं। आप ही लोकों के परम धर्म हैं। आप ही विष्वक्सेन तथा चतुर्भुज श्रीहरि है। आप ही शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, अन्तर्यामी पुरुष और पुरुषोत्तम हैं। आप किसी से पराजित नहीं होते। आप नन्दक नामक खड्ग धारण करनेवाले विष्णु एव महाबली कृष्ण[१३९] हैं। आप ही देव-सेनापति तथा गावों के नेता है। आप ही बुद्धि, सत्त्व, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह तथा सृष्टि एवं प्रलय के कारण है। आप ही उपेन्द्र और मधुसूदन हैं। इन्द्र को भी उत्पन्न करनेवाले महेन्द्र और युद्ध का अन्त करनेवाले शान्तस्वरूप, पद्मनाभ भी आप ही हैं। दिव्य महर्षिगण आपको शरणदाता तथा शरणागत-वत्सल बताते हैं। आप सहस्रों शाखा-रूप श्रृङ्ग और सैकड़ों विधिवाक्य रूप मस्तकों से युक्त वेद रूप महावृषभ हैं। आप ही तीनों लोकों के आदिकर्त्ता और स्वय प्रभु है। आप सिद्ध और साध्यों के आश्रय तथा पूर्वज है। यज्ञ, वषट्कार और ओंकार भी आप ही हैं। आप श्रेष्ठों से भी श्रेष्ट परमात्मा हैं। आपके आविर्भाव तथा तिरोभाव को कोई नहीं जानता। आप कौन हैं इसका भी किसी को पता नहीं। समस्त प्राणियों में, गौओं में, तथा ब्राह्मणों में भी आप ही दिखाई देते हैं। समस्त दिशाओं में, आकाश में, पर्वतों में ओर नदियों में भी आपकी ही सत्ता है। आपके सहस्रों चरण, सैकड़ों मस्तक और सहस्रों नेत्र है। आप ही सम्पूर्ण प्राणियों को, पृथिवी को और समस्त पर्वतों को धारण करते हैं। पृथिवी का अन्त हो जाने

गया है, वहाँ उन्हे अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सदैव जागरूक दिखाया गया है। भाष्यकार इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करता है 'अथ ब्रह्मानुग्रहाद् एव ब्रह्म-विद्यौन्मुख्यस्य श्रुत्य-आदि-सिद्धतया तद्-औन्मुख्यस्य "आत्मानं नावबुध्यसे", इति ब्रह्मणैव कृतत्वात् तज्-जिज्ञासुर इव स्वीयाय स्वरूप-बोधनाय ब्रह्माण गुरुम् अज्ञ इव उपासद् इत्य् आह "आत्मानम्" इति।

[१३९] यदि इससे देवकी-पुत्र कृष्ण से तात्पर्य है तो इसे भविष्यवाणी ही कहा जायगा। भाष्यकार इसे केवल 'कृष्णस् तद्-पर्ण' मात्र ही कह कर छोड़ देता है।

पर आप ही जल के ऊपर महान सर्प पर आसीन दिखाई देते हैं। श्रीराम! आप ही तीनों लोकों को, तथा देवता, गन्धर्व, और दानवों को धारण करनेवाले विराट पुरुष नारायण है। सबके हृदय में रमण करनेवाले परमात्मा! मैं ब्रह्मा, आपका हृदय हूँ, और देवी सरस्वती आपकी जिह्वा है। प्रभो! मुझ ब्रह्मा ने जिनकी सृष्टि की है वे सब देवता आपके विराट शरीर में रोम हैं। आपके नेत्रों का बंद होना रात्रि, तथा खुलना ही दिन है। वेद आपके संस्कार हैं।'[140] आप के बिना इस जगत् का अस्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण विश्व आपका शरीर है। पृथिवी आपकी स्थिरता है। अग्नि आपका कोप है, और चन्द्रमा प्रसन्नता। वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिह्न धारण करनेवाले भगवान विष्णु आप ही हैं। पूर्वकाल में आपने ही अपने तीन पगों से तीनों लोक नाप लिये थे। आपने अत्यन्त दारुण दैत्यराज बलि को बाँधकर इन्द्र को तीनों लोकों का राजा बनाया था। [जिसे परम ज्योति कहते हैं, जिसे परम तम कहते हैं, जो पर से भी पर तर है, आप वही परमात्मा है। आप ही पर और परम तत्त्व हैं। मनुष्य आप को ही स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का उत्तम स्रोत मानते हैं]। सीता साक्षात् लक्ष्मी है और आप भगवान् विष्णु। आप ही सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण एवं प्रजापति है। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ रघुवीर! आपने रावण का वध करने के लिये ही इस लोक में मनुष्य के शरीर में प्रवेश किया था, इत्यादि।"

जिस प्रकार रामायण में राम को विष्णु से सम्बद्ध किया गया है उसी प्रकार महाभारत, विष्णु पुराण, भागवत पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, तथा बाद के समयों की अनेक अन्य कृतियों में कृष्ण को भी विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया है। उक्त प्रथम दो पुराणों में, यद्यपि कभी कभी कृष्ण को विष्णु का अंशावतार कहा गया है, तथापि सामान्यरूप से इन्हें विष्णु का पूर्ण रूप ही माना गया है, और स्वयं विष्णु ही परमेश्वर हैं। महाभारत में, जैसा कि हम देख चुके हैं, विभिन्न युगों में सृजित विविध प्रकार की सामग्रियों का तथा विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का संग्रह है। हम यह भी देखेंगे कि इसके विभिन्न भागों में कृष्ण को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। मैं इस

---

[140] भाष्यकार इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है 'संस्क्रियन्ते बोध्यन्ते एभिर् लोका इति संस्कारा प्रवृत्ति-निवृत्ति-व्यवस्था बोधका।' "संस्कार उन्हे कहते हैं जिनसे लोक को प्राणियों को उपदिष्ट किया जाता है। इनके द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का विधान किया जाता है।" किन्तु यहाँ यह आशय उपयुक्त नहीं है।

सम्बन्ध में ऊपर लासन तथा विलसन के कुछ विचारों को पहले ही उद्धृत कर चुका हूँ। इन लेखकों के अनुसार कृष्ण को, जहाँ तक यह इस महाकाव्य की घटनाओं के एक पात्र हैं, सामान्यतया एक मानव के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। ये मित्रों की रक्षा करने अथवा शत्रुओं को पराभूत करने के लिये अतिमानवीय शक्तियों का आश्रय प्रायः नहीं लेते। यहाँ तक कि, जैसा कि प्रो० विलसन ने कहा है, कहीं कहीं इनके दिव्यत्व का प्रतिवाद भी किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में इन्हें केवल देवकी का पुत्र मात्र कहा गया है। महाभारत के विभिन्न भागों में इनको महादेव की स्तुति करता हुआ तथा उनसे वरदान प्राप्त करता हुआ दिखाया गया है। अनेक स्थलों पर इन्हें नारायण ऋषि के साथ समीकृत किया गया है, जब इनके मित्र, अर्जुन, नारायण के अभिन्न सखा, नर नामक ऋषि हैं। फिर भी, इन विभिन्न स्थलों पर कृष्ण को किसी प्रकार एक साधारण मनुष्य नहीं माना गया है। ये महादेव से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं; ऋषि नारायण के रूप में ये अनेक युगों तक जीवित हैं और अतिमाननीय शक्तियों को व्यक्त करते है। पाण्डवों के मित्र के रूप में भी ये शिशुपाल का अपने चक्र से एक अतिमानवीय ढग से वध करते हैं। अनेक स्थलों पर इन्हें स्पष्टतम रूप में विष्णु के साथ समीकृत किया गया है, और विष्णु स्वयं परमेश्वर हैं। अब मैं इन विभिन्न उक्तियों के उदाहरण स्वरूप अनेक स्थलों को उद्धृत करूँगा।

१. मेरा विश्वास है कि निम्नोद्धृत छान्दोग्य उपनिषद् (बिब० इण्डिका० सं० पृ० २२२ और बाद) का स्थल प्राचीनतम ऐसा स्थान है जहाँ देवकी के पुत्र के रूप में कृष्ण का उल्लेख है। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि यह स्थल इतना संक्षिप्त है कि हमें कृष्ण के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता, यद्यपि हमें इस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूर्णतम विवरण प्राप्त करने में प्रसन्नता होती क्योंकि बाद के समय में ये इतने प्रसिद्ध हो गये कि इन्हें देवत्व का पद प्रदान कर दिया गया। यहाँ केवल इतना थोड़ा सा विवरण मिलता है कि ये देवकी के पुत्र तथा घोर[१४१] नामक एक आचार्य के शिष्य थे : छान्दोग्य उपनिषद् ३.१७,६ : तद् ह एतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णय देवकी-पुत्राय उक्त्वा उवाच अपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायाम् एतत्-त्रयम् प्रतिपद्येत "अक्षितम् अस्य अच्युतम् असि प्राणसंशितम् असि" इति। "अङ्गिरस के वंशज, घोर, ने देवकी-पुत्र कृष्ण को

---

[१४१] मुझे यह पता नही कि घोर का कृष्ण के सम्बन्ध मे अन्य किसी कृति मे भी उल्लेख है या नही।

इसका (एक यज्ञशास्त्र का) उपदेश देने के बाद इन तीन मन्त्रों को कहा : वह यज्ञ पुरुष मरण के समय इन तीन मन्त्रों का जप करे : 'तू नाश रहित है, तू एक-रस है, तू मुख्य प्राण है।"

मैं इस महत्त्वपूर्ण स्थल पर भाष्यकार के भाष्य के कुछ अंशों को उद्धृत करूँगा :

तद् ह एतद् यज्ञ-दर्शनं घोरो नामत आङ्गिरसो गोत्रतः कृष्णाय देवकी-पुत्राय शिष्याय उक्त्वा उवाच तद् "एतद् त्रयम्" इत्यादि व्यवहितेन सम्बन्धः। स च एतद् दर्शन श्रुत्वा अपिपास एव अन्याभ्यो विद्याभ्यो बभूव। इत्थ च विशिष्टा इयं विद्या यत् कृष्णस्य देवकी पुत्रस्य अन्या विद्या प्रति त्रिड्-विच्छेद-करी इति पुरुष-यज्ञ विद्या स्तौति। घोर आङ्गिरस कृष्णाय उक्त्वा इमा विद्यां किम् उवाच इति तद् आह। स एव यथोक्त-यज्ञ-विद् अन्तवेलायाम् मरण-काले एतन्-मन्त्र त्रयम् प्रतिपद्येत जपेद् इत्य् अर्थः। ... प्राण-सशितम् प्राणस्य सशितं सम्यक् तनूकृतञ्च सूक्ष्म तत्त्वम् असि ... । "घोर नामक एक व्यक्ति ने जो अङ्गिरस का वंशज था, इस यज्ञ-शास्त्र को अपने शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण को बताने के बाद, इस प्रकार कहा, इत्यादि। अन्तिम शब्द 'कहा' का कुछ नीचे आनेवाले 'इन तीन' इत्यादि शब्दों से सम्बन्ध है। इस शास्त्र को सुनने के बाद वह अन्य किसी भी प्रकार के ज्ञान की पिपासा से मुक्त हो गया। इस प्रकार, वह यह कह कर इस पुरुष-यज्ञ के ज्ञान की प्रशस्ति करता है कि यह यज्ञ इतना विशिष्ट था कि इसने देवकी के पुत्र कृष्ण की अन्य किसी भी प्रकार के ज्ञान की पिपासा को समाप्त कर दिया। अब वह हमें यह बताता है कि इस यज्ञ का कृष्ण को ज्ञान प्रदान करने के बाद घोर आङ्गिरस ने क्या कहा। वह यह था : 'जो उक्त यज्ञ को जानता है, वह मरणकाल के समय इन तीन मन्त्रों का जप करे। 'प्राणसंशितम्' का अर्थ है 'तुम प्राण के सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व हो'।"

२. अब मैं महाभारत के कुछ ऐसे स्थलों को उद्धृत करूँगा जिनमें कृष्ण को महादेव की स्तुति करते तथा उसके फलस्वरूप प्रत्यक्षतः उनकी अपेक्षा अपनी हीनता को स्वीकार करते हुये दिखाया गया है। वनपर्व (१५१२–१६५६ श्लोक) के एक स्थल पर, जिसे मैं आगे उद्धृत करूँगा, यह कहा गया है कि दिव्यास्त्रों को प्राप्त करने के लिये अर्जुन महादेव की पूजा करते हैं और उनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करते हैं।

इस महाकाव्य के एक बाद के स्तर पर (द्रोणपर्व २८३८) श्रीकृष्ण अर्जुन को यह परामर्श देते हैं कि वह पुनः महादेव से पाशुपत अस्त्र के लिये

विनती करे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन श्लोकों का लेखक (यदि यह वही था जिसने उक्त प्रथम स्थल की रचना की थी तो) यह भूल गया कि अर्जुन इस अस्त्र को पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन ने अगले दिन जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की थी, चाहे कोई भी देवता उसकी रक्षा क्यों न करते हों। फिर भी, बाद में वे खिन्न हो जाते हैं और यह विचार करते हैं कि शत्रुसेना के नायक जयद्रथ की रक्षा का अधिकतम उपाय करेंगे और इस प्रकार वे (अर्जुन) अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने से वंचित रह जायँगे (श्लोक २८३० और बाद)। इस पर श्रीकृष्ण अर्जुन को महादेव से पशुपतास्त्र माँगने का परामर्श देते हैं जिससे स्वयं देवताओं ने पूर्व समय में दैत्यों का विनाश किया था, और जिससे वह (अर्जुन) भी दूसरे दिन जयद्रथ का वध करने में सफल होंगे (श्लोक २८३८ और बाद)। तब अर्जुन और कृष्ण (यह स्पष्ट नहीं है कि मानसिक रूप से या शारीरिक) वायु की गति से उस पर्वत शिखर पर आते है जहाँ महादेव निवास करते हैं। वहाँ ये पार्वती तथा भूतगणों सहित महादेव का दर्शन् प्राप्त करते हैं। महादेव को देखकर वासुदेव (कृष्ण) उन्हें पृथिवी पर सर झुका कर प्रणाम करते हैं।

महाभारत ७.८०,४२ और बाद : वासुदेवस् तं दृष्ट्वा जगाम शिरसा क्षितिम्। पार्थेन सह धर्मात्मा गृणम् ब्रह्म सनातनम्। लोकादि विश्व-क्र्माणम् अजम् ईशानम् अव्ययम्। मनसः परमां योनिं खं वायुं ज्योतिषाम् निधिम्। स्रष्टारं वारिधाराणां भुवश्च प्रकृतिम् पराम्। देव-दानव-यक्षाणाम् मानवानाञ्च साधनम्। योगानाञ्च परम् ब्रह्म दृष्टम् ब्रह्म-विदां निधिम्। चराचरस्य स्रष्टारम् प्रतिहर्त्तारम् एव च। काल-कोपम् महात्मानं शक्र-सूर्य-गुणोदयम्। ववन्दे तं तदा कृष्णो वाङ्-मनो बुद्धि-कर्मभिः। यम् प्रपद्यन्ति विद्वांसः सूक्ष्माध्यात्म-पदैषिणः। तम् अजं कारणात्मन जग्मतुः शरणम् भवम्। अजुनश् चापि त देवम् भूयो भूयोऽप्य् अवन्दत। ज्ञात्वा तं सर्व-भूतादिम् भूत-भव्य-भवोद्भवम्। ततस ताव् आगतौ दृष्ट्वा नर-नारायणाव् उभौ। सुप्रसन्न-मनाः सर्वः प्रोवाच प्रहसन्न् इव। आगत वां नर-श्रेष्ठाव् उत्तिष्ठेतां गत क्लमौ। किञ्चि वाम् ईप्सित वीरौ मनस क्षिप्रम् उच्यताम्। येन कार्येण सम्प्राप्तौ युवां तत् साधयमि किम्। प्रियताम् आत्मनः श्रेयस् तत् सर्वम् प्रददामि वाम्।

"अर्जुन-सहित धर्मात्मा वासुदेव ने उन्हें देखते ही वहाँ की पृथिवी पर माथा टेककर प्रणाम किया और उन सनातन ब्रह्मस्वरूप भगवान् शिव की स्तुति करने लगे। वे जगत् के आदि कारण, लोकस्रष्टा, अजन्मा, ईश्वर,

अविनाशी, मनकी उत्पत्ति के प्रधान कारण, आकाश एवं वायुस्वरूप, तेज के आश्रय, जल की सृष्टि करनेवाले, पृथिवी के भी परम कारण, देवताओं, दानवों, यज्ञों, तथा मनुष्यों के भी प्रधान कारण, सम्पूर्ण योगों के परम आश्रय, ब्रह्म-वेत्ताओं की प्रत्यक्ष निधि, चराचर जगत की सृष्टि और उसका संहार करनेवाले, इन्द्र के ऐश्वर्य आदि और सूर्य देव के प्रताप आदि गुणों को प्रगट करनेवाले परमात्मा थे। उनके क्रोध में काल का निवास था। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने मन, वाणी, बुद्धि, और क्रियाओं द्वारा उनकी वन्दना की।[१४२] सूक्ष्म आध्या-त्मपद की अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् जिनकी शरण लेते हैं उन्हीं कारण स्वरूप अजन्मा भगवान् शिव की शरण में श्रीकृष्ण और अर्जुन भी गये। अर्जुन ने भी उन्हें समस्त भूतों का आदि कारण तथा तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान जगत् का उत्पादक जानकर बारबार उनके चरणों में प्रणाम किया। उन दोनों नर और नारायण को वहाँ देख कर भगवान् शंकर अत्यन्त प्रसन्न-चित्त होकर हँसते हुये बोले: 'नर श्रेष्ठो! तुम दोनों का स्वागत है। उठो, तुम्हारा श्रम दूर हो। वीरो तुम दोनों के मन की अभीष्ट वस्तु क्या है? शीघ्र बताओ। तुम दोनों जिस कार्य से यहाँ आये हो वह क्या है? मैं उसे सिद्ध कर दूँगा। अपने लिये कल्याणकारी वस्तु को माँगो। मैं तुम दोनों को सब कुछ दे सकता हूँ।'

कृष्ण और अर्जुन तब महादेव के सम्मान में एक स्तोत्र कहते हैं जिसमें महादेव को 'विश्वात्मने विश्व-सृजे विश्वम् आवृत्य तिष्टते (विश्वात्मा, विश्व-स्रष्टा, विश्व को व्याप्त करके स्थित) कहा गया है। तदनन्तर अर्जुन ने कृष्ण तथा महादेव, दोनों की स्तुति करके महादेव से दिव्यास्त्र की याचना की। महादेव तब अर्जुन तथा कृष्ण को एक सरोवर के पास जाने के लिये कहते हैं जहाँ उन्होंने अपने धनुष तथा बाण को रख छोड़ा था। उस सरोवर के पास इन लोगों ने दो सर्प देखे जिनमें से एक अग्नि उगल रहा था। ये लोग भगवान् शङ्कर को प्रणाम करके तथा शतरुद्रिय[१४३] का पाठ करते हुये उन

---

[१४२] शान्तिपर्व के एक स्थल पर, जिसे मैं आगे उद्धृत करूँगा, महादेव की अपनी यहाँ तथा अन्यत्र की गई स्तुतियो की कृष्ण यह कह कर व्याख्या करते हैं कि अन्य लोगो के लिये उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये ही उन्होने ये स्तुतियाँ की हैं, जब कि वास्तव मे ये स्वय अपने को समर्पित स्तुतियाँ हैं, क्योकि महादेव भी उनके एक रूप ही हैं। किन्तु यहाँ तथा अगले स्थल पर स्वय महादेव को परम-ब्रह्म परमेश्वर के साथ समीकृत किया गया है।

[१४३] यह यजुर्वेद का एक स्तोत्र है जिसे आगे रुद्र के सम्बन्ध मे उद्धृत किया जायगा।

सर्पों के निकट खड़े हो गये। महादेव की शक्ति से उन सर्पों का स्वरूप बदलकर धनुष तथा बाण हो गया (श्लोक २८९९), जिन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुन महादेव के पास लाये। अन्ततः अर्जुन ने महादेव से पाशुपत अस्त्र का वरदान प्राप्त किया जिसमें जयद्रथ का वध करने की शक्ति थी। तदनन्तर दोनों अपने शिविर में लौट आये।

अनुशासन पर्व में भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें महादेव की विस्तृत स्तुतियाँ हैं और यह भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण भी महादेव की उपासना कर चुके थे। इस पर्व में युधिष्ठिर भीष्म से महादेव के विविध नामों को बताने का आग्रह करते हैं, जिस पर भीष्म इस प्रकार कहते हैं :

महाभारत : १३.१४०,३ और बाद : अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुम् महादेवस्य धीमतः। यो हि सर्व-गतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते। ब्रह्म विष्णु-सुरेशाणां स्रष्टा च प्रभुर् एव च। ब्रह्मादयः पिशाचान्ता य हि देवा उपासते। प्रकृतीनाम् परत्वेन पुरुषस्य च यः परः। चिन्त्यते यो योग-विद्भिर् ऋषिभिस् तत्व दर्शिभिः। अक्षरम् परमम् ब्रह्म असच्च सद्-असच्छ यत्। प्रकृतिम् पुरुषश्चैव क्षोभयित्वा स्व-तेजसा। ब्रह्माणम् असृजत् तस्माद् देव-देवः प्रजापतिः। को हि शक्तो गुणान् वक्तुं देव-देवस्य धीमतः। गर्भ-जन्म-जरा-युक्तो मर्त्यो मृत्यु-समन्वितः। को हि शक्तो भव ज्ञातुम् मद्-विधः परमेश्वरम्। ऋते नारायणात् पुत्र शङ्ख-चक्र-गदा-धरात्। एष विद्वान् गुण-श्रेष्ठो विष्णुः परम-दुर्जयः। दिव्य-चक्षुर् महातेजा वीक्ष्यते [वीक्षते ?] योग-चक्षुषा। रुद्र-भक्त्या तु कृष्णेन जगद् व्याप्तम् महात्मना। तम् प्रसाद्य तदा देवं वदर्याम् किल भारत। अर्थात्[१४४] प्रियतरत्व च सर्व-लोकेषु वै तदा। प्राप्तवान् एव राजेन्द्र सुवर्णाक्षाद् महेश्वरात्। पूर्णं वर्ष-सहस्रं तु तप्तवान् एष माधवः। प्रसाद्य वरदं देवं चराचर-गुरुं शिवम्। युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः। भक्त्या परामया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः। ऐश्वर्यं यादृशं तस्य जगद्-योनेर् महात्मनः। तद् अयं दृष्टवान् साक्षात् पुत्रार्थे हरिद् अच्युतः। तस्मात् परतरञ्चैव नान्यम् पश्यामि भारत। व्याख्यातुं देव-देवस्य शक्तो नमान्य् अशेषतः। एष शक्तो महाबाहुर् वक्तुम् भगवतो गुणान्। विभूतिञ्चैव कार्त्स्न्येन सत्याम् माहेश्वरीं नृप।

"मैं परम बुद्धिमान् महादेव जी के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। जो

---

[१४४] रायल एशियाटिक सोसाइटी के महाभारत की पाण्डुलिपि मे 'अन्नात्' पाठ है।

भगवान सर्वत्र व्यापक है किन्तु सर्वत्र देखने में नहीं आते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु, और देवराज इन्द्र के भी स्रष्टा तथा प्रभु हैं, ब्रह्मा आदि देवताओं से लेकर पिशाच तक जिनकी उपासना करते हैं, जो प्रकृति से भी परे और पुरुष से भी विलक्षण हैं, योगवेत्ता तत्त्वदर्शी ऋषि जिनका चिन्तन करते हैं, जो अविनाशी परम् ब्रह्म एव सदसत्स्वरूप हैं, जिन देवाधिदेव प्रजापति शिव ने अपने तेज से प्रकृति और पुरुष को क्षुब्ध करके ब्रह्मा की सृष्टि की, उन्हीं देव देव बुद्धिमान् महादेव जी के गुणों का वर्णन करने में गर्भ, जन्म, जरा और मृत्यु से युक्त कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है ? शङ्ख, चक्र, गदा धारण करनेवाले भगवान नारायण को छोड़ कर मेरे जैसा कौन पुरुष परमेश्वर शिव के तत्त्व को जान सकता है ? ये भगवान् विष्णु सर्वज्ञ, गुणों मे सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्त दुर्जय, दिव्य नेत्रधारी तथा महातेजस्वी हैं। ये योगदृष्टि से सब कुछ देखते हैं।[१४५] भारतनन्दन ! रुद्रदेव के प्रति भक्ति के कारण ही महात्मा श्रीकृष्ण ने सपूर्ण जगत् को व्याप्त कर रक्खा है। राजन् ! कहते हैं कि पूर्वकाल में महादेव को बदरिकाश्रम में प्रसन्न करके उन दिव्यदृष्टि महेश्वर से श्रीकृष्ण ने सब पदार्थों की अपेक्षा प्रियतर भाव को प्राप्त कर लिया, अर्थात् सम्पूर्ण लोकों के प्रियतम बन गये। इन माधव ने वरदायक देवता, चराचर-गुरु भगवान् शिव को प्रसन्न करते हुये पूर्वकाल में पूरे एक हज़ार वर्ष तक तपस्या की थी। श्रीकृष्ण ने प्रत्येक युग में महेश्वर को सन्तुष्ट किया है। महात्मा श्रीकृष्ण की परम भक्ति से वे सदा प्रसन्न रहते है। जगत के कारणभूत परमात्मा शिव का ऐश्वर्य जैसा है, उसे पुत्र के लिये तपस्या करते हुये इन अच्युत श्रीहरि ने प्रत्यक्ष देखा है। भारत ! उसी ऐश्वर्य के कारण मैं परात्पर श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य को ऐसा नहीं देखता, जो देवाधि-देव महादेव के नामों की पूर्णरूप से व्याख्या कर सके। नरेश्वर ! ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही भगवान् महेश्वर के गुणों तथा उनके यथार्थ ऐश्वर्य का पूर्णतः वर्णन करने में समर्थ हैं।"

तदनन्तर भीष्म जी श्रीकृष्ण (जिन्हे वह देवों और असुरों का दिव्य आचार्य और विष्णु कहते हैं) से महादेव की महानता का स्तवन करने के लिये कहते हैं। तब श्रीकृष्ण इस प्रकार कहते हैं :

महाभारत १३.१४,२२ और बाद : न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुम् ईशस्य तत्त्वत.। हिरण्यगर्भ प्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः। न विदुर् यस्य भवनम् आदित्या सूक्ष्म-दर्शिनः। स कथ नर-मात्रेण शक्यो ज्ञातु सता

---

[१४५] मुद्रित पाठ 'वीक्ष्यते' है, किन्तु आशय की दृष्टि से 'वीक्षते' होना चाहिये।

गतिः। तस्याहम् असुर-घ्नस्य कांश्चिद् भगवतो गुणान्। भवतां कीर्त्तयिष्यामि व्रतेशाय [व्रतेशस्य ?] यथातथम।

"भगवान शङ्कर के कर्मों की गति का यथार्थ-रूप से ज्ञान होना अशक्य है। ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता, महर्षि, तथा सूक्ष्मदर्शी आदित्य भी जिनके निवास-स्थान को नहीं जानते, सत्पुरुषों के आश्रयभूत उन भगवान् शिव के तत्त्व का ज्ञान मनुष्यमात्र को कैसे हो सकता है? अतः मैं उन असुरविनाशक व्रतेश्वर भगवान् शङ्कर के कुछ गुणों का आप लोगों के समक्ष यथार्थ रूप से वर्णन करूँगा।"

तदनन्तर श्रीकृष्ण यह बताते हैं कि उन्होंने पूर्व समय में महादेव का किस प्रकार दर्शन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी पत्नी, कपीन्द्र-पुत्री[१४६] जाम्बवती उनके पास पुत्र की अभिलाषा से आई और कहा :

महाभारत १३.१४,२१ और बाद. न हि तेऽप्राप्यम् अस्तीह त्रिषु लोकेषु किञ्चन। लोकान् सृजेस् त्वम् अपरान् इच्छन् यदुकुलोद्वह। त्वया द्वादश-वर्षाणि व्रतीभूतेन शुष्यता। आराध्य पशुभर्त्तारं रुक्मिण्यां जनिताः सुताः।

"यदुकुल-धुरन्धर! आपके लिये तीनों लोकों में कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है। आप चाहें तो दूसरे-दूसरे लोकों की सृष्टि कर सकते है। आपने बारह वर्षों तक व्रतपरायण हो[१४७] अपने शरीर को सुखाकर भगवान् पशुपति की आराधना की और रुक्मिणी के गर्भ से अनेक पुत्र उत्पन्न किये।"

श्रीकृष्ण जाम्बवती की इच्छा पूर्ण करने का वचन देते है। कथा के अनुसार तब वह अपने दिव्यवाहन, गरुड़, पर बैठ कर हिमालय पर्वत पर आते हैं और यहाँ महर्षि उपमन्यु के सुन्दर आश्रम को देखते हैं (इस आश्रम की शोभा का विस्तार से वर्णन है)[१४८]। श्रीकृष्ण आश्रम में प्रवेश

---

[१४६] फिर भी, इसे विष्णुपुराण मे ऋक्षराज कहा गया है। देखिये विल-सन का अनुवाद, पृ० ५४७।

[१४७] पुत्र प्राप्ति के लिये बारह वर्ष तक के इस व्रत का अनुशासन पर्व मे आगे ६३९७ वें श्लोक मे, तथा पुत्र की उत्पत्ति का ६८८९ वें श्लोक मे उल्लेख है। यत प्रस्तुत श्लोको की अपेक्षा वहाँ श्रीकृष्ण के एक उच्चतर रूप मे प्रस्तुत किया गया है, अत. इन्हें और ही उद्धृत करना उचित होगा।

[१४८] आश्रम की एक विशेषता का इस प्रकार वर्णन है श्लोक ६१. क्रीडन्ति सर्पैर् नकुला मृगैर् व्याघ्राश्च मित्र-वत्। प्रभावाद् दीप्त-तपसा सन्निकर्षाद् महात्मनाम्।" "वहाँ तीव्र तपस्यावाले महात्माओ के प्रभाव तथा सान्निध्य से

करते हैं और उपमन्यु उनको आदपूर्वक प्रणाम करने के बाद उन्हें आश्वस्त करते हैं कि महादेव की उपासना करने से उन्हें उन्हीं के समान पुत्र प्राप्त होंगे।[१४९] तदन्तर महर्षि उपमन्यु महादेव की महानता का स्तवन करते हुये यह बताते हैं कि महादेव ने अनेक लोगों को वरदान तथा विष्णु को चक्र प्रदान किया था।

महाभारत १३ १४,७३ और बाद। हिरण्यकशिपुर् याऽभूद् दानवो मेरु-कम्पन'। तेन सर्वामरैश्वर्य्यं सर्वात् प्राप्तं समार्बुदम्। तस्यैव पुत्र-प्रवरो मन्दरो नाम विश्रुतः। महादेव-वराच् छक्र वर्षार्बुदम अयोधयत्। विष्णोश् चक्रञ्च तद् घोर वज्रम् आखण्डलस्य च। शीणम् पुरऽभवत तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव। यत तद् भगवता पूर्वं दत्तं चक्र तवानघ। जलान्तर-चर हत्वा दैत्यञ्च बल-गर्वितम्। उत्पादितं वृषाङ्केन दीप्त ज्वलन-सन्निभम्। दत्तम् भगवता तुभ्य दुर्धर्षो तेजसाऽद्भुतम्। न शक्यं द्रष्टुम् अन्येन वर्जयित्वा पिनाकिनम्। सुदर्शनम् भवत्य् एवम् भवेनोक्त तदा तु तत्। सुदर्शन तदा तस्य लोके नाम प्रतिष्ठितम्। तज् जीर्णम् अभवत् तात गृहस्याङ्गेपु केशव। ग्रहस्यातिबलस्याङ्गे वरदत्तस्य धीमतः। न शस्त्राणि वहन्त्य् अङ्गे चक्र वज्र-शतान्य् अपि। अर्द्यमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा, शिव-दत्त-वरान् जघ्नुर् असुरेन्द्रान् सुरा भृशम्।

"पहले जो मेरुपर्वत को भी कम्पित कर देनेवाला हिरण्यकशिपु नामक दानव हुआ था, उसने भगवान् शङ्कर से एक अर्बुद वर्षों तक के लिये सम्पूर्ण देवताओं का ऐश्वर्य प्राप्त किया था। उसी का श्रेष्ठ पुत्र मन्दार नाम से विख्यात हुआ, जो महादेव जी के वर से एक अर्बुद वर्षों तक इन्द्र के साथ युद्ध करता रहा। तात केशव! भगवान् विष्णु का वह भयंकर चक्र तथा इन्द्र का वज्र भी पूर्वकाल में उस ग्रह के अङ्गों पर पुराने तिनकों के समान जीर्ण-शीर्ण सा हो गया था। निष्पाप श्रीकृष्ण! पूर्वकाल में जल के भीतर रहनेवाले गर्वीले दैत्य को मारकर भगवान् शङ्कर ने आपको जो चक्र प्रदान किया था, उस अग्नि ने समान तेजस्वी शस्त्र को स्वयं भगवान् वृषध्वज ने ही उत्पन्न किया तथा आपको दिया था, वह अस्त्र अद्भुत तेज से युक्त और दुर्धर्ष था।[१५०]

प्रभावित हो नेवले सर्पों के साथ क्रीडा करते थे, तथा व्याघ्र मृगो के साथ मित्रवत् रहते थे।" तुकी० इसियाह ११.६ 'भेडिया भी मेमने के साथ रहेगा, तथा तेंदुआ बच्चो के साथ सोयेगा', इत्यादि।

[१४९] ६६ वें श्लोक मे 'पुण्डरीकाक्ष' तथा ६९ वें मे 'अधोक्षज' उपाधियां श्रीकृष्ण के लिये व्यवहृत हैं।

[१५०] फिर भी द्रोणपर्व मे कृष्ण के पराक्रमो के विवरण मे यह कहा गया

पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर को छोड़कर अन्य कोई दूसरा उसको देख नहीं सकता था। उस समय भगवान शङ्कर ने कहा : 'यह अस्त्र सुदर्शन हो जाय।' तभी से संसार में उसका सुदर्शन नाम प्रचलित हो गया। तात केशव! ऐसा प्रसिद्ध अस्त्र भी उस ग्रह के अङ्गों पर जीर्ण-सा हो गया। भगवान् शङ्कर से उसको वर मिला था। उस अत्यन्त बलशाली बुद्धिमान ग्रह के अङ्ग में चक्र तथा वज्र जैसे सैकड़ों शस्त्र भी काम नही देते थे। जब उस बलवान् ग्रह ने देवताओं को सताना आरम्भ कर दिया तब देवताओं ने भी भगवान् शङ्कर से वर पाये हुये उस असुरेन्द्र को अनेक बार मारा।''

यह बता कर कि अनेक अन्य महात्माओं ने भी महादेव की उपासना करके वरदान प्राप्त किये थे, महर्षि उपमन्यु अपनी इस कथा का वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उनकी माता ने उनके मस्तक को सूँघ कर (मूर्धन्यू आघ्राय) उनसे महादेव की महानता का वर्णन किया था। इन देवता के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य गुणों की चर्चा के अतिरिक्त कुछ विशेष गुण इस प्रकार हैं (इनमें से कुछ तो भयंकर तथा घृणात्मक हैं) जिनका उनकी माता ने वर्णन किया था : महादेव देवों (जैसे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र), मनुष्यों, देवङ्गनाओं, प्रेतों, पिशाचों, किरातों, शवरों, अनेकानेक जलजन्तुओं, तथा जङ्गली भीलों का भी रूप ग्रहण करते हैं (श्लोक १४० और बाद)। वे सम्पूर्ण जगत् के अन्तरात्मा, सर्वव्यापी, और सर्ववादी हैं (श्लोक १५२)। वे अपने हाथों में चक्र, शूल, गदा, मुसल, खड्ग, और पट्टिश धारण करते हैं (श्लोक १५४)। वे नाग की मेखला धारण करते हैं; नागों का ही यज्ञोपवीत धारण करते है तथा नागचर्म का ही उत्तरीय लिये रहते हैं (श्लोक १५५)। वे जँभाई लेते हैं, रोते हैं, रुलाते हैं; कभी पागलों और मतवालों की भाँति बातें करते हैं और कभी मधुर स्वर से उत्तम वचन बोलते हैं (श्लोक१५७)। वे लोगों में त्रास उत्पन्न करते हुये जोर-जोर से अट्टहास करते हैं (श्लोक १५८)। यज्ञ की वेदी में, यूप में, गोशाला में, तथा प्रज्वलित अग्नि में वे ही दिखाई देते हैं। बालक, वृद्ध, और तरुण रूप में भी उनका दर्शन होता है (श्लो० १६०)। वे ऋषिकन्याओं तथा मुनि-पत्नियों के साथ खेला करते हैं। कभी ऊर्ध्वकेश, कभी महालिङ्ग,[१५१] कभी नंग धड़ङ्ग और कभी विकराल

है कि उन्होने अपने चक्र को अग्नि से प्राप्त किया था 'खाण्डवे पार्थ-सहितस् तोपयित्वा हुताशनम्। आग्नेयम् अस्त्र दुर्धर्षं चक्रं लेभे महाबला।' इसी स्थल पर यह भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने पाताल मे पञ्चजन्य को जीतकर अपना शङ्ख प्राप्त किया था।

[१५१] 'महाशेफो नग्नो।

नेत्रों से युक्त हो जाते है (क्रीडते ऋपि कन्याभिर् ऋपि-पत्नीभिर् एव च । ऊर्द्ध्व-केशो महाशेफो नग्नो विकृत-लाचनः श्लोक १६१)। वे एक मुख, द्विमुख, त्रिमुख, और अनेक मुख हैं (श्लो० १६५)।

शिव ऐसे देवता है, और इन्हीं का अपनी माता से वर्णन सुनकर महर्षि उपमन्यु इनके परम भक्त बन जाते हैं और लम्बी तपस्यायें करते हैं : एक सहस्र वर्ष तक बायें पैर के अँगूठे पर खड़े होकर, और इस अवधि के प्रथम सौ वर्षों तक वह केवल फलों पर रहते है, दूसरे सौ वर्प सूखी पत्तियों पर, तीसरे सौ वर्ष जल पर, तथा शेप सात सौ वर्प केवल वायु पीकर रहते हैं (श्लो० १६९–१७०)। दीर्घकाल की तपस्या के बाद महादेव उपमन्यु के समक्ष इन्द्र के रूप में प्रगट होते हैं तथा उनसे वर माँगने के लिये कहते हैं। फिर भी, उपमन्यु ने इन्द्र के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई तथा कहा कि वह महादेव के अतिरिक्त अन्य किसी की परवाह नहीं करते। उन्होंने यह भी कहा कि वे किसी भी अन्य देवता से बड़े-से-बड़ा वर भी नहीं चाहते। इन्द्र के पूछने पर महर्पि पुनः महादेव के गुणों का कीर्तन करते है। मै इस कीर्त्तन के कुछ अशों को ही उद्धृत करूँगा :

महाभारत १३.१४,२३० और बाद : हेतुभिर् वा किम् अन्यैस् तैर् ईशः कारण-कारणम्। न शुश्रुम यद् अन्यस्य लिङ्गम् अभ्यर्च्यते सुरैः। कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर् लिङ्गम मुक्त्वा महेश्वरम्। अर्च्यतेऽर्चित-पूर्वं वा ब्रूहि यद्य् अस्ति ते श्रुतिः। यस्य ब्रह्मा च विष्णुश् च त्वं चापि सह दैवतैः। अर्चयेथाः सदा लिङ्ग तस्माच् छ्रेष्ठतमो हि सः। न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः। लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्माद् माहेश्वरी प्रजाः। देव्याः कारण-रूप-भाव-जनिता [:] सर्वा भगाङ्का [:] स्त्रियो लिङ्गेनापि हरस्य सर्व पुरुषाः प्रत्यक्ष-चिह्नीकृता। योऽन्यत् कारणम् ईश्वरात् प्रवदते देव्या च यद् नाङ्कितं त्रैलोक्ये स-चराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्मतिः। पुंलिङ्ग सर्वं ईशानं स्त्री लिङ्गं विद्धि चाप्य् उमाम्। देवाभ्या तनुभ्या व्याप्तम् हि चराचरम् इद जगत्।

"दूसरे-दूसरे कारणों को बताने से क्या लाभ? भगवान् शङ्कर इसलिये भी समस्त कारणों के भी कारण सिद्ध होते हैं कि हमने देवताओं द्वारा दूसरे किसी के लिङ्ग को पूजित होते नहीं सुना है। भगवान् महेश्वर को छोड़कर दूसरे किसके लिङ्ग की सम्पूर्ण देवता पूजा करते है अथवा पहले कभी उन्होंने पूजा की है? यदि तुम्हारे सुनने में आया हो तो बताओ। ब्रह्मा, विष्णु, तथा सम्पूर्ण देवताओंसहित तुम सदा ही शिवलिङ्ग की पूजा करते आये हो, इसलिये

भगवान् शिव ही सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। प्रजाओं के शरीर में न तो पद्म का चिह्न है, न चक्र का चिह्न है, और न वज्र का ही चिह्न उपलक्षित होता है। सभी प्रजा लिङ्ग तथा भग के चिह्न से युक्त है इसलिये यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण प्रजा माहेश्वरी है। देवी पार्वती के कारणस्वरूप भाव से संसार की समस्त स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इसीलिये सब भग के चिह्न से अङ्कित हैं और भगवान् शिव से उत्पन्न होने के कारण सभी पुरुष लिङ्ग के चिह्न से चिह्नित हैं—यह सबको प्रत्यक्ष है। ऐसी दशा में जो शिव और पार्वती के अतिरिक्त किसी अन्य किसी को कारण बताता है, जिससे प्रजाचिह्नित नहीं है, वह अन्य कारणवादी दुर्बुद्धि पुरुष चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकों से बहिष्कृत कर दिया जाने योग्य है। जितना भी पुल्लिङ्ग है वह सब शिवरूप है, और जो भी स्त्रीलिङ्ग है उसे उमा समझो। महेश्वर और उमा—इन दोनों के शरीरों से ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत व्याप्त है।"

इन्द्र इस सम्बोधन से बहुत प्रसन्न नहीं हुये; किन्तु तब अपनी पत्नी पार्वती के साथ महादेव स्वयं प्रगट होते हैं। उनकी शोभा का एक विस्तृत वर्णन किया गया है। ब्रह्मा तथा विष्णु महादेव के दाहिने तथा बायें खड़े होकर उनकी स्तुति करते हैं :

महाभारत १३.१४,२७६ और बाद : सव्य-देशे तु देवस्य ब्रह्मा लोक-पितामहः। दिव्यं विमानम् आस्थाय हंस-युक्तम् मनो-जवम्। वाम-पार्श्व-गतश् चापि तथा नारायण. स्थितः। वैनतेयं समारुह्य शङ्ख-चक्र-गदा-धरः।······२८ . अस्तुवन् विविधैः स्तोत्रैर् महादेवं सुरास् तदा। ब्रह्मा भव तदाऽस्तौषीद् रथन्तरम् उदीरयन्। ज्येष्ठ-साम्ना च देवेशं जगौ नारायणस् तदा। गृणान् ब्रह्म परं शक्रः शत-रुद्रियम् उत्तमम्। ब्रह्मा नारायणश् चैव देवराजश्च कौशिकः[१५२]। अशोभन्त महात्मानस् त्रयस् त्रय इवाग्नयः।

"उस समय महादेवजी के दाहिने भाग में लोकपितामह ब्रह्मा मन के समान वेगशाली हंस-युक्त दिव्य विमान पर बैठे हुये शोभित हो रहे थे, और बायें भाग में शङ्ख, चक्र, और गदा धारण किये भगवान् नारायण गरुड पर विराजमान थे।···वे सब देवता महात्मा महादेव को चारों ओर से घेर कर नाना प्रकार के स्तोत्रों से उनकी स्तुति कर रहे थे। ब्रह्मा ने रथन्तरसाम का उच्चारण करके उस समय भगवान् शङ्कर की स्तुति की। नारायण ने ज्येष्ठसाम

[१५२] ऋग्वेद १ १०,११ मे 'कौशिक' विशेषण का इन्द्र के लिये व्यवहार हुआ है।

द्वारा देवेश्वर शिव की महिमा का गान किया। इन्द्र ने उत्तम शतरुद्रिय का सस्वर पाठ करते हुये परब्रह्म शिव का स्तवन किया। ब्रह्मा, नारायण, देवराज इन्द्र—ये तीनों महात्मा तीन अग्नियों के समान शोभा पा रहे थे।"

तदनन्तर स्वय उपमन्यु भी महादेव की स्तुति करते हैं (श्लोक २८७ और बाद)। इनकी स्तुति समाप्त होने पर इनके सर पर आकाश से पुष्प-वर्षा होती है। उसी समय दिव्य दुन्दुभि बजने और पवित्र गन्ध से युक्त पुण्यमयी सुखद वायु चलने लगती है। (श्लो० ३३२-३३३)। तब महादेव प्रसन्न होकर उपमन्यु को सम्बोधित करते हुये इच्छानुसार वर माँगने के लिये कहते हैं। महादेव के इस प्रकार कहने पर उपमन्यु के नेत्रों से हर्ष के अश्रु छलक पडे और समस्त शरीर में रोमाञ्च हो आया। वे धरती पर घुटने टेककर भगवान को बारम्बार प्रणाम और उनके प्रति आभार प्रगट करने के बाद इस प्रकार कहते हैं:

महाभारत १३.१४,३४६ और बाद : स एष भगवान् देवः सर्व-सत्त्वा-दिर् अव्ययः। सर्व-तत्त्व-विधानज्ञः प्रधान-पुरुषः परः। योऽसृजद् दक्षिणाद् अङ्गाद् ब्रह्माण लोक-सम्भवम्। वाम-पार्श्वात् तथा विष्णु लोक-रक्षार्थम् ईश्वरः। युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रम् ईशोऽसृजत प्रभुर् इत्य आदि। "जो सम्पूर्ण प्राणियों का आदिकारण, अविनाशी, समस्त तत्त्वों के विधान का ज्ञाता और प्रधान परम पुरुष है, वही यह भगवान् महादेव हैं। इन्हीं जगदीश्वर ने अपने दाहिने अग से लोकस्रष्टा ब्रह्मा को और बायें अग से जगत की रक्षा के लिये विष्णु को उत्पन्न किया है'। प्रलयकाल प्राप्त होने पर इन्हीं भगवान् शिव ने रुद्र की रचना की', इत्यादि।"

उपमन्यु ये वर माँगते हैं। उपमन्यु ने कहा: 'मेरी सदा आप में भक्ति बनी रहे मैं आपकी कृपा से भूत, वर्तमान और भविष्य को जान सकूँ .. अपने बन्धु-बान्धवों सहित सदा अक्षय क्षीरौदन का भोजन प्राप्त करूँ और हमारे इस आश्रम में सदा आपका निकट निवास रहे (श्लो० ३५२ और बाद)। ये तथा अनेक अन्य वर देकर महादेव अन्तर्धान हो जाते हैं (श्लो० ३५६ और बाद)।

उपमन्यु से इस सब वृत्तान्त को सुनकर श्रीकृष्ण यह इच्छा व्यक्त करते हैं कि उन्हें भी शिव का इसी प्रकार दर्शन हो। उपमन्यु कृष्ण को विश्वास दिलाते है कि छः मास बाद प्रगट होकर शिव श्रीकृष्ण को चौबीस वर देंगे। तदनन्तर उपमन्यु ने कृष्ण से कहा: 'आप जैसे ब्राह्मणभक्त, कोमलस्वभाव तथा श्रद्धालु पुरुष का समागम देवताओं के लिये भी प्रशंसनीय है। मैं आपको जपने योग्य मन्त्र प्रदान करूँगा जिससे आपको शङ्कर का दर्शन प्राप्त होगा',

(श्लो० ३७६ और बाद)। तदनन्तर उपमन्यु श्रीकृष्ण को दीक्षा देते हैं (श्लो० ३७९)। श्रीकृष्ण का सर मुडवा दिया गया; शरीर में घृत का लेप किया गया, तथा दण्ड, कुश, चीर एवं मेखला धारण कराया गया। उन्होंने एक मास तक फलाहार करके दूसरे मास केवल जल का आहार ग्रहण किया। तीसरे, चौथे, और पाँचवें मासों में वे दोनों बाहें ऊपर उठाये एक पैर से खडे रहे। छठवें मास उन्हें महादेव तथा उनकी पत्नी पार्वती के दर्शन हुये (श्लो० ३८२-३८६)। उस समय सभी देवता उनकी स्तुति कर रहे थे। इन्द्र, विष्णु, और ब्रह्मा आदि रथन्तरसाम का गान कर रहे थे (शतक्रतुश् च भगवान् विष्णुश् चादिति-नन्दनः। ब्रह्मा रथन्तर साम ईरयन्ति भवान्तिके)। तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने ऊपर हुये इस दिव्य दर्शन के प्रभाव का वर्णन करते हैं :

महाभारत १३.१४, ४०३ और बाद : पुरस्ताद् धिष्ठितः सर्वो ममासीत् त्रिदशेश्वरः। पुरस्ताद् धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानञ्च भारत। स-प्रजापति-शक्रान्त जगद् माम् अभ्युदैक्षत। ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिर् अभूत् ततो माम् अब्रवीद् देवः "पश्य कृष्ण वदस्व च। त्वया ह्य आराधितश् चाहं शतशोऽथ सहस्रैः। त्वत्-समो नास्ति मे कश्चित् त्रिषु लोकेषु वै प्रियः"। शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता ह्य् उमाऽभवत्। ततोऽहम् अब्रुवम् स्थाणु स्तुतम् ब्रह्मादिभि. सुरैः। "देवेश्वर शिव मेरे समक्ष खडे थे। भारत ! मेरे समक्ष महादेव को खडा देख प्रजापतियों से लेकर इन्द्र तक समस्त जगत् मेरी ओर देखने लगा। किन्तु उस समय महादेव को देखने की मुझ में शक्ति नहीं रह गई थी। तब भगवान् शिव ने मुझसे कहा : 'श्रीकृष्ण ! मुझे देखो, मुझसे वार्तालाप करो। तुमने पहले भी सैकड़ों और हज़ारों बार मेरी आराधना की है। तीनों लोकों में तुम्हारे समान दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है।' जब मैंने मस्तक झुकाकर महादेव को प्रणाम किया तब देवी उमा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उस समय मैंने ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा प्रशसित भगवान शिव से इस प्रकार कहा।"

श्रीकृष्ण ने तब परमेश्वर के रूप में महादेव की स्तुति की जिसे सुनकर महादेव ने इस प्रकार कहा : १३.१४,४२८ : विद्मः कृष्ण पराम् भक्तिम् अस्मासु तव शत्रुहन्। क्रियताम अत्मनः श्रेयः प्रीतिर् हि त्वयि मे परा। वृणीष्वाष्टौ वरान् कृष्ण दातास्मि तव सत्तम। ब्रूहि यादव-शार्दूलयान् इच्छसि सुदुर्लभान्। "शत्रुहन् कृष्ण ! मुझमें जो तुम्हारी पराभक्ति है। उसे सब लोग जानते हैं। अब तुम अपना कल्याण करो, क्योंकि तुम्हारे ऊपर मेरा

विशेष प्रेम है। सत्पुरुषों में श्रेष्ठ! यदुकुलसिंह कृष्ण! मैं तुम्हें आठ वर देता हूँ। तुम जिन परम दुर्लभ वरों को पाना चाहते हो उन्हें बताओ।" तब श्रीकृष्ण ने ये आठ वर माँगे : (१) धर्म में दृढ़तापूर्वक स्थिति, (२) युद्ध में शत्रुओं का संहार करने की क्षमता; (३) श्रेष्ठ यश; (४) उत्तम बल, (५) योगबल, (६) सर्वप्रिय होना, (७) महादेवका सान्निध्य, तथा (८) दस हजार पुत्र। महादेव ने ये सभी वर प्रदान किये। तब उमा ने भी श्रीकृष्ण से आठ वर माँगने के लिये कहा जिस पर उन्होंने ये वर माँगे : (१) ब्राह्मणों पर कभी मेरे मन क्रोध न हो, (२) मेरे पिता मुझपर प्रसन्न रहें, (३) मुझे सैकड़ों पुत्र प्राप्त हों, (४) उत्तम भोग सदा उपलब्ध रहें, (५) हमारे कुल में प्रसन्नता बनी रहे; (६) मेरी माता भी प्रसन्न रहें; (७) मुझे शान्ति मिले, तथा (८) मुझे प्रत्येक कार्य में कुशलता प्राप्त हो। श्रीकृष्ण को ये वरदान देते हुये देवी उमा ने सोलह हज़ार ऐसी रानियाँ होने का भी कृष्ण को वरदान दिया जिनका कृष्ण के प्रति प्रेम रहेगा। उमा ने अनेक अन्य आशीर्वाद दिये। इस प्रकार वरदान देकर पार्वती सहित महादेव के अन्तर्धान हो जाने के बाद श्रीकृष्ण ने समस्त घटना का उपमन्यु से वर्णन किया (१६ वाँ अध्याय)। उपमन्यु ने श्रीकृष्ण को उन तण्डि ऋषि की कथा सुनाया जिन्होंने कृतयुग में महादेव की उपासना तथा स्तुति की थी। तण्डि ने महादेव की स्तुति करते हुये उन्हें परमेश्वर बताया था जिनकी गति ब्रह्मा, इन्द्र, तथा विष्णु भी नहीं जान सकते। तण्डि ने उपमन्यु के आश्रम में आकर उन्हें महादेव के ग्यारह सहस्र नाम बताये थे, जिन्हें उपमन्यु ने अब कृष्ण को सुनाये। तण्डि ने जिस स्तोत्र से महादेव की स्तुति की थी उसे ब्रह्मा ने स्वयं अपने हृदय में धारण किया था। ब्रह्मा ने ही इन्द्र को उसका उपदेश दिया था तथा इन्द्र ने मृत्युको। मृत्यु ने एकादश रुद्रों को तथा रुद्रों ने तण्डि को उपदेश दिया (१७ वाँ अध्याय)।

कुछ और बाद उपमन्यु तब श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहते हैं :

महाभारत १३.१८,६२ और बाद : अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृताः। ईशानं न प्रपद्यन्ते तमो राजस-वृत्तयः। ईश्वरं सम्प्रपद्यन्ते द्विजा भावित-भावनाः। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे। सदृशोऽरण्यवासाना मुनीनाम् भावितात्मनाम्। ब्रह्मत्वं केशवत्वं च शक्रत्वं वा सुरैः सह। त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति इत्यादि। "पापकर्मी मनुष्य अपने अशुभ आचरणों से कलुषित हो गये हैं। वे तमोगुणी या रजोगुणी वृत्ति के लोग भगवान् शिव की शरण नहीं लेते। जिनका अन्तःकरण पवित्र है वे ही द्विज महादेव की शरण लेते हैं। जो

परमेश्वर शिव का भक्त है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी पवित्र अन्तः करणवाले वनवासी मुनियों के समान है। भगवान् रुद्र संतुष्ट हो जायँ तो वे ब्रह्मपद, विष्णुपद, देवताओं सहित देवेन्द्र पद, अथवा तीनों लोकों का आधिपत्य प्रदान कर सकते हैं।"

अनुशासन पर्व के एक बाद के अंश में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को यह बताते हैं कि एक क्रोधी ब्राह्मण दुर्वासा (जो शिव के एक अवतार थे, देखिये आगे) के प्रति विनम्र व्यवहार से उन्हें (श्रीकृष्ण को) क्या क्या लाभ हुये थे। उस ब्राह्मण ने अन्य यातनाओं के अतिरिक्त कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी को अपने रथ में जोता और जब वे सड़क पर रथ खींच रही थीं तब उसने कोड़ों से मार कर उन्हें आहत कर दिया। इन सब क्रूरताओं को धैर्यपूर्वक सहन कर लेने के फलस्वरूप उस ब्राह्मण ने कृष्ण को वर दिये। उसने रुक्मिणी को आशीर्वाद देते हुये कहा कि वह श्रीकृष्ण की १६ हज़ार रानियों में सर्वाधिक विशिष्ट होंगी। वह ब्राह्मण तब अन्तर्धान हो गया और श्रीकृष्ण ने एक उपांशु व्रत लिया कि 'आज से कोई ब्राह्मण मुझसे जो कुछ कहेगा वह सब मैं पूर्ण करूँगा।' तदनन्तर भवन में प्रवेश करके श्रीकृष्ण ने देखा कि क्रोध में दुर्वासा ने जिन वस्तुओं को तोड़-फोड़ या जला दिया था वे सब नवीन रूप में विद्यमान थीं।

तब युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से कहते हैं (महाभारत १३.१६०, और बाद): दुर्वाससः प्रसादात् ते यत् तदा मधुसूदन। अवाप्तम् इह विज्ञानं तन् मे व्याख्यातुम् अर्हसि। महाभाग्यञ्च यत् तस्य नामानि च महात्मनः। तत्त्वतो ज्ञातु इच्छामि सर्वम् मतिमतां वर। वासुदेव उवाच। हन्त ते कीर्त्तयिष्यामि नमस्कृत्य कपर्दिने। यद् अवाप्तम् मया राजन् श्रेयो यच् चार्जितं यशः। प्रयतः प्रातर् उत्थाय यद् अधीये विशाम्पते। प्राञ्जलिः शतरुद्रीय तन् मे निगदतः शृणु। प्रजापतिस् तत् ससृजे तपसोऽन्ते महातपाः। शङ्करस् त्व् असृजत् तात प्रजाः स्थावर-जङ्गमाः। नास्ति किञ्चित् परम् भूतम् महादेवाद् विशाम्पते। इह त्रिष्व् अपि लोकेषु भूतानं प्रवरो हि सः। न चैवोत्सहते स्थातुं किञ्चिद् अग्रे महात्मनः। न हि भूतं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते। गन्धेनापि हि सग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः। विसञ्ज्ञा हत-भूयिष्ठा वेपन्ते च पतन्ति च। घोरञ्च निनदं तस्य पर्जन्य-निनदोपमम्। श्रुत्वा विशीर्येद् हृदयं देवानाम् अपि संयुगे। यांश्च घोरेण रूपेण पश्येत् क्रुद्धः पिनाक-धृक्। न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न पन्नगाः। कुपिते सुखम् एधन्ते तस्मिन्न् अपि गुहागताः। प्रजापतेस् तु दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ। विव्याध कुपितो यज्ञं निर्भयस्

स्व अभवत् तदा। धनुषा बाणाम् उत्सृज्य सघोष विननाद च। तेन शर्म कुतः शान्ति विषाद लेभिरे सुरा'। विद्धे च सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे। तेन ज्या-तल-घोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः। बभूवुर् अवशाः पार्थ विषेदुश् च च सुरासुराः। आपश् चक्षुभिर् चैव चकम्पे च वसुन्धरा। व्यद्रवन् गिरियश् चापि द्यौः पफाल च सर्वशः। अन्धेन तमसा लोकाः प्रावृता न चकाशिरे। प्रणष्टा ज्योतिषाम् भाश् च सह सूर्येण भारत। भृशम् भीताम् तत. शान्ति चक्रुः स्वस्त्ययनानि च। ऋषयः सर्वभूतानाम् आत्मनश् च हितैषिण। ततः सोऽभ्यद्रवद् देवान् रुद्रो रौद्र-पराक्रम। भगस्य नयने क्रुद्धः प्रहारेण व्यशातयत्। पूषाणं चाभिदुद्राव पादेन च रुषान्वितः। पुरोडाशम भक्षयतो दशनाश् च व्यशातयत्। नत प्रणेमुर् देवाश् ते वेपमानास् तु शङ्करम्। पुनश् च सन्दधे रुद्रो दीप्त सुनिशितं शरम्। रुद्रस्य विक्रम दृष्ट्वा भीता देवाः सहर्षिभिः। ततः प्रसादयामासु सर्वे ते विबुधोत्तमाः। जेपुश् च शत-रुद्रीय देवाः कृत्वाऽञ्जलिं तदा। संस्तूयमानस् त्रिदेशै प्रससाद महेश्वरः। रुद्रस्य भाग यज्ञे च विशिष्टं ते त्व अकल्पयन्। भयेन त्रिदश राजन् शरण च प्रपेदिरे। तेन चैव हि दुष्टेन (तुष्टेन ?) स यज्ञो सन्धितोऽभवत्। यद् यच् चापहृत तत्र तत् तथैव स जीवयत्। असुराणाम् पुराण्य् आसस् त्रीणि वीर्य्यवतां दिवि। आयस राजतं चैव सौवर्णम् अपि चापरम्। नाशकत् तानि मघवा भेत्तुं सर्वायुधैर् अपि। अथ सर्वे महारुद्रं जग्मुः शरणम् अर्दिताः। तत ऊचुर् महात्मानो देवाः सर्वे समागताः। रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्व-कर्मसु। जहि दैत्यान् सह पुरैर् लोकांस् त्रायस्व मानद। स तथोक्तस् तथेत्य् उक्त्वा कृत्वा विष्णु शरोत्तमम्। शल्यम् अग्नि तथा कृत्वा पुख वैवस्वत यमम्। वेदान् कृत्वा धनुः सर्वान् ज्यां च सावित्रीम् उत्तमाम्। ब्रह्माणं सारथि कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः। त्रिपर्वणा त्रिशल्येन काले तानि बिभेद स'। शरेणादित्य वर्णेन कालाग्निसम-तेजसा। तेऽसुराः स-पुरास् तत्र दग्धा रुद्रेण भारत। तं चैवाङ्क-गत दृष्ट्वा बालम् पञ्चशिखम् पुनः। उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयम् इत्य् अब्रवीत् तदा। असूयतश च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः। स वज्रं स्तम्भयामास तम् बाहुम् परिघोपमम्। न सम्बुबुधिरे चैव देवास् तम् भुवनेश्वरम्। स प्रजापतयोः सर्वे तस्मिन् सुमहतीश्वरे। ततो ध्यात्वा तु भगवान् ब्रह्मा तम् अमितौजसम्। अयं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तम् उमा-पतिम्। ततः प्रसादयामासुर् उमां रुद्रं च ते सुरः। बभूव स तदा बाहुर् बलहन्तुर् यथा

पुरा। स चापि ब्राह्मणो भूत्वा दुर्वासा नाम वीर्य्यवान्। द्वारवत्याम् मम पुरे चिरं कालम् उपावसत्। विप्रकारान् प्रयुंक्ते स्म सुब्राहून् मम वेश्मनि। तान् उदारतया चाहं चाक्षमे चाति-दुःसहान् स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्व-जित्। स चैवेन्द्रश च वायुश च सोऽश्विनौ स च विद्युतः। स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश् च सः। स कालः सोऽन्तको मृत्युः स तमो रात्र्य् अहानि च। मासार्ध-मासा ऋतवः सन्ध्ये संवत्सरश् च सः। स धाता स विधाता च विश्व-कर्मा स सर्व-वित्। नक्षत्राणि ग्रहाश् चैव दिशोऽथ विदिशश् तथा। विश्व-मूर्त्तिर् अमेयात्मा भगवान् अमर-द्युतिः। एकधा चद्विधा चैव बहुधा च स एवि हि तथा सहस्रधा चैव तथा शत सहस्रशः। ईदृशः स महादेवो भूमः स भगवान् अजः। न हि शक्या गुणा वक्तुम् अपि वर्ष-शतैर् अपि। युधिष्ठिर् महाबाहो महाभाग्यम् महात्मनः। रुद्राय (?) बहुरूपाय बहु-नाम्ने निबोध-मे। वदन्त्य अग्निम् महादेवं तथा स्थाणुम् महेश्वरम्। एकाक्षम् त्र्यम्बकं चैव विश्व-रूपं शिवं तथा। द्वे तनु तस्य देवस्य ब्राह्मणा वेदज्ञा विदुः। घोरां अन्यां शिवाम् अन्यां ते तनू बहुधा पुनः। उग्रा घोरा तनूर् या सा सोग्निर् विद्युत् स भास्करः शिवा सौम्या च या त्व् अस्य धर्मस् त्व् आपोऽथ चन्द्रमाः। आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निः सोमोऽर्द्धम् पुनर् उच्यते। ब्रह्मचर्य्य चरत्य् एका शिवा याऽस्य तनुस् तथा। याऽस्य घोरतमा मूर्त्तिर् जगत् संहरते तदा। ईश्वरत्वाद् महत्वाच् च महेश्वर इति स्मृतः। यद् निर्दहति यत् तीक्ष्णो यद् उग्रो यत् प्रतापवान्। मांस-शोणित-मज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते। देवानां सुमहान् यच् च यच् चास्य विषयो महान्। यच् च विश्वम् महत् पाति महादेवस् ततः स्मृतः। धूम्र-रूप च यत तस्य धूर्जटीत्य् अत उच्यते। स मेधयति यद् नित्य सर्वान् वै सर्व-कर्मभिः। मनुष्यान् शिवम् अन्विच्छंस् तस्माद् एव शिवः स्मृतः। इत्यादि।

"युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण से पूछा : 'मधुसूदन ! उस समय दुर्वासा के प्रसाद से इहलोक में आपको जो विज्ञान प्राप्त हुआ, उसे विस्तारपूर्वक मुझे बताइये। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! उन महात्मा के महान सौभाग्य को और उनके नामों को मैं यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ। वह सब विस्तारपूर्वक बताइये।' वासुदेव ने कहा : राजन् ! मैं जटा जूटधारी भगवान् शङ्कर को नमस्कार करके प्रसन्नतापूर्वक यह बता रहा हूँ कि मैंने कौन-सा श्रेय प्राप्त किया और किस यश का उपार्जन किया। प्रजानाथ ! मैं प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मन

और इन्द्रियों को संयम में रखते हुये हाथ जोड़कर जिस शतरुद्रिय का जप एवं पाठ करता हूँ उसे बता रहा हूँ; सुनो। तात! महातपस्वी प्रजापति ने तपस्या के अन्त में उस शतरुद्रिय[५५३] की रचना की और उन शंकर ने समस्त चराचर प्राणियों की सृष्टि की। प्रजानाथ! तीनों लोकों में महादेव से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है, क्योंकि वे समस्त भूतों की उत्पत्ति के कारण हैं। उन महात्मा शंकर के सामने कोई भी खड़ा होने का साहस नहीं कर सकता। तीनों लोकों में कोई भी प्राणी उनका सामना करनेवाला नहीं है। संग्राम में जब वे कुपित होते हैं उस समय उनकी गन्ध से भी सारे शत्रु अचेत और मृतप्राय होकर थर-थर काँपने एवं गिरने लगते हैं। संग्राम में मेघगर्जना के समान गम्भीर उनका घोर सिंहनाद सुनकर देवताओं का हृदय भी विदीर्ण हो सकता है। पिनाकधारी रुद्र कुपित होकर जिन्हें भयंकर रूप से देख लें उनके भी हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ। संसार में भगवान् शङ्कर के कुपित हो जाने पर देवता, असुर, गन्धर्व और नाग यदि भागकर गुफा में छिप जायँ तो भी सुख से नहीं रह सकते। प्रजापति दक्ष जब यज्ञ कर रहे थे उस समय उनका यज्ञ आरम्भ होने पर कुपित हुये भगवान् शङ्कर ने निर्भय होकर उनके यज्ञ को अपने बाणों से बींध डाला और धनुष से बाण छोड़कर गम्भीर स्वर में सिंहनाद किया। इससे देवता व्यग्र हो उठे, फिर उन्हें शान्ति कैसे मिले। जब यज्ञ सहसा बाणों से बिंध गया और महेश्वर कुपित हो गये तब बेचारे देवता विषाद में डूब गये। पार्थ! उनके धनुष की प्रत्यञ्चा के शब्द से समस्त लोक व्याकुल और विवश हो उठे और सभी देवता एवं असुर विषाद में मग्न हो गये। समुद्र आदि का जल क्षुब्ध हो उठा, पृथ्वी काँपने लगी, पर्वत पिघलने लगे, और आकाश सब ओर से फटने-सा लगा। समस्त लोक घोर अन्धकार से आवृत्त होने के कारण प्रकाशित नहीं होते थे। भारत! ग्रहों और नक्षत्रों का प्रकाश सूर्य के साथ ही नष्ट हो गया। सम्पूर्ण भूतों का और अपना भी हित चाहनेवाले ऋषि अत्यन्त भयभीत हो शान्ति एवं स्वस्तिवाचन आदि कर्म करने लगे। तदनन्तर भयानक पराक्रमी रुद्र देवताओं की ओर दौड़े। उन्होंने क्रोधपूर्वक प्रहार करके भगदेवता के नेत्र नष्ट कर दिये। फिर उन्होंने रोष में भरकर पैदल ही पूषादेवता का पीछा किया और पुरोडाश भक्षण करनेवाले उनके दाँतों को तोड़ डाला। सब देवता काँपते हुये वहाँ भगवान् शङ्कर को प्रणाम करने लगे। इधर रुद्रदेव ने पुनः एक प्रज्वलित एवं तीक्ष्ण बाण का संधान किया। रुद्र का पराक्रम देखकर ऋषियों सहित सम्पूर्ण देवता

---

[५५३] यह वेद का एक अंश है।

थर्रा उठे। फिर उन श्रेष्ठ देवताओं ने भगवान शिव को प्रसन्न किया। उस समय देवता लोग हाथ जोड़कर शतरुद्रिय जप करने लगे। देवताओं के द्वारा अपनी स्तुति की जाने पर महेश्वर प्रसन्न हो गये। राजन्! देवतागण भय के मारे भगवान् शङ्कर की शरण में गये। उन्होंने यज्ञ में रुद्र के लिये विशिष्ट भाग की कल्पना की। भगवान् शङ्कर के सन्तुष्ट होने पर वह यज्ञ पुनः पूर्ण हुआ। उसमें जिस-जिस वस्तु को नष्ट किया गया था उन सबको उन्होंने पुनः पूर्ववत् जीवित कर दिया। पूर्वकाल में बलवान असुरों के तीन पुर थे जो आकाश में विचरण करते थे। उनमें से एक लोहे का, दूसरा चाँदी का, और तीसरा सोने का बना हुआ था।[१५४] इन्द्र अपने सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करके भी उन पुरों पर विजय न पा सके। तब पीड़ित हुये समस्त देवता रुद्रदेव की शरण में गये। तदनन्तर वहाँ पधारे हुये सम्पूर्ण महामना देवताओं ने रुद्रदेव से कहा . 'भगवन् रुद्र! पशुतुल्य असुर हमारे समस्त कर्मों के लिये भयङ्कर हो गये हैं और भविष्य में भी वे हमें भय देते रहेंगे। अतः मानद! हमारी प्रार्थना है कि आप तीनों पुरों सहित समस्त दैत्यों का नाश और लोकों की रक्षा करें।' उनके ऐसा कहने पर भगवान् शिव ने तथास्तु कहकर उनकी बात मान ली और भगवान् विष्णु को उत्तम बाण, अग्नि को उस बाण का शल्य, वैवस्वत यम को पङ्ख, समस्त वेदों को धनुष, गायत्री को उत्तम प्रत्यञ्चा और ब्रह्मा[१५५] को सारथि बनाकर सबको यथावत् रूपसे अपने-अपने कार्यों में नियुक्त करके तीन पर्व और तीन शल्यवाले उस बाण के द्वारा उन तीनों पुरों को विदीर्ण कर डाला। भारत! वह बाण सूर्य के समान कान्तिमान और प्रलयाग्नि के समान तेजस्वी था। उसके द्वारा रुद्रदेव ने उन तीनों पुरों सहित वहाँ के समस्त असुरों को जला कर भस्म कर दिया। फिर वे पाँच शिखावाले बालक के रूप में प्रगट हुये और उमा देवी उन्हें अङ्क में लेकर देवताओं से पूछने लगीं: 'पहचानों ये कौन हैं।' उस समय इन्द्र को अत्यन्त ईर्ष्या हुई। वे वज्र से उस बालक पर प्रहार करना ही चाहते थे कि उसने परिघ के समान मोटी उनकी उस बाँह को वज्र सहित स्तम्भित कर दिया। समस्त देवता और प्रजापति उन भुवनेश्वर महादेव को न पहचान सके। सबको उन ईश्वर के विषय में मोह हो गया। तब भगवान् ब्रह्मा ने ध्यान करके उन अमिततेजस्वी उमापति को पहचान लिया और 'ये ही सबसे श्रेष्ठ देवता हैं' ऐसा जानकर

---

[१५४] देखिये प्रस्तुत कृति का दूसरा भाग।

[१५५] आगे कर्णपर्व से उद्धृत आख्यान देखिये।

उन्होंने उनकी वन्दना की। तत्पश्चात उन देवताओं ने उमा देवी और भगवान् रुद्र को प्रसन्न किया। तब इन्द्र की वह बाँह पूर्ववत हो गई। वे ही पराक्रमी महादेव दुर्वासा नामक ब्राह्मण बनकर द्वारकापुरी में मेरे घर के भीतर दीर्घ-काल तक टिके रहे। उन्होंने मेरे महल में मेरे विरुद्ध अनेक अपराध किये। वे सभी अत्यन्त दुःसह थे, तो भी मैंने उदारतापूर्वक क्षमा किया। वे ही रुद्र हैं, वे ही शिव हैं, वे ही अग्नि हैं, वे ही सर्व-विजयी हैं। वे ही इन्द्र और वायु हैं, वे ही अश्विनीकुमार और विद्युत हैं। वे ही चन्द्रमा, वे ही ईशान, वे ही सूर्य, वे ही वरुण, वे ही काल, वे ही अन्तक, वे ही मृत्यु, वे ही यम, तथा वे ही रात और दिन हैं। मास, पक्ष, ऋतु, सन्ध्या, और संवत्सर भी वे ही हैं। वे ही धाता, विधाता, विश्वकर्मा और सर्वज्ञ हैं। नक्षत्र, ग्रह, दिशा, विदिशा, भी वे ही हैं। वे ही विश्वरूप, अप्रमेयात्मा, षड्विध ऐश्वर्य से युक्त एवं परम तेजस्वी हैं। उनके एक, दो, अनेक, सौ, सहस्र और लाखों रूप हैं। भगवान् महादेव ऐसे प्रभावशाली हैं। बल्कि इससे भी बढ़कर हैं। सैकड़ों वर्षों में भी उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता।" बिना रुके ही श्रीकृष्ण अगले अध्याय में भी कहते चलते हैं: "महाबाहु युधिष्ठिर। अब मैं अनेक नाम तथा रूप धारण करनेवाले महात्मा भगवान् रुद्र का माहात्म्य बता रहा हूँ। विद्वान् पुरुष इन महादेव को अग्नि, स्थाणु, महेश्वर, एकाक्ष, त्र्यम्बक, विश्वरूप और शिव आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। वेद में उनके दो रूप बताये गये हैं जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं। उनका एक स्वरूप तो घोर है, और दूसरा शिव। इन दोनों के भी अनेक भेद हैं। इनकी जो घोर मूर्ति है, वह भय उत्पन्न करनेवाली है। उसके अग्नि, विद्युत और सूर्य आदि अनेक रूप हैं। इससे भिन्न जो शिव नामवाली मूर्त्ति है वह परम शान्त एवं मंगल-मयी है। उसके धर्म, जल, और चन्द्रमा आदि कई रूप हैं। महादेव के आधे शरीर को अग्नि और आधे को सोम कहते हैं। उनकी शिवमूर्ति ब्रह्मचर्य का पालन करती है और जो अत्यन्त घोर मूर्त्ति है वह जगत् का संहार करती है। उनमें महत्त्व और ईश्वरत्व होने के कारण वे 'महेश्वर' कहलाते हैं। वे जो सबको दग्ध करते हैं, अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, उग्र और प्रतापी हैं, प्रलयाग्नि रूप से मांस, रक्त, और मज्जा को भी अपना ग्रास बना लेते हैं। इसलिये ही रुद्र कहलाते हैं। वे देवताओं में महान् हैं, उनका विषय भी महान् है तथा वे महान् विश्व की रक्षा करते हैं, इसलिये 'महादेव' कहलाते हैं। अथवा उनकी जटा का रूप धूम्र है, इसलिये उन्हें 'धूर्जटि' कहते हैं। सब प्रकार के कर्मों द्वारा सब लोगों की उन्नति करते हैं और सब का कल्याण चाहते हैं। इसलिये उनका नाम 'शिव' है।" इत्यादि।

भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण अर्जुन को दुर्गा देवी की उपासना करने का परामर्श देते हैं :

महाभारत ६.२३,१ और बाद : सञ्जय उवाच। धार्त्तराष्ट्रम् बलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम्। अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनम् अब्रवीत्। श्री-भगवान् उवाच। शुचिर् भूत्वा महाबाहो सग्रामाभिमुखे स्थितः। पराजयाय शत्रूणां दुर्गा-स्तोत्रम् उदीरय। सञ्जय उवाच। एवम् उक्तोऽर्जुनः सख्ये वासुदेवेन धीमता। अवतीर्य्य रथात् पार्थः स्तोत्रम् आह-कृताञ्जलिः।

"सञ्जय ने कहा : दुर्योधन की सेना को युद्ध के लिये उपस्थित देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के हित के लिये इस प्रकार कहा। श्रीभगवान बोले : 'महाबाहो! तुम युद्ध के सम्मुख खड़े हो। पवित्र होकर शत्रुओं को पराजित करने के लिये दुर्गा देवी की स्तुति करो।' सञ्जय कहते हैं : 'परम बुद्धिमान् भगवान वासुदेव के द्वारा रणक्षेत्र में इस प्रकार आदेश प्राप्त होने पर कुन्ती कुमार अर्जुन रथ से नीचे उतर कर दुर्गादेवी की स्तुति करने लगे।"

३. ऊपर मैंने प्रो० विलसन के जिस स्थल को उद्धृत किया है (नोट १३४) उसमें यह कहा गया है कि कुछ स्थलों पर महाभारत में श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्र को या तो अस्वीकृत अथवा उसका प्रतिवाद किया गया है। इस प्रकार की अस्वीकृति का एक उदाहरण सभापर्व से उद्धृत निम्नलिखित स्थल पर मिलेगा जिसमें चेदिराज शिशुपाल श्रीकृष्ण को दिव्य आदर प्रदान किये जाने पर आपत्ति करता है और इसके फलस्वरूप उसे इस अवतरित देवता श्रीकृष्ण के हाथों दण्डित होना पड़ता है।

राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने के प्रस्ताव के बाद युधिष्ठिर के यहाँ अनेक राजा उस यज्ञ को देखने के लिये उपस्थित हुये। इस अवसर पर भीष्म ने यह परामर्श दिया कि सभी राजाओं को प्रदान किया जानेवाला अर्घ्य सबसे पहले श्रीकृष्ण को दिया जाना चाहिये क्योंकि वे ही भूमण्डल में सबसे अधिक पूजनीय हैं (२.३६,२६ और बाद)।

महाभारत २.३६,२८ और बाद : एष ह्य् एषा समस्तानां तेजो-बल-पराक्रमैः। मध्ये तपन्न् इवाभाति ज्योतिषाम् इव भास्करः। असूर्यम् इव सूर्येण निर्वात [म् ?] इव वायुना। भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः। तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेव प्रतापवान्। उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्धम् उत्तमम्। प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्र दिष्टेन कर्मणा। शिशुपालस् तु ताम् पूजां वासुदेवे न चक्षमे।

"कुन्तीनन्दन! ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओं के बीच में अपने तेज,

बल और पराक्रम से उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं जैसे ग्रह-नक्षत्रों में भुवनभास्कर भगवान् सूर्य। अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्य का उदय होने पर ज्योतित हो उठता है और वायुहीन स्थान जैसे वायु के सञ्चालन से सजीव-सा हो जाता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है। भीष्म की आज्ञा मिल जाने पर प्रतापी सहदेव ने वृष्णि कुलभूषण भगवान श्रीकृष्ण को विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य निवेदन किया। श्रीकृष्ण ने शास्त्रीय विधि के अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया। वासुदेवनन्दन भगवान् श्रीहरि की वह पूजा राजा शिशुपाल सहन नहीं कर सका।"

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, श्रीकृष्ण को दिये गये इस आदर को शिशुपाल सहन नहीं कर सका। उसने इस सम्बन्ध में विस्तार से अनेक आपत्तियाँ कीं। उसने कहा कि श्रीकृष्ण की सर्वप्रथम पूजा करने का परामर्श देकर स्मृति का अतिक्रमण किया गया है (अयं च स्मृत्य् अतिक्रान्तो ह्य् अपगे-योऽल्प-दर्शन.)। श्रीकृष्ण राजा नहीं हैं और न आयु की दृष्टि से ही पूज्य है क्योंकि उनके पिता वासुदेव भी अभी जीवित हैं (अथवा मन्यसे कृष्ण स्थविरं कुरु-पुङ्गव। वासुदेवे स्थिते वृद्धे कथम् अर्हति तत्-सुतः', २. २७,६); वे अन्य दृष्टियों से भी उपस्थित राजाओं से हीन हैं तथा उन्होंने अन्यायपूर्वक जरासन्ध का वध किया है (२.३७, २२.२३)। तदनन्तर शिशुपाल ने कृष्ण को सम्बोधित करते हुये कहा : 'जैसे कुत्ता एकान्त में चूकर गिरे हुये थोड़े से हविष्य को चाट लेता है और अपने को धन्य मानने लगता है, उसी प्रकार तुम भी अपने लिये अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने आपको अत्यन्त महान समझ रहे हो। (अयुक्ताम् आत्मनः पूजा त्वम पुनर् बहु मन्यसे। हविषः प्राप्य निस्यन्दम प्राशिता श्वेव निर्जने, २.३७,२७)। इस प्रकार क्रोधपूर्ण उद्गार प्रगट करने तथा श्रीकृष्ण पर कटु आक्षेप करने के बाद शिशुपाल सभा भवन से उठ कर चला गया। युधिष्ठिर उसके पीछे पीछे उसे शान्त करने गये। तब भीष्म श्रीकृष्ण के सर्वप्रथम पूज्य होने का पुन. समर्थन करते हैं (२.३८,६ और बाद).

महाभारत २.३८,९ और बाद : न हि केवलम् अस्माकम् अयम् अर्च्यतमोऽच्युतः। त्रयाणाम् अपि लोकानाम अर्चनीयो महाभुजः। कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः। जगत सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम्। तस्मात् सत्स्व् अपि वृद्धेषु कृष्णम् अर्चामि नेतरान्।' '१४. ना केवलं वयं कामाच् चेदि-राज जनार्दनम्। न सम्बन्धम् पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथञ्चन। अर्चामहेऽर्चित सद्भिर् भुवि

भूतसुखावहम् । यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चाम् प्रयुज्महे । न च कश्चिद् इहास्माभिः सुबलोऽप्य् अपरीक्षितः । गुणैर् वृद्धान् अतिक्रम्य हरिर् अर्च्यतमो मतः । ज्ञान-वृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणाम् बलाधिकः ।
"महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों ऐसी बात नहीं है । ये तो तीनों लोकों के पूजनीय हैं । श्रीकृष्ण के द्वारा संग्राम में अनेक क्षत्रिय शिरोमणि परास्त हुये हैं । यह सम्पूर्ण जगत वृष्णिकुलभूषण भगवान श्रीकृष्ण में ही पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है । इसीलिये हम दूसरे वृद्ध पुरुषों के होते हुये भी श्रीकृष्ण की ही पूजा करते हैं, दूसरों की नहीं । ...चेदिराज ! हम लोग किसी कामना से, अपना संबन्धी मानकर, अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकार का उपकार किया है इस दृष्टि से श्रीकृष्ण की पूजा नहीं कर रहे हैं । हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डल के समस्त प्राणियों को सुख पहुँचाने वाले हैं और बडे-बडे सत-महात्माओं ने इनकी पूजा की है । हम इनके यश, शौर्य एवं विजय को भलीभाँति जान कर इनकी पूजा कर रहे हैं । यहाँ बैठे हुये लोगों में से कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है जिसके गुणों की हम लोगों ने पूर्णतः परीक्षा न की हो । श्रीकृष्ण के गुणों को ही दृष्टि में रखते हुये हमने वयोवृद्ध पुरुषों का उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है । ब्राह्मणों में वही पूजनीय समझा जाता है जो ज्ञान में बड़ा हो तथा क्षत्रियों में वही पूजा के योग्य है जो बल में सबसे अधिक हो"... ।

महाभारत २.३८,१८ और बाद : पूज्यतायाञ्च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ । वेद-वेदाङ्ग विज्ञानम् बलं चाप्य् अधिकं तथा । नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवाद् ऋते । दानं दाक्ष्य श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्त्तिर् बुद्धिर् उत्तमा । सन्नतिः श्रीर् धृतिस् तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते । तम् इमं लोक-सम्पन्नम् आचार्यम् पितर गुरुम् । अर्घ्यम् अर्जितम् अर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुम् अर्हथ । ऋत्विग् गुरुर् विवाह्यश् च स्नातको नृपतिः प्रियः । सर्व एतद् हृषीकेशस् तस्माद् अभ्यर्चितोऽच्युतः । कृष्ण एव हि लोकानाम् उत्पत्तिर् अपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते विश्वम् इदम् भूतं चराचरम् । एष प्रकृतिर् अव्यक्ता कर्त्ता चैव सनातन । परश् च सर्व-भूतेभ्यश् तस्माद् पूज्यतमोऽच्युतः । बुद्धिर् मनो महद् वायुस् तेजोऽम्भः खम् मही च या । चतुर्विधं च यद् भूतम् सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ।...२६. स-देवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् । अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते । सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्माद् एवम् प्रभाषते । यो हि धर्मं विचिनुयाद् उत्कृष्टम् मतिमान् नरः । स वै पश्येद् यथा धर्मं न तथा चेदि-राड् अयम् । स वृद्ध-बालेष्व् अथवा

पार्थिवेषु महात्मसु । को नार्हम् मन्यते कृष्णं को वा प्य् एनं न पूजयेत् । अथैनाम दुष्कृनाम् पूजां शिशुपालो ऽव्यवस्यति । दुष्कृतायां यथान्यायं तथाऽय कर्त्तुम् अर्हति ।

"श्री कृष्ण के परम पूजनीय होने में दो कारण विद्यमान हैं : इनमें वेद-वेदाङ्गो का ज्ञान तो है ही, वल भी सवसे अधिक है । श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार के मनुष्यों में अन्य कौन सवसे वढ़कर है ? दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्त्ति, उत्तम वुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि ये सभी सद्‌गुण भगवान् श्री कृष्ण में नित्य विद्यमान है । जो अर्घ्य पाने के सर्वथा योग्य और पूजनीय हैं, उन सकल गुण सम्पन्न, श्रेष्ठ पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की हम लोगों ने पूजा की है, अतः सव राजालोग इसके लिये हमें क्षमा करेंगे । श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक् , गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा, और प्रिय मित्र सव कुछ है । इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है । भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के स्थान हैं । यह सारा चराचर विश्व इन्हीं के लिये प्रगट हुआ है ।[१५६] ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्त्ता, तथा सम्पूर्ण भूतों मे परे हैं , अतः भगवान् अच्युत ही सवसे वढ़ कर पूजनीय है । महत्तत्व, अहकार, मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल पृथ्वी, तथा चारों प्रकार के प्राणी—सभी श्रीकृष्ण में ही प्रतिष्ठित है ।··· ··देवलोक सहित सम्पूर्ण लोकों में श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं । यह शिशुपाल मूढ़वुद्धि पुरुष है । यह श्रीकृष्ण को सर्वत्र व्याप्त तथा सर्वदा स्थित नहीं जानता, इसीलिये उनके सम्वन्ध में ऐसी वातें कहता है । जो वुद्धिमान मनुष्य उत्तम धर्म की खोज करता है वह धर्म के स्वरूप को जैसा समझता है वैसा यह चेदिराज नहीं समझता । अथवा वृद्धों और वालकों सहित यहाँ वैठे हुये समस्त महात्मा राजाओं में ऐसा कौन है, जो कृष्ण को पूज्य न मानता हो या कौन है जो इनकी पूजा नहीं करता ? यदि शिशुपाल इस पूजा को अनुचित मानता है तो अव उस अनुचित पूजा के विषय में उसे जो उचित जान पड़े वह करे ।'

तदनन्तर शिशुपाल श्रीकृष्ण के प्रति अपने आक्षेपों को और जोरदार शब्दों में व्यक्त करते है, जिसका एक उदाहरण यह है :

---

[१५६] प्रस्तुत तथा अगले श्लोको मे श्रीकृष्ण को पूजनीय मानने के आधार उन पिछली पक्तियो से भिन्न हैं जिनमे इन्हे किसी अलौकिक गुण से युक्त नही किया गया है, जव कि वाद की पक्तियो मे ऐसा ही है । ऐसा सम्भव है कि श्रीकृष्ण के गुणो से सम्वद्ध इस सम्पूर्ण स्थल के विभिन्न अंश विभिन्न समयो के हो, अथवा इनमे कुछ प्रक्षिप्त अश भी हो सकते हैं ।

महाभारत २.४१, १ और बाद : शिशुपाल उवाच । विभीषिकाभिर् बह्वीभिर् भीषयन् सर्वपार्थिवान् । न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुल-पांसनः । युक्तम् एतत् तृतीयायाम् प्रकृतौ वर्त्तता त्वया । वक्तं धर्माद् अपेतार्थं त्वं नि सर्व-कुरूत्तम [:] नावि नौर् सम्बद्धा यथाऽन्धो वाऽन्धम् अन्वियात् । तथा भूता हि कौरव्या येषाम् भीष्म त्वम् अग्रणीः । पूतना-घात-पूर्वाणि कर्माण्य् अस्य विशेषतः । त्वया कीर्तयताऽस्माकम् भूयः प्रव्यथितम् मनः । अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुं इच्छतः । कथम् भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्य्यते । यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर् नरैः । तम इमं ज्ञान वृद्धः सन् गोपम् संस्तेतुम् इच्छसि । यद्य् अनेन हता बाल्ये शकुनिश् चित्र न् अत्र कोम् । तौ वाऽश्व-वृषभौ भीष्म यौ न युद्ध विशारदौ । चेतना-रहित काष्ठ यद्य् अनेन निपातितम् । पादेन शकटम् भीष्म तत्र किं कृतम् अद्भुतम् । वल्मीक मात्रः सप्ताहं यद्य् अनेन धृतोऽचलः । तदा गोवर्धनो भीष्म न तच् चित्रम् मतम् मम । भुक्तम् एतेन बह्व अन्नं कीडता नग-मूर्धनि । इति ते भीष्म शृण्वानाः परं विस्मयम् आगताः । यस्य चानेन धर्म-ज्ञ भुक्तम् अन्नम् बलीयसः । स चानेन हतः कंसः इत्य् एतन् न महाधुतम् । न ते श्रुतम् इदम् भीष्म नूनं कथयतां सताम् । यद् वक्ष्ये त्वाम् अधर्म-ज्ञं वाक्य कुरु-कुलाधम । स्त्रीपु गोपु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेपु च । यस्य चान्नानि भुञ्जीत यस्य च स्यात् प्रतिश्रयः । इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जन धर्मिणः सदा । भीष्म लोके हि तत् सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते । ज्ञान-वृद्ध च वृद्ध च भूयांसं केशवम् मम । अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम । गो-घ्नः स्त्री-घ्नश् च सन् भीष्म त्वद् वाक्याद् यदि पूज्यते । एवम्-भूतश् च यो भीष्म कथं सस्तवम् अर्हति ।...नूनम् प्रकृतिर् एपा ते जघन्या नात्र संशयः । अतः पापीयशी चैषाम् पाण्डवानाम् अपीष्यते । येषाम् अर्च्यतमः कृष्णस् त्वं च येपाम् प्रदर्शकः । धर्मवांस् त्वम् अधर्म-ज्ञः सताम् मार्गाद् अवप्लुतः । इत्यादि ।

"शिशुपाल बोला : कुल को कलंकित करनेवाले भीष्म ! तुम अनेक प्रकार की विभीषिकाओं द्वारा इन सब राजाओं को डराने की चेष्टा कर रहे हो । बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस कृत्य पर लज्जा क्यों नहीं आती ? तुम तीसरी प्रकृति में स्थित हो, अतः तुम्हारे लिये इस प्रकार की धर्म-विरुद्ध बातें कहना उचित ही है । फिर भी, यह आश्चर्य है कि तुम सम्पूर्ण कुरुकुल के श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो । भीष्म ! जैसे एक नाव दूसरी नाव में बाँध दी जाय, एक अंधा दूसरे अंधे के पीछे चले, वही दशा इन सब कौरवों की है, जिन्हें तुम जैसा

अग्रणी मिला है। तुमने श्रीकृष्ण के पूतना[१५७] वध आदि कर्मों का जो विशेष-रूप से वर्णन किया है उससे हमारे मनको पुनः बहुत चोट पहुँची है। भीष्म, तुम्हें अपने ज्ञान का अत्यन्त गर्व है, परन्तु तुम हो वास्तव में अत्यन्त मूर्ख। इस केशव की स्तुति करने की इच्छा होते ही तुम्हारी जिह्वा के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? भीष्म! जिसके प्रति मूर्ख से-मूर्ख मनुष्यों को भी घृणा करनी चाहिये, उसी ग्वाले की तुम ज्ञान वृद्ध होकर भी स्तुति करना चाहते हो। भीष्म! यदि इसने बाल्यकाल में एक पक्षी को अथवा जो युद्ध की कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे उन अश्व और वृषभ को मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्य की बात हो गई? भीष्म! छकड़ा क्या है, चेतना शून्य लकड़ियों का ढेर ही तो: यदि इसने पैर से उसको उलट ही दिया तो कौन अनोखी बात कर डाली?[१५८] भीष्म! यदि इसने गोवर्धन पर्वत[१५९] को सात दिनों तक अपने हाथ पर उठाये रक्खा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत होती क्योंकि गोवर्धन तो दीमकों की खोदी हुई मिट्टी का ढेर मात्र है। भीष्म! कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत के शिखर पर खेलते हुये अकेले ही बहुत सा अन्न खा लिया, यह बात भी तुम्हारे मुँह से सुनकर दूसरे लोगों को ही आश्चर्य हुआ होगा। धर्मज्ञ भीष्म! जिस महाबली कंस का अन्न खा कर यह पला था उसी को इसने मार डाला। यह भी इसके लिये कोई अद्भुत बात नहीं है। कुरु-कुलाधम भीष्म! तुम धर्म को बिलकुल नहीं जानते। मैं तुमसे धर्म की जो बातें कहूँगा वह तुमने सत-महात्माओं के मुख से भी नहीं सुनी होंगी। स्त्री पर, गो पर, ब्राह्मण पर तथा जिसका अन्न खाय अथवा जिनके यहाँ अपने को आश्रय मिला हो, उन पर भी हथियार न चलाये। भीष्म! जगत् में साधु-धर्मात्मा पुरुष सज्जनों को सदा इसी धर्म का उपदेश देते रहते हैं; किन्तु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या प्रतीत होता है। कौरवाधम! तुम मेरे सामने इस कृष्ण की स्तुति करते हुये इसे ज्ञान-वृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषय में कुछ नहीं जानता। भीष्म! यदि तुम्हारे कहने से गोघाती और स्त्रीहन्ता होते हुये भी इस कृष्ण की पूजा हो रही है तो तुम्हारे धर्मज्ञता की सीमा हो गई। तुम्हीं बताओ, जो इन दोनों ही प्रकार की हत्याओं का अपराधी है, वह स्तुति का अधिकारी कैसे हो सकता है।.....

[१५७] एक राक्षसी, जिसका श्रीकृष्ण ने वध किया था। देखिये विष्णुपुराण, विलसन का अनुवाद पृ० ५०६।

[१५८] वही पृ० ५०८।

[१५९] वही पृ० ५२६।

निश्चय ही तुम्हारी यह प्रकृति अत्यन्त अधम है, इसमें संशय नहीं। अतएव इन पाण्डवों की प्रकृति भी तुम्हारे ही समान अत्यन्त पापमयी होती जा रही है। अथवा क्यों न हो, इनका परम पूजनीय कृष्ण है, और सत्पुरुषों के मार्ग से गिरा हुआ तुम जैसा धर्मज्ञानशून्य धर्मात्मा इनका मार्ग-दर्शक है !"

इस आक्षेपपूर्ण वचन से भीमसेन अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं किन्तु भीष्म उन्हें शिशुपाल पर प्रहार करने से रोकते हैं; यद्यपि भीम का क्रोध शान्त नहीं होता। तदनन्तर भीष्म भीमसेन को शिशुपाल के शैशव तथा बाल्यकाल की कथा बताते है। ऐसा प्रतीत होता है कि जन्म के समय शिशुपाल के तीन नेत्र तथा चार हाथ थे। इन अशुभ चिह्नों से उसके माता-पिता चिन्तित हो कर उसका त्याग कर देना चाहते थे किन्तु एक आकाशवाणी ने उन्हें विरत करते हुये कहा कि शिशु की मृत्यु का समय अभी उपस्थित नहीं हुआ है। उसकी माता के प्रश्न करने पर आकाशवाणी ने बताया कि उसकी मृत्यु ऐसे व्यक्ति के हाथों होगी जो जब इसे गोद में लेगा तो इसके दो अतिरिक्त हाथ भूमि पर गिर पड़ेंगे और तीसरा नेत्र भी अन्तर्धान हो जायगा। इस भविष्यवाणी का एक अंश उस समय सत्य हुआ जब श्रीकृष्ण ने आकर उसे गोद में लिया और इसके फलस्वरूप उसके अतिरिक्त अंग समाप्त हो गये।[१८०] यह देखकर उसकी माता ने श्रीकृष्ण से यह वरदान माँगा कि वह शिशुपाल के अपराधों को क्षमा कर देंगे। श्रीकृष्ण ने उसके सौ अपराधों को क्षमा कर देने का वचन दिया। भीष्म, तब इस प्रकार कहते हैं :

---

[१८०] शिशुपाल की इस कथा पर लासन (इण्डि० ऐन्टी० १ ६७४) यह टिप्पणी करते हैं "शिशुपाल शिव का प्रतीक है; और यहाँ शैवो तया वैष्णवो के परस्पर सघर्ष का तात्पर्य है : क्योकि शिशुपाल का चार हाथों और तीन नेत्र से युक्त जन्म हुआ था परन्तु श्रीकृष्ण के स्पर्श तथा उनकी दृष्टि से उसके ये अतिरिक्त अग समाप्त हो गये। महाभारत के विभिन्न अशो के काल-निर्णय के लिये इस कथा का विशेष महत्त्व है। कृष्ण को बुद्ध के समय के बाद ही देवत्व प्राप्त हुआ। जरासन्ध पर आक्रमण के समय अभी ये एक योद्धा मात्र थे जो मानवो जैसी प्रेरणाओ तथा व्यवहारो को व्यक्त करते थे। इस समय यद्यपि अभी ये देवता नही है तथापि देवत्व के विकास के चिह्न अवश्य लक्षित होने लगते हैं।" इसी पृष्ठ पर यह लेखक एक टिप्पणी मे इतना और जोड देते हैं . "शिशुपाल सम्भवत उन शिव का ही एक आरम्भिक नाम है जिन्हे 'पशुपति' (पशुओ के अधिपति) कहते थे। 'शिशु' भी मानव अथवा पशु के बच्चो को कहते है, तथा 'पाल' का अर्थ है 'रक्षक'। इसका एका द्वितीय नाम, 'सुनीथ' था, जो नि सन्देह इसका वास्तविक नाम प्रतीत होता है।"

महाभारत २.४३,२५ : एवम् एष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्द-धीः। त्वां समाह्वयते वीर गोविन्द-वर-दर्पितः। ४४, १ और बाद : नैषा चेदि-पतेर् बुद्धिर् यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम्। नूनम् एष जगद्-भर्तुः कृष्ण-स्यैव विनिश्चयः। को हि माम् भीमसेनाद्य क्षिताव् अर्हति पार्थिवः। क्षेप्तुं काल-परीतात्मा यथैष कुलपांसनः। एष ह्य् अस्य महाबाहुस् तेजोऽशश् च हरेर् ध्रुवम्। तम् एव पुनर् आदातुम् इच्छत्य् उत तथा विभुः। येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदि-राट्। गर्जत्य् अतीव दुर्बुद्धिः सर्वान् अस्मान् अचिन्तयन्।

"वीरव भीमसेन! इस प्रकार यह मन्दबुद्धि पापी राजा शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्ण के दिये हुये वरदान से उन्मत्त होकर तुम्हें युद्ध के लिये ललकार रहा है। यह चेदिराज की बुद्धि नहीं है जिसके द्वारा वह युद्ध से कभी पीछे न हटनेवाले तुम जैसे महावीर को ललकार रहा है, अवश्य ही सम्पूर्ण जगत् के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण का ही यह निश्चित विधान है। भीम-सेन! काल ने ही इसके मन और बुद्धि को ग्रसित कर लिया है। अन्यथा इस भूमण्डल पर कौन ऐसा राजा होगा जो मुझपर इस प्रकार आक्षेप कर सके जिस प्रकार वह कुलकलंक कर रहा है। यह महाबाहु चेदिराज निश्चय ही श्रीकृष्ण के तेज का अंश है। ये सर्वव्यापी भगवान् अपने उस अंश को पुनः समेट लेना चाहते हैं। कुरुशार्दूल! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि चेदिराज (शिशुपाल) हम सबको कुछ न समझकर आज सिंह के समान गरज रहा है।"

इसी समय शिशुपाल पुनः क्रोधपूर्वक हस्तक्षेप करते हुये पूछता है कि अन्य सभी पराक्रमी राजाओं को छोड़कर श्रीकृष्ण की ही इस प्रकार पूजा क्यों की जा रही है? भीष्म उत्तर देते हैं . 'मैं इन समस्त भूपालों को तृण के बराबर भी नहीं समझता।' इसे सुनकर वहाँ उपस्थित अनेक राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और कहा कि भीष्म को मार या अग्नि में जला डालना चाहिये। भीष्म ने कहा : 'हमने जिनकी पूजा की है वह भगवान् गोविन्द आप लोगों के सम्मुख उपस्थित हैं। आप में से जिसकी बुद्धि मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिये व्यग्र हो रही हो वह इन्हीं यदुकुलतिलक चक्रगदाधर श्रीकृष्ण को आज युद्ध के लिये ललकारे और इनके हाथों ही मारा जा कर इन्हीं भगवान् के शरीर में प्रविष्ट हो जाय।' (महाभारत २.४४,४१.४२)। इसके बाद कथा इस प्रकार अग्रसर होती है :

महा० २.४५,१ और बाद : ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदि-राड उरु-

विक्रमः युयुत्सुर् वासुदेवेन वासुदेवम् उवाच ह। आह्वये त्वं रणं गच्छ मया सार्द्धं जनार्दन। यावद् अद्य निहन्मि त्वं सहितं सर्व-पाण्डवैः। सह त्वया हि मे बध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः। नृपतीन् समतिक्रम्य यैर् अराजा त्वम् अर्चितः। ये त्वां दासम् अराजानम् बाल्याद् अर्चन्ति दुर्मतिम्। अनर्हम् अर्ह-वत् कृष्ण बध्यास् ते इति मे मतिः। इत्य् उक्त्वा राज-शार्दूल [स् ?] तस्थौ गर्जन्न् अमर्षणः। एवम् उक्ते ततः कृष्णो मृदु पूर्वम् इदं वचः। उवाच पार्थिवान्. सर्वान् स समक्षं च पाण्डवान्। एष नः शत्रुर् अत्यन्तम् पार्थिवाः सात्वतीसुतः। सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम्। प्राग्ज्योतिष-पुरम् यातान् अस्मान् ज्ञात्वा नृशंस-कृत्। अदहद् द्वारकाम् एष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः। क्रीडतो भोज-राजस्य एष रैवतके गिरौ। हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वान् उपायात् स्व-पुरम् पुरा। अश्वमेधे हयम् मेध्यम् उत्सृष्ट रक्षिभिर् वृतम्। पितुर् मे यज्ञ-विघ्नार्थम् अहरत् पाप-निश्चयः। सौवीरान् प्रतियाताञ्च बभ्रोर् एष तपस्विनः। भार्याम् अभ्यहरद् मोहाद् अकामां ताम् इतो गताम्। एष मायाप्रतिच्छन्नः कारूषार्थे तपस्विनीम्। जहार भद्रां वैशालीम् मातुलस्य नृशंस-वत्। पितृस्वसुः कृते दुःख सुमहद् मर्पयाम्य् अहम्। दिष्ट्या हीदं सर्व-राज्ञां सन्निधाव् अद्य वर्त्तते। पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्य् अतीव व्यतिक्रमम्। कृतानि तु परोक्षम् मे यानि तानि निबोधत। इम त्व् अस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुम् अद्य व्यतिक्रमम्। अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजा-मण्डले। रुक्मिण्याम् अस्य मूढस्य प्रार्थनासीद् मुमूर्षतः। न च ताम् प्राप्तवान् मूढः शूद्रः वेदश्रुतीम् इव। एवम्-आदि ततः सर्वे सहितास् ते नराधिपा। वासुदेव वचः श्रुत्वा चेदि-राज व्यगर्हयन्। तस्य तद् वचन श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान्। जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदम् उवाच ह। मत्-पूर्वम् रुक्मिणीं कृष्ण ससत्सु परिकीर्त्तयन्। विशेषत. पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम्। मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्त्तयेत्। अन्य-पूर्वां स्त्रियं जातु त्वद्-अन्यो मधुसूदन। क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम। क्रुद्धाद् वाऽपि प्रसन्नाद् वा किं मे त्वत्तो भविष्यति। तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः। मनसाऽचिन्तयच् चक्रं दैत्य-गर्व-निसूदनम्। एतस्मिन्न् एव काले तु चक्रे हस्त-गते सति। उवाच भगवान् उच्चैर् वाक्यं वाक्यविशारदः। शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितम् मया। अपराधशतं क्षाम्यम् मातुर् अस्यैव याचने। दत्तम् मया याचितं च तद् वै पूर्णं हि पार्थिवाः। अधुना बधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षितम्।

एवम् उक्त्वा यदु-श्रेष्ठश् चेदि-राजस्य तत् क्षणात्। व्यपाहरच् छिरः क्रुद्धश् चक्रेणामित्र-कर्षणः। स पपात महाबाहुर् वज्राहत इवाचलः।

"भीष्म की यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल भगवान् वासुदेव के साथ युद्ध के लिये उत्सुक हो उनसे इस प्रकार बोला : 'जनार्दन! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। आओ, मेरे साथ युद्ध करो जिससे मैं समस्त पाण्डवों सहित तुम्हारा वध कर डालूँ। कृष्ण! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे वध्य हैं, क्योंकि इन्होंने सब राजाओं की अवहेलना करके राजा न होने पर भी तुम्हारी पूजा की है। तुम कंस के दास थे, तथा राजा भी नहीं हो, इसीलिये राज्योचित पूजा के अनधिकारी हो। तो भी, कृष्ण! जो लोग मूर्खतावश तुम जैसे दुर्बुद्धि की पूजनीय पुरुष की भाँति पूजा करते हैं वे अवश्य ही मेरे वध्य हैं, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ।' ऐसा कह कर क्रोध में भरा हुआ राजसिंह शिशुपाल दहाड़ता हुआ युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गया। शिशुपाल के ऐसा कहने पर अनन्त-पराक्रमी कृष्ण ने उसके सामने समस्त राजाओं से मधुर-वाणी में कहा : 'भूपालो! यह है तो यदुकुल की कन्या का पुत्र, परन्तु हम लोगों से अत्यधिक शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवों ने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तथापि यह क्रूरात्मा उनके अहित में ही लिप्त रहता है। नरेश्वरो! हम प्राग्ज्योतिषपुर में गये थे। यह बात जब इसे विदित हुई तब इस क्रूरकर्मा ने मेरे पिता का भानजा होते हुये भी, द्वारका में आग लगवा दी। एक बार भोज राज रैवत पर्वत पर क्रीडा कर रहे थे। उस समय यह वहीं जा पहुँचा और उनके सेवकों को मारकर तथा शेष व्यक्तियों को कैद करके उन सब को अपने नगर में ले गया। मेरे पिता अश्वमेध की दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकों से घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा जा चुका था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्मा ने पिता जी के यज्ञ में विघ्न डालने के लिये उस अश्व को भी चुरा लिया था। इतना ही नहीं, इसने बभ्रु की पत्नी का, जो यहाँ से द्वारका जाते समय सौवीर देश पहुँची थीं और इसके प्रति जिसके मन में तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया। इस क्रूरकर्मा ने माया से अपने वास्तविक रूप को छिपाकर करूषराज की प्राप्ति के लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशाल-नरेश की कन्या भद्रा का अपहरण कर लिया। मैं अपनी बुआ के सतोष के लिये ही इसके अत्यन्त दुःखद अपराधों को सहन कर रहा हूँ; सौभाग्य की बात है कि आज यह समस्त राजाओं के समीप उपस्थित है। आप सब लोग देख रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र व्यवहार कर रहा है। इसने परोक्ष में मेरे प्रति जो अपराध किये हैं,

उन्हें भी आप भली प्रकार जान लें। परन्तु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओं के समक्ष मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा। अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्ख ने रुक्मिणी के लिये उसके बन्धु-बान्धवों से याचना की थी। परन्तु जैसे शूद्र वेद को श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानी को वह प्राप्त नहीं हो सकी।' वासुदेव की ये सब बातें सुनकर समस्त राजाओं ने एक स्वर से चेदिराज शिशुपाल को धिक्कारा और उसकी निन्दा की। कृष्ण के उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल खिलखिलाकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला : "कृष्ण! तुम इस भरी सभा में, विशेषतः सभी राजाओं के समक्ष, रुक्मिणी को मेरे पहले की मनोनीत पत्नी बताते हुये लज्जा का अनुभव कैसे नहीं करते हो?[१६१] मधुसूदन! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कौन ऐसा पुरुष होगा जो अपनी स्त्री को पहले दूसरे की वाग्दत्ता पत्नी स्वीकार करते हुये सत्पुरुषों की सभा में उसका वर्णन करेगा? कृष्ण! यदि अपनी बुआ की बातों पर तुम्हें श्रद्धा हो तो मेरे अपराध क्षमा करो, या न भी करो, तुम्हारे कुपित होने या प्रसन्न होने से मेरा क्या बनने-बिगड़ने वाला है?' शिशुपाल इस प्रकार की बातें कर रहा था कि भगवान् मधुसूदन ने मन ही-मन दैत्यवर्ग-विनाशक सुदर्शन चक्र का स्मरण किया। चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथ में आ गया। तब बोलने में कुशल भगवान् कृष्ण ने उच्च स्वर से यह वचन कहा : 'यहाँ बैठे हुये सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अब तक इसके अपराध क्षमा किये हैं। इसी की माता के याचना करने पर मैंने उसे यह प्रार्थित वचन

---

[१६१] विष्णु पुराण मे कहा गया है कि रुक्मिणी की शिशुपाल के साथ सगाई हो चुकी थी; ५ २६,१ और बाद : 'भीष्मकः कुण्डिने राजा विदर्भ-विषयेऽभवत्। रुक्मी तस्याभवत् पुत्रो रुक्मिणी च वराङ्गना। रुक्मिणी चकामे कृष्ण सा च ता चारु-हासिनी। न ददौ याचते चैना रुक्मी द्वेषेण चक्रिणे। ददौ च शिशुपालाय जरासन्ध-प्रचोदित। भीष्मको रुक्मिणा सार्द्धं रुक्मिणीम् उरु-विक्रम'।' "विदर्भ देश मे कुण्डिनो के राजा का नाम भीष्मक था। उसके रुक्मी नामक एक पुत्र तथा रुक्मिणी नामक एक सुन्दर पुत्री थी। कृष्ण रुक्मिणी से तथा वह चारुहासिनी कन्या कृष्ण से प्रेम करती थी किन्तु जब कृष्ण ने उसे माँगा तब रुक्मी ने उन चक्रधर को वह कन्या नही दी। किन्तु जरासन्ध के कहने पर पराक्रमी भीष्मक तथा रुक्मी ने उसे (रुक्मिणी को) शिशुपाल को दे दिया।" कृष्ण अपने इस प्रतिद्वन्द्वी के विवाहोत्सव मे उपस्थित होते हैं तथा कुमारी रुक्मिणी का अपहरण कर लेते हैं।

जनार्दनः। सारतो जगतः कृत्स्नाद् अतिरिक्तो जनार्दनः। भस्म कुर्याद् जगद् इदम् मनसैव जनार्दनः। न च कृत्स्नं जगच् छक्तुम् भस्मीकर्त्तुं जनार्दनम्। यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीर् आर्जवं यतः। ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस् ततो जयः। पृथिवीं चान्तरिक्षञ्च दिवञ्च पुरुषोत्तमः। विचेष्टियति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दन'। स कृत्वा पाण्डवान् सत्त्रं लोकं सम्मोहयन्न् इव। अधर्म-निरतान् मूढान् दग्धुम् इच्छति ते सुतान्। काल-चक्रं जगच्-चक्र युग-चक्रञ्च केशवः। आत्मा योगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिसम। कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गम-स्थावरस्य च। ईशते भगवान् एक' सत्यम् एतद् ब्रवीमेते। ईशन्न् अपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः। कर्माण्य् आरभने कर्त्तुं किनाश इव वर्धनः। तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः। ये तम् एव प्रपद्यन्ते तेन मुह्यन्ति मानवा'। ६९, १ और बाद : धृतराष्ट्र उवाच। कथ त्वं माधव वेत्थ सर्व-लोक-महेश्वरम्। कथम् एनं न वेदाहं तद् ममाचक्ष्व सञ्जय। सञ्जय उवाच। श्रृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते। विद्या-हीनो तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम्। विद्यया तात जानामि त्रियुगम् मधुसूदनम् कर्त्तारम् अकृतं देवम् भूतानाम् प्रभवाप्ययम्। "माया न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्मम् आचरे। शुद्धा-भावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्। धृतराष्ट्र उवाच। दुर्योधन हृषीकेशम् प्रपद्यस्व जनार्दनम्। आप्तो न सञ्जयस् तात शरण गच्छ केशवम्। दुर्योधन उवाच। भगवान् देवकी-पुत्रो लोकाश् चेद् निहनिष्यति। प्रवदन्न् अर्जुने सख्य नाह गच्छेऽद्य केशवम्।

"एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बल की दृष्टि से वे जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत् से बढ़ कर सिद्ध होंगे। जनार्दन अपने मानसिक संकल्पमात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को भस्म कर सकते हैं; परन्तु उन्हें भस्म करने में यह सारा जगत समर्थ नहीं हो सकता। जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा, और सरलता है उसी ओर कृष्ण रहते हैं; और जहाँ कृष्ण हैं वहीं विजय है। सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा पुरुषोत्तम कृष्ण खेल सा करते हुये ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष, तथा स्वर्गलोक का संचालन करते हैं। वे इस समय समस्त लोक को मोहित करते हुये पाण्डवों के माध्यम से आपके अधर्मपरायण मूढ पुत्रों को भस्म करना चाहते हैं। ये केशव ही अपनी योग शक्ति से निरन्तर कालचक्र, ससार चक्र, तथा युग चक्र को घुमाते रहते हैं। मैं आप से सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु, तथा चराचर जगत के स्वामी एवं ईश्वर होते हुये भी खेती को बढ़ाने-

दिया था कि मैं शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा कर दूँगा। राजाओ! वे सब अपराध अब पूर्ण हो चुके हैं, अतः आप समस्त भूमिपतियों के देखते-देखते मैं अभी इसका वध कर देता हूँ।' ऐसा कह कर कुपित हुये शत्रुहन्ता यदुकुल तिलक कृष्ण ने चक्र से उसी क्षण चेदिराज शिशुपाल का सर उड़ा दिया। महाबाहु शिशुपाल वज्राहत पर्वतशिखर की भाँति धराशायी हो गया।[१६२]

धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन को भी, जो कौरवों का प्रमुख नायक था, श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्र में इसी प्रकार अविश्वास प्रगट करते हुये दिखाया गया है। उद्योग-पर्व में सञ्जय श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्र का उद्घाटन करते हुये कहते हैं कि "पूर्णतः स्वाधीन एवं श्रेष्ठस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मन के संकल्प मात्र से ही भूतल, अन्तरिक्ष, तथा स्वर्ग लोक को भी अपने अधीन कर सकते हैं" (पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्या चैव पुरुषोत्तमः। मनसैव विशिष्टात्मा नयत्य् आत्म-वश वशी', महाभारत ५.६८,५)। तदनन्तर सञ्जय आगे इस प्रकार कहते हैं :

महा० ५.६८,७ और बाद : एकतो वा जगत् कृत्स्नम् एकतो वा

---

[१६२] विष्णु पुराण मे यह कथन है कि पिछले जन्म मे शिशुपाल दैत्यराज हिरण्यकशिपु था, जिसका नृसिह अवतार लेकर विष्णु ने वध किया था। वही बाद मे रावण हुआ जिसका राम ने वध किया। शिशुपाल के रूप मे उसने कृष्ण के प्रति कही अधिक घृणा को व्यक्त किया, जब कि कृष्ण उसी परमात्मा के अवतार थे जो पृथिवी पर से पाप के भार को कम करने के लिये उत्पन्न हुये थे। शिशुपाल मृत्यु के बाद उन्ही मे विलीन हो गया क्योकि परमात्मा "सबकी मनोकामना पूर्ण करते हैं" और "उसे भी स्वर्ग का उच्चतम स्थान प्रदान करते हैं जिसका वह क्रुद्ध होकर भी वध करते हैं।" इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है (विष्णु पुराण ४ १५,१० और बाद) कि शिशुपाल का हृदय अनेक जन्म के द्वेषानुबन्ध से युक्त था, अतः वह श्रीकृष्ण की निन्दा और तिरस्कार करते हुये भी भगवान के सम्पूर्ण समयानुसार लीला कृत नामो का निरन्तर उच्चारण करता था। भगवान् का दिव्य रूप उसके हृदय से कभी दूर नही था। भगवत्-स्मरण के कारण सम्पूर्ण पापराशि के दग्ध हो जाने से भगवान् के द्वारा उसका अन्त हुआ और वह उन्ही मे लीन हो गया। शिशुपाल के भ्राता, शाल्वराज, द्वारा शिशुपाल के वध का बदला लेने के प्रयास का उसके द्वारका पर आक्रमण का, कृष्ण का वध करने की उसकी इच्छा का, और इन सब के फलस्वरूप उसका जो विनाश हुआ उसका महाभारत के वनपर्व मे वर्णन है।

जनार्दनः। सारतो जगतः कृत्स्नाद् अतिरिक्तो जनार्दनः। भस्म कुर्याद् जगद् इदम् मनसैव जनार्दनः। न च कृत्स्नं जगच् छक्तुम् भस्मीकर्त्तुं जनार्दनम्। यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीर् आर्जवं यतः। ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस् ततो जयः। पृथिवीं चान्तरिक्षञ्च दिवञ्च पुरुषोत्तमः। विचेष्टियति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः। स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्न् इव। अधर्म-निरतान् मूढान् दग्धुम् इच्छति ते सुतान्। काल-चक्रं जगच्-चक्रं युग-चक्रञ्च केशवः। आत्मा-योगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिसम्। कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गम-स्थावरस्य च। ईशते भगवान् एकः सत्यम् एतद् ब्रवीमि ते। ईशन्न् अपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः। कर्माण्य् आरभते कर्त्तुं किनाश इव वर्धनः। तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः। ये तम् एव प्रपद्यन्ते तेन मुह्यन्ति मानवाः। ६९, १ और बाद : धृतराष्ट्र उवाच। कथ त्व माधव वेत्थ सर्व-लोक-महेश्वरम्। कथम् एनं न वेदाह तद् ममाचक्ष्व सञ्जय। सञ्जय उवाच। शृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते। विद्या-हीनो तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम्। विद्यया तात जानामि त्रियुगम् मधुसूदनम् कर्त्तारम् अकृत देवम् भूतानाम् प्रभवाप्ययम्। "माया न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्मम् आचरे। शुद्धा भावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्। धृतराष्ट्र उवाच। दुर्योधन हृषीकेशम् प्रपद्यस्व जनार्दनम्। आप्तो नः सञ्जयस् तात शरण गच्छ केशवम्। दुर्योधन उवाच। भगवान् देवकी-पुत्रो लोकाश् चेद् निहनिष्यति। प्रवदन्न् अर्जुने सख्यं नाहं गच्छेऽद्य केशवम्।

"एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बल की दृष्टि से वे जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत् से बढ़ कर सिद्ध होंगे। जनार्दन अपने मानसिक संकल्पमात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को भस्म कर सकते हैं, परन्तु उन्हें भस्म करने में यह सारा जगत समर्थ नहीं हो सकता। जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा, और सरलता है उसी ओर कृष्ण रहते हैं, और जहाँ कृष्ण हैं वहीं विजय है। सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा पुरुषोत्तम कृष्ण खेल सा करते हुये ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष, तथा स्वर्गलोक का संचालन करते हैं। वे इस समय समस्त लोक को मोहित करते हुये पाण्डवों के माध्यम से आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रों को भस्म करना चाहते हैं। ये केशव ही अपनी योग शक्ति से निरन्तर कालचक्र, संसार चक्र, तथा युग चक्र को घुमाते रहते हैं। मैं आप से सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु, तथा चराचर जगत के स्वामी एवं ईश्वर होते हुये भी खेती को बढ़ाने-

वाले किसान की भाँति सदा नये-नये कर्मों का आरम्भ करते रहते हैं। केशव अपनी माया के प्रभाव से सब लोगों को मोहित रखते हैं, किन्तु जो मनुष्य केवल उन्हीं की शरण ले लेते हैं वे उनकी माया से मोहित नहीं होते।' धृतराष्ट्र ने पूछा: 'सञ्जय! माधव समस्त लोकों के महान् ईश्वर हैं, इस बात को तुम कैसे जानते हो? और मैं उन्हें इस रूप में क्यों नहीं जानता? इसका रहस्य मुझे बताओ।' सञ्जय ने कहा: 'राजन्! सुनिये, आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं है और मेरी ज्ञानदृष्टि कभी लुप्त नहीं होती। जो मनुष्य तत्त्वज्ञान से शून्य है और जिसकी बुद्धि अज्ञानान्धकार से विनष्ट हो चुकी है वह केशव के वास्तविक रूप को नहीं जान सकता। तात! मैं ज्ञानदृष्टि से ही प्राणियों की उत्पत्ति, और विनाश करनेवाले त्रियुगस्वरूप मधुसूदन को, जो सबके कर्त्ता है, परन्तु किसी के कार्य नहीं, जानता हूँ।' ''महाराज! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया का सेवन नहीं करता। व्यर्थ धर्म का आचरण नहीं करता। जनार्दन की भक्ति से मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्र के वचनों से उनके स्वरूप को यथावत् जानता हूँ।' यह सुनकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा: 'बेटा! सञ्जय हम लोगों के विश्वासपात्र हैं। इनकी बातों पर श्रद्धा करके तुम सम्पूर्ण इन्द्रियों के प्रेरक जनार्दन भगवान् श्रीकृष्ण का आश्रय लो, उन्हीं की शरण में जाओ।' दुर्योधन बोला: 'पिता जी! माना कि देवकीपुत्र श्रीकृष्ण साक्षात भगवान् हैं और वे इच्छा करते ही सम्पूर्ण लोकों का संहार कर डालेंगे, तथापि वे अपने को अर्जुन का सखा बताते हैं, अत: अब मैं उनकी शरण में नहीं जाऊँगा।''

इस प्रकार के दम्भ, गर्व, ऐश्वर्य तथा महत्वाकांक्षा के लिये दुर्योधन के माता पिता उसकी भर्त्सना करते हैं और उससे कहते हैं कि जब 'वह भीमसेन के हाथों मारा जायगा उस समय उसे पिता का स्मरण होगा।' (निहतो भीमसेनेन स्मर्त्तासि वचनम् पितु:)। कुछ और वार्त्तालाप के पश्चात् धृतराष्ट्र ने सञ्जय से कृष्ण की महिमा के सम्बन्ध में और अधिक बताने के लिये कहा जिस पर सञय इस प्रकार करते हैं:—

महा० ५.७०,२ और बाद सञ्जय उवाच। श्रुतम मे वासुदेवस्य नाम-निर्वचन शुभम्। यावत् तत्राभिजानेऽहम् अप्रमेयो हि केशवः। वसनात् सर्व-भूताना वसुत्वाद् देव-योनित। वासुदेवस् ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुर् उच्यते। मौनाद् ध्यानाच् च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्। सर्वतत्त्वमयत्वाच् च मधुहा मधुसूदन। कृषिर् भू-वाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्ति-वाचक। विष्णुस् तद्-भाव-योगाच्च कृष्णो भवति सत्त्वातः। पुण्डरीकम् पुर धाम नित्यम् अक्षयम् अव्ययम्। तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो

दस्यु त्रासाज् जनार्दनः । यतः सत्त्वाद् न च्यवते यच् च सत्त्वाद् न हीयते । सत्त्वतः सात्त्वतस् तस्माद् आर्षभाद् वृषभेक्षण. । न जायते जनित्राऽयम् अजस् तस्माद् अनीकजित् । देवानां स्व प्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः । हर्षात सुखात् सुखैश्वर्य्याद् हृषीकेशत्वम् अश्नुते । बाहुभ्याम् रोदसी बिभ्रद् महाबाहुर् इति स्मृतः । अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्माद् अधोक्षजः । नराणाम् अयनाच् चापि ततो नारायणः स्मृत. । पूरणात् सदनाच् चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तम. । असवश् च सतश चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् । सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वम् एतम् प्रचक्षते । सत्ये प्रतिष्ठित' कृष्णः सत्यम् अत्र प्रतिष्ठितम् । सत्यात् सत्यञ्च गोविन्दस् तस्मात् सत्योऽपि नामतः । विष्णुर् विक्रमणाद् देवो जयनाज् जिष्णुर् उच्यते । शाश्वतत्वाद् अनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम् । अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजा. । एवं विधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः । आगन्ता ह्वि महाबाहुर् आनृशंस्यार्थम् अच्युतः ।

"सञ्जय ने कहा : राजन् ! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण के नामों की मङ्गलमयी व्युत्पत्ति सुन रक्खी है । उसमें से जितना मुझे स्मरण है उतना बता रहा हूँ । वास्तव में तो भगवान श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों की पहुँच से परे हैं । भगवान् समस्त प्राणियों के निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतों में वास करते हैं इसलिये 'वसु' हैं । देवताओं की उत्पत्ति के स्थान होने से समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है । अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है ऐसा जानना चाहिये । बृहत अर्थात् व्यापक होने के कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं । भारत ! मौन, ध्यान, और योग से उनका बोध होता है, अतः आप उन्हें 'माधव समझें' । मधु शब्द से प्रतिपादित पृथिवी आदि सम्पूर्ण तत्त्वों के उपादान एवं अधिष्ठान होने के कारण मधुसुदन श्रीकृष्ण को 'मधुहा' कहा गया है । 'कृष्' धातु सत्ता अर्थ का वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थ का बोध कराता है, इन दोनों भावों से युक्त होने के कारण यदुकुल में अवतीर्ण हुये नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं । नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धाम का नाम पुण्डरीक है । उसमें स्थित होकर जो अक्षत भाव से विराजते हैं, वे 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं । दस्युजनों को त्रास देने के कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं । वे सत्य से कभी च्युत नहीं होते और न सत्व से अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भाव के सम्बन्ध से उनका नाम 'सात्वत' है । आर्ष कहते हैं वेद को; उससे भासित होने के कारण उनका नाम 'आर्षभ' है । आर्षभ के योग से ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं । शत्रु-सेना पर विजय पानेवाले वे कृष्ण किसी जन्मदाता के द्वारा जन्म

ग्रहण नहीं करते, इसलिये उन्हें 'अज' कहते हैं। देवता स्वयं प्रकाशित होते हैं, इसलिये कृष्ण को 'उदर' कहा गया है, और दम नामक गुण से सम्पन्न होने के कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार वे 'दामोदर' कहलाते हैं। वे हर्ष से युक्त होने के कारण हृषीक हैं और ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण ईश कहे गये हैं। इस प्रकार वे 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों वाहुओं द्वारा वे इस पृथिवी और आकाश को धारण करते हैं, इसलिये 'महावाहु' है। कृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः 'अधोक्षज' कहलाते है। वे नरों[१६३] के अयन है अतः उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, अतः 'पुरुप' हैं, और सब पुरुषों में उत्तम होने के कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' सज्ञा है। वे सत् और असत् सब की उत्पत्ति और लय के स्थान हैं, तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं, इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं। श्रीकृष्ण सत्य में प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे गोविन्द सत्य से भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अत. उनका एक नाम 'सत्य' भी है. विक्रमण करने के कारण वे विष्णु कहलाते हैं। वे सब पर विजय पाने से 'जिष्णु', शाश्वत होने से 'अनन्त', तथा गौओं के ज्ञाता[१६४] तथा प्रकाशक होने के कारण 'गोविन्द' कहलाते हैं। वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्य को भी सत्यवत कर देते हैं और इस प्रकार प्रजा को मोहित कर

---

[१६३] शुद्ध पाठ सम्भवत 'नाराणाम्' होना चाहिये, जैसा कि ऊपर उद्धृत मनु के एक स्थल मे भी है।

[१६४] इस नाम की शान्तिपर्व मे एक अन्य व्याख्या दी हुई है : 'नष्टा च धरणीम् पूर्वम् अविन्द वै गुहागताम्। गोविन्द इति तेनाह देवैर् वाग्भिर अभिष्टुत।' "और क्योंकि मैंने नष्ट हुई तथा गुहा मे चली गई पृथिवी को खोज निकाला इसीलिये देवताओ ने मेरी 'गोविन्द' नाम से स्तुति की।" और सागर का वर्णन करनेवाले आदिपर्व के इस श्लोक मे गोविन्द शब्द की इस प्रकार व्याख्या है १ २१,१२ 'गा विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा। वराहरूपिणा चान्तर् विक्षोभित-जलाविलम्।' "अमित तेजस्वी भगवान गोविन्द ने वराहरूप से पृथिवी को उपलव्ध करते समय इस समुद्र को भीतर से मथ डाला था और उस मथितजल से वह समस्त महासागर मलिन सा जान पडता था।" इसके पहले के एक श्लोक को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय हिन्दू चन्द्रमा के सागर पर प्रभाव से परिचित थे : १ २१,११ 'चन्द्र-वृद्धि-क्षय-वशाद उद्वृत्तोर्मि-समाकुलम्।' "चन्द्रमा की वृद्धि और क्षय के कारण सागर की लहरें वहुत ऊँची उठती और उतरती थी।"

देते है। निरन्तर धर्म में तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदन का स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु कृष्ण कौरवों पर कृपा करने के लिये यहाँ पधारनेवाले हैं।"

नीचे श्रीकृष्ण के प्रति दुर्योधन की शत्रुता के भाव को प्रकट करनेवाला एक और उदाहरण दिया जा रहा है। इससे विदित होगा कि जहाँ दुर्योधन कृष्ण की अतिमानवीय प्रकृति पर सन्देह प्रगट करता है वहीं इन श्लोकों का लेखक अपने नायक के दिव्यत्व में पूर्ण आस्था रखता प्रतीत होता है। उद्योग-पर्व में यह वर्णन है कि श्रीकृष्ण पाण्डवों तथा कौरवों के बीच मध्यस्थता करने के लिये कौरवों की सभा में उपस्थित हुये। जब श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित हुये तब दुर्योधन ने उन्हें बन्दी बनाने का कुचक्र रचना चाहा परन्तु विदुर ने उसे बताया कि श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्र के कारण उसका कुचक्र सफल नहीं हो सकता। विदुर के उपदेश के समाप्त होने पर दुर्योधन को सम्बोधित करते हुये श्रीकृष्ण इस प्रकार कहते हैं :

महा० ५.१३१, १ और बाद : विदुरेणैवम् उक्तस् तु केशवः शत्रु पूग-हा। दुर्योधनं धार्त्तराष्ट्रम् अभ्यभाषत वीर्य्यवान्। एकोऽहम् इति यद् मोहाद् मन्यसे मा सुयोधन। परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुम् मां चिकीर्षसि। इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धक-वृष्णयः। इहादित्याश्च रुद्राश् च वसवश् च सहर्षिभिः। एवम् उक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीर-हा। तस्य संस्मयतः सौरेर् विद्युद्-रूपा महात्मनः। अङ्गुष्ठ-मात्रास् त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः। अस्य ब्रह्मा ललाट-स्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत्। लोक-पाला भुजेष्व् आसन्न् अग्निर् आस्याद् अजायत। आदित्याश् चैव साध्याश् च वसवोऽथाश्विनाव् अपि। मरुतश् च सहेन्द्रेण विश्वे देवाश् तथैव च। बभूवुस् चैक-रूपाणि यक्ष-गन्धर्व-रक्षसाम्। प्रादुरास्तं तथा दोर्भ्यां सकर्षण-धनञ्जयौ। दक्षिणेऽथार्जुनो धन्वी हली रामश् च सव्यतः। भीमो युधिष्ठिरश् चैव माद्री-पुत्रौ च पृष्ठतः। अन्धका वृष्ण-यश् चैव प्रद्युम्न-प्रमुखास् ततः। अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यत-महा-युधाः। शङ्ख-चक्र-गदा-शक्ति-शार्ङ्ग-लाङ्गल-नन्दकाः। अदृश्यन्तोद्यतान्य् एव सर्व-प्रहरणानि च। नाना-बाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः। इत्यादि।

"ऐसा कहने पर शत्रुसमूह का संहार करनेवाले शक्तिशाली केशव ने धृत-राष्ट्र-पुत्र दुर्योधन से इस प्रकार कहा : 'दुर्बुद्धि दुर्योधन! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे बन्दी बनाना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है। देख! सब पाण्डव यहीं हैं। अन्धक

और वृष्णि वंश के वीर भी यहीं उपस्थित हैं। आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियों सहित वसुगण भी यहीं हैं। ऐसा कहकर विपक्षी वीरों का विनाश करनेवाले भगवान केशव उच्चस्वर से अट्टहास करने लगे। हँसते समय उन महात्मा के अङ्गों में स्थित विद्युत के समान कान्तिवाले तथा अँगूठे के बराबर छोटे शरीरवाले देवता अग्नि की लपटें छोड़ने लगे। उनके ललाट में ब्रह्मा और वक्षःस्थल में रुद्र देव विद्यमान थे। समस्त लोकपाल उनकी भुजाओं में स्थित थे। मुख से अग्नि की ज्वालायें निकल रही थीं। आदित्य, साध्य, वसु, अश्विनद्वय, इन्द्र सहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस भी उनके विभिन्न अङ्गों में प्रगट हो गये। उनकी दोनों भुजाओं से बलराम और अर्जुन का प्रादुर्भाव हुआ। दाहिनी भुजा में धनुर्धर अर्जुन और बायीं में हलधर बलराम विद्यमान थे। भीमसेन, युधिष्ठिर, तथा माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव भगवान् के पृष्ठभाग में स्थित थे। प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा हाथों में विशाल आयुध धारण किये भगवान के अग्रभाग में प्रगट हुये। शङ्ख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्ग-धनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—ये ऊपर उठे हुये ही समस्त आयुध कृष्ण की अनेक भुजाओं में देदीप्यमान दृष्टिगत हो रहे थे।"

अगले स्थल पर भी, जिसे कर्णपर्व से लिया गया है, दुर्योधन तथा उसकी ओर के अन्य योद्धा अपने को श्रीकृष्ण के समान ही मानते हैं। वहां यह कहा गया है कि कर्ण ने दुर्योधन को वचन दिया कि या तो वह अर्जुन का वध कर देगा या स्वयं मृत्यु को प्राप्त होगा। फिर भी, कर्ण कहता है कि कुछ दृष्टियों से वह अर्जुन से हीन है, अर्थात्, उदाहरण के लिये, इस दृष्टि से कि उसके पास गोविन्द जैसा सारथि नहीं है ('सारथिस् तस्य गोविन्दो मम तादृण् न विद्यते', ८ ३१,५२)। अन्य दृष्टियों से वह अपने को श्रेष्ठ समझता है। उसने कहा कि जिस प्रकार जगत् के स्रष्टा कृष्ण अर्जुन के रथ की रक्षा कर रहे हैं (कृष्णश् च स्रष्टा जगतो रथं तम् अभिरक्षति'[६५] ८.३१,५७), उसी प्रकार यदि युद्ध में शोभा पानेवाले राजा शल्य, जो श्रीकृष्ण के समान हैं, यदि उसके सारथि हो जायें तो विजय निश्चित है (८ ३१,५८ : अयं तु सदृशः शौरेः शल्यः समिति-

---

[६५] यदि 'स्रष्टा जगत' शब्द प्रक्षिप्त नहीं हैं तो यह समझ पाना सरल नहीं है कि कर्ण ने श्रीकृष्ण को अपने बराबर कैसे माना, क्योंकि वह स्वयं अपने को या शल्य को या अन्य किसी भी वीर को जगत का स्रष्टा मानने का विचार भी नहीं कर सका होगा।

शोभनः। सारथ्य यदि मे कुर्याद् ध्रुवस् ते विजयो भवेत्।'' ६१. और बाद : एवम् अभ्यधिकः पार्थात् भविष्यामि गुणैर् अहम्। शल्योऽप्य् अभ्यधिकः कृष्णाद् अर्जुनाद् अपि चाप्य् अहम्। यथाऽश्व हृदय वेद दाशार्ह पर-वीर-हा। तथा शल्योऽपि जानीते हय-ज्ञानं महारथः)। तब दुर्योधन शल्य के पास जाकर उनसे कर्ण का सारथि बनने का आग्रह करते हुये कहता है कि वह (शल्य) कृष्ण के समान हैं और उनके अतिरिक्त कर्ण का सारथि बनने योग्य अन्य कोई नहीं। दुर्योधन ने यह भी कहा कि ब्रह्मा भी महादेव के सारथि बन चुके हैं (८.३२,५ और बाद : सारथ्यं रथिना श्रेष्ठ प्रणयात् कर्त्तुम् अर्हसि। त्वयि यन्तरि राधेयो विद्विषो मे विजेष्यते। अभीषूणा हि कर्णस्य ग्रहीताऽन्यो न विद्यते। ऋते हि त्वाम् महाभाग वासुदेव समं युधि। स पाहि सर्वथा कर्ण यथा ब्रह्मा महेश्वरम्। फिर भी, इस बात से शल्य अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते है कि उनके जैसे महान व्यक्ति से सारथ्य करने का प्रस्ताव किया गया। वह यह भी कहते है कि वह कर्ण से श्रेष्ठ हैं और अकेले ही शत्रुओं को नष्ट कर सकते हैं। वह अपनी मोटी भुजाओं की ओर संकेत करते हुये कहते हैं कि उनमें वज्र के समान शक्ति है। वह यहाँ तक कहते हैं कि वह अकेले ही पृथ्वी को दो भागों में विभक्त, पर्वतों को छिन्न-भिन्न, तथा सागरों को शुष्क कर सकते है (८.३२,३७ और बाद : पश्य पीनौ मम भुजौ वज्र-संहननोपमौ।' '३६. दारयेयम मही कृत्स्नां विकिरेये च पर्वतान्। शोषयेयं समुद्रांश् च तेजसा स्वेन पार्थिव)। अतः वह अपने से हीन व्यक्ति का सारथ्य करने के लिये प्रस्तुत नहीं होंगे[१६६] (८.३२,४१ और बाद : कस्माद् युनक्षि सारथ्ये नीचस्याधिरथे रणे। न माम् अधुरि राजेन्द्र नियोक्तं त्वम् इहार्हसि। न हि पापीयस श्रेयान् भूत्वा प्रेष्यत्वम् उत्सहे।) इस प्रकार के प्रस्ताव को अपनी मानहानि समझ कर वह वापस घर लौट जाने की धमकी देते हैं (श्लो० ५१)। जब वह उठ कर चलने लगते हैं तब दुर्योधन उन्हें शान्त करता हुआ उनके पीछे-पीछे चलता है और कहता है कि वह कर्ण को उनसे श्रेष्ठ नहीं मानता (श्लो० ५५ : न कर्णोऽभ्तधिकस् त्वत्तः), किन्तु कर्ण को अर्जुन से श्रेष्ठ अवश्य मानता है, जब कि सारा संसार उन्हें (शल्य को) बल तथा अश्वशास्त्र मे श्रीकृष्ण से कहीं अधिक श्रेष्ट जानता है (श्लो० ६० और बाद : मन्ये चाभ्यधिक शल्य गुणै' कर्ण धनञ्जयात्। भवन्तं वासुदेवाच् च लोकोऽयम इति मन्यते। कर्णो ह्य् अभ्यधिक पार्थाद् एव नरर्षभ। भवान् अभ्यधिकः कृष्णाद् अश्व-ज्ञाने बले तथा। यथोऽश्वहृयं वेद वासुदेवो महात्मनाः।

[१६६] शल्य, कर्ण को एक सूत या शूद्र कहते हैं (८.३२,४८)।

द्विगुणं त्वं तथा वेत्सि मद्र-राजेश्वरात्मज)। इस प्रकार अपने को कृष्ण से श्रेष्ठ कहे जाने से प्रसन्न होकर शल्य कर्ण का सारथि बनने के लिये सहमत हो जाते हैं ' ८.३२,६३ और बाद : यद् माम् ब्रवीषि गान्धारे मध्ये सैन्यस्य कौरव। विशिष्ट देवकीपुत्रात् प्रीतिमान् अस्म्य् अहं त्वयि। एष सारथ्यम् आतिष्ठे राधेयस्य यशस्विनः। युध्यतः पाण्डवाग्र्येण यथा त्वं वीर मन्यसे। समयश् च हि मे वीर कश्चिद् वैकर्त्तनम् प्रति। उत्सृजेयं यथा-श्रद्धम् अहं वाचोऽस्य सन्निधौ। सञ्जय उवाच। तथेति राजन् पुत्रस् ते सह कर्णेन भारत। अब्रवीद् मद्र राजस्य मतम् भरत-सत्तम। "कौरव! गान्धारी पुत्र! तुम सारी सेना के बीच में जो मुझे देवकीनन्दन श्रीकृष्ण से भी बढ़कर बता रहे हो इससे मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। वीर! जैसा तुम चाहते हो उसके अनुसार मैं पाण्डव शिरोमणि अर्जुन के साथ युद्ध करते हुये यशस्वी कर्ण का सारथि कर्म अब स्वीकार कर लेता हूँ। परन्तु वीरवर! कर्ण के साथ मेरी एक शर्त रहेगी। मैं उसके समीप, जैसी मेरी इच्छा हो, वैसी बातें कर सकता हूँ।' सञ्जय ने कहा : भारत! भरतभूषण नरेश! इस पर कर्ण सहित आपके पुत्र ने 'बहुत अच्छा' कहकर शल्य की शर्त स्वीकार कर ली।"

इस प्रकार यद्यपि दुर्योधन ने शल्य से कर्ण का सारथि होना स्वीकार करा लिया, तथापि अगले तीन अध्यायों में (जिन्हें मैं सम्भवतः प्रक्षिप्त मानता हूँ, और इस सम्बन्ध में अपने आधार आगे प्रस्तुत करूँगा) वह शल्य को एक प्राचीन आख्यान सुनाता है जिसके अनुसार देवासुर संग्राम में ब्रह्मा ने महादेव का सारथ्य कर्म किया था। तारकासुर के तीन पुत्रों ने तपस्या करके ब्रह्मा से वर प्राप्त कर लिया था। उन असुरों ने यह वर माँगा था कि वे किसी भी प्राणी से अवध्य हो जायँ। इस वर को देना ब्रह्मा ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनके अनुसार अमरत्व सार्वभौमिक नहीं हो सकता। तब उन असुरों ने यह वर माँगा कि उन तीनों को तीन ऐसे पुर प्राप्त हों जिनमें स्थित होकर वे इच्छानुसार पृथिवी की परिक्रमा कर सकें और एक सहस्र वर्ष के बाद वे तीनों पुर एकत्र हों। उन्होंने यह भी वर माँगा कि वे उसी व्यक्ति के द्वारा मारे जा सकें जो एक ही बाण से तीनों पुरों को नष्ट कर सके (८.३३,१२ और बाद : वयम् पुराणि त्रीण्य् एव समास्थाय महीम् इमाम्। विचरिष्यामो लोकेऽस्मिन्'''ततो वर्ष-सहस्रे तु समेष्यामः परस्परम्। एकीभाव गमिष्यन्ति पुराण्य् एतानि चानघ। समागतानि चैतानि यो हन्याद् भगवस् तदा। एकेषुणा देव-वरः स नो मृत्युर् भविष्यति)। ब्रह्मा ने उन्हें यह वर दे दिया तथा मयासुर ने उनके लिये

तीन पुर, एक सुवर्ण का, एक रजत का, और एक लोहे का, निर्माण किया,[१६७] जिन्हे उन तीन असुरराजों ने अलग-अलग अपने अधिकार मे ले लिया। उन सव ने इन पुरों में भयकर असुरों को एकत्र किया। मय ने अपनी मायावी शक्ति से उन असुरों को इच्छानुसार सभी वस्तुयें प्रदान कीं। तारकाच के पुत्र हरि ने ब्रह्मा से यह भी वर प्राप्त किया कि उनके पुर में एक ऐसा सरोवर भी हो जिसमें युद्ध में मारे गये किसी असुर को फेंक देने से वह और वलवान् होकर जीवित हो उठे। इन समस्त शक्तियों से प्रवल होकर असुर लोकों को त्रस्त करने लगे। वे समस्त देवोद्यानों, ऋषियों के पवित्र आश्रमों तथा रमणीय जनपदों को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे (श्लो० ३५)। इन्द्र ने अपने वज्र से उन पुरों पर आक्रमण किया किन्तु उनका कुछ नही विगाड़ सके (श्लो० ३६ और वाद)। तदनन्तर इन्द्र ने ब्रह्मा के पास आकर असुरों के विनाश का उपाय पूछा (श्लो० ४०)। ब्रह्मा ने कहा कि केवल महादेव ही एक साथ एक ही वाण से तीनों पुरों को नष्ट कर सकते है (श्लो० ४४)। तदनन्तर ब्रह्मा को आगे करके सभी देवता महादेव के शरण में आये। जिन्होंने आत्मा-स्वरूप सवको व्याप्त कर रक्खा है, तथा जो भय के अवसरों पर अभय प्रदान करनेवाले है, उन सर्वात्मा महात्मा शिव की उन देवताओं ने अभीष्ट वाणी द्वारा स्तुति की। जो नाना प्रकार की विशेष तपस्याओं द्वारा मन की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध करना जानते हैं, जिन्हें अपनी ज्ञान-स्वरूपता का वोध नित्य वना रहता है, जिनका अन्तःकरण सदा अपने वश में रहता है, जगत् में जिनकी कहीं भी तुलना नहीं, उन निष्पाप, तेजोराशि, महेश्वर का उन देवताओं ने दर्शन किया (श्लो० ४७ और वाद : तपो-नियमम् आस्थाय गृणन्तो ब्रह्म शाश्वतम्। .. तुष्टुवुर् वाग्भिर् उग्राभिर् भयेष्व[अभय विशेषैर् विविधैर् योगं यो वेद चात्मनः। यः सांख्यम् आत्मनो वेत्ति यस्य चात्मा वशे सदा)। उन देवताओं ने महादेव का दर्शन किया जो सर्वभूतमय, अजन्मा, और जगत के ईश्वर थे (सर्व-भूतमय दृष्ट्वा तम् अज जगत पतिम्)। महादेव ने मुस्कराते हुये उन सव का स्वागत किया और उनके आने का प्रयोजन पूछा। तव देवताओं ने उनके विविध गुणों की स्तुति की। देवताओं की ओर से वोलते हुये ब्रह्मा ने महादेव से कहा : 'आपके आदेश से इस प्रजापति पद पर स्थित रहते हुये मैंने दानवों को एक महान वर दे दिया है जिसके फलस्वरूप वे मर्यादा का उल्लङ्घन कर चुके हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी उन असुरों का संहार

[१६७] देखिये ऊपर।

नहीं कर सकता।' ब्रह्मा की बात सुन कर महादेव ने कहा कि वे अकेले ही उन असुरों को नहीं मार सकते। अतः महादेव ने प्रस्ताव किया कि यदि सब देवगण मिल कर उनके आधे तेज से पुष्ट हो युद्ध करें तो वे शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु देवों ने कहा कि उनमें महादेव के आधे तेज को धारण करने की शक्ति नहीं है (८.३४,१० : विभर्तुं भवतोऽर्धं न शक्ष्यामः)। अतः देवों ने यह प्रस्ताव किया कि महादेव स्वयं सब देवों के आधे बल से युक्त हो शत्रुओं का वध करें। महादेव इसके लिये तैयार हो गये और समस्त देवों के बल से पुष्ट होकर सबसे शक्तिशाली हो गये जिससे उनका नाम 'महादेव' पड़ा (श्लो० १२ और बाद : अर्धम् आदाय सर्वेषां तेजसाऽभ्यधिकोऽभवत्। स तु देवो बलेनासीत सर्वेभ्यो बलवत्तरः। महादेव इति ख्यातस् तत. प्रभृति शङ्करः)। तदनन्तर महादेव ने देवों से एक धनुष तथा बाण, और एक रथ माँगा (श्लो० १४)। देवों ने तीनों लोकों के तेज की सारी मात्राओं को एकत्र करके एक रथ निर्माण करने का आश्वासन दिया (श्लो० १६ : मूर्त्तीः सर्वाः समाधाय त्रैलोक्यस्य ततस् तत.। रथं ते कल्पयिष्याम')। तदनन्तर विश्वकर्मा तथा देवों के द्वारा रथ के निर्माण का वर्णन किया गया है। विष्णु, सोम और अग्नि महादेव के धनुष और बाण के विभिन्न भाग बने; पृथिवी उनका रथ बनीं, मन्दार पर्वत रथ का धुरा बना, महान नदियाँ, दिशायें, नक्षत्र, कृतयुग, वासुकि नाग, हिमालय तथा विन्ध्यपर्वत, औषधियाँ, सूर्य, चन्द्रमा, दिन-रात, विभिन्न देवियाँ, धर्म, सत्य, वषट्कार, गायत्री, इत्यादि भी उस रथ के विभिन्न भागों में स्थित हुये। तदनन्तर महादेव के आयुधों का वर्णन है (श्लो० ४३ और बाद)। श्लो० ४९ में इस बात को पुनः कहा गया है कि "विष्णु, अग्नि, और सोम, ये ही उनके बाण हुये" क्योंकि "सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोम का ही स्वरूप है, और सारा ससार वैष्णव है"। विष्णु को अमित तेजस्वी महादेव का आत्मा बताया गया है (श्लो० ५०),[१६८] इसी से वे असुर शिव (हर) के धनुष की प्रत्यञ्चा एव बाण का स्पर्श सहन नहीं कर सके। महेश्वर ने उस बाण में अपने असह्य एव प्रचण्ड कोप को तथा भृगु और अङ्गिरा के रोष से उत्पन्न हुई अत्यन्त दु:सह क्रोधाग्नि को भी स्थापित किया। विजयशील और ब्रह्मद्रोहियों के विनाशक भगवान् महादेव धर्म का आश्रय लेनेवाले मनुष्यों की सदा रक्षा और पापियों का विनाश करनेवाले हैं। उनके जो अपने उपयोग में आनेवाले रथ आदि गुणवान उपकरण थे वे शत्रुओं

---

[१६८] क्या ये शब्द प्रक्षिप्त हो सकते हैं ?

को मथ डालने में समर्थ, भयानक बलशाली, भयंकर रूपधारी, और मन के समान वेगवान् थे। इस सबसे घिरे भगवान स्थाणु (महादेव) अत्यन्त शोभित हो रहे थे। उनके पञ्चभूत स्वरूप अंगों का आश्रय लेकर ही यह अद्भुत दृष्टिगत होनेवाला सारा चराचर जगत स्थित एवं सुशोभित है (श्लोक ४९ और बाद : ईषुश् चाप्य् अभवद् विष्णुर् ज्वलनः सोम एव च। अग्नी-सोमं जगत् कृत्स्नं वैष्णवं चोच्यते जगत्। विष्णुश् चात्मा भगवतो भवस्यामिततेजसः। तस्माद् धनुर् ज्या-संस्पर्श न विषेहुर् हरस्य ते। तस्मिन् शरे तिग्म-मन्युम् मुमोचासह्यम् ईश्वरः। भृग्व्-अङ्गिरो-मन्यु-भवं क्रोधाग्निम् अति-दुःसहम्। स नील लोहितो धूम्रः कृत्तिवासा भयङ्करः। ५२. नित्य त्राता च हन्ता च धर्माधर्माश्रितान् नरान्। प्रमाथिभिर् भीम-बलैर् भीम रूपैर् मनोजवै.। विभाति भगवान् स्थाणुस् तैर् एवात्म-गुणैर् वृत.। तस्याङ्गानि समाश्रित्य स्थित विश्वम् इद जगत्। जङ्गमाजङ्गमं राजन् शुशुभेऽध्रुतदर्शनम्)।

सोम, विष्णु और अग्नि से प्रगट हुये उस दिव्य बाण को लेकर महादेव रथारूढ हुये (श्लो० ५६)। तब महादेव ने मुस्कराते हुये देवताओं से पूछा : 'मेरा सारथि कौन होगा ?' (श्लो० ६१)। देवों ने कहा कि महादेव स्वय जिसको इस कार्य के लिये नियुक्त करें वही सारथि होगा। महादेव ने देवों से कहा : 'जो मुझसे भी श्रेष्ठतर हो उसे सारथि बनाओ।' तब देवों ने ब्रह्मा से महादेव का सारथि बनने का प्रस्ताव किया और कहा कि वे ही इस कार्य के सर्वाधिक योग्य है। ब्रह्मा ने सहमति दी (श्लो० ७६)। पुनः यह कहा गया है कि विष्णु, सोम, और अग्नि से उत्पन्न हुये बाण को लेकर महादेव रथ पर आरूढ हुये (श्लो० ८०)। तब रथारूढ हुये महादेव अग्रसर हुये[१६९] तथा असुरों के पुरों के पास आये (श्लो० ९५)। महादेव के नन्दी वृषभ के सिंहनाद से ही असुर नष्ट हो गये (श्लो० ९७.९८) तथा अन्य दैत्य युद्ध के लिये महादेव के सामने आये। उस समय महादेव क्रोध से आतुर हो उठे। फिर तो समस्त त्रिलोकी काँपने लगी। जब वे वहाँ धनुष पर बाण का सधान करने लगे तब उसमें सोम, अग्नि, विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र के क्षोभ से अत्यन्त भयंकर निमित्त प्रगट हुये, और वह रथ अत्यन्त शिथिल

---

[१६९] श्लो० ९१ मे कहा गया है कि ऋषियो ने विविध प्रकार के स्तोत्रो के पाठ द्वारा महेश्वर के तेज की वृद्धि की (ऋषयस् तत्र देवेश स्तुवन्तो बहुभि. स्तवै। तेजश् चास्मै वर्धयन्तो राजन्न् आसन् पुन. पुन)। इसी प्रकार स्तुतियो द्वारा देवो की बल-वृद्धि का ऋग्वेद मे अक्सर उल्लेख मिलता है।

होने लगा। तब उस बाण के एक भाग से बाहर निकल कर विष्णु ने वृषभ का रूप धारण किया और शिव के विशाल रथ को ऊपर उठाया (श्लो० ९९–१०२)। तदनन्तर भगवान महादेव ने धनुष पर बाण को रक्खा (श्लो० १०७) और जब असुरों के तीनों पुर एकत्र हो गये तब उस बाण को छोड़ दिया (श्लो० ११२)। उस बाण के छूटते ही भूतल पर गिरते हुये उन तीनों पुरों का महान आर्तनाद प्रगट हुआ। महादेव ने उन असुरों को भस्म करके उन्हें पश्चिमी समुद्र में डाल दिया (श्लो० ११३–११४)। देवों ने तब महादेव की स्तुति की और अपने-अपने स्थानों को चले गये (श्लो० ११७–११८):

अब इस आख्यान का, दुर्योधन, शल्य को कर्ण का सारथि बनाने के आग्रह के लिये व्यवहार करता है (श्लो० १२० और बाद)। वह कहता है कि कृष्ण, कर्ण, और अर्जुन तीनों से शल्य श्रेष्ठ हैं, तथा युद्ध में कर्ण महादेव के समान है। इस प्रकार सारथि के रूप में शल्य ब्रह्मा के समान होंगे। शल्य को और अधिक उत्साहित करने के लिये वह घोर तपस्या द्वारा परशुराम के महादेव से दिव्यास्त्र प्राप्त करने की कथा का भी वर्णन करता है। परशुराम की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव प्रगट हुये और परशुराम से कहा : 'जब तुम पवित्र हो जाओगे तब तुम्हे मेरे अस्त्र प्राप्त हो जायेंगे।' (श्लो० १३२ और बाद)। महादेव के ऐसा कहने पर परशुराम ने पुन: तपस्या आरम्भ की (श्लो० १३६)। अन्ततः महादेव ने परशुराम को बुलाकर दैत्यों के वध का भार सौंपा (श्लो० १४४)। परशुराम ने इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करके महादेव से दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिया। (श्लो० १५० और बाद)। दुर्योधन ने बताया कि उन्हीं परशुराम ने कर्ण को धनुर्वेद की शिक्षा दी है (श्लो० १५७)। इस आधार पर दुर्योधन ने कहा कि उसे कर्ण के सूतपुत्र होने पर विश्वास नहीं होता। वह निश्चित रूप से क्षत्रिय कुल में उत्पन्न देवपुत्र है क्योंकि क्या कोई हरिणी सिंह को जन्म दे सकती है ? (श्लो० १६० और बाद)। तदनन्तर ब्रह्मा के महादेव के सारथि होने के आख्यान की पुन: चर्चा करते हुये दुर्योधन शल्य से कर्ण का सारथि बनने का आग्रह करता है। यद्यपि पहले शल्य ने वचन दे दिया था, तथापि अब वह अपने निर्णय पर सङ्कोच करते प्रतीत होते हैं और कहते हैं कि उन्होंने स्वयं भी इस कथा को पहले सुना था। उन्होंने यह भी कहा कि भूत और भविष्य के ज्ञाता कृष्ण ने भी इस आख्यान को अवश्य सुना होगा और इसी से वे अर्जुन के सारथि बने है (८.३५,२ और बाद)। शल्य यह भी कहते हैं कि यदि कर्ण अर्जुन का वध

कर देगा तो श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध करेंगे। शंख, चक्र, गदा से युक्त होकर कृष्ण तब दुर्योधन की सम्पूर्ण सेना को भस्म कर देंगे और कोई भी उनके सामने टिक नहीं सकेगा (श्लो० १० और बादः यदि हन्याच् च कौन्तेय सूत-पुत्रः कथञ्चन। दृष्ट्वा पार्थ हि निहतं स्वय योत्स्यति केशवः। शङ्ख-चक्र-गदा-पाणिर् धक्ष्यते तव वाहिनीम्। न चापि तस्य क्रुद्धस्य वार्ष्णेयस्य महात्मनः। स्थास्यते प्रत्यनीकेपु कश्चिद् अत्र नृपस् तव)। उत्तर देता हुआ दुर्योधन कर्ण तथा स्वय शल्य की विशेष शक्तियों और क्षमताओं की प्रशंसा करता है: श्लो० २३ और बाद: त्वम् शल्य-भूत. शत्रूणाम् अविषह्यः पराक्रमे। ततस् त्वम् उच्यसे राजन शल्य इत्य् अरि-सूदन। तव बाहु-बलम् प्राप्य न शेकु. सर्व सात्त्वताः। तव बाहु-बलाद् राजन् किन्तु कृष्णो बलाधिकः। यथा हि कृष्णेन बलं धार्यं वै फाल्गुने हते। तथा कर्णात्ययीभावे त्वया धार्यम् महद् बलम्। किमर्थं समरे सैन्य वासुदेवो न्यवारयेत्। किमर्थं च भवान् सैन्यं न हनिष्यति मारिप। "शत्रुसूदन नरेश! आप पराक्रम प्रगट करते समय शत्रुओं के लिये असह्य हो उठते हैं; उनके लिये आप शल्यभूत है, इसीलिये आपको शल्य कहा जाता है।[१७०] राजन्! आपके बाहुबल को सामने पाकर सम्पूर्ण सात्वतवंशी क्षत्रिय कभी युद्ध में टिक नहीं सके हैं। क्या आपके बाहुबल से श्रीकृष्ण का बाहुबल अधिक है? जैसे अर्जुन के मारे जाने पर श्रीकृष्ण पाण्डव-सेना की रक्षा करेंगे उसी प्रकार यदि कर्ण मारा गया तो आपको मेरी विशाल वाहिनी का संरक्षण करना होगा। मान्यवर! वसुदेवनन्दन कृष्ण क्यों कौरव सेना का निवारण करेंगे और क्यों आप पाण्डव-सेना का वध नहीं करेंगे?" तब शल्य पुनः प्रायः उन्हीं शब्दों[१७१] में उत्तर देते हैं जिनमें उन्होंने पहले ३२,६३.६४ में अपने को व्यक्त किया था: ३५,२८ ' 'मानद! गान्धारीनन्दन! तुम सम्पूर्ण सेना के आगे जो मुझे देवकीपुत्र श्रीकृष्ण से श्रेष्ठतर बता रहे हो उससे मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं यशस्वी कर्ण का सारथ्य करूँगा, इत्यादि।" शल्य के एक ही

---

[१७०] ८ ३२,५७ मे प्राय इन्ही शब्दो मे इन्ही बातो को कहा गया है: शल्य-भूतस् तु शत्रूणा यस्मात् त्वम् युधि मानद। तस्मात् शल्यो हि ते नाम कथ्यते पृथिवी-तले।' इस बात का दोहराया जाना ३२ वें अध्याय से ३५ वे अध्याम के २२ वें श्लोक तक के विषय के प्रक्षिप्त होने का एक और प्रमाण प्रस्तुत करता है।

[१७१] एकमात्र अन्तर इतना है कि प्रथम स्थल (३२, ६३) के 'मध्ये सैन्यस्य कौरव' शब्दो को यहाँ 'अग्रे सैन्यस्य मानद' कर दिया गया है।

वक्तव्य का, ब्रह्मा को सारथि बनाकर महादेव द्वारा असुरों पर विजय के, और परशुराम द्वारा दिव्यास्त्र प्राप्त करने के आख्यानों के बाद दोहराया जाना, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इन आख्यानों के प्रक्षिप्त होने को सम्भव बना देता है। यतः शल्य ३२, ६३.६४ में पहले ही कर्ण का सारथि बनने की सहमति प्रगट कर चुके थे अतः ब्रह्मा तथा महादेव के आख्यान का विस्तार से उल्लेख किया जाना सर्वथा अनावश्यक है, जब कि इसका ८.३२, ७.८ में एक सक्षिप्त उल्लेख पहले भी किया जा चुका है, और जब यहाँ इसके बाद केवल शल्य की स्वीकृति पुनः पहले के ही शब्दों में प्राप्त की गई है।

४. महाभारत के विभिन्न अंशों में कृष्ण तथा अर्जुन को पूर्व समय के ऋषि, नारायण और नर, कहा गया है जो सदैव साथ-साथ ही रहते हैं। महाभारत में भी इन दोनों व्यक्तियों के बीच ऐसा ही घनिष्ट सम्बन्ध सर्वत्र लक्षित होता है। इन दोनों की पूर्ववर्ती घनिष्टता इस स्थल[१७२] से स्पष्ट होगी, जिसमें, फिर भी, इन दोनों ऋषियों को सदैव अलौकिक अथवा दिव्य शक्तियों से युक्त कहा गया है।

वनपर्व (१२,१ और बाद) में यह कहा गया है कि जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के अन्य मित्रों के साथ वन में उनसे (पाण्डवों से) मिलने के लिये आये तो उस समय इन लोगों ने दुर्योधन के व्यवहार की तीव्र भर्त्सना की : तब श्रीकृष्ण को शान्त करते हुये अर्जुन ने उनके पूर्वजन्मों के पराक्रमों, तपों और दैत्यों तथा दानवों के वध आदि कार्यों का (श्लो० ११ और बाद), उनके विविध रूपों का (श्लो० २१.२२), उनके तीन पादक्षेप (श्लो० २६)[१७३] और उनके द्वारा विभिन्न शत्रुओं के विनाश का (श्लो० २९) वर्णन किया। तदनन्तर अर्जुन आगे इस प्रकार कहते हैं :

महा० ३.१२, ३७ और बाद युगान्ते सर्व-भूतानि सक्षिप्य मधुसूदन। आत्मनैवात्मसात् कृत्वा जगद् आसी. परन्तप। युगादौ तव वार्ष्णेय नाभि-पद्माद् अजायत। ब्रह्मा चराचर-गुरुर् यस्येदं सकलं जगत्। तं हन्तुम् उद्यतौ घोरौ दानवौ मधु-कैटभौ। तयोर् व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः। ललाटाज् जातवान् शम्भुः शूलपाणिस् त्रिलोचनः। इत्थं ताव् अपि देवेशौ तच्-छरीर-समुद्भवौ। तन-नियोग-करान् एताव् इति मे नारदोऽब्रवीत्। तथा नारायण पुरा क्रतुभिर् भूरि-दक्षिणैः। इष्टवास् त्वम् महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने। नैवम् पूर्वे नापरे वा करि-

[१७२] देखिये द्रोणपर्व का एक स्थल जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

[१७३] देखिये ऊपर।

ष्यन्ति कृतानि वा। यानि कर्माणि देव त्वम् बाल एव महाबलः। कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेव–सहायवान्। कैलास-भवने चापि ब्राह्मणैर् न्यवसः सह। वैशम्पायन उवाच। एवम् उक्त्वा महात्मानम् आत्मा कृष्णस्य पाण्डवः। तूष्णीम् आसीत् ततः पार्थम् इत्य् उवाच जनार्दनः। ममैव त्व तवैवाहं ये मदीयास् तवैव ते। यस् त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस् त्वाम् अनु स माम् अनु। नरस् त्वम असि दुर्धर्ष हरिर् नारायणो ह्य् अहम्। काले लोकम् इमम् प्राप्तौ नर-नारायणाव् ऋषी। अनन्यः पार्थ मत्तस् त्वं त्वत्तश् चाहं तथैव च। नावयोर् अन्तरम् शक्यं वेदितुम् भरतर्षभ।

"परंतप मधुसूदन! प्रलयकाल में समस्त भूतों का सहार करके इस जगत् को स्वयं ही अपने भीतर रखकर आप अकेले ही रहते हैं। वार्ष्णेय! सृष्टि के आदिकाल में आप के नाभिकमल से चराचर गुरु ब्रह्मा उत्पन्न हुये, जिनका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् है। जब ब्रह्मा उत्पन्न हुये उस समय दो भयंकर असुर, मधु और कैटभ, उनके प्राण लेने को उद्यत हुये। उनका यह अत्याचार देख कर क्रोध में भरे आप श्रीहरि के ललाट से भगवान शङ्कर का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके हाथों में त्रिशूल शोभित था। उनके तीन नेत्र थे। इस प्रकार वे दोनों देव, ब्रह्मा और शिव, आपके ही शरीर से उत्पन्न हुये हैं। वे दोनों आपकी ही आज्ञा का पालन करनेवाले हैं, यह बात मुझे नारद ने बतायी थी। नारायण श्रीकृष्ण! इसी प्रकार पूर्वकाल में चैत्ररथवन के भीतर आपने प्रचुर दक्षिणाओं से सम्पन्न अनेक यज्ञों तथा महासत्रों का अनुष्ठान किया था। पुण्डरीकाक्ष! आप महाबलवान हैं। बलदेव आपके नित्य सहायक हैं। आपने बचपन में ही जो-जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पुरुषों ने न तो किया है और न करेंगे। आप ब्राह्मणों के साथ कुछ काल तक कैलास पर्वत पर भी रहे हैं। वैशम्पायन कहते हैं: जनमेजय! कृष्ण के आत्मस्वरूप पाण्डुनन्दन अर्जुन उन महात्मा से ऐसा कह कर चुप हो गये। तब जनार्दन ने कुन्तीकुमार से इस प्रकार कहा: 'पार्थ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ।[१७४] जो मेरे हैं वे तुम्हारे ही हैं। जो तुमसे द्वेष रखता है वह मुझ से भी द्वेष रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल है वह मेरे भी अनुकूल है। दुर्धर्ष वीर!

---

[१७४] अतः नर और नारायण, अथवा अर्जुन और कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध को पाश्चात्य देशो मे सुप्रचलित डेविड और जोनाथन, पिलेड्स और ओरेस्टीज, तथा दामन और पिथिआ की घनिष्ठ मित्रताओ का समानान्तर उदारण माना जा सकता है।

तुम नर हो और मैं नारायण श्रीहरि हूँ। इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोक में आये हैं। पार्थ! तुम मुझ से अभिन्न हो, और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ! हम दोनों का भेद जाना नहीं जा सकता।"

पुनः, वनपर्व में यह कहा गया है कि दिव्यास्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से अर्जुन, इन्द्र के परामर्श पर (३ ३७,५६ और वाद), महादेव के दर्शनार्थ उत्तर में हिमालय पर्वत पर गये (३.०८,१० और वाद)। हिमालय पर पहुँच कर अर्जुन ने घोर तपस्या की। तदनन्तर वहाँ के ऋषिगण, जो अर्जुन की तपस्या के उद्देश्य से अपरिचित थे, महादेव के पास आये (३८,२८)। महादेव ने उन ऋषियों को आश्वस्त करते हुये कहा कि अर्जुन की तपस्या से भय का कोई कारण नहीं है क्योंकि उसका उद्देश्य स्वर्ग, आयु, अथवा ऐश्वर्य आदि कुछ नहीं। ऋषियों के चले जाने पर महादेव ने अपना धनुष-वाण उठाया और किरात के वेश में अर्जुन के पास आये (३.३९,१ और वाद)। उसी समय सूअर के रूप में एक दानव अर्जुन को मार डालने का उपाय कर रहा था। उसे देखकर अर्जुन वाण से उसे मारने के लिये उद्यत हुये। उस समय किरात ने अर्जुन से कहा कि यतः उसने पहले से ही उस सूअर को अपना लक्ष्य बना रक्खा है अत. पहले उसे ही प्रहार करने का अवसर मिलना चाहिये, किन्तु अर्जुन इस बात के लिये सहमत नहीं हुये। फलस्वरूप दोनों ने ही एक साथ वाण छोड़ा जिससे सूअर की मृत्यु हो गई। इस पर अर्जुन ने किरात पर आक्षेप करते हुये कहा कि उसने मृगया के धर्म का उल्लङ्घन किया है (न ह्य् एष मृगया-धर्मो यस् त्वयाऽद्य कृतो मयि) अतः वे (अर्जुन) उसे (किरात को) जीवन से वञ्चित कर देंगे। तब किरात ने कहा कि उसी ने पहले दानव का वध किया है और अब अर्जुन का भी वध करेगा। तदनन्तर अर्जुन तथा किरातरूपधारी महादेव का युद्ध होता है (श्लोक ३१ और वाद)। दोनों ने युद्ध में वाण, खड्ग, वृक्ष, शिलाओं इत्यादि का खुलकर प्रयोग किया। अन्ततः महादेव ने अपने अंगों से दबाकर अर्जुन को पीड़ा देते हुये निर्जीव सा कर दिया (श्लोक ६१ और वाद)। चेतना लौटने पर अर्जुन ने महादेव की पूजा की, और फिर किरातरूपी शङ्कर के चरणों पर गिर पड़े। महादेव ने अर्जुन के अनुपम पराक्रम से अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें अपना पाशुपतास्त्र दिया जिसके उपयोग के लिये अर्जुन को उन्होंने सर्वथा उपयुक्त माना। कथा तब आगे इस प्रकार अग्रसर होती है :

महा० ३.३९,७२ और वाद : ततो देवम् महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम्। ददर्श फाल्गुनस् तत्र सह देव्या महाद्युतिम्। स जानुभ्याम् महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च। प्रसादयामास हरम् पार्थः पर-पुरञ्जयः।

अर्जुन उवाच। "कपर्दिन् सर्वदेवेश भग-नेत्र-निपातन। देव-देव महा-देव नील-ग्रीवा जटाधर। कारणाञ्च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम्। देवानाञ्च गति देवत्वत्-प्रसूतम् इदं जगत्। अजेयस् त्वम् त्रिभिर् लोकैः स-देवा-सुर-मानुषैः। शिवाय विष्णु रूपाय विष्णवे शिव रूपिणे। दक्ष-यज्ञ-विनाशाय हरि-रुद्राय वै नमः। ललाटाक्षाय सर्वाय मीलहुषे शूल-पाणये। पिनाक-गोप्त्रे सूर्याय मङ्गल्याय च वेधसे। प्रसादये त्वाम् भगवान् सर्व-भूत-महेश्वर। गणेशं जगतः शम्भुं लोक कारण-कारणम्। प्रधान-पुरुषातीतम् पर सूक्ष्मतरम् हरम्।

"तदनन्तर अर्जुन ने शूलपाणि महातेजस्वी महादेव का पार्वती सहित दर्शन किया। शत्रुओं की राजधानी पर विजय पानेवाले पार्थ ने उनके समक्ष पृथिवी पर घुटने टेक दिये और प्रणाम करके उन्हें प्रसन्न किया। अर्जुन बोले: 'जटा-जूटधारी सर्वेश्वर देवदेव महादेव! आप भगदेवता के नेत्रों का विनाश करनेवाले हैं। आपकी ग्रीवा में नीला चिह्न शोभित हो रहा है। आप अपने मस्तक पर सुन्दर जटा धारण करते है। प्रभो! मैं आपको समस्त कारणों में सर्वश्रेष्ठ कारण मानता हूँ। आप त्रिनेत्रधारी तथा सर्वव्यापी हैं। सम्पूर्ण देवताओं के आश्रय हैं। देव! यह सम्पूर्ण जगत् आप से ही उत्पन्न हुआ है। देवता, असुर, और मनुष्यों सहित तीनों लोक भी आपको पराजित नहीं कर सकते। आप ही विष्णु-रूप शिव तथा शिव-स्वरूप विष्णु हैं। आपको नमस्कार। दक्ष-यज्ञ का विनाश करनेवाले हरिहर रूप आप को नमस्कार। आपके ललाट में तृतीय नेत्र शोभा पाता है। आप जगत् के संहारक होने के कारण शर्व कहलाते हैं। भक्तों की अभीष्ट कामनाओं की वर्षा करने के कारण आपका नाम मीढ्वान है। अपने हाथ में त्रिशूल धारण करनेवाले, आपको नमस्कार। पिनाकरक्षक, सूर्यस्वरूप, मङ्गलकारक, और सृष्टिकर्त्ता आप परमेश्वर को नमस्कार। भगवन्! सर्वभूत-महेश्वर! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप भूतगणों के स्वामी, सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करनेवाले तथा जगत् के कारण के भी कारण है। प्रकृति और पुरुष दोनों से परे आप अत्यन्त सूक्ष्म-स्वरूप तथा भक्तों के पापों का हरण करनेवाले हैं।"

तब महादेव अर्जुन का आलिङ्गन करने के बाद इस प्रकार कहते हैं:

महा० ३.४०,१ और बाद: देवदेव उवाच। नरस् त्वम् पूर्व-देहे वै नारायण सहायवान्। बदर्यां तप्तवान् उग्रं तपो वर्षायुतान् बहून्। त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे। युवाभ्याम् पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्य्यते जगत्। शक्राभिषेके सुमहद् धनुर् जलद-निःस्वनम्। प्रगृह्य

दानवाः शरतास त्वया कृष्णेन च प्रभो, इत्यादि । "देवदेव ने कहा : तुम पूर्वशरीर में नर नामक सुप्रसिद्ध ऋषि थे । नारायण तुम्हारे सखा हैं । तुमने बदरिकाश्रम में अनेक सहस्र वर्षों तक उग्र तपस्या की है । तुममें अथवा पुरुषोत्तम विष्णु में उत्कृष्ट तेज है । तुम दोनों पुरुषरत्नों ने अपने तेज से इस सम्पूर्ण जगत को धारण कर रक्खा है । प्रभो ! तुमने और श्रीकृष्ण ने इन्द्र के अभिषेक के समय मेघ के समान गम्भीर घोष करनेवाले महान् धनुष को हाथ में लेकर अनेक दानवों का वध किया था, इत्यादि ।"

तब महादेव अर्जुन को वर माँगने के लिये कहते हैं । अर्जुन पाशुपतास्त्र (श्लोक ८) माँगते हैं और महादेव उन्हें यह अस्त्र देते हैं (श्लो० १५)। फिर भी, महादेव ने अर्जुन को चेतावनी देते हुये कहा कि उस पाशुपतास्त्र का जल्दीबाजी में बिना सोचे-समझे प्रयोग नहीं होना चाहिये अन्यथा वह सम्पूर्ण लोकों को नष्ट कर देगा । तदनुसार आश्वासन देकर अर्जुन उस अस्त्र को प्राप्त करते हैं (श्लो० १९ और बाद ।

पुनः, उद्योगपर्व में यह कहा गया है कि भीष्म ने दुर्योधन को सूचित किया कि एक समय विभिन्न देवता ब्रह्मा के पास उपस्थित हुये थे । कथा तब आगे इस प्रकार चलती है :

महा० ५.४९, ४ और बाद : नमस्कृत्योपजग्मुस् ते लोक-वृद्धम् पितामहम् । परिवार्य च विश्वेशम् पर्यासत दिवौकसः । तेषाम् मनश् च तेजश्चाप्य् आददानाव् इवौजसा । पूर्व-देवौ व्यतिक्रान्तौ नर-नारायणाव् ऋषी । बृहस्पतिस् तु पप्रच्छ ब्रह्माण काव् इमाव् इति । भवन्त नोपतिष्ठेते तौनः शंस पितामह । ब्रह्मा उवाच । याव् एतौ पृथिवीं द्यांश्च भासयन्तौ तपस्विनौ । ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ । नर-नारायणाव् एतौ लोकाल् लोक समास्थितौ । ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्व-पराक्रमौ । एतौ हि कर्मणा लोक नन्दयामासतुर् ध्रुवम् । द्विधा-भूतौ महा-प्रज्ञौ विद्धि ब्रह्मन् परन्तपौ । असुरानां विनाशाय देव-गन्धर्व-पूजितौ । वैशम्पायन उवाच । जगाम शक्रस् तच् छ्रुत्वा यत्र तौ तेपतुस् तप. । सार्द्धं देवगणैः सर्वैर् बृहस्पति-पुरोगमैः । तदा देवासुरे युद्धे भये जाते दिवौकसाम् । अयाचत महात्मानौ नर-नारायणौ वरम् । ताव् अब्रूता वृणीष्वेति तदा भरत-सत्तम । अथैताव् अब्रवीच् छक्रः सह्य नः क्रियताम् इति । ततस् तौ शक्रम् अब्रूता करिष्यावो यद् इच्छसि । ताभ्यांश्च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्य-दानवान् । नर इन्द्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून् परन्तप । पौलोमान् कालकञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च । एष भ्रान्ते रथे तिष्ठम् भल्लेनापाहरच् छिरः । जम्भस्य ग्रसमाणस्य तदा

ह्य् अर्जुनम् आहवे। एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरम् आरुजत्। जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान् रणे। एष देवान् सहेन्द्रेण जित्वा परपुरञ्जयः। अतर्पयद् महाबाहुर् अर्जुनो जातवेदसम्। नारायणस् तथैवात्र भूयशोऽन्यान् जघान ह। एवम् एतौ महा-वीर्यौ तौ पश्यत समागतौ। वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ। नर-नारायणौ देवौ पूर्व देवाव् इति श्रुतिः। अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैर् अपि सुरासुरैः। एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश् च नरः स्मृतः। नारायणो नरश् चैव सत्त्वम् एक द्विधा—कृतम्। एतौ हि कर्मणा लोकान् अश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान्। तत्र तत्रैव जायते युद्ध-काले पुनः पुनः। तस्मात् कर्मैव कर्त्तव्यम् इति होवाच नारदः। एतद् हि सर्वम् आचष्ट वृष्णि—चक्रस्य वेद-वित्। शङ्ख-चक्र-गदा-हस्तम् यदा द्रक्ष्यसि केशवम्। पर्याददानं चास्त्राणि भीम-धन्वानम् अर्जुनम्। सनातनौ महात्मानौ कृष्णाव् एक—रथे स्थितौ। दुर्योधन तदा तात स्मर्त्तासि वचनम् मम।

"ये सब देवता संसार के बड़े-बूढ़े पितामह ब्रह्मा के पास गये और उन्हें प्रणाम करने के पश्चात् उन लोकेश्वर को घेरकर बैठ गये। इसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्ति तथा ओज से उन सबके चित्त और तेज का अपहरण-सा करते हुये उस स्थान को लाँघकर चले गये। यह देखकर बृहस्पति ने ब्रह्मा से पूछा : 'पितामह! ये दोनों कौन हैं, जिन्होंने आपका अभिनन्दन भी नहीं किया। हमें इनका परिचय दीजिये।' ब्रह्मा बोले : 'बृहस्पते! ये जो दोनों महान् शक्तिशाली तपस्वी पृथिवी और आकाश को प्रकाशित करते हुये हम लोगों का अतिक्रमण करके आगे बढ़ गये हैं, नर और नारायण हैं। ये अपने तेज से प्रज्वलित और अपनी कान्ति से प्रकाशित हो रहे हैं। इनका धैर्य और पराक्रम महान है। ये अपनी तपस्या से अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण भूलोक से ब्रह्मलोक में आये हैं। इन्होंने अपने सत्कर्मों से निश्चय ही सम्पूर्ण लोकों का आनन्द बढ़ाया है। ब्रह्मन्! ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले हैं। इन्होंने एक होते हुये भी असुरों का विनाश करने के लिये दो शरीर धारण किये हैं। देवता और गन्धर्व सभी इनकी पूजा करते हैं।' वैशम्पायन कहते हैं : 'जनमेजय! ब्रह्मा की यह बात सुनकर इन्द्र, बृहस्पति आदि सब देवताओं के साथ उस स्थान पर गये जहाँ उन दोनों ने तपस्या की थी। उन दिनों देवासुर-संग्राम उपस्थित था और उसमें देवताओं को महान् भय प्राप्त हुआ था। उन लोगों ने उन दोनों महात्मा नर नारायण से वरदान माँगा। भरतश्रेष्ठ! देवताओं की प्रार्थना सुनकर उस समय उन दोनों ऋषियों ने इन्द्र से कहा : 'तुम्हारी जो इच्छा

हो उसके अनुसार वर माँगो।' तब इन्द्र ने कहा : 'भगवन्! आप हमारी सहायता करें।' तब नर-नारायण ऋषियों ने इन्द्र से कहा : 'देवराज! तुम जो कुछ चाहते हो वह हम करेंगे।' फिर उन दोनों को साथ लेकर इन्द्र ने समस्त दैत्यों और दानवों पर विजय प्राप्त की। एक समय शत्रुओं को सताप देनेवाले नर-रूप अर्जुन ने युद्ध में इन्द्र से शत्रुता रखनेवाले सैकड़ों और हजारों पौलोम एवं कालखञ्ज नामक दानवों का संहार किया। उस समय ये नरस्वरूप अर्जुन सब ओर चक्कर लगानेवाले रथ पर बैठे हुये थे, तो भी इन्होंने सबको अपना ग्रास बनानेवाले जम्भ[१७५] नामक असुर का मस्तक अपने भल्ल से काट गिराया। इन्होंने ही संग्राम में साठ-हज़ार निवातकवचों को पराजित करके समुद्र के उस पार बसे हुये दैत्यों के हिरण्यपुर नामक नगर को नष्ट कर डाला। शत्रुओं के नगर पर विजय प्राप्त करनेवाले इन महाबाहु अर्जुन ने खाण्डवदाह के समय इन्द्र-सहित समस्त देवताओं को जीतकर अग्नि देव को पूर्णत: तृप्त किया था। इसी प्रकार नारायणस्वरूप कृष्ण ने भी खाण्डवदाह के समय दूसरे बहुत से हिंसक प्राणियों को यमलोक पहुँचाया था। इस प्रकार ये दोनों महान पराक्रमी हैं। दुर्योधन! इस समय ये दोनों एक दूसरे से मिल गये हैं, इस बात को तुम लोग भली-प्रकार देख तथा समझ लो। परस्पर मिले हुये महारथी वीर कृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर और नारायण ही हैं, यह बात सुविख्यात है। इस मनुष्य-लोक में इन्हें इन्द्र-सहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं, परन्तु लोकहित के लिये दो शरीर धारण करके प्रगट हुये हैं। ये दोनों अपने सत्कर्म के प्रभाव से अक्षय एवं ध्रुव लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहित के लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्ध का अवसर आता है, तब तब वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं। दुष्टों का दमन करके साधु-पुरुषों एव धर्म का सरक्षण ही इनका कर्त्तव्य है—ये सारी बातें वेदों के ज्ञाता नारद ने समस्त वृष्णिवंशियों के सम्मुख कही थीं। वत्स दुर्योधन! जब तुम देखोगे कि दोनों सनातन महात्मा कृष्ण और अर्जुन एक ही रथ पर बैठे हैं, कृष्ण के हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा है, और भयंकर धनुष धारण करनेवाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे हैं, तब तुम्हें मेरी बातों का स्मरण होगा।"

इसी उद्योग पर्व के एक अन्य अध्याय (९६ वे) में यह कहा गया है कि कौरवों को पाण्डवों के प्रति सद्भाव दिखाने के लिये प्रेरित करते हुये परशुराम

---

[१७५] एक दानव का नाम है जो, आगे पुन आयेगा।

ने अर्जुन तथा कृष्ण की महत्ता का वर्णन करते हुये नर और नारायण की एक और कथा सुनाई। परशुराम ने बताया कि पूर्व समय में दम्भोद्भव नाम से प्रसिद्ध एक सार्वभौम सम्राट थे जिन्हें अपनी शक्ति तथा पराक्रम का अत्यन्त गर्व था। कुछ निर्भय एवं विद्वान ब्राह्मणों ने जब उन राजा को बताया कि नर और नारायण नामक दो ऋषि ऐसे हैं जो पराक्रम में उनसे श्रेष्ठ हैं, तब वह अपनी सेना लेकर गन्धमादन पर्वत पर आये जहाँ उन्होंने उन दोनों ऋषियों को देखा। उन्होंने उन ऋषियों से युद्ध करने की इच्छा प्रगट की। राजा की बात सुन कर उन ऋषियों ने कहा: 'हमारे इस आश्रम में कभी युद्ध नहीं होता। इस पृथिवी पर अनेक क्षत्रिय हैं, अतः आप कहीं और जाकर अपनी युद्ध की अभिलाषा पूर्ण कीजिये।' जब दम्भोद्भव ने उन ऋषियों से युद्ध करने का अपना निश्चय नहीं बदला और उन पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी तब नर ने सींकों से ही राजा की सेना को बींध दिया। इस प्रकार सींक के बाणों से ही नर ने दम्भोद्भव के सैनिकों की आंखों, कानों, और नासिकाओं को बींध डाला। राजा दम्भोद्भव सींकों से भरे समूचे आकाश को श्वेत हुआ देखकर मुनि के चरणों में गिर पड़े और कल्याण की याचना माँगने लगे। तब नर ने उनसे भविष्य में नम्र, ब्राह्मण-हितैषी, और धर्मात्मा बनने का आदेश देकर उन्हें मुक्त कर दिया। तब से राजधानी लौटकर राजा, नर के आदेशानुसार, धर्मात्मा बन कर रहने लगे।

इसी विषय से सम्बद्ध अगला स्थल द्रोणपर्व से लिया गया है:

महा० ७.११, २८ और बाद: अर्जुनः केशवस्यात्मा कृष्णोऽप्य् आत्मा किरीटिनः। अर्जुने विजयो नित्य कृष्णे कीर्तिश्च शाश्वती। सर्वेष्व् अपि च लोकेषु बीभत्सुर् अपराजितः। प्राधान्येनैव भूयिष्ठम् अमेयाः केशवे गुणाः। मोहाद् दुर्योधनो कृष्णं यो न वेत्तीह केशवम्। मोहितो दैव-योगेन मृत्यु-पाश-पुरस्कृतः। न वेद कृष्णं दाशार्हम् अर्जुनं चैव पाण्डवम्। पूर्व-देवौ महात्मानौ नर-नारायणाव् उभौ। एकात्मानौ द्विधा-भूतौ दृश्येते मानुषैर् भुवि। मनसाऽपि हि दुर्धर्षौ सेनाम् एतां यशस्विनौ। नाशयेताम् इहेच्छन्तौ मानुषत्वाच् च नेच्छतः।

"अर्जुन श्रीकृष्ण के आत्मा हैं और कृष्ण किरीटिधारी अर्जुन के आत्मा हैं। अर्जुन में विजय नित्य विद्यमान है और कृष्ण में कीर्त्ति का सनातन निवास है। अर्जुन सम्पूर्ण लोकों में कभी कहीं भी पराजित नहीं हुये है। श्रीकृष्ण में असंख्य गुण हैं। यहाँ प्रायः प्रधान गुणों के ही नाम लिये गये हैं। दुर्योधन मोहवश केशव को नहीं जानता। वह दैवयोग से मोहित होकर मृत्यु के पाश में फँस गया है। यह दशार्ह कृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन को नहीं

जानता। वे दोनों पूर्वदेवता महात्मा नर और नारायण हैं। उनकी आत्मा तो एक है किन्तु इस भूतल के मनुष्यों को वे शरीर से दो होकर दृष्टिगत होते हैं। उन्हें मन से भी पराजित नहीं किया जा सकता। वे यशस्वी कृष्ण और अर्जुन यदि इच्छा करें तो मेरी सेना को तत्काल नष्ट कर सकते हैं; परन्तु मानव-भाव का अनुसरण करने के कारण वे ऐसी इच्छा नहीं करते।" पुनः, भीष्म पर्व (६५, ३५ और बाद) में भीष्म दुर्योधन को पाण्डवों से समझौता कर लेने के लिये प्रेरित करते हैं क्योंकि उनके अनुसार श्रीकृष्ण से रक्षित होकर पाण्डव अजेय हैं। श्रीकृष्ण की दिव्य महानता का उदाहरण देते हुये भीष्म ब्रह्मा द्वारा उनकी स्तुति करने की एक कथा सुनाते हैं जिसमें ब्रह्मा ने उनसे दैत्यों के विनाश, लोकों की रक्षा तथा धर्म की स्थापना के लिये यदुवंश में अवतार लेने की प्रार्थना की थी। ब्रह्मा को आश्वासन देकर विष्णु अन्तर्धान हो जाते हैं। उस समय वहाँ उपस्थित देवताओं के ब्रह्मा से यह पूछने पर कि उन्होंने अभी किसकी स्तुति की थी, ब्रह्मा इस प्रकार उत्तर देते हैं :

महा० ६.६६,६ और बाद : यत् तत् परम् भविष्यच्च भविता यच्च यत् परम्। भूतात्मा यः प्रभुश् चैव ब्रह्म यच् च परम् पदम्। तेनास्मि कृत-संवेद प्रसन्नेन सुरर्षभाः। जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्-पतिः। "मानुषं लोकम् आतिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः। असुराणाम् वधा-र्थाय सम्भवस्व महीतले। संग्रामे निहता ये ते दैत्य-दानव-राक्षसाः। ते इमे नृषु सम्भूता घोर-रूपा महाबलाः। तेषाम् वधार्थम् भगवान् नरेण सहितो बली। मानुषीम् योनिम् आस्थाय चरिष्यसि मही-तले।" नर-नारायणौ तौ तु पुराणाव् ऋषि-सत्तमौ। अजेयौ हि रणे यौ तौ समेतैर् अमरैर् अपि। सहितौ मानुषे लोके सम्भूताव् अमित-द्युती। मूढास् ते तौ न जानन्ति नर-नारायणाव् ऋषी। यस्याहम् आत्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पतिः। वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्व-लोक-महेश्वरः। तथा मनुष्योऽयम् इति कदाचित् सुर-सत्तमाः। नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्ख-चक्र-गदाधरः। एतत् परमकं गुह्यम् एतत् परमकम् पदम्। एतत् परमकम् ब्रह्म एतत् परमकं यशः। एतद् अक्षरम् अव्यक्तम् एतच् छाश्वतम् एव च। एतत् पुरुष-संज्ञो वै गीयते ज्ञायते न च। एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम्। एतत् परमकं सत्यं कीर्त्तितं विश्व-कर्मणा। तस्मात् सुरासुरैः सर्वैः सेन्द्रैश् चामित-विक्रमः। नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयम् इति प्रभो। यश् च मानुष-मात्रोऽयम् इति ब्रूयात् स मन्दधीः। हृषीकेशम् अवज्ञानात् तम् आहुः पुरुषाधमम्। तं योगि-

नम् महात्मानम प्रविष्टम् मानुषीं तनुम्। योऽवमन्येद् वासुदेवं तम् आहुस् तामसं जनाः। देवं चराचरात्मान श्रीवत्साकं सुवर्चसम्। पद्मनाभं न जानाति तम् आहुस् तामसं जनाः। किरीट-कौस्तुभ-धरम् मित्राणाम् अभयङ्करम्। अवजानम् महात्मानं घोरे तमसि मज्जतिः।...३०. वारितोऽसि पुरा तात मुनिभिर् भावितात्मभिः। मा गच्छ सयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना। पाण्डवैः सार्धम् इति यत् तत् त्वम् मोहाद् न बुध्यसे। मन्ये त्वा राक्षस क्रूरं तथा चासि तमोवृतः। तस्माद् द्विषसि गोविन्दम् पाण्डवञ्च धनञ्जयम्। नर-नारायणाव् देवौ कोऽन्यो द्विष्याद् हि मानवः।

"श्रेष्ठ देवताओ! जो परमतत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं, तथा जो इन सबसे विलक्षण है, जिन्हें सम्पूर्ण भूतों का आत्मा और सर्वशक्तिमान प्रभु कहा गया है, जो परमब्रह्म और परम पद के नाम से विख्यात हैं—उन्हीं परमात्मा ने मुझे दर्शन देकर मुझ से बातचीत की है। मैने उन जगदीश्वर से सम्पूर्ण जगत् पर कृपा करने के लिये यों प्रार्थना की कि 'प्रभो! आप वासुदेव नाम से विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्य लोक में रहें और असुरों के वध के लिये भूतल पर अवतीर्ण हों।' जो-जो दैत्य, दानव, तथा राक्षस संग्रामभूमि में मारे गये थे वे मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुये हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत् के लिये भयकर बन बैठे है। उन सब का वध करने के लिये सबको वशीभूत करनेवाले भगवान नारायण नर के साथ मनुष्य योनि में अवतीर्ण होकर भूतल पर विचरण करेंगे। ऋषियों में श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमित तेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानव-लोक में अवतीर्ण होंगे। युद्धभूमि में यदि वे विजय के लिये यत्नशील हों तो सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य उन नर-नारायण ऋषि को नहीं जान सकेंगे। सम्पूर्ण जगत् का स्वामी मैं ब्रह्मा, उन भगवान् का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगों को उन सर्वलोकेश्वर भगवान् वासुदेव की आराधना करनी चाहिये। सुरश्रेष्ठगण! शख, चक्र, और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेव का 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझ कर अनादर नहीं करना चाहिये। ये भगवान् ही परम गुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं। ये ही पुरुष नाम से कहे जाते हैं; किन्तु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्मा के द्वारा परम सुख, परम तेज, और परम सत्य कहे गये हैं। इसलिये 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझ कर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसार के मनुष्यों को अमित पराक्रमी भगवान् वासुदेव की अवहेलना नहीं करनी

चाहिये। जो सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्वामी इन वासुदेव को केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है, हृषीकेश की अवहेलना करने के कारण उसे पुरुषाधम कहा गया है। वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्ति से सम्पन्न होने के कारण उन्होंने मानव शरीर में प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं। जो चराचर स्वरूप उत्तम कान्ति से सम्पन्न भगवान् पद्मनाभ को नहीं जानता उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते है। जो किरीट और कौस्तुभ मणि धारण करनेवाले तथा मित्रों को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्मा की अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरक में डूबता है।...तात! वेदों के पारङ्गत विद्वान् महर्षियों ने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान वासुदेव के साथ विरोध न करो, पाण्डवों से युद्ध न करो, परन्तु मोहवश तुमने इन बातों का कोई मूल्य नहीं समझा। मैं समझता हूँ कि तुम कोई क्रूर राक्षस हो, क्योंकि राक्षसों के ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुण से आच्छन्न रहती है। तुम गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनञ्जय से द्वेष करते हो। वे दोनों ही नर और नारायण देव हैं। तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है।"[१७८]

अगला स्थल शान्तिपर्व से लिया गया है जिसमें कृष्ण को, पूर्वसमय के उनके अनेक कर्मों का वर्णन करने के पश्चात्, यह कहते हुये व्यक्त किया गया है:

महा० १२.३४२, १०५ और बाद: पुराऽहम आत्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे। धर्मस्य कुरुशार्दूल ततोऽह धर्मजः स्मृतः। नर-नारायणौ पूर्व तपस् तेपतुर् अव्ययम्। धर्म-यान समारूढौ पर्वते गन्धमादने। तत्-काल समये चैव दक्ष यज्ञो बभूव ह। न चैवाकल्पयद् भागं दक्षो रुद्रस्य भारत। ततो दधीचि-वचनाद् दक्ष-यज्ञम् अपाहरत्। ससर्ज शूल कोपेन प्रज्वलन्तम् मुहुर् मुहु'। तच् छूलम् भस्मसात् कृत्वा दक्षयज्ञ स विस्त-रम्। आवयोः सहसाऽऽगच्छद् बदर्य्-आश्रमम् अन्तिकात्। वेगेन महता पार्थ पतद् नाराणोरसि। ततस् तत्-तेजसाऽऽविष्टाः केशा नारा-यणस्य ह। बभूवुर् मुञ्जवर्णास् तु ततोऽहम् मुञ्ज-केशवान्। तच्च शूल विनिर्धूतं हुकारेण महात्मना। जगाम शङ्कर-कर नारायण समाहतम्। अथ रुद्र उपाधावत् ताव् ऋषी तपसाऽन्वितौ। तत एनं समुद्भूत कण्ठे जग्राह पाणिना। नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शिति-कण्ठता। अथ

---

[१७८] इस स्थल का वाद-विवादात्मक उद्देश्य प्रतीत होता है और ऐसे समकालीन लेखको को लक्ष्य करके लिखा गया है जो कृष्ण को बहुत ऊँचा स्थान नही देते थे।

रुद्र-विघातार्थम् इषीकां नर उद्धरत्। मन्त्रैश् च संयुयुजाशु सेऽभवत् परशुर् महान्। क्षिप्तश् च सहसा तेन खण्डनम् प्राप्तवांस् तदा। ततोऽहं [ऽयं ?] खण्डपरशुः स्मृतः परशुखण्डनात्।······तयोः संलग्नयोर् युद्धे रुद्र-नारायणात्मनोः। उद्विग्नाः सहसा कृत्स्नाः सर्व-लोकास् तदाऽभवन्। नागृह्णात् पावकः शुभ्रम् मखेषु सुहुतं हविः। वेदा न प्रतिभान्ति स्म् ऋषीणाम् भावितात्मनाम्। देवान् रजस् तमश् चैव समाविविशितुस् तदा। वसुधां सचकम्पे च नभश् च विपफाल ह। निष्प्रभाणि च तेजांसि ब्रह्मा चैवासन-च्युतः। अगाच् छोषं समुद्रश च हिमवांश् व्यशीर्य्यत। तस्मिन्न् एव समुत्पन्ने निमित्ते पाण्डुनन्दन। ब्रह्मा वृतो देव-गणैर् ऋषिभिश् च महात्मभिः। आजगामाशुभ देशं यत्र युद्धम् अवर्त्तत। सोऽञ्जलि-प्रग्रहो भूत्वा चतुर् वक्त्रो निरुक्त-गः। उवाच वचनं रुद्रं "लोकानाम् अस्तु वै शिवम्। न्यस्यायुधानि विश्वेश जगतो हित-काम्यया। यद् अक्षरम् अथाव्यक्तम् ईश लोकस्य भावनम्। कूटस्थं कर्त्तृ-निर्द्वन्द्वम् अकर्त्तेति च यं विदुः व्यक्ति-भाव-गतस्यास्य एका मूर्त्तिर् इयं शुभा। नरो नारायणश् चैव जातौ धर्म-कुलोद्वहौ। तपसा महता युक्तौ देव-श्रेष्ठौ महाव्रतौ। अहम् प्रसाद-जस तस्य कुतश्चित् कारणान्तरे त्वं चैव क्रोध-जस तात पूर्व-सर्गे सनातनः। मया च सार्द्धं वरदं विबुधैश् च महर्षिभिः। प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर् भवतु मा चिरम्"। ब्रह्मणा त्व् एवम् उक्तस् तु रुद्रः क्रोधाग्निम् उत्सृजन्। प्रसादयामास ततो देवं नारायणम् प्रभुम्। शरण्यं च जगामाद्यं वरेण्य वरदम प्रभुम्। ततोऽथ वरदो देवो जित-क्रोधो जितेन्द्रियः। प्रीतिमान् अभवत् तत्र रुद्रेण सह संगतः। ऋषिभिर् ब्रह्मणा चैव विबुधैश् च सुपूजितः। उवाच देवम् ईशानम् ईशः स जगतो हरिः। "यस त्वा वेत्ति स मां वेत्ति यस् त्वाम् अनु स माम् अनु। नावयोर् अन्तर किञ्चिद् मा ते भूद् बुद्धिर् अन्यथा। अद्य-प्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्व् अयम्। मम पाण्य्-अंकिताश् चापि श्रीकण्ठस् त्वम् भविष्यसि"। एवं लक्षणम् उत्पाद्य परस्पर-कृतं तदा। सख्य चैवातुलं कृत्वा रुद्रेण सहिताव् ऋषी। तपस् तेपतुर् अव्यग्रौ विसृज्य त्रिदिवौकसः। एष ते कथितः पार्थ नारायण-जयो मृधे। नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत। ऋषिभिः कथितानीह यानि संकीर्त्तितानि ते। एवम् बहु विधैः रूपैश चरामीह वसुन्धराम्। ब्रह्म-लोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम्। मया त्वं रक्षितो युद्धे महान्तम् प्राप्तवान् जयम्। यस् तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्य् उप-स्थिते। तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देव-देवम् कपर्द्दिनम्। कालः स एव कथितः

क्रोधजेति मया तव। निहतास् तेन वै पूर्वं हतवान् असि यान् रिपून्। अप्रमेय-प्रभाव तं देव-देवम् उमापतिम्। नमस्व देवम् प्रयतो विश्वेशम् हरम् अक्षयम्। इत्यादि।

"कुरुश्रेष्ठ! पार्थ! पूर्वकाल में किसी कारणवश मैं धर्म के पुत्ररूप से प्रसिद्ध हुआ था। इसीलिये मुझे 'धर्मज' कहा गया है। पहले नर और नारायण ने जब धर्ममय रथ पर आरूढ़ होकर गन्धमादन पर्वत पर अक्षय तप किया था, उसी समय प्रजापति दक्ष का यज्ञ आरम्भ हुआ। भारत! उस यज्ञ में दक्ष ने रुद्र के लिये भाग नहीं दिया था; इसलिये दधीचि के कहने से रुद्रदेव ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर डाला। रुद्र ने क्रोधपूर्वक अपने प्रज्वलित त्रिशूल का बारम्बार प्रयोग किया। वह त्रिशूल दक्ष के विस्तृत यज्ञ को भस्म करके सहसा बदरिकाश्रम में हम दोनों (नर-नारायण) के निकट आ पहुँचा। पार्थ! उस समय नारायण के वक्ष पर वह त्रिशूल अत्यन्त वेग से आ-गिरा। उससे निकलते हुये तेज के लपेट में आकर नारायण के केश मूँज के समान रंगवाले हो गये। इससे मेरा नाम मुञ्जकेश हो गया। तब महात्मा नारायण ने हुंकार-ध्वनि के द्वारा उस त्रिशूल को पीछे हटा दिया। नारायण के हुंकार से प्रतिहत होकर वह शङ्कर के हाथ में चला गया। यह देख कर रुद्र तपस्या में लगे उन ऋषियों पर टूट पड़े। तब विश्वात्मा नारायण ने अपने हाथ से उन आक्रमणकारी रुद्रदेव का गला पकड़ लिया। इसी से उनका कण्ठ नील हो जाने के कारण वे 'शितिकण्ठ' के नाम से प्रसिद्ध हुये। इसी समय रुद्र का विनाश करने के लिये नर ने एक सींक निकाली और उसे मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके शीघ्र ही छोड़ दिया। वह सींक एक बहुत बड़े परशु के रूप में परिणत हो गई। नर का चलाया वह परशु सहसा रुद्र के द्वारा खण्डित कर दिया गया। मेरे परशु का खण्डन हो जाने से मैं खण्ड-परशु कहलाया।' ... अर्जुन! रुद्र और नारायण जब इस प्रकार परस्पर युद्ध में संलग्न हो गये, उस समय सम्पूर्ण लोकों के सम्पूर्ण प्राणी सहसा उद्विग्न हो उठे। अग्निदेव यज्ञों में विधिपूर्वक होम किये गये विशुद्ध हविष्य को भी ग्रहण नहीं कर पाते थे। पवित्रात्मा ऋषियों को वेद का स्मरण नहीं हो पाता था। उस समय देवताओं में रजोगुण और तमोगुण का आवेश हो गया। पृथ्वी काँपने लगी और आकाश विचलित हो गया। समस्त तेजस्वी पदार्थ निष्प्रभ हो गये। ब्रह्मा अपने आसन से गिर पड़े। सागर सूखने लगे और हिमालय पर्वत विदीर्ण होने लगा। पाण्डुनन्दन! ऐसे अपशकुन प्रगट होने पर ब्रह्मा देवताओं तथा महात्मा ऋषियों को साथ लेकर शीघ्र उस स्थान पर आये जहाँ युद्ध हो रहा था। निरुक्तगम्य भगवान् चतुर्मुख ने करबद्ध हो कर रुद्र देव से

कहा : 'प्रभो ! समस्त लोकों का कल्याण हो। विश्वेश्वर ! आप जगत के हित की कामना से अपने हथियार रख दें। जो सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक, अविनाशी और अव्यक्त ईश्वर हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष कूटस्थ, निर्द्वन्द्व, कर्ता और अकर्त्ता मानते हैं, व्यक्त भाव को प्राप्त हुये उन्हीं परमेश्वर की यह एक कल्याणमयी मूर्ति है। धर्मकुल में उत्पन्न हुये ये दोनों महाव्रती देवश्रेष्ठ नर और नारायण महान तपस्या से युक्त हैं। किसी निमित्त से उन्हीं नारायण के कृपा-प्रसाद से मेरा जन्म हुआ है। तात ! आप भी पूर्वसर्ग मे उन्हीं भगवान् के क्रोध से उत्पन्न हुये सनातन पुरुष हैं।[१७७] वरद ! आप देवताओं और महर्षियों के तथा मेरे साथ शीघ्र इन भगवान् को प्रसन्न कीजिये, जिससे सम्पूर्ण जगत् में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो।' ब्रह्मा के ऐसा कहने पर रुद्र ने अपनी क्रोधाग्नि का त्याग किया। फिर आदिदेव, वरेण्य, वरदायक, सर्वसमर्थ, भगवान् नारायण को प्रसन्न किया और उनकी शरण ली। तव क्रोध और इन्द्रियों को जीत लेनेवाले वरदायक देवता नारायण वहाँ वड़े प्रसन्न हुये और रुद्र देव से गले मिले। तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और ब्रह्मा से अत्यन्त पूजित हो जगदीश्वर श्री हरि ने रुद्र से कहा : 'प्रभो ! जो तुम्हें जानता है वह मुझे भी जानता है। जो तुम्हारा अनुगामी है वह मेरा भी अनुगामी है।[१७८] हम दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। तुम्हारे मन में इसके विपरीत विचार नहीं होना चाहिये। आज से तुम्हारे शूल का यह चिह्न मेरे वक्षःस्थल में 'श्रीवत्स' के नाम से प्रसिद्ध होगा और तुम्हारा कण्ठ मेरे हाथ के चिह्न से अंकित होने के कारण तुम भी 'श्रीकण्ठ' कहलाओगे।' पार्थ ! इस प्रकार अपने-अपने शरीर में एक दूसरे के द्वारा किये हुये ऐसे लक्षण उत्पन्न करके वे दोनों ऋषि रुद्र के साथ अनुपम मैत्री स्थापित कर देवताओं को विदा करने के पश्चात् शान्तचित्त हो पूर्ववत् तपस्या करने लगे। इस प्रकार मैंने तुम्हें युद्ध में नारायण की विजय का वृत्तान्त वताया है। भारत ! मेरे जो गोपनीय नाम हैं, उनकी व्युत्पत्ति मैंने बताई है। ऋषियों ने मेरे जो नाम निश्चित किये हैं उनका भी मैंने तुमसे वर्णन किया है। कुन्तीनन्दन् ! इस प्रकार अनेक तरह के रूप धारण करके मैं इस पृथ्वी पर विचरण करता हूँ, ब्रह्मलोक में रहता हूँ, और सनातन गोलोक में विहार करता हूँ। मुझसे सुरक्षित होकर तुमने महाभारत युद्ध में महान् विजय प्राप्त की है। कुन्तीनन्दन ! युद्ध उपस्थित होने पर जो

---

[१७७] देखिये शान्तिपर्व से नीचे उद्धृत एक अन्य स्थल।

[१७८] यही भाव एक अन्य स्थल पर भी प्रगट हुये हैं जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

पुरुष तुम्हारे आगे-आगे चलते थे, उन्हें तुम जटा-जूटधारी देवाधिदेव रुद्र समझो। उन्हीं को मैंने तुमसे क्रोध द्वारा उत्पन्न बताया है। वे ही काल कहे गये हैं। तुमने जिन शत्रुओं को मारा है वे पहले ही रुद्र के हाथ से मार दिये गये थे। उनका प्रभाव अप्रमेय हैं। तुम उन देवाधिदेव, उमापति, विश्वनाथ, पापहारी, एवं अविनाशी महादेव को संयत चित्त होकर नमस्कार करो।

पुनः, शान्तिपर्व में वैशम्पायन जनमेजय से यह बताते है कि किस प्रकार श्वेतद्वीप से लौटने पर नारद ने नर और नारायण नामक दो ऋषियों का दर्शन किया था :

महा० १२.३४४,३३ और बाद : निपपात च खात् तूर्णं विशालां बदरीम् अनु। ततः स ददृशे देवौ पुराणाव् ऋषिसत्तमौ। तपश् चरन्तौ सुमहद् आत्म-निष्ठौ महा-व्रतौ। तेजसाऽभ्यधिकौ सूर्यात् सर्व-लोक-विरोचनात्। श्रीवत्स-लक्षणौ पूज्यौ जटा-मण्डल-धारिणौ। जाल-पाद-भुजौ तौ तु पादयोस् चक्र-लक्षणौ। व्यूढोरस्कौ दीर्घ-भुजौ तथा मुष्क-चतुष्किनौ। षष्टि-दन्ताव्-अष्ट-दंष्ट्रौ मेघौघ-सदृश-स्वनौ। स्वास्यौ पृथुललाटौ च सुभ्रू सु-हनु-नासिकौ। आतपत्रेण सदृशे शिरसी देवयोस् तयोः। एवं लक्षणः सम्पन्नौ महा-पुरुष-सञ्ज्ञितौ। तौ दृष्ट्वा नारदो हृष्टस् ताभ्यं च प्रतिपूजितः। स्वागतेनाभिभाष्याथ पृष्टश् चानामयं तथा। बभूवान्तर्-गत-मतिर् निरीक्ष्य पुरुषोत्तमौ।

"वह बद्री-विशालतीर्थ के समीप तत्काल आकाश से नीचे उतर पडे। वहाँ उन्होंने उन दोनों पुरातन देवता ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण का दर्शन किया जो आत्मनिष्ठ हो महान व्रत लेकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। वे दोनों सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करनेवाले सूर्य से भी अधिक तेजस्वी थे। उन पूज्य महात्माओं के वक्षस्थल मे श्रीवत्सचिह्न सुशोभित हो रहे थे और वे अपने मस्तक पर जटामण्डल धारण किये हुये थे। उनके हाथों में हंस का और चरणों मे चक्र का चिह्न था। विशाल वक्षःस्थल, बडी बड़ी भुजायें, अण्डकोश में चार-चार बीज, मुख में साठ दांत और आठ दाढें, मेघ के समान गम्भीर स्वर, सुन्दर मुख, चौडे ललाट, बाँकी भौंहें, सुन्दर ठोढ़ी, और मनोहर नासिका से उन दोनों की अपूर्व शोभा हो रही थी। उन दोनों देवताओं के मस्तक छत्र के समान प्रतीत होते थे। ऐसे शुभ लक्षणों से सम्पन्न उन दोनों महापुरुषों का दर्शन करके नारद जी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। भगवान नर और नारायण ने भी नारद का स्वागत-सत्कार करके उनका कुशल-समाचार पूछा। तदनन्तर नारदजी उन दोनों पुरुषोत्तमों की ओर देखकर मन ही मन विचार करने लगे।" नारदजी को स्मरण हो आया कि उन्होंने इन दोनों महात्माओं को

पहले श्वेतद्वीप में भी देखा था। तव नर-नारायण भी नारद से पूछते हैं: 'क्या तुमने इस समय श्वेतद्वीप में जाकर हम दोनों के परम कारणरूप सनातन परमात्मा भगवान् के दर्शन कर लिये हैं।' नारद ने वताया कि उन्होंने परमात्मा का दर्शन कर लिया है। नारद ने आगे कहा: 'मैं इस समय भी आप दोनों सनातन पुरुषों को देखकर यहीं श्वेतद्वीप-निवासी भगवान की झाँकी कर रहा हूँ। वहाँ मैंने अव्यक्त रूपधारी श्रीहरि को जिन लक्षणों से सम्पन्न देखा था, आप दोनों व्यक्त रूपधारी पुरुष भी उन्हीं लक्षणों से सुशोभित है (श्लो० ४८ और वाद: अद्यापि चैनम् पश्यामि युवाम् पश्यन् सनातनौ। यैर् लक्षणैर् उपेतः स हरिर् अव्यक्त-रूप-धृक्। तैर् लक्षणैर् उपेतौ हि व्यक्त-रूपधरौ युवाम्। दृष्टो युवाम् मया तत्र तस्य देवस्य पार्श्वतः)। दोनों के वीच कुछ और वार्तालाप होता है जिसके वाद यह कहा गया है कि नारद एक सहस्रदिव्य वर्षों तक नर और नारायण के आश्रम में रहकर उनकी उपासना करते रहे।

५. अगले स्थल पर (जिस पर लासन ने इण्डियन ऐण्टीक्विटीज़, १.६२१ और वाद, तथा पृ० ६२२[१७१] नोट, में टिप्पणी की है) यह कहा गया है कि

[१७१] उनकी टिप्पणी इस प्रकार है: "महाभारत मे कृष्ण का इतिहास उनके ग्वालो के वीच व्यतीत वाल्यावस्था का, तथा अपनी अनेक पत्नियो के साथ उनकी क्रीडा आदि का वर्णन नही करता। दूसरी ओर यहाँ अनेक राजाओं पर इनकी विजयो का ऐसा उल्लेख है जिनका ऐतिहासिक महत्व नही है। इनसे केवल इतना ही प्रतीत होता है कि यादव लोग प्राचीन भारत मे अन्य जातियो से अक्सर युद्ध करते रहते थे। इनके गुणों के एक सक्षिप्त उल्लेख मे इन्हे गोविन्द (गायो का अधिपति) कहते हुये यह भी कहा गया है कि ये ग्वालो के वीच वढे थे। यहाँ गोपियो के साथ की इनकी किसी भी क्रीड़ा का उल्लेख नही है। एक अन्य कथा ऐसी अवश्य है जिनमे गायो के रक्षक के रूप मे ये एक ऐसे दानव का वध करते हैं जो वृषभ के वेश मे गायो का वध किया करता था। नन्द के पुत्र के रूप में इनका वास्तविक तथा प्राचीनतम नाम सम्भवत. गोविन्द था। एसी भी कथायें रही होगी जिनमे गायो के नायक के रूप मे इन्हे व्यक्त किया गया होगा क्योकि ये दुर्योधन की प्रार्थना पर उसे सहस्रो गोप देते है। ये गोप युद्ध मे वहुत कम भाग लेते है, और इनका कही-कही ही उल्लेख है। देखिये उद्योगपर्व श्लोक १३० और वाद। द्रोणपर्व ३२५५ और वाद भी देखिये जहाँ नारायणी गोपो के काम्वोजो इत्यादि के साथ कर्ण द्वारा पराजित हुये होने का उल्लेख है (नारायणश् च गेपाला काम्वोजानाञ्च ये गणा.। कर्णेन विजिता'।)

श्रीकृष्ण में असाधारण शक्ति तथा अलौकिक गुण थे। फिर भी इन्हें, एक या दो स्थानों को छोड़कर, परमात्मा के रूप में व्यक्त नहीं किया गया है।

कृष्ण द्वारा रक्षित पाण्डवों के कौरवों से पराजित होने की कितनी कम सम्भावना थी, इसे दिखाने के लिये धृतराष्ट्र यादवश्रेष्ठ कृष्ण के पराक्रमों का वर्णन करते हैं :

महाभारत ७. ११, १ और बाद : धृतराष्ट्र उवाच। शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय। कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित्। सम्वर्द्धता गोप-कुले बालेनैव महात्मना। विख्यापितम् बलम् बाह्वोस् त्रिषु लोकेषु सञ्जय। उच्चैःश्रवस्-तुल्य-बलं वायुवेगसमं जवे। जघान हय राजान यमुना-वन-वासिनम्। दानव घोरकर्माणं गवाम् मृत्युम् इवोत्थिम्। वृष-रूप-धरम् बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह। प्रलम्बं नरकं जम्भम् पीठ वाऽपि महासुरम्। मुरं चामर-संकाशम् अवधीत् पुष्करेक्षणः। तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः। विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे। सुनामा रण-विक्रान्त. समग्राक्षौहिणी-पतिः। भोज-राजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान्। बलदेव-द्वितीयेन कृष्णेनामित्र-घातिना। तरस्वी समरे दग्धः स-सैन्यः शूरसेनराट्। दुर्वासा नाम विप्रर्षिस् तथा परम-कोपनः। आराधितः सदारेण स चस्मै प्रददौ वरान्। तथा गान्धार-राजस्य सुतां वीरः स्वयंवरे। निर्जित्य पृथिवी पालान् आवहत् पुष्करेक्षणः। अमृष्यमाणा राजानो यस्य जात्या हया इव। रथे वैवाहिके युक्ताः प्रतोदेन कृत-व्रणाः। जरासन्धम् महा-बाहुम् उपायेन जनार्दनः। परेण घातयामास समग्राक्षौहिणी-पतिम्। चेदिराजञ्च विक्रान्तं राज-सेना-पतिम् बली। अर्घे विवदमानञ्च जघान पशु-वत् तदा। सौभ दैत्य-पुरं स्वस्थ साल्व-गुप्तं दुरासदम्। समुद्र-कुक्षौ विक्रम्य पातयामास माधवः।··· १६. प्रविश्य मकरावासं यादोभिर् अभिसवृतम्। जिगाय वरुण संख्ये सलिलान्तर्गतम् पुरा। युधि पञ्चजनं हत्वा पाताल-तल-वासिनम्। पाञ्चजन्यं हृषीकेशो दिव्यां शङ्खम् अवा-प्तवान्। खाण्डवे पार्थ-सहितस् तोषयित्वा हुताशनम्। आग्नेयम् अस्त्रं दुर्धर्षं चक्रं लेभे महाबलः। वैनतेयं समारुह्य त्रासयित्वाऽमरावतीम्। महेन्द्र भवनाद् वीरः पारिजातम् उपानयत्। तच्च मर्षितवान् शक्रो जानस् तस्य पराक्रमम्। राज्ञां चाप्य् अजितं कञ्चित् कृष्णेनेह न शुश्रुम। यच्च तद् महद् आश्चर्यं सभायाम् मम सञ्जय। कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस् तद्-अन्य इहार्हति। लब्ध-भक्त्या प्रसन्नोऽहम् अद्राक्ष कृष्णम् ईश्वरम्। तद् मे सुविदितं सर्वम् प्रत्यक्षम् इव चागमम्।

नान्तं विक्रम-युक्तस्य बुध्या युक्तस्य वा पुनः। कर्मणा शक्यते गन्तुं हृषीकेशस्य सञ्जय। तथा गदश् च शम्बश्च प्रद्युम्नोऽथ विदूरथः।... २६. एतेऽन्ये बलवन्तश् च वृष्णि-वीराः प्रहारिणः। कथञ्चित् पाण्डवानीकं श्रयेयुः समरे स्थिताः। आहूता वृष्णि वीरेण केशवेन महात्मना। ततः संशयितं सर्वम् भवेद् इति मतिर् मम। नागायुतबलो वीरः कैलासशिखरोपमः। वन-माली रामस् तत्र यत्र जनार्दनः। यम आहुः सर्व-पितरं वासुदेव द्विजातयः। अपि वा ह्य् एष पाण्डुना योत्स्यतेऽर्थाय सञ्जय। स यदा तात सन्नह्येत् पाण्डवार्थाय सञ्जय। न तदा प्रतिसंयोद्धा भविता तत्र कश्चन। यदि स्म कुरव' सर्वे जयेयुर् नाम पाण्डवान्। वार्ष्णेयोऽर्थाय तेषा वै गृह्णीयात् शस्त्रम् उत्तमम्। ततः सर्वान्नर-व्याघ्रो हत्वा नर-पतीन् रणे। कौरवाश् च महाबाहुः कुन्त्यै दद्यात् स मेदिनीम्। यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जयः। रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद् रथ.। न केनचिद् उपायेन कुरूणां दृश्यते जयः। तस्माद् मे सर्वम् आचद्व यथा युद्धम् अवर्त्तत।[१८०]

"धृतराष्ट्र बोले : सञ्जय! वसुदेवनन्दन कृष्ण के दिव्य कर्मों का वर्णन सुनो। गोविन्द ने जो-जो कार्य किये है उन्हें अन्य कोई पुरुष कदापि नहीं कर सकता। सञ्जय! बाल्यावस्था में ही जब वे गोपकुल में पल रहे थे, उन्होंने अपनी भुजाओं के बल और पराक्रम को तीनों लोकों में विख्यात कर दिया था। यमुना के तटवर्ती वन में उच्चैःश्रवा के समान बलशाली और वायु के समान वेगवान् अश्वराज केशी रहता था। उसे कृष्ण ने मार डाला। इसी प्रकार एक भयकर कर्म करने वाला दानव वहाँ वृषभ का रूप धारण करके रहता था, जो गायों के लिये मृत्यु के समान प्रगट हुआ था। उसे भी कृष्ण ने बाल्यवस्था में अपने हाथों से ही मार डाला। तत्पश्चात् कृष्ण ने प्रलम्ब, नरकासुर, जम्भासुर, पीठ नामक महान असुर, और यमराज-सदृश मुर का भी संहार किया। शत्रुहन्ता कृष्ण ने बलराम के साथ जाकर युद्ध में पराक्रम दिखानेवाले, बलवान्, वेगवान्, सम्पूर्ण अक्षौहिणी सेनाओं के अधिपति भोजराज कंस के मझले भ्राता शूरसेन देश के राजा सुनामा को समर में सेना सहित दग्ध कर डाला। पत्नी सहित कृष्ण ने परम क्रोधी ब्रह्मर्षि दुर्वासा की आराधना की और उन्हें प्रसन्न करके वर प्राप्त किये।[१८१]

---

[१८०] धृतराष्ट्र के वक्तव्य के अन्त मे एक कहावत जैसा यह श्लोक आता है श्लो० ४८. 'पक्वाना हि बधे सूत वज्रायन्ते तृणान्य् अपि।' "जो काल से परिपक्व हो गये है उनके वध के लिये तृण भी वज्र बन जाता है।"

[१८१] देखिये अनुशासन पर्व से ऊपर उद्धृत इसकी कथा।

कमलनयन वीर कृष्ण ने स्वयंवर[१८०] में गान्धारराज की पुत्री को प्राप्त करके समस्त राजाओं को जीत कर उसके साथ विवाह किया। उस समय अच्छी जाति के अश्वों की भाँति कृष्ण के वैवाहिक रथ में जुते हुये वे असहिष्णु राजा लोग कोड़ों के प्रहार से आहत कर दिये गये थे। जनार्दन ने समस्त अक्षौहिणी सेनाओं के अधिपति महाबाहु जरासन्ध को उपाय-पूर्वक दूसरे योद्धा द्वारा मरवा दिया।[१८२] बलवान् कृष्ण ने राजाओं की सेना के अधिपति, पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल को अग्र-पूजन के समय विवाद करने के कारण पशु की भाँति मार डाला। तत्पश्चात माधव ने आकाश में स्थित रहनेवाले सौभ नामक दुर्धर्ष दैत्यनगर को, जो राजा शाल्व द्वारा सुरक्षित था, समुद्र के बीच पराक्रम करके मार गिराया। १९. पूर्वकाल मे कृष्ण ने जल-जन्तुओं से भरे हुये समुद्र में प्रवेश करके जल के भीतर निवास करनेवाले वरुण देवता को युद्ध में परास्त किया। इसी प्रकार हृषीकेश ने पाताल-निवासी पञ्चजन नामक दैत्य को युद्ध में मारकर दिव्य पाञ्चजन्य शङ्ख प्राप्त किया। खाण्डव वन में अर्जुन के साथ अग्निदेव को सन्तुष्ट करके महाबली कृष्ण ने दुर्धर्ष आग्नेयास्त्र, चक्र, को प्राप्त किया था।[१८४] वीर कृष्ण ने गरुड़ पर आरूढ होकर अमरावतीपुरी में जाकर वहाँ के निवासियों को भयभीत किया तथा महेन्द्रभवन से पारिजात उठा ले आये।[१८५] उनके पराक्रम को इन्द्र अच्छी तरह जानते थे, इसलिये उन्होंने इस सब कुछ को चुपचाप सहन कर लिया। राजाओं में से किसी को भी मैंने ऐसा नहीं सुना है जिसे कृष्ण ने न जीत लिया हो। सञ्जय! उस दिन मेरी सभा में पुण्डरीकाक्ष कृष्ण ने जो महान् आश्चर्य प्रगट किया था उसे इस संसार में उनके अतिरिक्त और कौन कर सकता है? मैंने प्रसन्न होकर भक्तिभाव से श्रीकृष्ण के उस ईश्वरीय रूप का जो दर्शन किया था वह सब मुझे आज भी भली प्रकार स्मरण है। मैंने उन्हें प्रत्यक्ष की भाँति जान लिया था। सञ्जय! बुद्धि और पराक्रम से युक्त हृषीकेश के कर्मों का

---

[१८०] लासन (इण्डि० १६२२, नोट) का विचार है कि इस कथा का कुछ वास्तविक आधार भी है। आप कहते हैं कि गान्धारराज नग्नजित का ऐतरेय ब्राह्मण ७ ३४ मे उल्लेख है। देखिये कोलमिस० ए० १४६, और प्रस्तुत कृति का द्वितीय भाग भी।

[१८२] सभापर्व (श्लो० ८४८ और बाद) मे इस कथा को देखा जा सकता है।

[१८४] देखिये आदिपर्व (श्लो० ८१९६) जहाँ यह कथा मिलती है।

[१८५] देखिये विलसन का विष्णु पुराण, पृ० ५८५ और बाद।

अन्त नहीं जाना जा सकता। यदि गद, साम्ब, प्रद्युम्न, विदूरथ (यहाँ अन्य योद्धाओं की एक सूची है) आदि तथा दूसरे भी बलवान् एवं प्रहार-कुशल वृष्णिवशी योद्धा, वृष्णि वंश के प्रमुख वीर महात्मा केशव के बुलाने पर पाण्डव-सेना में आ जायें और समर-भूमि में खड़े हो जायँ तो हमारा सारा उद्योग संशय में पड़ जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है। वनमाला और हल धारण करनेवाले वीर बलराम कैलास-शिखर के समान गौरवर्ण हैं। उनमें दस हज़ार हाथियों का बल है। वे भी उसी पक्ष में रहेंगे जहाँ श्रीकृष्ण हैं। सञ्जय! जिन भगवान् वासुदेव को द्विजगण सबका पिता बताते हैं क्या वे पाण्डवों के लिये स्वयं युद्ध न करेंगे? तात! सञ्जय! जब पाण्डवों के लिये कृष्ण कवच बाँधकर युद्ध के लिये तैयार हो जायेंगे उस समय वहाँ कोई भी योद्धा उनका सामना करने को तैयार न होगा। यदि सब कौरव पाण्डवों को जीत लें तो वृष्णिवंश-भूषण कृष्ण उनके हित के लिये अवश्य उत्तम शस्त्र ग्रहण कर लेंगे। उस दशा में पुरुषसिंह महाबाहु कृष्ण सब राजाओं तथा कौरवों को रणभूमि में मार कर सारी पृथिवी कुन्ती को दे देंगे। जिसके सारथि सम्पूर्ण इन्द्रियों के नियन्ता कृष्ण तथा योद्धा अर्जुन हैं, रणभूमि में उस रथ का सामना करनेवाला दूसरा कौन रथ होगा? किसी भी उपाय से कौरवों की विजय नहीं प्रतीत होती। इसलिये तुम मुझसे सब समाचार कहो। वह युद्ध किस प्रकार हुआ"।

इसके बाद 'अर्जुनः केशवस्यात्मा' आदि शब्दों से आरम्भ होनेवाले श्लोक आते हैं जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

श्रीकृष्ण के पराक्रमों का एक अन्य विवरण उद्योगपर्व में मिलता है। वहाँ यह वर्णन किया गया है कि सञ्जय को दूत बनाकर पाण्डवों के पास भेजा गया। वहाँ से लौट कर संजय ने कौरवों को अर्जुन की चुनौती सुनाया। संजय के अनुसार अर्जुन ने कहा था कि उनके तथा श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करके दुर्योधन को पश्चाताप करना पड़ेगा। तदनन्तर सञ्जय ने अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण की शक्ति के वर्णन का यह वृत्तान्त सुनाया :

महा० ५.४८,६७ और बाद : पूर्वाह्णे मां कृत-जप्यं कदाचिद् विप्रः प्रोवाचोदकान्ते मनोज्ञम्। कर्त्तव्यं ते दुष्कर कर्म पार्थ योधव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन्। इन्द्रो वा ते हरिमान् वज्र-हस्तः पुरस्ताद् यातु समरेऽरीन् विनिघ्नन्। सुग्रीव-युक्तेन रथेन वा ते पश्चात् कृष्णो रक्षतु वासुदेवः। वव्रे चाहं वज्र-हस्ताद् महेन्द्राद् अस्मिन् युद्धे वासुदेवं सहायम्। स मे लब्धो दस्यु-बधाय कृष्णो मन्ये चैतद् विहितं दैवतैर् मे। स बाहुभ्यां सागरम् उत्तितीर्षेद् महोदधिं सलिलस्थाः प्रमेयम्। तेजस्विनं कृष्णम् अत्यन्त-शूरं

युद्धेन यो वासुदेव जिगीषेत्। गिरिं स इच्छेत् तु तलेन भेत्तुं शिलोच्चयं श्वेतम् अतिप्रमाणम्। तस्यैव पाणि. स-नखो विशीर्येद् न चापि किञ्चित् स गिरेस् तु कुर्यात्। अग्नि समिद्ध शमयेद् भुजाभ्या चन्द्रश्च सूर्यश्च निवारयेत। हरेद् देवानाम् अमृतम प्रसह्य युद्धेन यो वासुदेव जिगीषेत्। यो रुक्मिणीम् एक-रथेन भोजान् उत्साद्य राज. समरे प्रसह्य। उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्ती यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा। अय गान्धारास् तरसा सम्प्रमथ्य जित्वा पुत्रान् नग्नजितः समग्रान बद्धम् मुमोच विनदन्तम् प्रसह्य सुदर्शन वै देवतानां ललामम्। अयं कपाटेन जघान पाण्ड्य तथा कलिङ्गान् दन्तकूरे ममर्द। अनेन दग्धा वर्ष पूगान् अनाथा वाराणसी नगरी सम्बभूव। अय स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैर् अजेयं तम् एकलव्यं नाम निषाद-राजम्। वेगेनैव शैलम अभिहत्य जम्भ. शेते स कृष्णेन हत' परासुः। तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टम् वृष्ण्यन्धकानां मध्यगत समा-स्थम्। अपानयद् बलदेव द्वितीयो हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम्। अय सौभं योधयामास स्वस्थम् विभीषणम मायया शाल्वराजम्। सौभ द्वारि प्रत्यगृह्णात शतघ्नीं दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः। प्राग्ज्योतिष नाम बभूव दुर्गम् पुरं घोरं असुराणाम् असह्यम्। महाबलो नरकस् तत्र भौमो जहारादित्या मणि-कुण्डले शुभे। न त देवाः सह शक्रेण शेकु समागता युधि मृत्योर् अभीताः। दृष्ट्वा च त विक्रम केशवस्य बल तथैवास्त्रम अवारणीयम् जानन्तोऽस्य प्रकृति केशवस्य न्ययोजयन् दस्यु-वधाय कृष्णम्। स तत् कर्म प्रतिशुश्राव दुष्करम् ऐश्वर्यवान् सिद्धिषु वासुदेव'। निर्मोचने षट् सहस्राणि हत्वा सञ्छिद्य पाशान् सहसा क्षुरान्तान। मुरं हत्वा विनिहत्यौघ रक्षो निर्मोचनं चापि जगाम वीरः। तत्रैव तेनास्य बभूव युद्धम् महाबलेनातिबलस्य विष्णोः। शेते स कृष्णेन हत' परासुर् वातेनेव मथितः कर्णिकारः। आहृत्य कृष्णो मणिकुण्डले ते हत्वा च भौम नरकम् मुरञ्च। श्रिया वृतो यशसा चैव विद्वान् प्रत्याजगामाप्रतिम प्रभावः। अस्मै वरान् अददस् तत्र देवा दृष्ट्वा भीम कर्म कृतं रणे तत्। "श्रमश् च ते युध्यमानस्य न स्याद् आकाशे चाप्सु च ते क्रमः स्यात। शस्त्राणि गात्रे न च ते क्रमेरन्न्" इत्य् एव कृष्णश् च ततः कृतार्थः। एव-रूपे वासुदेवेऽप्रमेये महाबले गुण-सम्पत् सदैव। तम् असह्य विष्णुम् अनन्त वीर्यम् आशंसते धार्त्तराष्ट्रो विजेतुम्।

"एक दिन की बात है, मैं पूर्वाह्न के समय सध्या-वन्दन एव गायत्री जप करके आचमन के पश्चात् बैठा हुआ था। उस समय एक ब्राह्मण ने आकर एकान्त में मुझ से यह मधुर वचन कहा· 'पार्थ! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है :

सव्यसाचिन् ! तुम्हें अपने शत्रुओं के साथ युद्ध करना होगा। बोलो क्या चाहते हो ? इन्द्र उच्चैःश्रवा अश्व पर बैठकर वज्र हाथ में लिये तुम्हारे आगे-आगे समरभूमि में शत्रुओं का नाश करते हुये चलें अथवा सुग्रीव आदि अश्वों से जुते हुये रथ पर बैठकर वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्ण पीछे की ओर से तुम्हारी रक्षा करें।' उस समय मैंने वज्रपाणि इन्द्र को छोड़कर इस युद्ध में कृष्ण को अपना सहायक चुना था। इस प्रकार इन डाकुओं के वध के लिये मुझे कृष्ण मिल गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं ने ही मेरे लिये ऐसी व्यवस्था कर रक्खी है। कृष्ण युद्ध न करके मन से भी जिस पुरुष की विजय का अभिनन्दन करेंगे वह अपने समस्त शत्रुओं को, भले ही वे इन्द्र आदि देवता ही क्यों न हों, पराजित कर देता है; फिर मनुष्य के लिये चिन्ता ही क्या ? जो युद्ध के द्वारा अत्यन्त शौर्यसम्पन्न तेजस्वी वसुदेवनन्दन कृष्ण को जीतने की इच्छा करता है वह अनन्त अपार जलनिधि समुद्र को दोनों बाँहों से तैरकर पार करना चाहता है। जो अत्यन्त विशाल प्रस्तरराशिपूर्ण कैलास पर्वत को हथेली मार कर विदीर्ण करना चाहेगा उस मनुष्य का नख-सहित हाथ ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह उस पर्वत का कुछ भी बिगाड नहीं सकता। जो युद्ध के द्वारा कृष्ण को जीतना चाहता है वह प्रज्वलित अग्नि को दोनों हाथों से बुझाने की चेष्टा करता है, चन्द्रमा और सूर्य की गति को रोकना चाहता है, तथा हठपूर्वक देवताओं का अमृत हर लाने का प्रयत्न करता है। जिन्होंने एकमात्र रथ की सहायता से युद्ध में भोजवंशी राजाओं को बलपूर्वक पराजित करके सुयश के द्वारा प्रकाशित होनेवाली उस परम सुन्दरी रुक्मिणी को पत्नी-रूप से ग्रहण किया जिसके गर्भ से महामना प्रद्युम्न का जन्म हुआ है। इन कृष्ण ने ही गान्धारदेशीय योद्धाओं को अपने वेग से कुचल कर राजा नग्नजित के समस्त पुत्रों को पराजित किया और वहाँ बन्दीगृह में पड़कर क्रन्दन करते हुये राजा सुदर्शन को, जो देवताओं के भी आदरणीय थे, बन्धनमुक्त किया।[१८८] इन्होंने पाण्ड्य नरेश को किवाड़ के पल्ले से मार डाला, भयकर युद्ध में कलिङ्गदेशीय

---

[१८८] एक भाष्यकार का कथन है कि सुदर्शन एक राजा था। इसने 'देवताना ललामन्' की 'देवतानाम् मध्ये प्रशस्तम्' के रूप मे व्याख्या की है। एक अन्य भाष्यकार का कहना है कि 'ललामम् = शिरोमणिम्'। भागवतपुराण १० ३४,८ और बाद, मे विद्याधर की, जिसे सुदर्शन भी कहते थे, एक कथा है। यह विद्याधर शाप के कारण एक सर्प बन गया था किन्तु श्रीकृष्ण के चरण का स्पर्श होते ही अपने पूर्वरूप मे आ गया।

योद्धाओं को कुचल डाला, तथा इन्होंने ही काशीपुरी को इस प्रकार जलाया कि वह बहुत वर्षों तक अनाथ पड़ी रही। ये भगवान् श्रीकृष्ण उस निषाद-राज एकलव्य को सदा युद्ध के लिये ललकारा करते थे जो दूसरों के लिये अजेय था, परन्तु वह श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होकर सदा के लिये रण-शय्या में सो रहा है—ठीक उसी तरह जैसे जम्भ नामक दैत्य स्वयं ही वेगपूर्वक पर्वत पर आघात करके प्राणशून्य हो महानिद्रा में निमग्न हो गया था। उग्रसेन का पुत्र कंस अत्यन्त दुष्ट था। जब वह भरी सभा में वृष्णि और अन्धक-वंशी क्षत्रियों के बीच बैठा हुआ था, तब श्रीकृष्ण ने बलदेव के साथ वहाँ जाकर उसे मार गिराया। इस प्रकार कंस का वध करके इन्होंने मथुरा का राज्य उग्रसेन को दे दिया। इन्होंने सौभ नामक विमान पर बैठे हुये तथा माया के द्वारा अत्यन्य भयकर रूप धारण करके आये हुये आकाश में स्थित शाल्वराज के साथ युद्ध किया और सौभ विमान के द्वार पर लगी हुई शतघ्नी[१८७] को अपने दोनों हाथों से पकड़ लिया। फिर इनका वेग कौन मनुष्य सह सकता है। असुरों का प्राग्ज्योतिषपुर नाम से प्रसिद्ध एक भयंकर दुर्ग था जो शत्रुओं के लिये सर्वथा अजेय था। वहाँ भूमिपुत्र महाबली नरकासुर निवास करता था जिसने देवमाता अदिति के सुन्दर मणिमय कुण्डल हर लिये थे।[१८८] मृत्यु के भय से रहित देवता इन्द्र के साथ उसका सामना करने के लिये आये परन्तु नरकासुर को युद्ध में पराजित करने में असफल रहे। तब देवताओं ने कृष्ण के अनिवार्य बल, पराक्रम, और अस्त्र को देखकर तथा इनकी दयालु एवं दुष्टदमनकारिणी प्रकृति को जानकर इन्हीं से उक्त दस्यु, नरकासुर, का वध करने की प्रार्थना की। तब समस्त कार्यों की सिद्धि में समर्थ भगवान कृष्ण ने वह दुष्कर कार्य पूर्ण करना स्वीकार किया। फिर वीरवर कृष्ण ने निर्मोचन नगर की सीमा पर जाकर सहसा छः सहस्र लौहमय पाश काट दिये जो तीखी धारवाले थे।[१८९] फिर मुर दैत्य का वध और राक्षस-समूह का नाश करके

---

[१८७] एक आग्नेयास्त्र का नाम है, किन्तु कभी-कभी इसका पाषाण के बने अस्त्रविशेष के रूप मे भी वर्णन किया गया है। वनपर्व मे सौभनगर तथा उसके राजा, दोनो के विनाश का वर्णन है। कृष्ण अपने सुदर्शनचक्र से इस नगर को छिन्न-भिन्न करके स्वय शाल्वो के राजा का वध कर देते हैं। देखिये लासन : इण्डियन ऐन्टीक्विटीज, पृ० ६१५।

[१८८] इस राक्षस की कथा का विष्णुपुराण मे वर्णन है। देखिये विलसन का अनुवाद, पृ० ५८१ और बाद।

[१८९] इन पाशो का विष्णुपुराण (देखिये विलसन का अनुवाद) तथा

निर्मोचन नगर में प्रवेश किया। वहीं उस महावली नरकासुर के साथ अत्यन्त बलशाली कृष्ण का युद्ध हुआ। कृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त कर वह प्राणों से हाथ धो बैठा और आँधी के उखाड़े हुये कनेर[१९०] वृक्ष की भाँति सदा के लिये रणभूमि में सो गया। इस प्रकार अनुपम प्रभावशाली विद्वान् कृष्ण भूमिपुत्र नरकासुर तथा मुर का वध करके देवी अदिति के वे दोनों मणिमय कुण्डल वहाँ से लेकर विजयलक्ष्मी और उज्ज्वल यश से सुशोभित हो अपनी पुरी मे लौट आये। युद्ध में कृष्ण का वह भयंकर पराक्रम देखकर देवताओं ने वहाँ इन्हें इस प्रकार वर दिये : 'केशव! युद्ध करते समय आपको कभी थकावट न हो, आकाश और जल में भी आप अप्रतिहत गति से विचरण करें और आपके अङ्गों में कोई भी अस्त्र शस्त्र क्षति न पहुँचा सकें।' इस प्रकार वर पाकर श्रीकृष्ण पूर्णतः कृतकार्य हो गये है। इन असीम शक्तिशाली महावली वासुदेव में समस्त गुण-सम्पत्ति सदैव विद्यमान है। ऐसे अनन्त पराक्रमी और अजेय कृष्ण को धृतराष्ट्र-पुत्र जीत लेने की आशा करते हैं।"

यह देखा गया होगा कि कृष्ण को यहाँ देवों से अनेक वर प्राप्त करते हुये दिखाया गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल का लेखक उन्हें परमात्मा नहीं मानता था।

वनपर्व से उद्धृत अगला स्थल कृष्ण को महान भक्त, यज्ञकर्त्ता, दुष्टों का दमन करनेवाला, तथा कुछ स्थलों पर परमात्मा भी कहता है। ऐसा वर्णन है कि कृष्ण अपनी जाति के कुछ लोगों के साथ वन में पाण्डवों से मिलने आये। वहाँ ये कौरवों के अत्याचार से अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। उस समय इनके पूर्व-पराक्रमों का वर्णन करके अर्जुन ने इन्हें इस प्रकार शान्त किया :

महा० ३.१२,११ और बाद : अर्जुन उवाच। दश-वर्षसहस्राणि यत्र सायंगृहो मुनिः। व्यचरस् त्वम् पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने। दश-वर्ष-सहस्राणि दश-वर्ष-शतानि च। पुष्करेष्व् अवसः कृष्ण त्वम् अपो भक्षयन् पुरा। ऊर्ध्व-बाहुर् विशालायां बदर्यम् मधुसूदन। अतिष्ठ एकपादेन वायु-भक्षः शतम् समाः। अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनि-सन्ततः। आसीः कृष्ण सरस्वत्या सत्रे द्वादश-वार्षिके। प्रभासम् अप्य् अथासाद्य तीर्थम्

हरिवंश ६८३३ मे भी उल्लेख है। देखिये एशियाटिक रिसर्चेज, भाग १६, पृ० २७८ और बाद। लैंगलोइ ने रामायण १.२९,९ पर अपनी टिप्पणी मे तीन प्रकार के पाशो, धर्म-पाश, कालपाश, और वारुण-पाश का उल्लेख किया है। वनपर्व, श्लो० ८७९, मे कृष्ण के चक्र को 'क्षुरान्त' कहा गया है।

[१९०] एक प्रकार का छोटा पुष्पवृक्ष : Pterospermum acerifolium।

पुण्य जनोचितम् । तथा कृष्ण महातेजा दिव्य वर्ष सहस्रकम् । अतिष्ठन् त्वम् यथैकेन पादेन नियम स्थितः । लोक प्रवृत्ति-हेतोस् त्वम् इति व्यासो ममाब्रवीत् । क्षेत्रज्ञः सर्व भूतानाम् आदिर् अन्तश् च केशव । निधानम् तपसा कृष्ण यज्ञस् त्व च सनातनः । निहत्य नरकम् भौमम् आहृत्य मणिकुण्डले । प्रथमोत्पादितं कृष्ण मेध्यम् अश्वम् अवासृजः । कृत्वा तत् कर्म लोकानाम् ऋषभः सर्व-लोक जित् । अवधीस् त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्य-दानवान् । ततः सर्वेश्वरत्व च सम्प्रदाय शचीपते । मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव । स त्व नारायणो भूत्वा हरिर् आसीः परन्तप । ब्रह्मा सोमश् च सूर्यश् च धर्मो धाता यमोऽनल । वायुर् वैश्रवणो रुद्र कालः खम् पृथिवी दिशः । अजश् चराचर-गुरुः स्रष्टा त्वम् पुरुषोत्तम । परायण देवम् ऊर्ध्वं क्रतुभिर् मधुसूदन । अयजो भूरि तेजा वै कृष्ण चैत्ररथेवने । शत शत सहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन । एकैकस्मिन् तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः । २६. नाविता गौरवा धारा निकुम्भ-नरकौ हर्ता । कृत क्षेम पुन पन्था पुरम् प्राग्ज्योतिषम् प्रति । जारुथ्याम् आहुति क्राथ शिशुपालो जनै सह । जरासन्धश् च शैब्यश् च शत-धन्वा च निर्जितः । तथा पर्जन्य-घोषेण रथेनादित्य-वर्चसा । अवाप्सीद् महिषीम् भोज्या रणे निर्जित्य रुक्मिणम् । इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश् च कसेरुमान । हत सौभ-पति शाल्वस् त्वया सौभं च पातितम् । एत-मेते युधि हता भूयश्चान्यच्छृणुष्व ह । इरावत्या हतो भोज कार्तवीर्यसमो युधि । गोपतिस् तालकेतुश् च त्वया विनिहताव् उभौ । ता च भोगवतीम् पुण्यम् ऋषिकान्ता जनार्दन । द्वारकाम् आत्मसात् कृत्वा समुद्र गमयिष्यसि । न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतम् मधुसूदन । त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशस्यं कुतोऽनृजु । आसीन चैत्य-मध्ये त्वा दीप्यमान स्व दीप्यमान तेजसा । आगम्य ऋषय सर्वेऽयाचन्ताभयम् अच्युत ।

"अर्जुन बोले : श्रीकृष्ण ! पूर्वकाल में गन्धमादन पर्वत पर आपने यत्र-सायंगृह मुनि के रूप में दस सहस्र वर्षों तक विचरण किया है। पूर्वकाल में कभी इस धराधाम पर अवतीर्ण होकर आपने ग्यारह सहस्र वर्षों तक केवल जल पीकर रहते हुये पुष्कर तीर्थ में निवास किया था। मधुसूदन ! आप विशालापुरी के बदरिकाश्रम में दोनों भुजायें ऊपर उठाये हुये केवल वायु का आहार करते हुये सौ वर्षों तक एक पैर पर खड़े रहे। कृष्ण ! आप सरस्वती नदी के तट पर उत्तरीय वस्त्र तक का त्याग करके द्वादशवार्षिक यज्ञ करते समय शरीर से अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। आपके सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती थीं। आप पुण्यात्मा पुरुषों के निवास

योग्य प्रभासतीर्थ में जाकर लोगो को तप में प्रवृत्त करने के लिये शौच-सतों-पादि नियमों में स्थित हो महातेजस्वी स्वरूप से एक सहस्र दिव्य वर्षों तक एक ही पैर से खड़े रहे। ये सब बातें मुझ से श्रीव्यास ने बताई थीं। केशव! आप क्षेत्रज्ञ, सम्पूर्ण भूतों के आदि और अन्त, तपस्या के अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष है। आप भूमिपुत्र नरकासुर को मारकर अदिति के दोनों मणिमय कुण्डलों को ले आये थे और आपने ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न होनेवाले यज्ञ के उपयुक्त अश्वों की रचना की थी। सम्पूर्ण लोकों पर विजय पानेवाले आप लोकेश्वर प्रभु ने वह कर्म करके सामना करने के लिये आये हुये समस्त दैत्यों और दानवों का युद्ध स्थल में वध किया। महाबाहु केशव! तदनन्तर शची-पति को सर्वेश्वर पद प्रदान करके आप इस समय मनुष्यों में प्रगट हुये हैं। परन्तप! पुरुषोत्तम! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरि के रूप में प्रगट हुये। ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथिवी, दिशायें, चराचर गुरु तथा सृष्टिकर्त्ता एवं अजन्मा आप ही है। मधुसूदन! आपने चैत्ररथ वन में अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया है। आप सबके उत्तम आश्रय, देव शिरोमणि एवं महातेजस्वी हैं। जनार्दन! उस समय आपने प्रत्येक यज्ञ में पृथक्-पृथक् एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें दक्षिणा के रूप में दी थीं।" [यहाँ अदितेर् अपि पुत्रत्वम्' से आरम्भ और 'निहताः शत-शोऽसुराः' शब्दों से अन्त होनेवाले श्लोक आते हैं जिन्हें पहले ही उद्धृत किया जा चुका है]। "आपने मुरु के लौहमय पाश काट दिये, निसुन्द और नरकासुर को मार डाला, और पुनः प्राग्ज्योतिषपुर का मार्ग सकुशल यात्रा करने योग्य बना दिया। आपने जारूथी नगरी में आहुति, क्राथ, साथियों सहित शिशुपाल, जरासन्ध, शैव्य और शतधन्वा[१३१] को परास्त किया। इसी प्रकार मेघ के समान घर्घर शब्द करनेवाले सूर्य-तुल्य तेजस्वी रथ के द्वारा कुण्डिनपुर में जा कर आपने रुक्मी को युद्ध में जीता और भोजवंशी कन्या रुक्मिणी को अपनी महिषी के रूप में प्राप्त किया। प्रभो! आपने क्रोध से इन्द्रद्युम्न को मारा, और यवनजातीय कसेरुमान तथा सौभपति शाल्व को भी यमलोक पहुँचा दिया। साथ ही शाल्व के सौभ-विमान को भी छिन्न-भिन्न करके धरती पर गिरा दिया। इस प्रकार इन पूर्वोक्त राजाओं को आपने युद्ध मे मारा है। अब अपने द्वारा मारे हुये औरों के नाम भी सुनिये। इरावती के तट पर आपने कार्तवीर्य[१३२] सदृश, पराक्रमी भोज को

---

[१३१] देखिये विलसन का विष्णु पुराण, पृ० ४२८ और बाद।

[१३२] देखिये प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग भी।

युद्ध में मार गिराया। गोपति और तालकेतु दोनों ही आपके हाथों मारे गये। जनार्दन! भोग सामग्रियों से सम्पन्न तथा ऋषि-मुनियों की प्रिय, अपने अधीन की हुई पुण्यमयी द्वारका नगरी को, आप अन्त में समुद्र में विलीन कर देंगे। मधुसूदन! वास्तव में आप में न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह! फिर आप में कठोरता तो हो ही कैसे सकती है? अच्युत! महल के मध्यभाग में बैठे और अपने तेज से उद्भासित हुये आपके पास आकर सम्पूर्ण ऋषियों ने अभय की याचना की।" [इसके बाद 'युगान्ते सर्व भूतानि' आदि शब्दों से आरम्भ कुछ श्लोक आते हैं जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है]।

६. यद्यपि, जैसा कि महाभारत तथा पुराणों के विभिन्न स्थलों में हम देख चुके हैं, कृष्ण को सामान्यतया विष्णु के साथ समीकृत किया गया है, और विष्णु को ब्रह्म अथवा परमात्मा के साथ, तथापि भागवत पुराण से ऊपर उद्धृत एक स्थल (१०.३३,२७) पर कृष्ण को परमात्मा का केवल अंशावतार कहा गया है। भागवत (१०.१) में भी स्थिति ऐसी है ही। वहाँ शुकदेव से राजा कहता है कि वह उनसे (शुकदेव से) सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं की तथा उन्हीं के वंश में हुये यदु की कथा सुन चुका है। तदनन्तर वह शुकदेव से विश्वात्मा विष्णु का वर्णन करने के लिये कहता है जिन्होंने अंशावतार ग्रहण किया था (तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर् वीर्याणि शंस नः। अवतीर्य यदोर् वंशे भगवान् भूतभावनः। कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्)। राजा के इस आग्रह पर शुकदेव कहते हैं कि जब मदोन्मत्त राजाओं के रूप में दैत्यों ने पृथिवी को आक्रान्त कर दिया तब एक गाय के वेश में पृथिवी ने ब्रह्मा से अपने कष्ट का निवेदन किया, किन्तु उस समय अन्य देवों को साथ लेकर ब्रह्मा विष्णु के पास सहायता की प्रार्थना करने आये। ब्रह्मा को एक आकाशवाणी सुनाई पड़ती है :

भागवत पुराण १०.१,२१ और बाद . गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास् त्रिदशान् उवाच ह। गाम् पौरुषीम् मे श्रृणुतामराः पुनर्विधीयताम् आशु तथैव मा चिरम्। पुरैव पुंसाऽवधृतो धराज्वरो भवद्भिर् अंशैर् यदुषूपजन्यताम्। स यावद् उर्व्या भरम् ईश्वरेश्वरः। स्व काल शक्त्या क्षपयंश् चरेद् भुवि। वसुदेव-गृहे साक्षाद् भगवान् पुरुष' परः। जनिष्यते तत् प्रियार्थं सम्भवन्तु सुर-स्त्रियः। वसुदेव-कलाऽनन्त. सहस्र वदनः स्वराट्। अग्रतो भविता देवो हरेः प्रिय-चिकीर्षया। विष्णोर् माया भगवती यया सम्मोहित जगत्। आदिष्टा प्रभुणाऽ शेन कार्यार्थे सम्भविष्यति।

"उन्होंने समाधि-अवस्था में आकाशवाणी सुनी। इसके बाद जगत् के निर्माणकर्त्ता ब्रह्मा ने देवताओं से कहा : 'देवताओ ! मैंने भगवान् की वाणी सुनी है। तुम लोग भी उसे मेरे द्वारा अभी सुन लो और फिर वैसा ही करो। उसके पालन में विलम्ब नहीं होना चाहिये। भगवान् को पृथिवी के कष्ट का पहले से ही पता है। वे ईश्वरों के भी ईश्वर है। अतः अपनी कालशक्ति के द्वारा पृथिवी का भार हरण करते हुये वे जबतक पृथिवी पर लीला करें तब तक तुम लोग भी अपने अपने अंशों के साथ यदु-कुल में जन्म लेकर उनकी लीला में सहयोग दो। वसुदेव के घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान प्रगट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा की सेवा के लिये देवाङ्गनायें जन्म ग्रहण करे। स्वयंप्रकाश शेष भी, जो भगवान की कला होने के कारण अनन्त हैं, और जिनके सहस्र मुख हैं, वे भी भगवान् के प्रिय कार्य के लिये उनसे पहले ही उनके बड़े भ्राता के रूप में अवतार ग्रहण करेंगे। भगवान की वह ऐश्वर्यशालिनी योगमाया भी, जिसने सारे जगत् को मोहित कर रक्खा है, उनकी आज्ञा से उनकी लीला को सम्पन्न करने के लिये अंशरूप से अवतार ग्रहण करेगी।"

विष्णु पुराण में भी, विष्णु के अवतार को अंशावतार अथवा अंश के भी अंश का अवतार कहा गया है। नीचे की पक्तियों से यह बात स्पष्ट होगी :

विष्णु पुराण : ५.१,१ और बाद : नृपाणां कथितः सर्वो भवता वंश-विस्तरः। वंशानुचरितं चैव यथावद् अनुवर्णितम्। अंशावतारो ब्रह्मर्षे योऽय यदुकुलोद्भव.। विष्णोस् तं विस्तरेणाह श्रोतुम् इच्छाम्य् अशेषतः। चकार यानि कर्माणि भगवान् पुरुषोत्तमः। अंशांशेनावतीर्योर्व्यां तत्र तानि मुने वेद। पराशर उवाच। मैत्रेय श्रूयताम् एतद् यत् पृष्टोऽहम् इह त्वया। विष्णोर् अंशांश सम्भूति-चरित जगतो हितम्।

"आपने राजाओं के सम्पूर्ण वंशों का विस्तार तथा उनके चरित्रों का क्रमशः यथावत् वर्णन किया। अब हे ब्रह्मर्षे ! यदुकुल में जो भगवान् विष्णु का अंशावतार हुआ था, उसे मै विस्तारपूर्वक यथावत् सुनना चाहता हूँ। हे मुने ! भगवान् पुरुषोत्तम ने अपने अंशांश से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर जो जो कर्म किये थे उन सबका आप मुझसे वर्णन कीजिये। पराशर जी बोले : हे मैत्रेय ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है वह ससार में परम मङ्गलकारी भगवान विष्णु के अंशांशावतार का चरित्र सुनो।"

महर्षि तब इस बात का वर्णन करते हैं (देखिये विलसन का विष्णु पुराण, पृ० ४९३–४९७) कि किस प्रकार पृथिवी ने ब्रह्मा तथा अन्य देवों के समक्ष अपने कष्टों को बताते हुये कहा कि कालनेमि नामक असुर ने कंस के

रूप में जन्म लिया है, तथा अन्य असुर भी अनेक राजाओं के रूप में जन्म ले चुके हैं, जिन सब का भार वहन करने में वह (पृथिवी) असमर्थ है। ब्रह्मा ने प्रस्ताव किया उन सब को विष्णु की शरण में जाना चाहिये जो "विश्वरूप, सर्वात्मा हैं तथा सर्वथा संसार के हित के लिये ही अपने शुद्ध सत्त्वांश से अवतीर्ण होकर पृथिवी पर धर्म की स्थापना करते हैं" (सर्वदेव जगत्य् अर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः। सत्त्वाशेनावतीर्योऽर्यो धर्मस्य कुरुते स्थितिम्)। तदनुसार देवगण क्षीरसागर और विष्णु की एक दीर्घ स्तोत्र द्वारा स्तुति करने लगे। उनकी स्तुतियों से विष्णु प्रसन्न हुये और उन सबसे उनका मनोरथ पूछा। विष्णु ने उनका मनोरथ पूर्ण करने का आश्वासन दिया। ब्रह्मा ने पुन. स्तुति की। इसके बाद यह बताया गया है कि स्तुतियों के बाद क्या हुआ '

विष्णु पुराण ५.१,५९ और बाद : एव सस्तूयमानस् तु भगवान् परमेश्वरः। उज्जहारात्मनः केशौ सित-कृष्णौ महामुने। उवाच च सुरान् एतौ मत्-केशौ वसुधा-तले। अवतीर्य भुवो भार-क्लेश-हानिं करिष्यतः। सुराश्च सकला' स्वांशैर् अवतीर्य महीतले।[१९३] कुर्वन्तु युद्धम् उन्मत्तै. पूर्वोत्पन्नैर् महासुरै। ततः क्षयम् अशेषास् ते दैतेया धरणीतले। प्रयास्यन्ति न सन्देहो मद्-दृक्-पात-विचूर्णिता' । वसुदेवस्य या पत्नी देवकी देवतोपमा। तस्यायम् अष्टमो गर्भो[१९४] मत्केशो भविता सुराः। अवतीर्य च तत्राय[१९५] कंसम् घातयिता भुवि। कालनेमिं समुद्भूतम् इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे हरिः। अदृश्याय ततस् तस्मै प्रणिपत्य महामुने। मेरु-पृष्ठम् सुरा जग्मुर् अवतेरुश् च भूतले।

"इस प्रकार स्तुति की जाने पर भगवान परमेश्वर ने अपने श्याम और श्वेत दो केश उखाड़े, और देवताओं से बोले : 'मेरे ये दोनों केश पृथिवी पर अवतार लेकर पृथ्वी के भार-रूप कष्ट को दूर करेंगे। सब देवगण अपने-अपने अंशों से पृथिवी पर अवतार लेकर अपने से पूर्व उत्पन्न हुये उन्मत्त दैत्यों के साथ युद्ध करें। तब मेरे दृष्टिपात से दलित होकर पृथिवीतलपर सम्पूर्ण दैत्यगण निःसन्देह क्षीण हो जायेंगे। वसुदेव की जो देवी के समान देवकी नाम की भार्या है उनके आठवें गर्भ से मेरा यह (श्याम) केश अवतार लेगा, और इस प्रकार वहाँ अवतार लेकर यह कालनेमि के अवतार कंस का वध

---

[१९३] एक अन्य पाण्डुलिपि मे महीतलम्' पाठ है।

[१९४] एक अन्य पाण्डुलिपि मे 'एष गर्भोऽष्टमम् तस्या.' पाठ है।

[१९५] एक अन्य पाण्डुलिपि मे 'तत्राहम्' पाठ है।

करेगा।' ऐसा कहकर श्रीहरि अन्तर्धान हो गये। हे महामुने! भगवान् के अदृश्य हो जाने पर उन्हें प्रणाम करके देवगण सुमेरुपर्वत पर चले गये और फिर पृथिवी पर अवतीर्ण हुये।"

नीचे विष्णुपुराण के भाष्यकारों में से एक, रत्नगर्भ, की उक्त प्रथम स्थल की टीका को उद्धृत किया जा रहा है। इसमें द्वितीय स्थल का भी सन्दर्भ निहित है:

"चकार" इति। तत्र कृष्णावतारे अति-परिच्छिन्न-मनुष्याकार-लीला-विग्रहेणाविर्भावाद् अंशांशेन इत्य् उक्तम् उपचारात्। ननु शक्ति-ह्रासेण कृष्णाद्य् अवतारेष्व् अपि विश्व-रूप-दर्शन-सर्वैश्वर्याद्युक्तेः। ननु अंशिनोऽंशोद्धारेण शक्त्य्-आदि-ह्रासस् तथाऽंशस्यापि तदपेक्ष्य अल्प-शक्तित्वादिक धान्य-राश्य्-आदि-विभाग इव प्रसज्येत इति चेद् न। प्रकाश-स्वरूपे तद्-अभावात्। प्रदीपस्य हि तन्-मूलक दीपान्तरस्य वा उपाधि-भेदेऽपि शक्त्य्-आदि-साम्य-दर्शनात् "पूर्णम् अदः पूर्णम् इदम् पूर्णात् पूर्ण उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णन् आदाय पूर्णम् एवावशिष्यते" इति श्रुतेः। "परम् ब्रह्म नराकृति गूढम् परम् ब्रह्म मनुष्य-लिङ्ग कृष्णस् तु भगवान् स्वयम्" इत्यादि-वाक्येभ्यश् च। यस् तु "मत्केशौ वसुधा-तले" इत्य्-आदाव् "अय कस घातयिता" इत्य् अत्र केश-व्यपदेश. स ब्रह्मणः परिपूर्णस्य भू-भार-हरण-रूप कार्य्य अत्य्-अल्प-यन्त्र-साध्यम् इति ख्यापयितु न तु केशयोः राम-कृष्णत्व वक्तुम्। जडयोः केशयोस् तद्-देह-क्षेत्रज्ञत्वाभावेन तत्-कार्य कर्त्तुम् अशक्तत्वात्। केशात्मक-माययोद्भव राम-कृष्ण-देहाव् आदिश्य भगवान् एव तत् तत् करिष्यति इति चेद् ओम् इति ब्रूमः फलतोऽविशेषात् "कृष्णाष्टम्याम् अहम् निशि" इति स्वयम् एवोक्तत्वाच् च इत्य् अल विस्तरेण।

"यहाँ एक लाक्षणिक अर्थ में ही यह कहा गया है कि पुरुषोत्तम ने अंशांशावतार ग्रहण किया, क्योंकि कृष्णावतार में अपनी शक्ति के किसी प्रकार के ह्रास के कारण नहीं वरन् लीला विग्रह के कारण ही उनका अत्यन्त परि-च्छिन्न मनुष्याकार रूप में आविर्भाव हुआ था, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि कृष्णावतार तथा अन्य अवतारों में भी वह अपने सभी रूपों में दिखायी पड़ते हैं, और अपनी समस्त दिव्य शक्तियों तथा ऐश्वर्य से युक्त होते हैं। फिर भी, क्या स्थिति ऐसी नहीं है कि अंशों से निर्मित किसी पूर्ववस्तु में से एक अंश निकाल लेने पर शक्ति-ह्रास हो जाता है और इस प्रकार पूर्ण की तुलना में उस अंश में शक्ति की अपेक्षाकृत हीनता होती है, जैसे अन्नादि के ढेर को विभाजित कर देने पर होता है? मैं उत्तर देता हूँ कि ऐसा नहीं है; क्योंकि

इस प्रकार का ह्रास उनमें नहीं होता जो ज्योति-स्वरूप हैं; क्योंकि एक दीप तथा उससे ही जलाये गये दूसरे दीपक में यद्यपि वैयक्तिक भिन्नता होती है, तथापि दोनों में शक्ति साम्य दृष्टिगत होता है, और यह इस श्रुति के भी अनुकूल है (शतपथ ब्राह्मण १४ ८,१) : 'वह पूर्ण है, और यह भी पूर्ण है, यह पूर्ण पूर्ण से ही उत्पन्न होता है, इस पूर्ण का पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है,' और इन श्रुतियों के भी अनुकूल है, जैसे 'नराकृति तथा मनुष्य के रूप में परमब्रह्म अत्यन्त गूढ़ रहस्य है, किन्तु कृष्ण स्वय भगवान् हैं।' और 'मेरे केश पृथिवी पर अवतीर्ण होंगे', और 'यह केश कस का वध करेगा' आदि शब्दों में 'केश' शब्द का व्यवहार इस बात का द्योतक है कि अपनी समस्त परिपूर्णता से युक्त ब्रह्म के लिये पृथिवी का भार उतारना एक अत्यन्त अल्प यन्त्र से ही साध्य था। यहाँ यह उद्दिष्ट नहीं है कि ये दोनों केश बलराम तथा कृष्ण थे। क्योंकि दो जड़ केश, जो उन दो व्यक्तियों के क्षेत्रज्ञ आत्मा नहीं थे, अपने कार्य को करने के लिये अशक्त थे। यदि यह कहा जाय कि केशों की माया से उद्भूत बलराम और कृष्ण के देहों को अधीन करके भगवान् अमुक-अमुक कार्य करेंगे, तो इसके उत्तर में हम यह कहेंगे कि 'हाँ', क्योंकि इससे फल में कोई अन्तर नहीं होगा, और इसलिये भी कि भगवान् ने स्वय कहा है कि 'मैं कृष्णाष्टमी की रात्रि को उत्पन्न होऊँगा।' किन्तु और अधिक विस्तार से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।"[११६]

नीचे उक्त स्थल पर एक दूसरे भाष्य से कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है :[११७]

उज्जहार । उत्पाटितवान् । अयम् भावः । मम दुष्कर चेद् युष्माभिः साहाय्य कार्यं स्यात् । न त्व् एतद् अस्ति भू-भारापहरणादौ महत्य् अपि कार्ये मत्-केश-मात्रस्यैव समर्थत्वाद् इति न तु केशमात्रावतार इति मन्तव्यम् । "मद्-दृक्-पात विचूर्णितः" "कृष्णाष्टम्याम अहम् उत्पत्स्यामि" इत्यादिषु साक्षात् स्वावतारत्वोक्ते. । सित कृष्ण-केशोद्धारण च शोभार्थम् एव ।

" 'उज्जहार' का अर्थ है कि उन्होंने केशों को 'उखाड़ा'। आशय यह है : 'यदि तुम्हें मेरी सहायता करनी होती तो यह एक दुष्कर कार्य होता : परन्तु प्रस्तुत कार्य की दशा में ऐसा नहीं है क्योंकि यद्यपि भूभार-हरण एक महान्

---

[११६] विष्णुपुराण के ऊपर उद्धृत मूल तथा भाष्य की मेरे लिये प्रो० मॉनियर विलियम्स ने सावधानीपूर्वक प्रतिलिपि की है।

[११७] मैं इस स्थल की प्रतिलिपि के लिये प्रो० गोल्डस्टूकर का आभारी हूँ।

कार्य है, तथापि मेरे केशमात्र ही इसके लिये समर्थ हैं। किन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल केशों के अवतार से अधिक और कुछ नहीं था, क्योंकि स्वयं उन परमात्मा का अवतार स्पष्ट रूप से इन शब्दों में कहा गया है : 'मेरे दृष्टिपात से विचूर्णित हो जायँगे', और 'मैं कृष्णाष्टमी की रात्रि को उत्पन्न होऊँगा' इत्यादि। श्याम तथा श्वेत केश को उखाड़ने का उल्लेख केवल शोभार्थक है।[१९८]

दो केशों से बलराम तथा कृष्ण के आविर्भाव की इसी कथा का महाभारत में भी वर्णन है

महा० १.१९६,३१ और बाद : तैर् एव सार्द्धं तु ततः स देवो जगाम नारायणम् अप्रमेयम्। अनन्तम् अव्यक्तम् अजम् पुराणं सनातन विश्वम् अनन्त-रूपम्। स चापि तद् व्यदधात् सर्वम् एव ततः सर्वे सम्बभूवुर् धरण्याम्। स चापि केशौ हरिर् उद्बवर्ह शुक्लम् एकम् अपर चापि कृष्णम्। तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणी च। तयोर् एको बलदेवो बभूव योऽसौ श्वेतस् तस्य देवस्य केशः। कृष्णो द्वितीयः केशव. सम्बभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः।

"तदनन्तर उन्हीं के साथ महादेव जी अनन्त, अप्रमेय, अव्यक्त, अजन्मा, पुराणपुरुष, सनातन, विश्वरूप एवं अनन्त मूर्त्ति भगवान् नारायण के पास गये। उन्होंने भी उन्हीं सब बातों के लिये आज्ञा दी। तत्पश्चात् वे सब लोग पृथ्वी पर प्रगट हुये। उस समय भगवान् नारायण ने अपने मस्तक से दो केश निकाले, जिनमें से एक श्वेत था तथा दूसरा श्याम। ये दोनों केश यदुवंश की दो स्त्रियों, देवकी तथा रोहिणी, के भीतर प्रविष्ट हुये। उनमें से रोहिणी के बलदेव प्रगट हुये जो भगवान् नारायण के श्वेत केश थे। दूसरा केश, जिसे श्यामवर्ण बताया गया है, देवकी के गर्भ से कृष्ण के रूप में प्रगट हुआ।"

इस स्थल पर महाभारत के एक टीकाकार, नीलकण्ठ, ने इस प्रकार टीका की है :

अत्र केशाव् एव रेतो-रूपौ पाण्डवानाम् इव राम-कृष्णयोर् अपि प्रकरण सङ्गत्य-अर्थं साक्षाद् देव रेतस उत्पत्तेर् अवक्तव्यत्वात्[१९९]। अत

---

[१९८] विष्णुपुराण के इन स्थलो पर प्रो० विलसन की टिप्पणियाँ देखिये, उनके सस्करण मे पृ० ४९२, और ४९७ पर क्रमश नोट ३ और २३ मे।

[१९९] ईस्ट इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी की पाण्डुलिपि मे 'अवश्य-वक्तव्यत्वात्' पाठ है।

एव देवक्यां रोहिण्याञ्च साक्षात् केश-प्रवेश उच्यते न तु वसुदेवे। तथा सति तु "देवाना रेतो वर्ष वर्षस्य रेत ओषधय" इत्यादि-श्रौत-प्रणाड्याऽस्मद्-आदिवत् तयोर् अपि व्यवधानेन देव-प्रभवत्व स्यात्। तथा च "एतन नाना-ऽवताराणां निधान वीजम् अव्ययम्" इति भगवतः साक्षाद् मत्स्याद्य-अवतार-वीजत्वम् उच्यमानं विरुध्येत अपिच केश-रेतसोर् देह-जत्वे समानेऽपि रेतः प्रभवत्वेऽर्वाक्स्रोतस्त्वेन मनुष्यत्वम् पुत्रत्व च स्यात्। तथा च "कृष्णस् तु भगवान् स्वयम्" इति श्रीमद्-भगवतोक्तिः सङ्गच्छते। न च केशोधारणात् कृष्णस्याप्य् अंशत्वम् प्रतीयते इति वाच्यम्। केशस्य देहावयवत्वाभावात्। तस्माद् नमुचि-वधे कर्तव्ये यथा अपास् फेने वज्रस्य प्रवेशः एव देवकी-रोहिण्योर् जठरे प्रवेशे कर्त्तव्ये केशद्वयेन द्वार भूतेन भगवतः कार्त्स्न्येन एव आविर्भाव एष्टव्यः इति युक्तम्।

"यहाँ दो केश बलराम और कृष्ण को उत्पन्न करनेवाले रेत-रूप हैं, जैसे पाण्डवों की दशा में भी था, [और इस अभिव्यक्ति का व्यवहार] प्रकरण-संगति लिये किया गया है, क्योंकि देवता के रेत से उत्पत्ति को साक्षात् नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केशों ने वसुदेव में नहीं बल्कि देवकी तथा रोहिणी में प्रवेश किया। किन्तु स्थिति ऐसी थी, जैसे वैदिक शब्दावली के अनुसार 'वर्षा देवों का रेत है और ओषधियाँ वर्षा के रेत' इत्यादि। इस प्रकार ये दो व्यक्ति (बलराम और कृष्ण) भी देवता के पुत्र होंगे, जैसा कि हम लोगों तथा अन्य प्राणियों की दशा में होता है। और इस प्रकार—यत. 'इन नाना अवतारों का यह तत्त्व एक अव्यय बीज है,'[200]—अतः यह इस उक्ति के विरुद्ध होगा कि वह मत्स्य आदि अवतारों में वास्तव में इन्हीं (मत्स्य आदि) का बीज है। साथ ही, यद्यपि केश और रेत समान रूप से देह मे उत्पन्न हैं, तथापि रेत से उत्पत्ति की दशा में मनुष्यत्व तथा उसके पुत्रत्व का भाव उत्पन्न होगा जैसा कि अन्य हीन जीवों की दशा में होता है। और इस प्रकार भागवत के इस कथन में कि 'कृष्ण स्वय भगवान् हैं' कोई असंगति नहीं है। और यह भी नहीं कहा जाना चाहिये कि एक केश के उखाडे जाने से कृष्ण को भी केवल एक अंश मात्र कहा गया है, क्योंकि केश देह का अवयव नहीं है। इसीलिये, जैसे जब नमुचि का वध होना था

[200] मैंने इन शब्दों को इसलिये कामा के अन्तर्गत रक्खा है क्योंकि ये उद्धरण जैसे प्रतीत होते हैं, यद्यपि मुझे यह नही मालूम कि इन्हे कहाँ से लिया गया है।

तव वज्र ने जलों[२०१] के फेन में प्रवेश किया, ठीक उसी प्रकार जब देवकी तथा रोहिणी के गर्भाशय में प्रवेश अभीष्ट था तब समस्त ऐश्वर्यों से युक्त देवता का दो केशों के माध्यम से ही आविर्भाव हुआ समझना चाहिये।"

७. गत पृष्ठों में जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें से अनेक में विष्णु को परमेश्वर के साथ समीकृत किया गया है। अब मैं इसी प्रकार के कुछ और स्थलों को महाभारत से उद्धृत करूँगा। शातिपर्व में युधिष्ठिर कृष्ण से इस प्रकार कहते हैं :

महा० १२.४३,२ और बाद : तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च। बुद्धया च यदु-शार्दूल तथा विक्रमणेन च। पुनः प्राप्तम् इदं राज्यम् पितृ पैतामहम् मया। नमस् ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनर् अरिन्दम्। त्वम् एकम् आहुः पुरुषं त्वाम् आहुः सात्वतां गतिम्। नामभिस् त्वाम् बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः। विश्वकर्मन् नमस् तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्व-सम्भव। विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम। अदित्याः

---

[२०१] यहाँ जिस कथा का सकेत है उसके निर्देश के लिये मैं डा० ऑफरेख्त का आभारी हूँ। यहाँ ऋग्वेद ८ १४,१३ के इन शब्दो का तात्पर्य है : 'अपाम् फेनेन नमुचे शिर इन्द्रोदवर्त्तय। विश्वा यद् अजय· स्पृढ।' "हे इन्द्र! जब तुमने सभी विरोधियो को पराभूत किया उस समय तुमने जल के फेन से नमुचि का सर काट दिया।" इस पर सायण यह कथा कहते हैं. 'पुरा किल इन्द्रोऽसुरान जित्वा नमुचिम् असुरं ग्रहीतु न शशाक। स च युध्यमानस् तेनासुरेण जगृहे। स च गृहीतम इन्द्रम् एवम् अवोचत् "त्वा विसृजामि रात्राव् अह्नि च शुष्केणाद्रेण चायुधेन यदि मा न हिंसीर्" इति। स इन्द्रस् तेन विसृष्ट· सन् अहोरात्रयो सन्धौ शुष्कार्द्र-विलक्षणेन फेनेन तस्य शिरस् चिच्छेद। अयम् अर्थोऽस्याम् प्रतिपाद्यते। हे इन्द्र अपाम् फेनेन वज्रीभूतेन नमुचेर् असुरस्य शिर् उद्वर्त्तय।'' "पूर्व समय मे असुरो पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी इन्द्र नमुचि नामक असुर को पकड पाने मे असमर्थ रहे और युद्ध करते हुये स्वय उस असुर द्वारा पकड़ लिये गये। असुर ने इन्द्र से, जिन्हें उसने पकड़ लिया था, कहा. 'मैं तुम्हे इस शर्त पर मुक्त कर सकता हूँ कि न तो तुम मेरा रात मे वध करो और न दिन मे, न तो शुष्क अस्त्र से वध करो और न आर्द्र अस्त्र से।' इस आश्वासन पर उसने इन्द्र को मुक्त कर दिया। उससे छूट कर इन्द्र ने रात्रि तथा दिन की सन्धि के समय उस फेन से उसका सर काट दिया जो आद्र और शुष्क दोनो ही होता है। श्लोक मे यही अर्थ अभिप्रेत है।" महाभारत के उद्योगपर्व (श्लोक ३२० और बाद) मे भी यह कथा मिलती है।

सप्तधा त्वं तु पुराणे गर्भतां गतः। पृश्निगर्भस् त्वम् एवैकस् त्रियुगं त्वां वादन्त्य् अपि। शुचिश्रवा हृषीकेशो घृताचिर् हंस उच्यसे। त्रिचक्षुः शम्भुर् एकस् त्व विभुर् दामोदरोऽपि च। वराहोऽग्निर् बृहद्भानुर् वृषभस् तार्क्ष्यलक्षणः। १६. योनिस् त्वम् अस्य प्रलयश्च कृष्ण त्वम् एवेदं सृजसि विश्वम् अग्रे। विश्वश्चेदं त्वद् वशे विश्वयोने नमोऽस्तु ते शार्ङ्ग-चक्रासि-पाणे।

"यदुसिंह कृष्ण! आपकी ही कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रम से मुझे पुनः अपना यह पैतृक राज्य प्राप्त हुआ है। शत्रुओं का दमन करनेवाले कमल-नयन! आपको बारम्बार नमस्कार। अपने मन और इन्द्रियों को संयम में रखनेवाले द्विज एकमात्र आपको ही अन्तर्यामी पुरुष एव उपासना करनेवाले भक्तों का प्रतिपालक बताते हैं। साथ ही, वे नाना प्रकार के नामों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीलामयी सृष्टि है। आप इस विश्व के आत्मा हैं। आप ही से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। आप ही विष्णु, जिष्णु, हरि, कृष्ण, वैकुण्ठ और पुरुषोत्तम है। आप पुराण पुरुष ने ही सात प्रकार से अदिति के गर्भ में अवतार लिया[२०२]। आप ही पृश्निगर्भ हैं, विद्वान लोग आपको तीनों युगों में प्रगट होने के कारण 'त्रियुग' कहते हैं। आप शुचिश्रवा, हृषीकेश, घृताची, और हंस है। आप ही त्रिनेत्र शम्भु, और सर्व-व्यापी दामोदर हैं। आप ही वराह, अग्नि, बृहद्भानु[२०३], वृषभ, तार्क्ष्यध्वज हैं।" इसके बाद भी अनेक उपाधियों की एक लम्बी सूची है, जो इन शब्दों से समाप्त होती है: "आप ही इस जगत के आदि कारण और प्रलयस्थान हैं। आप ही कल्पारम्भ में इस विश्व की सृष्टि करते हैं। हे विश्वकारण! यह सम्पूर्ण विश्व आपके ही अधीन है। हाथों में धनुष, चक्र और खड्ग धारण करनेवाले आपको नमस्कार है।"

थोड़ा और आगे कृष्ण के प्रति भीष्म की एक लम्बी स्तुति है जिसमें ये पंक्तियाँ आती हैं:

महा० १२.४७,२१ और बाद: यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च। गुण-भूतानि भूतेशे सूत्रे मणि-गणा इव। यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रग् इव तिष्ठति। सद्-असद् ग्रथित विश्वं विश्वाङ्गे विश्व-कर्मणि। हरिं सहस्र-शिरसं सहस्र-चरणेक्षणम्। २४. प्रादुर्

[२०२] इससे, मैं समझता हूँ कि, वेदो मे आदित्यो की सख्या केवल सात ही होने का तात्पर्य है।

[२०३] अग्नि का एक नाम।

नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम्। अनीयताम् अनीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम्। गरीयसं गरिष्ठम् च श्रेष्ठं च श्रेयसाम् अपि। यं वाकेष्व् अनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च। गृणन्ति सत्य-कर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु। इत्यादि। "२८. सर्वात्मा सर्व-वित् सर्वो सर्वज्ञः सर्वभावनः। यं देव देवकी देवी वसुदेवाद् अजीजनत्। भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तम् अग्निम् इवारणिः। ३४. यस्मिन् लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा।

"उन्हीं में सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हीं में उनका लय होता है। जैसे डोरे में मनके पिरोये होते हैं उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मा में समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुये हैं। भगवान् सदा नित्य विद्यमान और तने हुये एक सुदृढ़ सूत के समान है, उनमें यह कार्य-कारण रूप जगत् उसी प्रकार गुँथा हुआ है जैसे सूतों में फूल की माला। यह सम्पूर्ण विश्व उनके ही श्रीअंगों में स्थित है; उन्होंने ही इस विश्व की सृष्टि की है। उन हरि के सहस्रों सर, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं।.... वे ही इस विश्व के परम आधार हैं। उन्हीं को नारायण देव कहते हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हैं। वे ही भारी से भारी और उत्तम से उत्तम हैं। वाकों और अनुवाकों में, निषदों[२०४] और उपनिषदों में तथा सत्य बात बतलानेवाले साममन्त्रों में उन्हीं को सत्य और सत्यकर्मा कहते हैं। इत्यादि।...वे सबके आत्मा, सबको जानने-वाले, सर्वस्वरूप, सर्वज्ञ, और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे अरणि प्रज्वलित अग्नि को प्रगट करती है उसी प्रकार देवकी ने इस भूतलपर रहने वाले ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की रक्षा के लिये उन भगवान को वसुदेव के तेज से प्रगट किया।...पानी के ऊपर तैरनेवाले जलपक्षियों की तरह उनके ही ऊपर इस सम्पूर्ण जगत की चेष्टायें हो रही हैं," इत्यादि।

---

[२०४] यही एक मात्र ऐसा स्थल है जहाँ मुझे ऐसा मिला है। मैं यह नही कह सकता कि भारतीय साहित्य मे 'निषदो' जैसी कोई रचनायें हैं या नही, अथवा यह शब्द केवल काल्पनिक है जिसका इस स्थल के लेखक ने ऐसी रचनाओ के रूप मे आविष्कार कर लिया है जिनके पूरक उपनिषद् थे—जैसे पुराणो के पूरक उपपुराण हैं। एक भाष्यकार, नीलकण्ठ (मैं नही कह सकता कि उचित आधारो पर अथवा अनुमान के आधार पर) 'निषत्सु' की 'कर्माङ्गाद्य्-अवबद्ध-देवतादि-ज्ञान-वाक्येषु' के रूप मे व्याख्या करते हैं। उपनिषद् केवल 'केवलात्म-ज्ञापक-वाक्येषु' हैं। इसी भाष्यकार के अनुसार 'वाक' सामान्यतया कर्म-प्रकाशक (सामान्यतः कर्म—प्रकाशकेषु) होते हैं; जब कि 'अनुवाक' 'मन्त्रार्थ-विवरण-भूतेषु ब्राह्मण-वाक्येषु' (ब्राह्मण वाक्य जो मन्त्रार्थ का विवरण प्रस्तुत करते हैं) हैं।

निम्नोद्धृत स्थल में, जो शान्तिपर्व से ही लिया गया है, कृष्ण अपने को परमात्मा के साथ समीकृत करते हुये ब्रह्मा तथा महादेव को भी अपने से ही उद्भूत मानते हैं। इस स्थल पर भी लेखक समानरूप से महाकाव्य के अन्य भागों में मिलनेवाले ऐसे स्थलों की व्याख्या करता है जिनमें कृष्ण महादेव की स्तुति करते हैं, और जिनकी निःसन्देह उनके परमेश्वर होने के भाव के साथ संगति नहीं है। इस कठिनाई का निराकरण इस व्याख्या के द्वारा किया गया है कि रुद्र की उपासना करते हुये वह स्वयं अपनी ही उपासना कर रहे थे। महा० १२.३४१, ५ और बाद, में अर्जुन श्रीकृष्ण से यह कहते हैः "महर्षियों ने आपके जो जो नाम कहे है, तथा पुराणों और वेदों में कर्मानुसार आपके जो जो नाम कहे गये हैं उन सब की मैं आपके मुख से व्याख्या सुनना चाहता हूँ।" तब कृष्ण अपने नामों की व्याख्या करते हुये अर्जुन को यह भी बताते है कि वे (अर्जुन) पूर्वकाल से ही उनके (कृष्ण के) [२०५]आधे शरीर माने गये हैं (त्व हि मेऽर्द्ध स्मृतः पुरा)। कृष्ण कहते हैं कि (विष्णु) ही आदि कारण थे जिनसे ब्रह्मा और शिव उत्पन्न हुये : एक उनके प्रसाद से और दूसरे उनके क्रोध से (यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोध-सम्भवः)। तदन्तर आगे वह इस प्रकार कहते हैं : महा० १२.३४१,१६ और बाद : ब्राह्मे रात्रि-क्षये प्राप्ते तस्य ह्य् अमित-तेजसः। प्रसादात् प्रादुर-भवत् पद्मम् पद्म-निभेक्षण। ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः। अहः क्षये ललाटाच्च् सुतो देवस्य वै तथा। क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहार-कारकः। एतौ द्वौ विबुध-श्रेष्ठौ प्रसाद-क्रोध-जाव् उभौ। तद्-आदेशित-पन्थानौ सृष्टि-संहार-कारकौ। निमित्त-मात्रम् ताव् अत्र सर्व-प्राणि-वर-प्रदौ। कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशान-गृह-सेवकः। उग्र-व्रत-धरो रुद्रो योगी परम-दारुणः। दक्ष-क्रतु-हरश्चैव भग-नेत्र-हरस् तथा। नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे। तस्मिन् हि पूज्यमाने वै देव-देवे महेश्वरे। सम्पूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायण प्रभुः। अहम् आत्मा हि लोकानाम् विश्वेषाम् पाण्डु-नन्दन। तस्माद् आत्मानम् एवाग्रे रुद्रा सम्पूजयाम्य् अहम्। यद्य् अहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम्। आत्मानं नार्चयेत् कश्चित् इति मे भावितात्मनः। मया प्रमाणं हि कृत लोकः समनुवर्त्तते। प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस् तम् पूजयाम्य् अहम्। यस् त वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि माम् अनु। रुद्रो

[२०५] दोनो के तादात्म्य अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले अन्य स्थल भी देखें जिन्हे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

नारायणश् चैव सत्त्वम् एकं द्विधाकृतं । लोके चरति कौन्तेय व्यक्ति-स्थं सर्व कर्मसु । न हिमे केनचिद् देयो वरः पाण्डव-नन्दन । इति संचिन्त्य मनसा पुराणम् रुद्रम् ईश्वरम् । पुत्रार्थम् आराधितवान् अहम् आत्मानम् आत्मना । न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचित् विबुधाय च । ऋत आत्मानम् एवेति ततो रुद्रम् भजाम्य् अहम् । सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः । अर्चयन्ति सुर-श्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् । भविष्यतं वर्त्तताञ्च भूतानाञ्चैव भारत । सर्वेषाम् अग्रणीर् विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः इत्यादि ।

"जब प्रलय की रात्रि व्यतित हुई थी, उस समय उन अमित तेजस्वी की कृपासे एक कमल प्रगट हुआ । कमलनयन अर्जुन ! उसी कमल से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ । वे ब्रह्मा उनके प्रसाद से ही उत्पन्न हुये थे । ब्रह्मा का दिन वीतने पर क्रोध के आवेश में आये हुये उस देव के ललाट से उनके पुत्ररूप में संहारकारी रुद्र प्रगट हुये । ये दोनों श्रेष्ठ देवता—ब्रह्मा और रुद्र—भगवान् के प्रसाद और क्रोध से प्रगट हुये है, तथा उन्हीं के निर्देशित मार्ग का आश्रय लेकर सृष्टि और संहार का कार्य पूर्ण करते हैं । समस्त प्राणियों को वर देनेवाले ये दोनों देवता सृष्टि और प्रलय के निमित्त मात्र हैं । इनमें से संहारकारी रुद्र के कपर्दी, जटिल, मुण्ड, श्मशान-गृह-सेवक, उग्रव्रत का आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी,परम दारुग, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी, आदि अनेक नाम हैं । पाण्डुनन्दन ! इन भगवान रुद्र को नारायण-स्वरूप ही जानना चाहिये । पार्थ ! प्रत्येक युग में इन देवाधिदेव महेश्वर की पूजा करने से सर्वसमर्थ भगवान नारायण की ही पूजा होती है । पाण्डुकुमार ! मैं सम्पूर्ण जगत् का आत्मा हूँ । इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्र की ही पूजा करता हूँ । यदि मैं वरदाता भगवान् शिव की पूजा न करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मस्वरूप शंकर का पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है । मेरे किये हुये कार्यको प्रमाण मानकर सव लोग उसका अनुसरण करते हैं ।[२०६] जिनकी पूजनीयता प्रमाणित है उन्हीं की पूजा करनी चाहिए । ऐसा सोचकर मैं रुद्रदेव की पूजा करता हूँ । जो रुद्र को जानता है वह मुझे जानता । जो उनका अनुगामी है वह मेरा भी अनुगामी है ।[२०७] रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में स्थित हो संसार में यज्ञ आदि सव कर्मों में प्रवृत्त होते हैं । पाण्डवों को आनन्दित करनेवाले अर्जुन ! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता;

---

[२०६] देखिये ऊपर उद्धृत भगवद्गीता ३.२१ और वाद ।

[२०७] इसी शब्द की ऊपर आये शब्दो से तुलना कीजिये ।

यही सोचकर मैंने पुत्र प्राप्ति प्राप्ति के लिये स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप पुराण-पुरुष जगदीश्वर रुद्र की अराधना की थी। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायण देव, श्रीहरि, की अर्चना करते हैं। भरतनन्दन! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में होनेवाले समस्त पुरुषों के भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं, अतः सबको सदा उन्हीं की सेवा-पूजा करनी चाहिये।"

अगले स्थल पर (अनुशासनपर्व १३९, ८ और बाद) जिसके कुछ अंश बाद के प्रक्षेप हो सकते हैं, कृष्ण को पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ करते हुये, तथा साथ ही साथ, परमेश्वर के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म श्रीकृष्ण की महिमा को व्यक्त करनेवाली एक कथा सुनाते हैं। वह कहते हैं कि कृष्ण ने बारह वर्षों का एक व्रत लिया। उस समय उनका दर्शन करने के लिये अनेक ऋषिगण उनने पास आये (श्लो० १०)। इन ऋषियों के सामने ही कृष्ण के मुख से अग्नि प्रकट हुई। उस अग्नि ने वृक्ष, लता, झाड़ी, पक्षी, मृग, तथा सर्पों सहित उस पर्वत को दग्ध कर दिया और फिर कृष्ण के समीप आकर उनके उनके दोनों चरणों का स्पर्श किया और उन्हीं में विलीन हो गई। तत्पश्चात कृष्ण ने उस दग्ध हुये पर्वत को पुनः प्रकृतावस्था में पहुँचा दिया। इस अद्भुत घटना पर ऋषियों को विस्मित देख कर कृष्ण ने उनके विस्मय का कारण पूछा। ऋषियों ने कहा: 'आप ही संसार को बनाते और आप ही पुनः उसका संहार करते है। आप ही अपने मुख से अग्नि के प्रादुर्भाव की घटना का कारण बता कर हमारे विस्मय का निवारण करें।' श्री कृष्ण ने बताया कि उनके मुख से वैष्णव तेज प्रगट हुआ था। उन्होंने यह भी बताया कि वह अपने समान वीर्यवान् पुत्र पाने की इच्छा से ही व्रत करने के लिये उस पर्वत पर आये है (श्लो० ३३)। आगे कृष्ण ने कहाः 'मेरे शरीर में स्थित प्राण ही अग्नि के रूप में बाहर निकल कर ब्रह्मा का दर्शन करने के लिये उनके लोक में गया था। उन ब्रह्मा ने मेरे प्राण को यह संदेह लेकर भेजा है कि साक्षात् भगवान शङ्कर अपने तेज के आधे भाग से मेरे पुत्र होंगे।' तदनन्तर कृष्ण ने उन ऋषियों से कहा कि यदि उन लोगों ने पृथिवी पर या स्वर्ग में कोई महान आश्चर्य की बात देखी या सुनी हो तो उसे बतायें। तब ऋषियों ने कृष्ण की स्तुति करने के पश्चात् नारद मुनिसे कहा कि मुनियों ने हिमालय पर्वत पर जिस अचिन्त्य आश्चर्य का दर्शन एवं अनुभव किया था, उसे वे कृष्ण को बतायें। तदनुसार नारद ने महादेव तथा उनकी पत्नी, हिमालय की पुत्री पार्वती अथवा उमा के बीच हुये लम्बे वार्तालाप का वर्णन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि महादेव उस पर्वत पर, जहाँ भूतों की टोलियाँ तथा अप्सरायें भी निवास करती थीं, तपस्या कर रहे थे (१३.१४०,२.३)।

व्याघ्रचर्म का वस्त्र धारण किये हुए महादेव उस मनोरम पर्वत-क्षेत्र में बैठे हुए थे। उनके गले में सर्पमय यज्ञोपवीत सुशोभित हो रहा था (श्लो० १८,१९)। उसी समय भूतों की स्त्रियों से घिरी हुई उनकी पत्नी उमा, वहाँ आई। उन्होंने भी शङ्कर के ही समान वस्त्र धारण कर रक्खा था। आते ही मनोहर हास्यवाली उन उमा ने हास-परिहास के लिये दोनों हाथों से सहसा भगवान शिव के दोनों नेत्र बन्द कर दिये। इसका अत्यन्त भीषण परिणाम हुआ। सहसा जगत् अन्धकारमय और चेतनाशून्य, होम और वषट्कार से रहित हो गया। फिर भी, महादेव के ललाट से एक अत्यन्त दीप्तिशालिनी महाज्वाला के प्रगट होते ही क्षण भर में जगत् का सम्पूर्ण अन्धकार दूर हो गया। उस समय महादेव के ललाट में आदित्य के समान तेजस्वी एक तीसरे नेत्र का आविर्भाव हो गया (श्लो० ३०)। इस नेत्र से प्रगट हुई ज्वाला ने उस पर्वत को जलाकर मथ डाला। उस पर का सभी कुछ जलकर भस्म हो गया। पर्वत को दग्ध हुआ देखकर उमा दोनों हाथ जोड़कर शङ्कर की शरण में गई। उनकी ऐसी दशा देखकर शङ्कर ने हिमालय को प्रसन्नतापूर्वक देखा और उसी क्षण वह सम्पूर्ण हिमालय पर्वत अपनी पूर्वस्थिति में आ गया। उमा ने तब महादेव से ललाट में तृतीय नेत्र के प्रगट होने का कारण पूछा (श्लो० ४१)। उमा ने मनुष्यों के धर्म तथा अनेक अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी शङ्कर से प्रश्न किये और शङ्कर ने सब का यथोचित उत्तर दिया (श्लो० ४२ और बाद)। इसके बाद महादेव ने उमा से नारीधर्म का वर्णन करने के लिये कहा। उमा ने कहा : मैं स्त्री-धर्म का वर्णन कर सकती हूँ : किन्तु ये नदियाँ सम्पूर्ण तीर्थों के जल से सम्पन्न होकर आ रही हैं, अतः मैं इन सब से परामर्श करके स्त्री-धर्म का वर्णन करूँगी।' नदियों की ओर से गङ्गा ने कहा कि उमा देवी स्वयं ही दिव्यज्ञान से सम्पन्न हैं, अतः वही स्त्री-धर्म का उपदेश करें। इस पर उमा ने स्त्री-धर्म का पूर्णतः वर्णन किया (१३.१४६, ३१ और बाद)। भीष्म ने बताया कि पार्वती के द्वारा नारीधर्म का वर्णन सुनकर महादेव ने वहाँ समस्त अनुचरों के साथ आये हुये लोगों को जाने की आज्ञा दी। तब समस्त भूतगण, सरितायें, गन्धर्व और अप्सरायें शङ्कर को प्रणाम करके यथा-स्थान चले गये (श्लो० ६०-६१)। यहाँ हमें यह आशा थी कि नारद (जो अभी तक हिमालय पर हुई घटनाओं और बातों का वर्णन कर रहे थे) बिना किसी अन्य मध्यवर्ती वक्ता के ही सम्पूर्ण वृत्तान्त समाप्त करेंगे। किन्तु यहाँ बीच में महेश्वर आ जाते हैं और नारद पुनः १३.१४८,१ से अपना वर्णन आरम्भ करते हैं। कारण जो कुछ भी हो, भीष्म कहते हैं कि ऋषियों ने महादेव से वासुदेव की महिमा का वर्णन करने के लिये कहा। महादेव के कथन के बाद नारद पुनः

अपना वर्णन आरम्भ करते हैं और बताते हैं कि आकाश में बिजली की गड़-गड़ाहट और मेघों की गम्भीर गर्जना के साथ महान् शब्द होने लगा। मेघों से आच्छादित होकर सम्पूर्ण आकाश नीला हो गया। उस समय उस पर्वत पर जब ऋषियों ने दृष्टिपात किया तो वहाँ न तो महादेव थे और न भूतों का समुदाय। फिर तत्काल एक ही क्षण में सारा आकाश स्वच्छ, और अन्धकार दूर हो गया। तब नारद कृष्ण से कहते हैं: 'ब्रह्मभूत सनातन पुरुष आप ही हैं, जिनके लिये हिमालय के शिखर पर महादेव ने हम लोगों को उपदेश दिया था' (श्लो० ५.६)। नारद का वर्णन समाप्त होने पर ऋषियों ने कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति प्रगट की (श्लो० १० और बाद) और कहा: 'यह सम्पूर्ण रहस्य हम ने आप से कहा, आप ही अर्थ-तत्व के ज्ञाता हैं। हमने आप से पूछा था, परन्तु आप स्वयं ही जब हम से प्रश्न करने लगे तब हम लोगों ने आपकी प्रसन्नता के लिये इस गोपनीय रहस्य का वर्णन किया।' अन्त में उन कृष्ण की सर्वज्ञता आदि की चर्चा करते हुये भी वे ऋषिगण उन्हें यह आश्वासन देते है कि उन्हें उन्हीं के समान पुत्र प्राप्त होगा। यहाँ यह आश्वासन निरर्थक ही प्रतीत होता है। तब भीष्म बताते हैं कि अपना व्रत पूर्ण करके कृष्ण द्वारका लौट आये जहाँ उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ (श्लो० २०)। यहाँ भीष्म कृष्ण के दिव्य चरित्र का और वर्णन करते हैं। फिर भी युधिष्ठिर को अभी सन्तोष नहीं हुआ और वे इस प्रकार पूछते हैं:

महा० १३.१४९,१ और बाद: किम् एकम् दैवतं लोके किं वाप्य् एकम् परायणम्। कं स्तुवन्तः कम् अर्चन्तः प्राप्नुयुर् मानवाः शुभम्। को धर्मः सर्व-धर्माणम् भवतः परमो मतः। किं जपन् मुच्यते जन्तुर् जन्म-संसार-बन्धनात्। भीष्म उवाच। जगत् प्रभुं देव देवम् अनन्तम् पुरुषोत्तमम्। स्तुवन् नाम-सहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः। तम् एव चार्चयन् नित्यम् भक्त्या पुरुषम् अव्ययम्। ध्यायन् स्तुवन् नमस्यश्च यजमानस् तम् एव च। अन् आदि-निधन विष्णु सर्व-लोक-महेश्वरम्। लोकाध्यक्षं स्तुवन् नित्यं सर्व-दुःखातिगो भवेत्। ब्रह्मण्य सर्व-धर्म ज्ञं लोकानां कीर्त्ति-वर्धनन्। लोकनाथम् महद् भूतं सर्व-भूत भवोद्भवम्। एष मे सर्व-धर्माणं धर्मोऽधिकतमो मतः।···११. यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्य् आदि-युगागमे। यस्मिंश्च प्रलय यान्ति पुनर् एव युगक्षये। तस्य लोक-प्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते। विष्णोर् नामसहस्रम मे शृणु पाप-भयापहम्।

"समस्त जगत् में एक ही देव कौन है तथा इस लोक में एक ही परम आश्रय-स्थान कौन है? किस देव की स्तुति करने से तथा किस देव का नाना प्रकार से बाह्य और आन्तरिक पूजन करने से मनुष्य कल्याण की प्राप्ति कर

सकते है। आप समस्त धर्मों में किस धर्म को परम श्रेष्ठ मानते हैं? तथा किसका जप करने से जीव जन्म-मरणरूप संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है? भीष्म ने कहा : स्थावर-जङ्गम ससार के स्वामी, ब्रह्मादि देवों के देव, अनन्त पुरुषोत्तम का सहस्रों नामों के द्वारा निरन्तर तत्पर रह कर स्तवन करने से पुरुष सब दुखों से पार हो जाता है। उन्हीं विनाशरहित पुरुष का सब समय भक्तिपूर्वक पूजन करने से, उन्हीं का ध्यान करने से, तथा स्तवन एवं नमस्कार करने से यजमान समस्त दुःखों से छूट जाता है। उस जन्म-मृत्यु आदि भाव-विकारों से रहित, सर्व-व्यापक, सर्वलोक-महेश्वर, लोकाध्यक्ष देव की निरन्तर स्तुति करने से मनुष्य सब दुःखों से पार हो जाता है। ब्राह्मणों के हितकारी, सर्वधर्मज्ञ, प्राणियों की कीर्त्ति का वर्धन करनेवाले, लोकनाथ, समस्तभूतों के उत्पत्ति-स्थान एवं संसार के कारण रूप परमेश्वर का स्तवन करने से मनुष्य दुःखों से छूट जाता है। सम्पूर्ण धर्मों में मैं इसी धर्म को सबसे बड़ा मानता हूँ। कल्प के आदि में जिससे सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और फिर युग का क्षय होने पर महाप्रलय में जिसमें वे विलीन हो जाते है उन लोकप्रधान, ससार के स्वामी, भगवान् विष्णु के सहस्रनाम मुझ से सुनो जो पाप और संसार के भय को दूर करनेवाले है।"

इसके बाद विष्णु के इन सहस्र नामों का वर्णन किया गया है, जिनके बीच ये नाम भी मिलते हैं जो साधारणतया महादेव की उपाधियाँ हैं, जैसे शर्व, सर्व, शिव, स्थाणु (श्लो० १७), ईशान (श्लो० ११), रुद्र (श्लो० २६)।

पुनः, अनुशासन पर्व में हमें यह बताया गया है कि ऋषियों ने महादेव से वासुदेव की महिमा का वर्णन करने का अनुरोध किया, जिस पर महादेव इस प्रकार कहते हैं :

महा० १३.१४७,२ और बाद : पितामहाद् अपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः। कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः। दश-बाहुर् महातेजा देवतारि-निसूदनः। श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्व-दैवत-पूजितः। ब्रह्मा तस्योदर-भवस् तथा चाहं शिरो-भवः। शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः। ऋषयो देह-सम्भूतास् तथा लोकाश् च शाश्वताः। पितामह-गृह साक्षात् सर्व देव-गृहं च सः। सोऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः। संहर्त्ता चैव भूतानां स्थावरस्य चरस्य च। सहि देव-वरः साक्षाद् देव-नाथः परन्तपः। सर्वज्ञः स हि संश्लिष्टः सर्वगः सर्वतो-मुखः। परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापी महेश्वरः। न तस्मात् परमम भूत त्रिषु लोकेषु किञ्चन। सनातनो वै मधुहा गोविन्द इति

सिद्ध करने के लिये पृथ्वी पर मानव शरीर धारण करके प्रगट हुये है। उन भगवान् त्रिविक्रम की शक्ति और सहायता के विना सम्पूर्ण देवता भी कोई कार्य नहीं कर सकते। संसार में नेता के विना देवता अपना कोई कार्य करने में असमर्थ हैं और ये भगवान् कृष्ण सब प्राणियों के नेता हैं। इसलिये समस्त देवता उनके चरणों में मस्तक झुकाते हैं। देवताओं की रक्षा और उनके कार्यसाधन में संलग्न रहनेवाले ये वासुदेव ब्रह्म-स्वरूप हैं। वे ही ब्रह्मर्षियों को सदा शरण देते हैं। ब्रह्मा उनके शरीर के भीतर अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं। सदा सुखी रहनेवाला मैं शिव भी उनके श्रीविग्रह के भीतर सुखपूर्वक निवास करता हूँ। सम्पूर्ण देवता उनके श्रीविग्रह में सुखपूर्वक निवास करते हैं। वे पुण्डरीकाक्ष हरि अपने गर्भ में लक्ष्मी को निवास देते हैं। लक्ष्मी के साथ ही वे रहते हैं। ' परम बुद्धि से सम्पन्न गोविन्द यहाँ देवताओं की उन्नति के लिये प्रजापति के शुभमार्ग पर स्थित हो मनु के धर्म-संस्कृत कुल में अवतार लेंगे। '''उस कुल में महापराक्रमी, महायशस्वी और दूसरों को सम्मान देनेवाले क्षत्रिय-शिरोमणि शूर अपने वंश का विस्तार करनेवाले वसुदेव नामक पुत्र को जन्म देंगे जिनका दूसरा नाम आनकदुन्दुभि[२०८] होगा। उन्हीं के पुत्र, चार भुजाधारी वासुदेव होंगे। वासुदेव दानी, ब्राह्मणों का सत्कार करनेवाले, ब्रह्मभूत और ब्राह्मण-प्रिय होंगे।''' आप लोग उन्हीं भगवान की शरण लेकर अपनी वाङ्मयी मालाओं तथा श्रेष्ठ पूजनोपचारों से सनातन ब्रह्मा की भाँति उनका यथोचित पूजन करें। जो मेरा और पितामह ब्रह्मा का दर्शन करना चाहता है उसे प्रतापी वासुदेव का दर्शन करना चाहिये। तपोधनो! उनका दर्शन हो जाने पर मेरा ही दर्शन हो गया, अथवा उनके दर्शन से देवेश्वर ब्रह्मा का दर्शन हो गया ऐसा समझो; इस विषय में मुझे कोई विचार नहीं करना है।"

इसी अनुशासन पर्व में कुछ और आगे यह कहा गया है कि जब युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों के सत्कार से उत्पन्न फलों के सम्बन्ध में पूछा तब भीष्म उनसे इस सम्बन्ध में श्री कृष्ण से पूछने के लिये कहते हैं, और इसी सन्दर्भ में कृष्ण की दिव्य महिमा का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

महा० १३.१५८,७ और बाद : कृष्णः पृथ्वीम् असृजत् खं दिवञ्च कृष्णस्य देहाद् मेदिनी सम्बभूव। वराहोऽयम् भीम-बलः पुराणः स पर्वतान् व्यसृजद् वै दिशश्च। अस्य चाधोऽथान्तरिक्षं दिवञ्च दिशश् चतस्रो विदिशश् चतस्रः। सृष्टिस् तथैवेयम् अनुप्रसूता स निर्ममे विश्वम् इदम् पुराणम्। अस्य नाभ्याम् पुष्कर सम्प्रसूत यत्रोपन्नः

---

[२०८] देखिये विलसन का विष्णु पुराण, पृ० ४३६।

स्वयम् एवामितौजः। येन छिन्नं यत् तमः पार्थ घोरं यत् तत् तिष्ठत्य् अर्णवं तर्जयानम्।···३५. वायुर् भूत्वा विक्षिपते स विश्वम् अग्निर् भूत्वा दहते विश्व-रूपः। आपो भूत्वा मज्जयते स सर्वम् ब्रह्मा भूत्वा सृजते सर्व-संघान्। वेद्यञ्च यद् वेदयते च वेद्य विधिश्च यश् चाश्रयते विधेयम्। धर्मे च वेदे च बले च सर्वं चराचरं केशवं त्वम् प्रतीहि। ज्योतिर्-भूतः परमोऽसौ पुरस्तात् प्रकाशते यत् प्रभया विश्व-रूपः। अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्म-योनिः पुराऽकरोत् सर्वम् एवाथ विश्वम् इत्यादि।

"श्रीकृष्ण ने ही इस पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग की सृष्टि की है। इन्हीं के शरीर से पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ है। यही भयंकर बलवाले वराह के रूप में प्रगट हुये थे तथा इन्हीं पुराण-पुरुष ने पर्वत और दिशाओं को उत्पन्न किया है। अन्तरिक्ष, स्वर्ग, चारों दिशायें, तथा चारों कोण—ये सब भगवान कृष्ण से नीचे हैं। इन्हीं से सृष्टि की परम्परा प्रचलित हुई है तथा इन्होंने ही इस प्राचीन विश्वका निर्माण किया है। पार्थ! सृष्टि के आरम्भ में इनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ और उसी के भीतर अमित तेजस्वी ब्रह्मा स्वतः प्रगट हुये। इन्होंने उस उस घोर अन्धकार का नाश किया जो समुद्र को भी डाँट बताता हुआ सब ओर व्याप्त हो रहा था। ...३५. ये विश्वरूप कृष्ण ही वायु का रूप धारण करके संसार को चेष्टा प्रदान करते हैं, जल का रूप धारण करके जगत को डुबाते हैं और ब्रह्मा होकर सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करते हैं। ये स्वयं वेद्य-स्वरूप होकर भी वेद-वेद्य तत्त्व को जानने का प्रयत्न करते हैं। विधिरूप होकर विहित कर्मों का आश्रय लेते हैं। ये ही धर्म, वेद और बल में स्थित हैं। तुम यह विश्वास करो कि समस्त चराचर जगत् श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है। ये विश्वरूपधारी श्रीकृष्ण परम ज्योतिर्मय सूर्य का रूप धारण करके पूर्वदिशा में प्रगट होते हैं। इनकी प्रभा से सम्पूर्ण जगत प्रकाशित होता है। ये समस्त प्राणियों की उत्पत्ति के स्थान हैं। इन्होंने पूर्व काल में पहले जल की सृष्टि करके फिर सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया था।"

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण (१३.१५९,२ और बाद) ब्राह्मणों की सेवा के फल का उपदेश देते हैं। कृष्ण के अनुसार क्रोध में आकर ब्राह्मण इस जगत् को भस्म कर सकते हैं। ये दूसरे-दूसरे लोक और लोकपालों की सृष्टि भी कर सकते हैं (श्लो० १२.१३)। तदन्तर श्रीकृष्ण ब्राह्मणों की सेवा-सम्बन्धी अपने अनुभव सुनाते हैं, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है (दुर्वासा की कथा) श्रीकृष्ण महादेव द्वारा की गई अपनी स्तुति की चर्चा करते हुये महादेव की महिमा का वर्णन करते हैं, यद्यपि ये उन्हें उतने स्पष्ट शब्दों में परमेश्वर नहीं कहते जितने स्पष्ट शब्दों ने इन्हें ऊपर उद्धृत स्थल पर परमेश्वर कहा है।

आश्वमेधिक पर्व में यह कहा गया है कि जब कृष्ण पाण्डवों की नगरी से प्रस्थित होकर द्वारका की यात्रा कर रहे थे तो उस समय इनसे उत्तङ्क मुनि मिले और उन्होंने पूछा कि इन्होंने कौरवों और पाण्डवों में सन्धि करा दी या नहीं। कृष्ण ने मुनि को बताया कि समस्त प्रयासों के विपरीत भी उन्हें दोनों में सन्धि कराने में सफलता नहीं मिली, और युद्ध के परिणामस्वरूप कौरवों का उन्मूलन हो गया। इस समाचार को सुनकर उत्तङ्क मुनि अत्यन्त क्रुद्ध होकर कृष्ण को शाप देने को उद्यत हुये क्योंकि उन्होंने सामर्थ्यवान् होते हुये भी कौरवों की रक्षा नहीं की। मुनि के क्रोध को शान्त करने के लिये कृष्ण उन्हें परिस्थितियों की व्याख्या तथा अपने स्वभाव के रहस्य का वर्णन करते हैं :

महा० १४.५४,२ और बाद : वासुदेव उवाच। तमो रजश् च सत्त्व च विद्धि भावान् मदाश्रयान्। तथा रुद्रान् वसून् वाऽपि विद्धि मत्-प्रभवान् द्विज। मयि सर्वाणि भूतानि सर्व-भूतेषु चाप्य् अहम्। स्थितः इत्यादि। ५. सद् असच्चैव यत् प्राहुर् अव्यक्तम् व्यक्तम एव च। अक्षरञ्च क्षरञ्चैव सर्वम् एतद् मद्-आत्मकम्। ये चाश्रमेषु वै धर्माश् चतुर्धा विदिता मुने। वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वम् मद्-आत्मकम्। असच्च सद्-असच्चैव यद् विश्व सद्-असत्-परम्। मत्तः प्रतरं नास्ति देव-देवात् सनातनात्। ओंकार-प्रमुखान्। वेदान् विद्धि मां त्वम् भृगुद्वह। यूप सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनम् मखे। होतारम् अपि अपि हव्यञ्च विद्धि माम् भृगु-नन्दन। अध्वर्युः कल्पकस्यापि हविः परम-संस्कृतम्। उद्गाता चापि मां स्तौति गीत-घोषैर् महाध्वरे। प्रायश्चित्तेषु माम् ब्रह्मन् शान्ति-मङ्गल-वाचकाः स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विज-सत्तम। मम विद्धि सुतं धर्मम् अग्रजं द्विज-सत्तम। मानस दयितं विप्र सर्व-भूत-दयात्मकम्। तत्राह वर्त्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः। बह्वीः संसरमाणो वै योनीर् वर्त्तामि सत्तम। धर्म-संरक्षणार्थाय धर्म-संस्थापनाथ च। तैस् तैर् वेशैश् च रूपैश् च त्रिशु लोकेषु भार्गव। अहं विष्णुर् अहम् ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाययः (आप्ययः ?)[२०९] भूत-ग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च। अधर्मे वर्त्तमाणानां सर्वेषाम् अहम् अच्युत। धर्मस्य सेतुम् बध्नामि चलिते चलिते युगे। तास् ता योनीः प्रविश्याहम् प्रजानां हित-कामयया। यदा त्व् अहं देव-योनौ वर्त्तामि भृगु नन्दन। तदाऽहं देव-वत् सर्वम् आचरामि न संशयः।...२०. मानुष्ये वर्त्तमाने तु कृपणं याचिता मया। न च ते जात-सम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मोहिताः।

---

[२०९] देखिये 'अप्यय' के अन्तर्गत बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश।

भयञ्च महद् उद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया। क्रुद्धेन भूत्वा च पुनर् यथावद् अनुदर्शिताः। तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः काल-धर्मणा। धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः। ५५.१ उत्तङ्क उवाच। अभिजानामि जगत. कर्त्तारं त्वां जदार्दन।

"वासुदेव ने कहा : 'ब्रह्मर्षे! आपको यह विदित होना चाहिये कि तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—ये सभी भाव मेरे ही आश्रित हैं। रुद्रों और वसुओं को भी आप मुझसे ही उत्पन्न जानिये। सम्पूर्ण भूत मुझमें हैं और मैं सम्पूर्ण भूतों में स्थित हूँ : इस बात को आप अच्छी तरह समझ लें। इसमें आपको संशय नहीं होना चाहिये। ...विद्वान लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त और क्षर-अक्षर कहते हैं वह सब मेरा ही स्वरूप है। मुने! चारों आश्रमों में चार प्रकार के धर्म प्रसिद्ध हैं तथा जो सम्पूर्ण वेदोक्त कर्म हैं, उन सबको मेरा स्वरूप ही समझिये। असत्-सत्सत् तथा उससे भी परे जो अव्यक्त जगत् है वह भी मुझ सनातन देवाधिदेव से पृथक नहीं है। भृगुश्रेष्ठ! ओंकार से आरम्भ होनेवाले चारों वेद मुझे ही समझिये। यज्ञ में यूप, सोम, चरु, देवताओं को तृप्त करनेवाला होम, होता, और हवन-सामग्री भी मुझे ही जानिये। भृगुनन्दन! अध्वर्यु, कल्पक और परमसंस्कृत हविष्य—ये सब मेरे ही स्वरूप हैं। बड़े-बड़े यज्ञों में उद्गाता उच्च स्वर से सामगान करके मेरी स्तुति करते हैं। ब्रह्मन्! प्रायश्चित्त-कर्म में शान्तिपाठ तथा मंगलपाठ करनेवाले ब्राह्मण सदा मुझ विश्वकर्मा का ही स्तवन करते हैं। द्विजश्रेष्ठ! तुम्हें विदित होना चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करनेवाला जो मेरा धर्म-रूप है वह मेरा परम-प्रिय ज्येष्ठ पुत्र है। मेरे मन से उसका प्रादुर्भाव हुआ है। भार्गव! उस धर्म में प्रवृत्त होकर जो पाप-कर्मों से निवृत्त हो गये हैं, ऐसे मनुष्यों के साथ मैं सदा निवास करता हूँ। साधु शिरोमणि! मैं धर्म की रक्षा और स्थापना के लिये तीनों लोकों में बहुत-सी योनियों में अवतार धारण करके उन उन रूपों और वेषों द्वारा तदनुरूप व्यवहार करता हूँ। मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा, मैं ही इन्द्र हूँ। सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का कारण भी मैं हूँ। समस्त प्राणिसमुदाय की सृष्टि और संहार भी मेरे ही द्वारा होते हैं। अधर्म में लिप्त सभी मनुष्यों को दण्ड देनेवाला और अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होनेवाला ईश्वर मैं ही हूँ। जब जब युग का परिवर्तन होता है तब-तब मैं प्रजा की भलाई के लिये भिन्न-भिन्न योनियों में प्रविष्ट होकर धर्म मर्यादा की स्थापना करता हूँ। भृगुनन्दन! तब मैं देव-योनियों में अवतार लेता हूँ, तब देवताओं की ही भाँति सारे आचार-विचार का पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं।' ' इस समय मैं मनुष्य योनि में अवतीर्ण

हुआ हूँ इसलिये कौरवों पर अपनी ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधि के लिये प्रार्थना की थी; परन्तु उन्होंने मोहग्रस्त होने के कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी। इसके बाद क्रोध में भरकर मैंने कौरवों को बड़े-बड़े भय दिखाये और उन्हें बहुत डराया-धमकाया, तथा यथार्थ रूप से युद्ध का भावी परिणाम भी उन्हें दिखाया; परन्तु वे तो अधर्म से युक्त एवं काल से ग्रस्त थे, अतः मेरी बात स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं हुये। फिर सब क्षत्रिय-धर्म के अनुसार युद्ध में मारे गये। इसमें संदेह नहीं कि वे सब-के-सब स्वर्गलोक में गये गये हैं।[२१०]... उत्तङ्क ने कहा :

---

[२१०] देखिये महाभारत १२.९८,४४, जहाँ इन्द्र इस प्रकार कहते है · आहवे तु हत शूर न शोचेत कथञ्चन। अशोच्यो हि हत. स्वर्ग-लोके महीयते। न ह्य् अन्न नोदक तस्य न स्नान नाप्य् अशौचकम्। हतस्य कर्त्तुम् इच्छन्ति तस्य लोकान् शृणुष्व मे। वराप्सर-सहस्राणि शूरम् आयोधने हतम्। त्वरमाणाऽभिधावन्ति "मम भर्त्ता भवेद" इति।' "युद्धभूमि मे मारे गये शूरवीर के लिये किसी प्रकार भी शोक नही करना चाहिये। वह मारा गया शूरवीर स्वर्ग लोक मे प्रतिष्ठित होता है, अत कदापि शोचनीय नही है। युद्ध मे मारे गये वीर के लिये उसके आत्मीयजन न तो स्नान करना चाहते हैं, न अशौच सम्बन्धी कृत्य का पालन, न अन्न-दान करने की इच्छा करते हैं, और न जलदान करने की। उसे जो लोक प्राप्त होते हैं उन्हे मुझसे सुनो। युद्धस्थल मे मारे गये शूरवीर की ओर सहस्रो सुन्दरी अप्सरायें यह आशा लेकर अत्यन्त शीघ्रता के साथ दौडी जाती हैं कि यह 'मेरा पति हो जाय।'" प्रो० वेबर ने इण्डिशे स्टूडियन १.३९८, नोट, मे इस स्थल को उद्धृत कर के इसके समानान्तर कोरान के हूरो के वर्णन का उल्लेख किया है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण जरासन्ध से भी कहते हैं · महा० २.२२,१६ और बाद 'को हि जानन्न अभिजनम् आत्मवान् क्षत्रियो नृप। नावशत् स्वर्गम् अतुलं रणानन्तरम् अव्ययम्। स्वर्गं ह्य् एव समास्थाय रण यज्ञेषु दीक्षिताः। जयन्ति क्षत्रिया लोकास् तद् विद्धि मनुजर्षभ। स्वर्ग-योनिर् महद् ब्रह्म स्वर्ग-योनिर् महद् यश। स्वर्ग-योनिस् तपो युद्धे मृत्यु सऽव्यभिचारवान्।' "राजन्! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजन को जानते हुये भी युद्ध करके अनुपम एव अक्षय स्वर्गलोक मे जाना नही चाहेगा? नरश्रेष्ठ! स्वर्ग-प्राप्ति का ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञ की दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने सभी लोको पर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हे भली भाँति जाननी चाहिये। वेदाध्ययन स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, परोपकार रूप महान यश भी स्वर्ग का

'जनार्दन ! मैं जानता हूँ कि आप सम्पूर्ण जगत् के कर्ता हैं," इत्यादि। तदनन्तर श्रीकृष्ण मुनि को अपने विश्वरूप का दर्शन कराते हैं।

७. गत पृष्ठों में अनेक ऐसे स्थलों को उद्धृत किया गया है जिनमें महादेव की श्रेष्ठता तथा विश्वात्मा के साथ उनके तादात्म्य का प्रतिपादन किया गया है (पृ० १६५ और बाद)। साथ ही ऐसे स्थल भी उद्धृत किये गये हैं जिनमें विष्णु को भी ऐसा ही पद प्रदान किया गया है (पृ० २२८ और बाद)। इसी प्रकार पाठकों ने यह भी देखा होगा कि (पृ० २१० और बाद) इन दोनों देवताओं की अनिवार्य एकता की ओर संकेत करते हुये कुछ स्थलों पर दोनों के विरोधी अधिकारों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार का एक अन्य स्थल हरिवंश में आता है। इस स्थल के पूर्व के अध्याय में यह कहा गया है कि कृष्ण के साथ युद्ध में बाणासुर तथा अन्य दानवों की सहायता के लिये जब शिव आये तब कृष्ण तथा शिव में इतना भीषण युद्ध हुआ कि पृथिवी काँपने लगी और सम्पूर्ण जगत् अस्त-व्यस्त हो गया। अन्ततः अपने प्रतिद्वन्द्वी के जृम्भनास्त्र से मूर्च्छित होकर शिव बार-बार जम्हाई लेने लगे। इससे पीड़ित होकर पृथिवी देवी ब्रह्मा की शरण में गई। ब्रह्मा तब शिव के कृष्ण के साथ युद्ध को अनुचित बताते हुये दोनों की एकता का शिव को स्मरण दिलाते हैं। तब शिव ने योगशक्ति द्वारा ब्रह्मा के वचन की सत्यता को जानकर ब्रह्मा से कहा कि अब वे कृष्ण से युद्ध नहीं करेंगे। फलस्वरूप दोनों (कृष्ण और शिव) ने एक दूसरे का आलिङ्गन किया। तब ब्रह्मा महर्षि मार्कण्डेय से कहते हैं कि उन्होंने (ब्रह्मा ने) मन्दराचल के पार्श्वभाग में सोते समय एक सरोवर के तट पर कृष्ण और शङ्कर को देखा था जो तत्काल ही एक दूसरे के रूप में बदल गये। आगे ब्रह्मा इस प्रकार कहते हैं (विष्णुपर्व, १२५,२६ और बाद): 'मैंने हर को हरि रूप में देखा और हरि को हर रूप में। हर ने हाथों में शङ्ख, चक्र और गदा ले रक्खी थी, और उनके अंगों पर पीताम्बर शोभित था। उधर हरि त्रिशूल, और पट्टिश धारण किये बाघम्बर पहने हुये थे। शङ्कर गरुड़ पर बैठे थे और हरि वृषभ पर। ब्रह्मन्! वह अद्भुत दृश्य देखकर मुझे महान् विस्मय हुआ। अतः आप उसके रहस्य का यथार्थ विवेचन करें।' मार्कण्डेय तब इस प्रकार उत्तर देते हैं :

हेतु है, तपस्या को भी स्वर्गलोक का साधन बताया गया है, परन्तु क्षत्रिय के लिये इन तीनो की अपेक्षा युद्ध मे मृत्यु का वरण करना ही स्वर्गप्राप्ति का अमोघ साधन है।"

हरिवंश, विष्णु पर्व, १२५.२९ और बाद : मार्कण्डेय उवाच। शिवाय विष्णु रूपाय विष्णवे: शिव रूपिणे। अथान्तरं न पश्यामि तेन त दिशत:[२११] शिवम्। अ-आदि-मध्य-निधनम् एतद् अक्षरम् अव्ययम्। तद् एव ते प्रवक्ष्यामि रूपम् हरि-हरात्मकम्। यो वै विष्णुः स वै रुद्रो यो रुद्र स पितामहः। एका मूर्त्तिस् त्रयो देवा रुद्र-विष्णु-पितामहाः। वरदा लोक-कर्त्तारो लोक-नाथाः स्वयम्भुवः। अर्धनारीश्वरास् ते तु व्रतं तीव्रं समाश्रिताः। यथा जले जलं क्षिप्त जलम् एव तु तद् भवेत्। रुद्र विष्णुः प्रविष्टस् तु तथा रुद्रमयो भवेत्। अग्निम् अग्निः प्रविष्टस् तु अग्निर् एव यथा भवेत्। तथा विष्णुम् प्रविष्टस् तु रुद्रो विष्णुमयो भवेत्। रुद्रम् अग्निमय विद्याद् विष्णु. सोमात्मकः स्मृतः। अग्नीषोमात्मकं चैव जगत् स्थावर-जङ्गमम्। कर्त्तारौ चापहर्त्तारौ स्थावरस्य चरस्य च। जगतः शुभ-कर्त्तारौ प्रभू विष्णु-महेश्वरो। कर्तृ-कारण-कर्त्तारौ कर्तृ-कारण-कारकौ। भूत-भव्य-भवौ देवौ नारायण-महेश्वरौ। एतौ तौ च प्रवक्ताराव् एतौ तौ च प्रभामयौ। जगतः पालकाव् एताव् एतौ सृष्टिकरौ। स्मृतौ। एते चैव प्रवर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च। एतत् परतरं गुह्यं कथित ते पितामह। यश् चैनम् पठते नित्य यश् चैनं श्रिणुयाद् नरः। प्राप्नोति परमं स्थानं रुद्र-विष्णु-प्रसाद-जम्। देवौ हरि-हरौ स्तोष्ये ब्रह्मणा सह सङ्गतौ। एतौ च परमौ देवौ जगतः प्रभवाप्ययौ। रुद्रस्य परमो विष्णुर् विष्णोश्च परमं शिवः। एक एव द्विधा-भूतो लोके चरति नित्यशः। नो विना शङ्करं विष्णुर् न विना केशव शिवः। तस्माद् एकत्वम् आयातौ रुद्रोपेन्द्रौ तु तौ पुरा। इत्यादि।

"मार्कण्डेय बोले : विष्णु-रूपधारी शिव और शिवरूपधारी विष्णु को नमस्कार है। मैं इन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखता : मेरे इस भाव से सन्तुष्ट होकर वे दोनों मुझे कल्याण प्रदान करें। आदि, मध्य, और अन्त से रहित जो यह अविनाशी और अचर ब्रह्म है उसका स्वरूप हरिहरात्मक है। ब्रह्मन्! मैं आपके समक्ष उसी हरिहरात्मक ब्रह्म का वर्णन करूँगा। जो विष्णु हैं वे ही रुद्र हैं, और जो रुद्र हैं वे ही ब्रह्मा हैं। इनका मूलस्वरूप तो एक ही है, परन्तु ये कार्य भेद से रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा तीन देवता कहलाते हैं। ये सब के सब लोक-स्रष्टा, वरदायक, जगन्नाथ, स्वयम्भू, अर्धनारीश्वर, तथा तीव्र व्रत का आश्रय लेनेवाले हैं। जैसे जल में डाला हुआ जल जलरूप ही हो जाता है, उसी प्रकार रुद्र देव में प्रविष्ट हुये भगवान विष्णु रुद्रमय हो जाते हैं।

[२११] रायल एशियाटिक सोसाइटी की पाण्डुलिपि मे 'दर्शित' पाठ है।

जैसे अग्नि में प्रविष्ट हुई अग्नि अग्निरूप होती है, उसी प्रकार विष्णु में प्रविष्ट हुये रुद्र विष्णुरूप ही होते हैं। रुद्र को अग्निस्वरूप जाने और विष्णु सोमस्वरूप माने गये है। इसलिये यह समस्त चराचर जगत् अग्नीषोमात्मक कहलाता है। यह हरि और हर ही समस्त चराचर जगत् के कर्त्ता, संहारक, शुभकारक, तथा प्रभावशाली महेश्वर हैं। ये नारायण और महेश्वर कर्त्ता और कारण के भी आदि कर्त्ता हैं, तथा कर्त्ता और कारण से भी काम करानेवाले हैं। ये ही दोनों भूत, भविष्य, और वर्तमान रूप हैं। ये ही जगत् के पालक हैं, और इन्हें ही इसकी सृष्टि करनेवाला माना गया है। ये ब्रह्मा, विष्णु, और शिव वर्षा करते हैं, प्रकाशित होते हैं, और सर्वत्र गतिशील होते हैं। ये ही सृष्टि करते हैं। पितामह ! यह मैंने आपसे परम गुह्य रहस्य का वर्णन किया है। जो प्रतिदिन इस स्तोत्र का पाठ करता है और जो इसे सुनता है वह मनुष्य विष्णु और रुद्र के प्रसाद से परम पद को प्राप्त कर लेता है। मैं ब्रह्मा के साथ मिले हुये हरि और हर दोनों देवताओं की स्तुति करूँगा। ये ही दोनों परम देव हैं और ये ही जगत् की सृष्टि तथा संहार के कारण है। रुद्र के परम देव विष्णु हैं, विष्णु के परमदेव शिव हैं। एक ही परमेश्वर दो रूपों में व्यक्त होकर सदा समस्त जगत् में विचरते रहते हैं। शङ्कर के विना विष्णु नहीं है और विष्णु के विना शिव नहीं हैं। अतः ये रुद्र और विष्णु पूर्वकाल से ही एकत्व को प्राप्त हैं।" इत्यादि।

इसके बाद इन दोनों देवताओं की संयुक्त स्तुति की गई है।

ऊपर उद्धृत् विभिन्न स्थलों में व्यक्त कृष्ण के विभिन्न स्वरूपों का स्वय अपने में भी पर्याप्त महत्त्व है। साथ ही ये उस प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालते हैं जिसके अनुसार इनको दिव्यत्व प्रदान किया गया। महाभारत से उद्धृत स्थलों मे कुछ ऐसे हैं जिनमें इन्हें स्पष्ट रूप से महादेव से हीन कहा गया है (देखिये पृ० १६४ और बाद) और ये न केवल उनकी उपासना ही करते हैं वरन् उनसे तथा उनकी पत्नी उमा से अनेक वरदान भी प्राप्त करते हैं। फिर भी, इन्हें एक अलौकिक व्यक्तित्व से सयुक्त किया गया है।

पृ० १८३ और बाद में एक द्वितीय वर्ग के स्थलों को उद्धृत किया गया है जिनमें कृष्ण की श्रेष्ठता को शिशुपाल, दुर्योधन, कर्ण, शल्य ने अस्वीकार किया है। निःसन्देह हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि इन यादव नायक ने स्वयं, अथवा इनके मित्रों ने ही इनके जीवनकाल में ही इन्हें किसी अलौकिकता से युक्त मानने का दावा नहीं किया होगा। अतः ये अनेक वर्णनात्मक स्थल, जिनमें इनके शत्रुओं ने इनके दिव्यत्व को अस्वीकृत तथा इनके पक्षपातियों ने स्वीकृत किया तथा अनेक अलौकिक पराक्रमों के वर्णन से इसे और पुष्ट

किया है, एक काव्यात्मक कल्पना से अधिक कुछ नहीं जिसका एक ऐसे समय में सृजन किया गया जब वैष्णवों ने इन्हें एक देवता के रूप में विकसित और स्वीकृत कर लिया था, यद्यपि कुछ अन्य सम्प्रदाय के लोग इसे स्वीकार नहीं करते थे। कृष्ण को देवता मानने का इस प्रकार का विरोध उन श्लोकों से स्पष्ट होता है जिन्हें मैंने पृ० २१६ और बाद, पर उद्धृत किया है। इन श्लोकों में इनको देवता माननेवाले लोगों ने उनलोगों को जो इन्हें ऐसा नहीं मानते थे, तमोगुण से आच्छादित कहा है।

स्थलों का एक तृतीय वर्ग ऐसा है जिसे पृ० २२४ पर उद्धृत किया गया है। इनमें श्रीकृष्ण के पराक्रमों तथा कर्मों का अलौकिकता के पुट के साथ वर्णन किया गया है। ऐसे स्थलों के सम्बन्ध में यह मानना अनुचित नहीं कि दिव्य अथवा अलौकिक वृत्तान्तों की पृष्ठभूमि में अपेक्षाकृत सरलतर आख्यान (चाहे वे वास्तव में ऐतिहासिक न भी हों)[२१२] अवश्य रहे होंगे। अतः यहाँ इस यादव राजा ने एक मनुष्य के रूप में अन्य जातियों के विरुद्ध जो युद्धात्मक अभियान किये थे उनके पूर्व-सन्दर्भों को ढूँढ़ने का प्रयास अनुचित नहीं है। ऐसे स्थलों पर इन्हें जिन अलौकिक शक्तियों से युक्त किया गया है उनकी प्रकृति इनके शत्रुओं से संयुक्त किये गये गुणों से अनिवार्यतः भिन्न नहीं है; क्योंकि यह देखा जा सकता है कि इनके शत्रुओं को भी इन्हीं के समान अलौकिक या मानवेतर शक्तियों से युक्त बताया गया है; जब कि स्वयं कृष्ण को भी अनेक स्थलों पर अपने शस्त्रास्त्रों तथा अन्य सुविधाओं के लिये देवों के आभारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है (देखिये पृ० २२४ पर उद्धृत द्रोणपर्व तथा आदिपर्व के, तथा पृ० २२७ पर उद्धृत उद्योगपर्व के स्थल)।

नर और नारायण नामक ऋषियों के साथ क्रमशः अर्जुन और कृष्ण का समीकरण[२१३] कुछ कौतूहलवर्धक है, किन्तु मैं इस बात का अनुमान कर सकने में असमर्थ हूँ कि इसकी उत्पत्ति इन नामों के ऋषियों (जिनमें से एक के नाम को, जो वही रहा होगा जिसे अन्ततः विष्णु और कृष्ण के लिये व्यहृत किया जाने लगा, भारतीय पुराकथाशास्त्र की कल्पनात्मक भावना के तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के फलस्वरूप कृष्ण का एक पूर्वजन्म का नाम घोषित

---

[२१२] देखिये लासन . इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़, पृ० ६१५।

[२१३] बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे 'नारायण' शब्द की 'मनुष्य के पुत्र' के रूप मे, तथा पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०.९०) के ऋषि, मूर्तीकृत पुरुष के पैतृक नाम के रूप मे, व्याख्या की गई है। इसी कोश मे 'नर' को 'पूर्वग मानव' कहा गया है।

कर दिया गया; जब कि कृष्ण के घनिष्ठ मित्र, अर्जुन, को स्वभावतः नर, तथा नारायण का अभिन्न मित्र, मान लिया गया) से सम्बद्ध किसी पहले के आख्यान से हुई, अथवा इस सम्पूर्ण आख्यना का कृष्ण तथा अर्जुन की महिमा का वर्णन करने के लिये आविष्कार कर लिया गया।

ऊपर उद्धृत एक स्थल पर जहाँ श्रीकृष्ण महादेव की स्तुति करते हैं, महादेव को परमेश्वर कहा गया गया (देखिये पृ० १६५)। फिर भी, कुछ अन्य स्थलों पर (पृ० २४१ और बाद) विष्णु के रूप में कृष्ण को भी परमेश्वर[२१८] तथा महादेव को इन्हीं (कृष्ण) से उत्पन्न तथा इन पर ही निर्भर बताया गया है। किन्तु यहाँ तथा अन्यत्र, जैसा कि हम देख चुके हैं, इन दोनों ही देवों की स्थिति में दोनों के एकत्व के प्रतिपादन द्वारा सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है (पृ० २१० और बाद)। हम इस परिस्थिति की किस प्रकार व्याख्या करें कि एक स्थान पर कृष्ण की अपेक्षा महादेव को महान कहा गया है और दूसरे पर महादेव की अपेक्षा कृष्ण को? क्या हम यह मान लें कि दोनों ही वर्ग के स्थल सर्वथा अथवा प्रायः समसामयिक हैं और इनको, महाभारत महाकाव्य को सर्वग्राह्य बनाने के लिये विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों ने इस महाकाव्य में प्रविष्ट करा दिया है जिससे सभी संप्रदाय के लोग विभिन्न देवताओं के प्रति अपनी आस्था की भावना को इस एक ग्रन्थ से ही सन्तुष्ट कर सकें?

महादेव से सम्बद्ध प्रमुख स्थलों की कृष्ण से सम्बद्ध स्थलों के साथ तुलना करने से, मेरे विचार से, यह परिणाम नहीं निकलता कि अपनी प्रकृति के आधार पर किसी एक वर्ग के स्थल दूसरे की अपेक्षा कुछ प्राचीन हैं। दोनों ही प्रकार के स्थल एक ही युग के प्रतीत होते हैं, क्योंकि दोनों में ही हमें स्तुत देवता को परमेश्वर के साथ समीकृत करने की प्रवृत्ति समान रूप से दिखाई पड़ती है। दोनों ही देवों से सम्बद्ध स्थल, जैसा कि उनका आज का स्वरूप है, इस प्रकार, सम्प्रदायवादी भावना के सृजन प्रतीत होते हैं और अपने-अपने देवता की महानता का प्रतिपादन करने के लिये, सम्भवतः, शैवों तथा वैष्णवों ने इनका इस महाकाव्य में समावेश कराया है। किन्तु दूसरी ओर, एकमात्र यह तथ्य कि एक काव्य में, जिसमें श्रीकृष्ण आद्योपान्त

---

[२१८] विष्णु पुराण और महाभारत के उन स्थलो मे भी, जहाँ कृष्ण को परमेश्वर का अशावतार कहा गया है, इनकी दिव्य प्रकृति पर सन्देह प्रगट करने की कोई प्रवृत्ति नही दिखाई पडती। भागवत-पुराण १० ३३,२७ तथा १० ३३,३४ और बाद की तुलना कीजिये।

प्रमुख पात्र हैं, और जो अपने वर्तमान रूप में कृष्ण को ही महिमान्वित करता है, साथ ही साथ अनेक ऐसे स्थलों का होना, जिनमें एक प्रतिद्वन्द्वी देवता की महानता की, चाहे समकालीन अथवा और पूर्वसमय के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा स्तुति की गई है, मेरे विचार से, इस बात का प्रमाण है कि महादेव की उपासना-पूजा, इस महाकाव्य की घटनाओं के समय यदि भारत में प्रमुख नहीं तो भी कम से कम अत्यन्त व्यापक अवश्य थी। महादेव की इस प्रकार की पूजा से सम्बद्ध विभिन्न सन्दर्भ पृ० २१० और बाद, पर मिलेंगे (जहाँ हिमालय को इस देवता का निवास-स्थान बताया गया है)। मैं इसकी व्यापकता के कुछ और उदाहरण दूँगा।[२१५]

लासन का मत है (१.७८०) कि महाकाव्यों में विष्णु की पूजा का कहीं कहीं ही उल्लेख है।[२१६] यह एक ऐसा तथ्य है जिसे लासन इस बात को प्रमाणित करता हुआ मानते हैं कि इन काव्यों की रचना के समय तक विष्णु की किसी विशेष पूजा का कम से उन ब्राह्मणों और राजन्यों में बहुत कम प्रचार था जिनके क्रिया-कलापों, तथा विचारों और प्रचलनों का इनमें उल्लेख है। दूसरी ओर, आप भारत के विभिन्न भागों में महादेव की पूजा के प्रसार को प्रमाणित करने के लिये निम्नलिखित स्थल को उद्धृत करते हैं। वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में कलिङ्गों के देश में स्थित वैतरणी नदी के सम्बन्ध में यह कहा गया है :

महा० ३.८३,८४ और बाद : ततस् त्रिपिष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तत्र वैतरणी पुण्या नदी पाप-प्रणाशिनी। तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम्। सर्व-पाप-विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम्। "तदनन्तर तीनों लोकों में विख्यात त्रिविष्टप तीर्थ में जाय। वहाँ वैतरणी नामक पुण्यमयी पापनाशिनी नदी है। उसमें स्नान करके शूलपाणि भगवान शङ्कर की पूजा करने से मनुष्य सब पापों से शुद्धचित्त हो परम गति को प्राप्त होता है।"

---

[२१५] देखिये लासन : इण्डियन ऐन्टीक्विटीज़, भाग १, पृ० पृ० ५६२, ५७१, ६१०, ६८२, ७११, ७१६, ७४१, और ७८१।

[२१६] लासन ने वनपर्व (श्लो० १५२८३ और बाद) के स्थल का संकेत किया है जहाँ पुरोहितों द्वारा दुर्योधन को राजसूययज्ञ करने से रोक दिये जाने पर उसे वैष्णवयज्ञ करने का परामर्श दिया गया है। इस कथा को आगे उद्धृत किया जायगा।

और इसी पर्व में इस नदी के उत्तरी तट के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है :

महा० ३. ११४,७ और बाद : अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुम् आदत्तवान् मखे। पशुम् आदाय राजेन्द्र भागोऽयम् इति चाब्रवीत। हृते पशौ तदा देवास् तम् ऊचुर् भारतर्षभ। मा पर-स्वम् अभिद्रोग्धा मा धर्मान् सकलान् वशीः। ततः कल्याण-रूपभिर् वाग्भिम् ते रुद्रम अस्तुवन्। इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयाञ्चक्रिरे तदा। ततः स पशुम् उत्सृज्य देव-यानेन जग्मिवान्। तत्रानुवंशो रुद्रस्य तन् निबोध युधिष्ठिर्। अयातयाम सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागम् उत्तमम। देवाः सकल्पयामासुर् भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम। इमां गाथाम् अत्र गायन्न् अपः स्पृशति यो नरः। देव-यानोऽस्य पन्थाश् च चक्षुषाऽभिप्रकाशते।

"राजेन्द्र! यहीं रुद्रदेव ने 'यज्ञ में पशु को ग्रहण कर लिया था। उस पशु को ग्रहण करके उन्होंने कहा : 'यह तो मेरा भाग है।' भरतश्रेष्ठ! पशु का अपहरण हो जाने पर देवताओं ने उनसे कहा : 'आप दूसरों के धन से द्रोह न करें, धर्म के साधनभूत समस्त यज्ञ भागों को लेने की इच्छा न करें।' यों कह कर उन्होंने कल्याणमय वचनों द्वारा भगवान् रुद्र का स्तवन किया और इष्टि द्वारा उन्हें तृप्त करके उस समय उनका विशेष सम्मान किया। तब वे उस पशु को छोड़ कर देवयान-मार्ग से चले गये। युधिष्ठिर! यज्ञ में रुद्र की भाग-परम्परा का बोधक एक श्लोक है, उसे बताता हूँ, सुनो : 'देवताओं ने रुद्र देव के भय से उनके लिये शीघ्र ही सब भागों की अपेक्षा उत्तम एव सनातन भाग देने का सकल्प किया'। जो मनुष्य यहाँ इस गाथा का गान करते हुये वैतरणी के जल का स्पर्श करता है, उसकी दृष्टि में देवयान-मार्ग प्रकाशित हो जाता है।"

इसी वनपर्व (३.८५,२४ और बाद) यह कहा गया है कि महादेव की दक्षिण पश्चिमी तट पर स्थित गोकर्ण में पूजा होती थी :

महा० ३.८५,२४ और बाद : अथ गोकर्णम् आसाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। समुद्र-मध्ये राजेन्द्र सर्व-लोक-नमस्कृतम्। यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश् च तपोधनाः। सरितः सागराः शैला उपासन्त उमा-पतिम्। इत्यादि। "इसके बाद समुद्र के मध्य में विद्यमान त्रिभुवन-विख्यात लोकवन्दित गोकर्ण-तीर्थ में जाकर स्नान करे, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा ·· नदी, समुद्र, और पर्वत—ये सभी उमापति शङ्कर की उपासना करते हैं।

वनपर्व (१७७,५४ और बाद) में भी इसी स्थान का उल्लेख है :

महा० ३.२७७,५४ और बाद : त्रिकूट समतिक्रम्य कालपर्वतम् एव

च। ददर्श मकरावासं गम्भीरोदम् महोदधिम्। तम् अतीत्याथ गोकर्णम् अभ्यगच्छत् दशाननः। दैत्यं स्थानम् अव्यग्र शूलपाणेर् महात्मनः। "त्रिकूट और कालपर्वत को लाँघकर उसने मगरों के निवास-स्थान, गहन महासागर, को देखा। उसे ऊपर ही ऊपर लाँघकर दशमुख रावण गोकर्ण तीर्थ में गया जो परमात्मा शूलपाणि शिव का प्रिय एव अविचल स्थान है।"

[फिर भी, इसी तीर्थयात्रापर्व में श्रीकृष्ण की प्रशस्ति करनेवाला यह स्थल भी मिलता है :

महा० ३ ८८,२४ और बाद : पुण्या द्वारावती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः। साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः। ये च वेद-विदो विप्रा ये चाध्यात्म-विदो जनाः। ते वदन्ति महात्मान कृष्णं धर्मं सनातनम्। पवित्राणा हि गोविन्द' पवित्रम् परम् उच्यते। पुण्यानाम् अपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मगङ्गलम्। त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देव-देवः सनातनः। अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः। आस्ते हरिर् अचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः। "उसी के निकट पुण्यमयी द्वारकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराण पुरुष मधुसूदन निवास करते है। वे ही सनातन धर्म-स्वरूप हैं। जो वेदवेत्ता और आध्यात्मशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मण है, वे परमात्मा श्रीकृष्ण को ही सनातन-धर्म-स्वरूप बताते हैं। गोविन्द पवित्रों को भी पावन करनेवाले परम-पवित्र कहे जाते हैं। वे पुण्यों के भी पुण्य और मङ्गलों के भी मंगल हैं। कमलनयन देवाधिदेव सनातन हरि अविनाशी परमात्मा, व्ययात्मा, क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर हैं। वे अचिन्त्य-स्वरूप मधुसूदन वहीं निवास करते हैं।"][217]

निम्नोद्धृत स्थल महाकाव्य के विभिन्न पात्रों द्वारा शिव के पूजन के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

महा० १.१८७,१६ और : एवं तेषां विलपत विप्राणां विविधा गिरः। अर्जुनो धनुषोऽभ्यासे तस्थौ गिरिर् इवाचलः। स तद् धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणम् अथाकरोत्। प्रणम्य शिरसा देवम् ईशान वरदम् प्रभुम्। कृष्ण च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनो धनुः। यत् पार्थिवैः रुक्मि-सुनीथ-वक्त्रैः राधेय-दुर्योधन-शल्य-शाल्वैः। तदा धनुर्-वेद-परैर् नृसिंहैः कृत न सज्यम् महतोऽपि यत्नात्। तद् अर्जुनः इत्यादि। "इस प्रकार जब ब्राह्मण लोग भाँति भाँति की बातें कर रहे थे उसी समय अर्जुन

---

[217] लासन (इण्डिन ऐन्टीक्विटीज़, भाग १, ६४६) इस कथा के सन्दर्भ को प्रक्षिप्त मानते है।

धनुष के पास जाकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुष के चारों ओर घूम कर उसकी परिक्रमा की। इसके बाद वरदायक शङ्कर को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन ही मन कृष्ण का चिन्तन करके उन्होंने वह धनुष उठा लिया। रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य, तथा शाल्व आदि धनुर्वेद के पारङ्गत विद्वान् पुरुषसिंह राजा, महान् प्रयत्न करके भी, जिस धनुष पर डोरी नहीं चढ़ा सके उसी धनुष पर अर्जुन ने प्रत्यञ्चा चढ़ा कर लक्ष्यवेध कर दिया' इत्यादि।"

वनपर्व में यह कहा गया है कि भीष्म द्वारा बन्दी बना लिये जाने तथा फिर युधिष्ठिर के आग्रह पर मुक्त कर दिये जाने के बाद जयद्रथ महादेव की उपासना करने गया :

महा० ३.२७१,२५ और बाद : जगाम राजन् दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत। स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षम् उमापतिम्। तपश् चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः। बलिं स्वयम् प्रत्यगृह्णात् प्रीयमाणास् त्रिलोचनः। वरं चास्मै ददौ देवः स जग्राह स तच् छृणु। "समस्तान् सरथान् पञ्च जयेय युधि पाण्डवान्"। इति राजाऽब्रवीद् देवं नेति देवस् तम् अब्रवीत्। अजय्याश् चाप्य् अवध्याश् च वारयिष्यसि तान् युधि। ऋतेऽर्जुनम् महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम्। बदर्यां तप्त-तपसं नारायण-सहायकम्। अजितं सर्व-लोकानां देवैर् अपि दुरासदम्। मया दत्तम् पशुपतं दिव्यम् अप्रतिमं शरम्। अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन् स स महाशरान्। देव-देवो ह्य् अनन्तात्मा विष्णुः सुर-गुरुः प्रभुः। प्रधान-पुरुषोऽव्यक्तः विश्वात्मा विश्व-मूर्त्तिमान्। युगान्त काले सम्प्राप्ते कालाग्निर् दहते जगत्। स पर्वतार्णवद्वीपं सशैलवन-काननम्।

"राजन्! वह पराजित होने के महान् दुःख से पीड़ित था, अतः वह वहाँ से घर न जाकर गङ्गाद्वार चला गया। वहाँ पहुँच कर उसने त्रिनेत्र भगवान् उमापति की शरण ले अत्यन्त भारी तपस्या की। इससे शिव प्रसन्न हो गये। उन त्रिनेत्रधारी महादेव ने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं दर्शन देकर उसकी पूजा ग्रहण की। महादेव ने उसे वर दिया और उस जयद्रथ ने उसे ग्रहण किया। वह वर क्या था? यह बताता हूँ, सुनो। 'मैं रथ सहित पाँचों पाण्डवों को जीत सकूँ।' यही वर सिन्धुराज ने महादेव से माँगा। परन्तु महादेव ने उससे कहा : 'ऐसा नहीं हो सकता। पाण्डव अजेय और अवध्य हैं। तुम केवल एक दिन युद्ध में महाबाहु अर्जुन को छोड़कर अन्य चार पाण्डवों को आगे बढ़ने से रोक सकते हो। देवेश्वर नर, जो बदरिकाश्रम में नारायण

के साथ रहकर तपस्या करते हैं वे ही अर्जुन हैं। उन्हें तुम तो क्या सम्पूर्ण लोक मिलकर भी जीत नहीं सकते। उनका सामना करना तो देवताओं के लिये भी कठिन है। मैंने उन्हें पाशुपत नामक दिव्य अस्त्र प्रदान किया है जिसके समान अन्य कोई अस्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्यान्य लोकपालों से भी वज्रादि महान् अस्त्र प्राप्त किये हैं। भगवान् नारायण देवताओं के भी देवता, अनन्त-स्वरूप, सर्वव्यापी, देवगुरु, सर्वसमर्थ, प्रकृति-पुरुषरूप, अव्यक्त, विश्वात्मा एवं विश्वरूप हैं। प्रलय-काल उपस्थित होने पर वे विष्णु ही कालाग्निरूप से प्रगट हो पर्वत, समुद्र, द्वीप, शैल, वन और काननों-सहित सम्पूर्ण जगत् को दग्ध कर देते हैं।" तदनन्तर महादेव यह बताते हैं कि विष्णु किस प्रकार जगत् का विनाश तथा पुनर्सृजन करते हैं। वह विष्णु के विभिन्न अवतारों का वर्णन करने के बाद यह कहते हैं कि उन विष्णु से रचित अर्जुन देवों तक के लिये अजेय हैं। इस आख्यान में यह देखा जा सकता है कि एक योद्धा महादेव की पूजा करने जाता है विष्णु की नहीं, यद्यपि विष्णु की महानता का वर्णन महादेव से कराया गया है। किन्तु कथा का यह द्वितीय अंश प्रक्षिप्त हो सकता है।

शान्तिपर्व में यह बताया गया है कि किस प्रकार गन्धमादन पर्वत पर महादेव की उपासना करके परशुराम ने अपने उस विख्यात परशु को प्राप्त किया था जिससे उनकी समस्त लोकों में ख्याति हो गई (१२.४९, ३३ और बाद : तोषयित्वा महादेवम् पर्वते गन्धमादने। अस्त्राणि वरयामास परशुं चाति-तेजसम्। स तेनाकुण्ठ-धारेण ज्वलितानल-वर्चसा। कुठारेण-प्रमेयेण लोकेष्व् अप्रतिमोऽभवत)। इसके बाद कार्त्तवीर्य की कथा आती है।

निम्नोद्धृत स्थल पर जरासन्ध को महादेव के उत्कट भक्त के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया जिसकी पूर्व-आवश्यकता यह थी कि वे अन्य सभी समकालीन राजाओं की अपेक्षा सर्वाधिक शक्तिशाली थे। परन्तु इन शब्दों में कृष्ण युधिष्ठिर को बताते हैं कि जरासन्ध के जीवित रहते वह राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते :

महा० २.१४,६२ और बाद : न तु शक्य जरासन्धे जीवमाने महाबले। राजसूय त्वयाऽवाप्तुम् एषा राजन् मतिर् मम्। तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे। कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः। स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर् वसुधाधिपैः। महादेवम् महात्मानम् उमापतिम् अरिन्दम्। आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास् तेन पार्थिवाः। प्रतिज्ञायाश् च पार स गतः पार्थिव-सत्तमः। स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान्। पुरम् आनीय बध्वा च चकार पुरुष-व्रजम्। वयं

चैव महाराज जरासन्ध-भयात् तदा पुरुप-सम्परित्यज्य गता द्वारवतीम् पुरीम् ।

"किन्तु राजन्! मेरी सम्मति यह है कि जब तक महाबली जरासन्ध जीवित है, तब तक आप राजसूय यज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते। उसने सब राजाओं को जीतकर गिरिव्रज में इस प्रकार कैद कर रक्खा है मानो सिंह ने किसी महान् पर्वत की गुफा में बड़े-बड़े राजाओं को रोक रक्खा हो। शत्रु-दमन! राजा जरासन्ध ने उमापति महादेव की उग्र तपस्या के द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकार की शक्ति प्राप्त कर ली है, इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं। वह राजाओं की बलि दे कर एक यज्ञ करना चाहता है। नृपश्रेष्ठ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूर्ण कर चुका है, क्योंकि उसने सेना के साथ आये हुये राजाओं को एक-एक करके जीता है और अपनी राजधानी में लाकर उन्हें कैद करके राजाओं का बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है। महाराज! उस समय हम भी जरासन्ध के भय से ही पीड़ित हो मथुरा छोड़कर द्वारका पुरी चले गये थे।"

थोड़ा और आगे राजाओं के प्रति जरासन्ध की क्रूरता का कृष्ण पुनः वर्णन करते हैं :

महा० २.१५,१९ और बाद : रत्न-भाजो हि राजानो जरासन्धम् उपासते। न च तुष्यति तेनापि बाल्याद् अनयम् आस्थितः। मूर्धाभि-षिक्त नृपतिम् प्रधान-पुरुषो बलात्। आदत्ते न च नो दृष्टोऽभाग. पुरुषतः क्वचित्। एव सर्वान् वशे चक्रे जरासन्धः शतावरान्। त दुर्बल-परो राजा कथम् पार्थ उपैष्यति। प्रोक्षितानाम् प्रमृष्टानां[२१८] राज्ञाम् पशुपतेर् गृहे। पशूनाम् इवा का प्रीतिर् जीविते भरतर्षभ। "जो रत्नों के अधिपति हैं, ऐसे राजा लोग जरासन्ध की उपासना करते हैं परन्तु वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपनी विवेकशून्यता के कारण अन्याय का आश्रय लेकर उनपर अत्याचार ही करता है। आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाओं को बलपूर्वक बन्दी बना लेता है। जिनका विधिपूर्वक राज्य पर अभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषों में से कहीं किसी एक को भी हमने ऐसा नहीं देखा जिसे उसने बलि का भाग न बना लिया हो। इस प्रकार, जरासन्ध ने लगभग सौ राजकुलों के राजाओं में से कुछ को छोड़कर सबको वश में कर लिया है। पार्थ! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे युद्ध करने का साहस कैसे करेगा? भरतश्रेष्ठ! रुद्र

---

[२१८] इस पर भाष्यकार की टीका इस प्रकार है . प्रमृष्टानाम्। रुद्र-दैवत्ये-ऽयम् इति प्रत्येकम् अभिमृष्टानाम्।

देवता को बलि देने के लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुये पशुओं की भाँति जो पशुपति के मन्दिर में वन्दी हैं उन राजाओं को अब अपने जीवन में क्या प्रीति रह गई है ?"

तदनन्तर भीम तथा अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण जरासन्ध की राजधानी की ओर उसका वध करने के उद्देश्य से जाते हैं। ये तीनों ब्राह्मणों के वेश में वहाँ पहुँचते हैं और इन्हें महल के भीतर बुला लिया जाता है। कुछ वार्तालाप के पश्चात् श्रीकृष्ण जरासन्ध से इस प्रकार कहते हैं :

महा० २.२२,८ और बाद : त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिन.। तद् आगः क्रूरम् उत्पाद्य मन्यसे किम् अनागसम्। राजा राज्ञः कथ साधून् हिंस्यान् नृपति-सत्तम्। यद् राज्ञः सन्निगृह्य त्व रुद्रायोपजिहीर्षसि। अस्मांस् एनोपगच्छेत् कृत बार्हद्रथ त्वया। वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्म चारिणः। मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन। स कथम् मानुषैर् देव यष्टुम् इच्छसि शङ्करम्। सवर्णो हि सवर्णानाम्[२१९] पशुसञ्ज्ञा करिष्यसि। कोऽन्य एवं यथा हि त्व जरासन्ध वृथा-मतिः। यस्यां यस्याम् अवस्थायां यत् यत् कर्म करोति यः। तस्यां तस्याम् अवस्थायां तत्-फल समवाप्नुयात्। ते त्वां ज्ञाति-क्षय-करं वयम् आर्त्तानुसारिण.। ज्ञाति-वृद्धि-निमित्तार्थं विमिहन्तुम् इहागताः।...जरासन्ध उवाच... ६. देवतार्थम् उपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथम् भयात्। अहम् अद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतम् अनुस्मरन्।

"राजन ! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियों को बन्दी बना लिया है। ऐसे क्रूर अपराध का आयोजन करके भी तुम अपने को निरपराध कैसे मानते हो ? नृपश्रेष्ठ ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओं की हत्या कैसे कर सकता है ? तुम राजाओं को बन्दी करके उन्हें रुद्र-देवता की भेंट चढ़ाना चाहते हो। बृहद्रथकुमार ! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगों पर लागू होगा, क्योंकि हम धर्म की रक्षा करने में समर्थ और धर्म का पालन करनेवाले हैं। किसी देवता की पूजा के लिये मनुष्यों का वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिव की पूजा मनुष्यों की हिंसा द्वारा कैसे करना चाहते हो ? जरासन्ध ! तुम्हारी बुद्धि मारी गई है। तुम भी उसी वर्ण के हो जिस वर्ण के राजा लोग। क्या तुम अपने ही वर्ण के लोगों को पशु-नाम देकर उनकी हत्या करोगे ? तुम्हारे जैसा क्रूर अन्य कौन है ? जो

---

[२१९] इसपर भाष्यकार इस प्रकार टीका करता है ननु 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभेत" इत्यादिना सर्व जातीयाना सर्व-कर्मणाम् मनुष्याणाम् आलम्भो देवतार्थम् वध श्रूयते इत्य् आशङ्क्य आह सवर्णो हि इति।

जिस-जिस अवस्था में जो-जो कर्म करता है, वह उसी-उसी अवस्था में उसके फल को प्राप्त करता है। तुम अपने ही जाति भाइयों के हत्यारे हो और हम लोग संकट में पड़े हुये दीन-दुखियों की रक्षा करनेवाले हैं, अतः सजातीय बन्धुओं की वृद्धि के उद्देश्य से हम तुम्हारा वध करने के लिये यहाँ आये हैं।··· जरासन्ध ने कहा··· श्रीकृष्ण! मैं क्षत्रिय के व्रत को सदा स्मरण रखता हुआ देवता को बलि देने के उपहार के रूप में लाये हुये इन राजाओं को आज तुम्हारे भय से कैसे छोड़ सकता हूँ?" जरासन्ध तब चुनौती स्वीकार करके भीमसेन के हाथों मारा जाता है।

सभापर्व में जरासन्ध के जन्म का इस प्रकार वर्णन है। इस वृत्तान्त के अन्त में यह भी कहा गया है कि यह महादेव का भक्त था। इसके पिता, बृहद्रथ, के दो रानियाँ थीं। बहुत दिनों तक निःसन्तान रहने के बाद इन दोनों रानियों ने एक-एक अर्ध-शरीरों को जन्म दिया। उसे देख कर अत्यन्त भयभीत माता पिता ने उन दोनों शरीरार्धों का परित्याग कर दिया। जरा नामक एक राक्षसी ने उन दोनों शरीरार्धों को लेकर सुविधापूर्वक अपने साथ ले जाने के उद्देश्य से एक में जोड़ दिया। इस प्रकार जोड़ दिये जाने पर एक पूर्ण शिशु बन कर वह शरीर रोने लगा। उस रोने की ध्वनि सुन कर महल के भीतर से लोग बाहर आये जिनमें राजा बृहद्रथ तथा उनकी दोनों रानियाँ भी थीं। उस राक्षसी ने तब मानव-रूप धारण करके राजा को वह शिशु वापस कर दिया। राजा द्वारा परिचय पूछने पर उस राक्षसी ने इस प्रकार उत्तर दिया :

महा० २.१८,१ और बाद : जरा नामाऽस्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी। तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम्। गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी। गृह-देवीत् नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयम्भुवा। दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्य रूपिणी। यो माम् भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम्। गृहे तस्य भवेद् वृद्धिर् अन्यथा क्षयम् आप्नुयात्। त्वद्-गृहे तिष्ठमाना तु पूजिताऽहं सदा विभो। लिखिता चैव कुड्येऽहम पुत्रैर् बहुभिर् आवृता। गन्ध-पुष्पैस् तथा धूपैर् भक्ष्यैर् भोज्यैः सुपूजिता। साऽहम् प्रत्युपकारार्थं चिन्तयम्य् अनिशं तव। तवेमे पुत्र-शकले दृष्टवत्य् अस्मि धार्मिक। संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत। तव भाग्याद् महाराज हेतु-मात्रम् अहं त्व् इह। मेरुं वा खादितुं शक्ता किम् पुनस् तव बालकम्। गृह-सम्पूजनात् तुष्ट्या मया प्रत्यर्पितस् तव।

"राजेन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो। मेरा नाम जरा है। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घर में पूजित हो सुखपूर्वक

रहती चली आ रही हूँ। मैं मनुष्यों के घर-घर में सदैव उपस्थित रहती हूँ। कहने को तो मैं राक्षसी हूँ, किन्तु पूर्वकाल में ब्रह्मा ने गृह-देवी के नाम से मेरी सृष्टि की थी और उन्होंने ही मुझे दानवों के विनाश के लिये नियुक्त किया था। मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ। जो अपने घर की दीवार पर मुझे अनेक पुत्रों सहित युवती स्त्री के रूप में भक्तिपूर्वक लिखता है उसके घर में सदा वृद्धि होती है, अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो! मैं तुम्हारे घर में रहकर सदा पूजित होती चली आई हूँ एवं तुम्हारे घर की दीवारों पर मेरा ऐसा चित्र अंकित किया गया है जिसमें मैं अनेक पुत्रों से घिरी खड़ी हूँ। उस चित्र के रूप में मेरा गन्ध, पुष्प, धूप, और भक्ष्य-भोज्य पदार्थों द्वारा भली भाँति पूजन होता आ रहा है। अतः मैं उस पूजन के बदले तुम्हारा कोई उपकार करने की बात सदैव सोचती रहती थी। धर्मात्मन्! मैंने तुम्हारे पुत्र के शरीर के इन दोनों टुकड़ों को देखा और दोनों को जोड़ दिया। महाराज! दैववश तुम्हारे भाग्य से ही उन टुकड़ों के जुड़ने से यह राजकुमार प्रगट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्त मात्र बन गई हूँ। राजन्! अब इस बालक के लिये जो आवश्यक संस्कार हो उसे करो। यह इस संसार में मेरे ही नाम से विख्यात होगा। मुझमें मेरु पर्वत को भी निगल जाने की शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चे का भक्षण कर जाना कौन सी बड़ी बात है। किन्तु तुम्हारे घर में मेरी जो भली-भाँति पूजा होती आई है उसी से संतुष्ट होकर मैंने यह बालक तुम्हें समर्पित किया है।"

इतना कह कर वह राक्षसी अन्तर्धान हो जाती है। राजा बृहद्रथ उसके सम्मान में मगध में एक महान उत्सव कराते हैं, और अपने पुत्र का नाम जरासन्ध रखते हैं क्योंकि उसे जरा नामक राक्षसी ने जोड़ा था (आज्ञापयच् च राक्षस्य मगधेषु महोत्सवम्। तस्य नामाकरोच् चैव पितामह-समः पिता। जरया सन्धितो यस्माज् जरासन्धो भवत्व् अयम्)। एक समय महर्षि चण्डकौशिक ने मगध में आकर जरासन्ध के भविष्य में एक महान राजा होने की भविष्यवाणी की (२.२१,१ और बाद)। अपनी भविष्यवाणी को महर्षि इन शब्दों में समाप्त करते हैं: श्लोक १५ : एष रुद्रम् महादेवं त्रिपुरान्त कर हरम्। सर्व-लोकेष्व् अतिबलो साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः।

जैसा कि लासन (जो २.१८,१ और बाद, को उद्धृत करते हैं) ने कहा है, अपनी पूजा के सम्बन्ध में इस राक्षसी ने जो वर्णन किया है वह प्राचीन भारत में कुछ देवताओं की स्थानीय पूजा का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

युधिष्ठिर जिस राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहते थे उससे सम्बद्ध विवरणों में (जैसा कि लासन १.६६३ में टिप्पणी करते हैं) पाण्डवों को कृष्ण

के पक्षपातियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है; और वृत्तान्त को इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि वे (पाण्डव) विष्णु के उपासक, तथा महादेव की पूजा के विरोधी थे। शिशुपाल की कथा में भी, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, हमने देखा है कि उस राजसूय यज्ञ के समय उपस्थित राजाओं के बीच पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के अग्र-पूजित होने के अधिकार का तीव्र समर्थन किया था। उस समय कुछ राजाओं ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया, किन्तु शिशुपाल ने, जो कौरवों का पक्षपाती तथा लासन[२२०] के अनुसार शिव की पूजा का समर्थक था, उसका विरोध किया। जैसा कि मै पहले उल्लेख कर चुका हूँ, दुर्योधन, शल्य और कर्ण ने भी श्रीकृष्ण की पूजा का इसी प्रकार विरोध किया था।

यह सत्य है कि एक ऐसा भी स्थल है (जिसका ऊपर नोट २१६ में सन्दर्भ है) जिसकी ओर लासन ने ध्यान आकर्षित किया है, और जिसमें दुर्योधन द्वारा एक वैष्णव यज्ञ करने का उल्लेख है। यतः इस आख्यान में कुछ मनोरंजक बाते मिलती हैं, अतः मै इसका यहाँ कुछ विवरण प्रस्तुत करूँगा। वनपर्व में, दिग्विजय कर लेने के बाद कर्ण दुर्योधन से कहता है कि अब सम्पूर्ण पृथिवी उसकी है जिस पर वह (दुर्योधन) इन्द्र के समान शासन कर सकता है। दुर्योधन तब एक राजसूय यज्ञ करने की इच्छा प्रगट करता है। कर्ण उससे कहता है कि वह तदनुसार तैयारी आरम्भ कराये। तब दुर्योधन ने अपने पुरोहित को बुलाकर अपनी इच्छा व्यक्त की, किन्तु पुरोहित ने उस समय यह बताया कि युधिष्ठिर के जीवित रहते और जब तक स्वयं उसके पिता धृतराष्ट्र भी जीवित हैं तब तक, दुर्योधन राजसूय यज्ञ नहीं कर सकता। पुरोहित ने दुर्योधन के सम्पन्न करने योग्य एक अन्य श्रेष्ठ यज्ञ का इस प्रकार परामर्श दिया :

महा० ३.२५५, १५ और : अस्ति त्व् अन्यद् महत् सत्रं राजसूय समम् प्रभो। तेन त्व यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम। ये इमे पृथिवीपालाः कर-दास् तव पार्थिव। ते करान् सम्प्रयच्छन्तु सुवर्णं च कृताकृतम्। तेन ते क्रियताम् अद्य लाङ्गलं नृप-सत्तम। यज्ञ-वाटस्य ते भूमिः कृष्यता तेन भारत। तत्र यज्ञो नृप-श्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः। प्रवर्त्तता यथान्यायं सर्वतो ह्य् अनिवारितः। एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः। एतेन नेष्टवान् कश्चिद् ऋते विष्णुम् पुरातनम्। राज-सूयं क्रतु-श्रेष्ठं स्पर्धत्य् एष महाक्रतुः। "प्रभो ! एक दूसरा महान् यज्ञ है जो राजसूय यज्ञ की समानता रखता है। राजेन्द्र ! आप उसी के द्वारा भगवान् का यजन कीजिये और उसके

---

[२२०] देखिये ऊपर नोट १६०।

सम्बन्ध में मेरी यह बात सुनिये। पृथिवीनाथ! ये जो सब भूपाल आप को कर देते हैं उन्हें आज्ञा दीजिये कि वे आपको सुवर्ण के बने आभूषण अथवा सुवर्ण ही कर के रूप में दें। नृपश्रेष्ठ! उसी सुवर्ण से आप एक हल तैयार कराइये। भारत! उसी हल से आपके यज्ञमण्डप की भूमि जोती जाय। नृपश्रेष्ठ! उस जोती हुई भूमि मे ही उत्तम सस्कार से सम्पन्न, प्रचुर अन्नपान से युक्त तथा सबके लिये खुला यज्ञ यथोचित रूप से प्रारम्भ किया जाय। यह मैंने आपको वैष्णव नामक यज्ञ बताया जिसका अनुष्ठान सत्पुरुषों के लिये सर्वथा उचित है।[२२१] पुरातन पुरुष, विष्णु, के अतिरिक्त और किसी ने अब तक इस यज्ञ का अनुष्ठान नहीं किया है। यह महायज्ञ क्रतुश्रेष्ठ राजसूय से स्पर्धा करनेवाला है।"

दुर्योधन तथा उसके मित्रों ने इस प्रस्ताव के प्रति अपनी सहमति प्रगट की जिसके बाद यह यज्ञ सफलतापूर्वक सम्पन्न किया गया। फिर भी, यज्ञ के पश्चात् आनन्दोत्सव के समय किसी दुष्प्रकृति व्यक्ति ने दुर्योधन से कहा कि उसका यह यज्ञ युधिष्ठिर के राजसूय के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है, जब कि दुर्योधन के मित्रों ने कहा कि यह यज्ञ सबसे श्रेष्ठ है, और ययाति, नहुष, मान्धाता, तथा भरत ने इसे सम्पन्न करके स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया (महा० ३.२५७,३ और बाद : अपरे त्व् अब्रुवस् तत्र वातिकास् तम् महीपतिम्। युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्य् एष ते क्रतुः। नैव तस्य क्रतोर् एष (?) कलाम् अर्हति षोडशीम्। एवं तत्राब्रुवन् केचिद् वातिकास् तं जनेश्वरम्। सुहृदस् त्व् अब्रुवंस् तत्र अतिसर्वान् अयं क्रतुर् इत्यादि)।

मैं महाभारत के किसी भी ऐसे स्थल से परिचित नहीं हूँ जहाँ दुर्योधन को विशेष रूप से महादेव का उपासक कहा गया हो, किन्तु ऊपर उद्धृत कर्ण-पर्व के एक स्थल पर (जिसे, यद्यपि, मैंने एक बाद का प्रक्षिप्त अंश माना है) इसने महादेव की महिमा और शक्ति से सम्बद्ध एक आख्यान सुनाया है, जिसमें सामान्य रूप से विष्णु को महादेव से एक हीन रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के दो स्थलों पर दुर्योधन को चार्वाक नामक एक राक्षस से सम्बद्ध किया गया है। चार्वाक को इसका मित्र कहा गया है (१२.३८,२३)। गदायुद्ध में आहत होकर गिर पड़ने के बाद विलाप करते हुये दुर्योधन यह आशा प्रगट करता है कि यदि उसकी दशा का उसके मित्र चार्वाक को पता

---

[२२१] यह अत्यन्त कम प्रचलित था, ऐसा इस स्थल से स्पष्ट प्रतीत होता है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि ययाति आदि ने भी इसे सम्पन्न किया था।

चल जायगा तो वह निश्चय ही उसके वैर का प्रतिशोध लेगा (महा० ९.६४,३८)।[२२२]

अपने इण्डिशे स्टूडियन (१.२०६) में प्रो० वेवर यह अनुमान करते हैं कि "कौरव रुद्र अथवा शिव की, तथा पाण्डव अथवा पञ्चाल इन्द्र या विष्णु की उपासना करनेवाले रहे हो सकते हैं।" ऊपर जिस सामग्री को प्रस्तुत किया गया है उससे इस मत की पुष्टि होती प्रतीत होती है।

सभापर्व से उद्धृत किये जा रहे निम्न स्थल से (जहाँ श्रीकृष्ण युधिष्टिर को जरासन्ध के मित्रों के सम्बन्ध में बताते हैं) ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लेखक के समय से पहले कभी वैष्णव उपासकों, तथा मगध के पूर्व के प्रान्तों में पूजित किसी स्थानीय देवता के उपासको के बीच, परस्पर संघर्ष हो चुका था।

महा० २.१४,१८ और बाद : जरासन्धं गतस् त्व् एव पुरा यो न मया हृतः। पुरुषोत्तम-विज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः। आत्मानम् प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम्। आदत्ते सततम् मोहाद् यः स चिह्नं च मामकम्। वङ्ग-पुण्ड्र-किरातेषु राजा बल-समन्वित.। पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः। "जिसे मैंने पहले मारा नहीं, उपेक्षावश छोड़ रक्खा, जिसकी बुद्धि बड़ी खोटी है, जो चेदिदेश में पुरुषोत्तम समझा जाता है, इस जगत् में जो अपने आपको पुरुषोत्तम ही कह कर बताया करता है, और मोहवश सदा मेरे शङ्ख-चक्र आदि चिह्नों को धारण करता है, वङ्ग, पुण्ड्र तथा किरात देश का जो राजा है, तथा लोक में वासुदेव के नाम से जिसकी प्रसिद्धि हो रही है, वह बलवान राजा, पौण्ड्रक, भी जरासन्ध से ही मिला हुआ है।"[२२३]

---

[२२२] मुझे उक्त दो स्थलो के अतिरिक्त महाभारत मे अन्य कोई ऐसा स्थान नही मिला है जहाँ चार्वाक और दुर्योधन की मित्रता या सम्बन्ध का सकेत हो। चार्वाक मुझे इसी नाम के नास्तिको के सम्प्रदाय का प्रवर्तक प्रतीत होता है। फिर भी, उक्त स्थलो पर जैसा उल्लेख है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो के सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले कुछ और स्थल अवश्य रहे होंगे जिन्हे बाद मे ब्राह्मण आस्तिकवादियो ने कालान्तर मे निकाल दिया।

[२२३] इस स्थल पर लासन (१ ६०८) इस प्रकार टिप्पणी करते हैं· "यत ये (पुरुषोत्तम और वासुदेव) बाद मे विष्णु के दो अत्यन्त प्रसिद्ध नाम बन गये, अत इस स्थल से यह स्पष्ट है कि पूर्व की जातियो मे, जो वास्तव मे आर्य भी नही थी, एक ऐसे परमेश्वर की पूजा होती थी जिसका नाम बाद मे विष्णु पर स्थानान्तरित हो गया।"

अध्याय ३

रुद्र और महादेव : जैसा कि इन्हें वैदिक सूक्तों और ब्राह्मणों में प्रस्तुत किया गया है

गत अध्याय में मैंने महाभारत से अनेक ऐसे स्थलों को उद्धृत किया है जिन्हें यद्यपि श्रीकृष्ण के चरित्र को व्यक्त करने के लिये प्रस्तुत किया गया है, तथापि वे, साथ ही साथ, महाकाव्यों तथा पुराणों के समय में वर्तमान महादेव के गुणों को भी बहुत कुछ पूर्णता के साथ व्यक्त करते हैं। इस प्रकार मैंने उस सामग्री को बहुत कुछ पहले ही प्रस्तुत कर दिया है, जिसे, अन्यथा, इस अध्याय के अन्त में प्रस्तुत किया जाना चाहिये था क्योंकि इस अध्याय में मैं रुद्रदेवता-सम्बन्धी भारतीय साहित्य में उपलब्ध प्राचीन तथा बाद के विवरणों की तुलना करूँगा। अब मैं इस देवता से सम्बद्ध ऐसे स्थलों को उद्धृत करूँगा जो (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) अथर्ववेद, और (४) ब्राह्मण-ग्रन्थों में आते हैं। तदनन्तर इन स्थलों में उपलब्ध विवरणों की मैं विगत अध्याय में उद्धृत महादेव से सम्बद्ध स्थलों के साथ तुलना करूँगा।

खण्ड १—रुद्र : जैसा इन्हें ऋग्वेद मे प्रस्तुत किया गया है

इस खण्ड में मैं ऋग्वेद के ऐसे सभी स्थलों को उद्धृत करना चाहता हूँ जिनमें एकवचन में चाहे एक स्वतंत्र देवता के नाम के रूप में, अथवा अग्नि की एक उपाधि के रूप में रुद्र शब्द आता है।

ऋग्वेद १.२७,१० (सावे० १.१५, निरुक्त १०.८) : जराबोध तद् विविड्ढ विशे विशे यज्ञियाय स्तोम रुद्राय दृशीकम्। "प्रार्थना द्वारा (अग्नि) जागो। विविध यजमानों पर कृपा करके यज्ञानुष्ठान के लिये यज्ञ में प्रवेश करो। तुम रुद्र हो। रुचिकर स्तोत्रों से हम तुम्हारी स्तुति करते हैं।" इस मन्त्र के सम्बन्ध में यास्क इस प्रकार टिप्पणी करते हैं :

निरुक्त १०.७,८ : अग्निर् अपि रुद्र उच्यते। तस्यैषा भवति .. जरा स्तुतिः। जरतेः स्तुति-कर्मणः। ताम् बोध तया बोधयितर् इति वा। तद् विविड्ढि तत् कुरु मनुषस्य मनुषस्य यजनाय स्तोम रुद्राय दर्शनीयम्। "अग्नि को रुद्र भी कहते हैं, जैसा कि इस मंत्र में है। जरा का अर्थ स्तुति है। जो इसका बोध करता है, अथवा इसके द्वारा दूसरे को जगाता है वह 'जराबोध' होता है। उसकी प्रत्येक मनुष्य के यज्ञ के

लिये रचना करो—उस रुद्र दर्शन के लिये रुचिकर स्तुति की।" रॉथ (इल० ऑफ निरुक्त, पृ० १३६) का यह कथन है कि इस मन्त्र में रुद्र उस अग्नि की एक उपाधि है जिसे इन तीन मन्त्रों का त्रिक्, जिसमें यह शब्द आता है, सम्बोधित किया गया है। आप ऋग्वेद १०.७०,२.३ और ऋग्वेद ८.२६,५ का भी उल्लेख करते हैं जहाँ यही उपाधि क्रमश द्विवचन में मित्र और वरुण के, तथा अश्विनों के लिये व्यवहृत है। रॉथ ने इस मन्त्र के सन्दर्भ में जयतीर्थ से इस संक्षिप्त इतिहास को भी उद्धृत किया है, जहाँ यद्यपि इस उपाधि को रुद्र का नाम मानना चाहिये : अग्निः स्तूयमानः शुनःशेफम् उवाच "रुद्र स्तुहि रौद्रा हि पशवः" इति। स तम् प्रत्युवाच "नाहं जानामि रुद्रं स्तोतु त्वम् एवैतं स्तुहि" इति तद् इदम् उच्यते "हे जराबोध रुद्र-स्तुति वेत्तस तत् कुरु" इत्यादि। "जब अग्नि की स्तुति की जा रही थी तो उसने शुनःशेफ से कहा : 'तुम रुद्र की स्तुति करो क्योंकि पशु रुद्र के ही होते हैं।' उसने (शुनःशेफ ने) उत्तर दिया : 'मैं रुद्र की स्तुति करना नहीं जानता; आप उनकी स्तुति कीजिये।' इसी को यहाँ इस प्रकार कहा गया है : 'हे जराबोध, तुम रुद्र-स्तुति के ज्ञाता हो, अतः तुम उसे करो।' "

ऋग्वेद १.४३,१ और बाद : कद् रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे। वोचेम शन्तमं हृदे। २. यथा नो अदितिः करत् पश्वे नृभ्यो यथा गवे। यथा तोकाय रुद्रियम्। ३. यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश् चिकेतति। यथा विश्वे सजोषसः। ४. गाथ-पतिम् मेध-पतिं रुद्रं जलाष-भेषजम्। तत् शयोः सुम्नम् ईमहे। ५. यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यम् इव रोचते। श्रेष्ठो देवाना वसु। ६. शं नः करत्य् अर्वते सुगम् मेषाय मेष्ये। नृभ्यो नारिभ्यो गवे। "मेधावी, अभीष्टवर्षी, और अत्यन्त महान् रुद्र के हृदय के लिये इस रुचिकर स्तुति का पाठ कब करेंगे। २. जैसे अदिति हमारे लिये, पशु के लिये, मनुष्य के लिये, गायों के लिये और हमारे अपत्य के लिये रुद्र-सम्बन्धी औषध प्रदान करें। ३. मित्र, वरुण, रुद्र और समान प्रीतियुक्त सब देवता हमारे ऊपर अनुग्रह करें। ४. रुद्र स्तुति-रचक, यज्ञ-पालक, और उदक-रूप ओषधि से युक्त हैं। उनके पास बृहस्पति-पुत्र शंयु की तरह सुख की याचना करते हैं। ५. जो रुद्र सूर्य की भाँति दीप्तिमान और सुवर्ण के समान उज्ज्वल हैं, वे देवों के बीच श्रेष्ठ और अधिवास-कारण हैं। ६. हमारे अश्व, मेष-मेषी, पुरुष स्त्री, और गो जाति के लिये देवता सुगम्य सुख प्रदान करें।"

ऋग्वेद १.६४,२ : ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा

अरेपसः । पावकासः शुचयः सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोर-वर्पसः । ३. युवानो रुद्र अजरा अभोग्घनो ववक्षुर् अध्रिगावः पर्वता इव । ह्ळ्हा चिद् विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना ।··· १२. धृषुम् पावकं विनन विचर्षणी रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि । रजस्तुर तवसम् मारुतं गणम् ऋजीषणं वृष्ण सश्चत श्रिये । "अन्तरिक्ष से मरुद्गण उत्पन्न हुये हैं। वे दर्शनीय, वीर्यशाली और रुद्र के पुत्र हैं। वे शत्रुजयी, निष्पाप, सबके शोधक सूर्य की भाँति दीप्त, रुद्र के गण की भाँति बल-पराक्रमशील, वृष्टि-विन्दु से युक्त और घोर-रूप है। ३. रुद्र के पुत्र मरुद्गण तरुण और जरा-रहित हैं, तथा जो देवों को हव्य नहीं देते, उनके नाशक हैं। वे अप्रतिहतगति और पर्वत की भाँति दृढाङ्ग हैं। वे स्तोताओं को अभीष्ट देना चाहते हैं। पृथिवी और द्युलोक की समस्त वस्तुयें दृढ़ हैं तो भी उनको मरुद्गण अपने इस बल से संचालित करते हैं।··· १२. रिपुविध्वंसक, सर्ववस्तु-शोधक, दृष्टिदाता, सर्वद्रष्टा, और रुद्रपुत्र मरुद्गण की, हम स्तोत्र द्वारा स्तुति करते हैं। धूलिप्रेरक, शक्ति-शाली, ऋजीष-युक्त और अभीष्टवर्षी मरुद्गणों के पास धन के लिये जाओ।"

ऋग्वेद १.८५,१ : प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनव. सुदससः । रोदसी हि मरुतश् चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः । "गमनवेला में मरुद्गण स्त्रियों की भाँति अपने शरीर को सजाते हैं; वे गतिशील रुद्र के पुत्र हैं। उन्होंने हितकर कार्य द्वारा आकाश और पृथिवी को वर्द्धित किया है। वीर और घर्षणशील मरुद्गण यज्ञ में सोमपान-द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं।"

ऋग्वेद १.११४,१ और बाद (वाजसं० १६.४८) : इमा रुद्राय कपर्दिने[२२४] क्षयद्-वीराय प्रभरामहे मतिः । यथा शम् असद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वम् पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम् । २. मृळा नो रुद्र उत नो

---

[२२४] ऋग्वेद ६.५५,२ में 'कपर्दिन्' पूषा की भी उपाधि है : 'रथीतम कपर्दिनम् ईशान राधसो मह. । रायः सखायम् ईमहे ।' ऋग्वेद ९.६७,१०.११ मे भी · 'अविता नो अजाश्व पूषा यामनि यामनि । आभक्षत् कन्यासु न. । ११. अय सोम कपर्दिने घृतं न पवते मधु । आभक्षत् कन्यासु नः ।' ऋग्वेद ७.८३,८ मे यही शब्द तृत्सुओ के लिये व्यवहृत हुआ है · 'श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सव. ।' इसके साथ ऋग्वेद ७.३३.१ के 'दक्षिणतस्-कपर्दा.' की तुलना कीजिये । 'कपर्दिन' शब्द ऋग्वेद १०.१०२.८ मे भी आता है ।

मयस् कृधि क्षयद्-वीराय नमसा विधेम ते। यत् श च योश्च मनुर् आ येजे पिता तद् अश्याम् तव रुद्र प्रणीतिषु। ३. अश्याम् ते सुमतिं देव-यज्यया क्षयद्-वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः। सुम्नायन्न् इद् विश्वो अस्माकम् आचर् अरिष्टवीरा जुहवाम ते हविः। ४. त्वेषं वय रुद्रं यज्ञ साधं वङ्कुं कविम् अवसे निह्वयामहे। आरे अस्मद् दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिम् इद् वयम अस्य आ वृणीमहे। ५. दिवो वराहम् अरुप कपर्दिनं त्वेषं रूप नमसा निह्वयामहे। हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म छर्दिर् अस्मभ्यं यंसत्। ६. इदम् पित्रे मरुताम् उच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्। रास्वा च नो अमृत मर्त्त-भोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ। ७. (वास १६, १५ = अवे० ३.२,२६) मा नो महान्तम् उत मा नो अर्भकम् मा न उक्षन्तम् उत मा न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरम् मोत मातरम् मा नः प्रियास् तन्वो रुद्र रीरिषः। ८. (वासं० १६, १६) मा नस् तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिपः। वीरान् मा नो भामितो वधीर् हविष्मन्त. सदम् इत् त्वा हवामहे। ९. उप ते स्तोमान् पशु-पा इवाकरम् रास्वा पितर् मरुतां सुम्नम् अस्मे। भद्रा हि ते सुमतिर् मृळयत्तमा अथा वयम् अवः इत् ते वृणीमहे। १०. आरे ते गो-घ्नम् उत पुरुष-घ्नम् क्षयद् वीर सुम्नम् अस्मे ते अस्तु। मृळा च नो अधि च ब्रूहि देव अधा च नः शर्म यच्छ द्वि-बर्हाः। ११. अवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः शृणोतु नो हव रुद्रो मरु त्वान्। तन नो मित्रो वरुणो मा महन्ताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।

"महान् कपर्दी और वीरों के विनाश-स्थान रुद्र को हम यह माननीय स्तुति अर्पित करते हैं जिससे द्विपद और चतुष्पद सुस्थ रहें और हमारे इस ग्राम में सब लोग पुष्ट और रोगशून्य रहें। २. रुद्र ! तुम सुखी हो, हमें सुखी करो। तुम वीरों के विनाशक हो। हम नमस्कार के साथ तुम्हारी परिचर्या करते हैं। पिता या उत्पादक मनु ने जिन रोगों से उपशम तथा जिन भयों से उद्धार पाया था, रुद्र ! तुम्हारे उपदेश से हम भी वह पावें। ३. अभीष्टदाता रुद्र ! तुम वीरों के क्षयकारी मरुतों से युक्त हो। हम देव-यज्ञ द्वारा तुम्हारा अनुग्रह प्राप्त करें। हमारी सन्तानों के सुख की कामना करके उनके पास आओ। हम भी प्रजा का हित देखकर तुम्हें हव्य देंगे। ४. रक्षण के लिये हम दीप्तिमान, यज्ञसाधक, कुटिलगति, और मेधावी रुद्र का आह्वान करते हैं। वह हमारे पास से अपना क्रोध दूर करें। हम उनका अनुग्रह चाहते हैं। ५. हम उन स्वर्गीय उत्कृष्ट वराह की भाँति दृढाङ्ग, अरुण-वर्ण, कपर्दी, दीप्तिमान,

और उज्ज्वल रूपधर रुद्र को नमस्कार द्वारा बुलाते हैं। हाथ में वरणीय भैषज धारण करके ये हमें सुख, वर्म और गृह प्रदान करें। ६. मधु से भी अधिक मधुर यह स्तुति वाक्य मरुतों के पिता रुद्र के उद्देश्य से उच्चारित किया जाता है। इससे स्तोता की वृद्धि होती है। मरण-रहित रुद्र! मनुष्यों का भोजनरूप अन्न हमें प्रदान करो। मुझे, मेरे पुत्र को, और पौत्र को सुख का दान करो। ७. रुद्र! हम में से वृद्ध को नहीं मारना, बच्चों को नहीं मारना, सन्तानोत्पादक युवक को नहीं मारना, तथा गर्भस्थ शिशु को भी नहीं मारना। हमारे पिता का वध नहीं करना, माता की हिंसा नहीं करना, तथा हमारे प्रिय शरीर में आघात नहीं करना। ८. रुद्र! हमारे पुत्र, पौत्र, मनुष्य, गौ, और अश्व को नहीं मारना। रुद्र! क्रुद्ध होकर हमारे वीरों की हिंसा नहीं करना; क्योंकि हव्य लेकर हम सदा ही तुम्हें बुलाते हैं। जैसे चरवाहे सायंकाल अपने स्वामी के पास पशुओं को लौटा देते हैं, वैसे ही, हे रुद्र! मैं तुम्हारा स्तोत्र तुम्हें अर्पण करता हूँ। मरुतों के पिता! हमें सुख दो। तुम्हारा अनुग्रह अत्यन्त सुखकर और कल्याणवाही हो। हम तुम्हारा रक्षण चाहते हैं। १०. वीरों के विनाशक रुद्र! तुम्हारा गो-हनन-साधन और मनुष्य-हनन-साधन अस्त्र दूर रहे। हम तुम्हारा दिया सुख पावें। हमें सुखी करो। दीप्तिमान रुद्र! हमारे पक्ष में कहना। तुम पृथिवी और अन्तरिक्ष के अधिपति हो। हमें सुख दो। ११. हमने रक्षा की कामना करके कहा है। उन रुद्र देव को नमस्कार है। मरुतों के साथ रुद्र हमारा आह्वान सुनें। मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी, और आकाश हमारी इस प्रार्थना को पूजित करें।"

उक्त छठवें मन्त्र के भाष्य में इस बात की व्याख्या करने के लिये कि रुद्र (यहाँ इन्हें बाद के महादेव के साथ समीकृत किया गया है) किस प्रकार मरुतों के पिता बनें, सायण इस आधुनिक कथा को उद्धृत करते हैं:

रुद्रस्य मरुताम् पितृत्वम् एवम् आख्यायते। पुरा कदाचिद् इन्द्रोऽसुरान् जिगाय। तदानीं दितिर् असुर्-माता इन्द्र हनन-समर्थम् पुत्रं कामयमाना तपसा भर्त्तुः सकाशाद् गर्भं लेभे। इमं वृत्तान्तम् अवगच्छन्न् इन्द्रो वज्र हस्तः सन् सूक्ष्म-रूपो भूत्वा तस्य उदरम् प्रविश्य तं गर्भं सप्तधा बिभेद। पुनर् अप्य् एकैकं सप्त-खण्डम् अकरोत्। ते सर्वे गर्भैकदेशा योनेर् निर्गत्यारुदन्। एतस्मिन्न् अवसरे लीलार्थं गच्छन्तौ पार्वती-परमेश्वराव् इमान् ददृशतुः। महेशाम् प्रतिपार्वत्य् एवम् अवोचत्। "इमे मांस-खण्डा यथा प्रत्येकम् पुत्राः सम्पद्यन्ताम् एवं त्वया कार्यम् मयि चेत प्रीतिर् अस्ति" इति। स च महेश्वरस् तां समान-रूपान् वयसः समानालङ्कारान् पुत्रान् कृत्वा गौर्य्यै प्रददौ "तवेमे पुत्राः सन्त्व्" इति

अतः सर्वेषु मारुतेषु सूक्तेषु मरुतो रुद्र-पुत्रा इति स्तूयन्ते रुद्रेषु च मरुताम् पिता रुद्र इति ।

"रुद्र के मरुतों के पिता होने की कथा इस प्रकार है । पहले, एक समय इन्द्र ने असुरों को जीत लिया । तब असुरों की माता, दिति, इन्द्र का वध कर सकनेवाले पुत्र की इच्छा से तपस्या करती हुई अपने पति के द्वारा गर्भवती हुई । इस समाचार को जान कर इन्द्र ने एक अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण करके, हाथ में वज्र लिये हुये उनके गर्भ में प्रवेश किया और गर्भस्थ शिशु के सात टुकड़े करके इनमें से प्रत्येक टुकड़े के पुनः सात-सात टुकड़े कर दिये । एक ही गर्भ के विभिन्न भाग होने के कारण ये सभी भाग गर्भ से बाहर निकल कर रोने लगे । इसी समय परमेश्वर (महादेव) और पार्वती लीलार्थ उधर से आ निकले । पार्वती ने परमेश्वर से इस प्रकार कहा : 'यदि आप मुझ से प्रेम करते हैं तब इनमें से प्रत्येक मांस-खण्ड को अलग-अलग पुत्र बना दें ।' महादेव ने उन सबको एक ही रूप तथा वयवाले, एक ही प्रकार के अलंकार धारण किये हुये पुत्र बनाकर उन्हें यह कहते हुए पार्वती को दे दिया : 'ये सब आपके पुत्र हों ।' इसी से मरुतों को सम्बोधित सभी स्तुतियों में उनकी रुद्र के पुत्र के रूप में स्तुति की जाती है, तथा रुद्र की स्तुतियों में उनकी (रुद्र की) मरुतों के पिता के रूप में स्तुति की जाती है ।"

ऋग्वेद १.१२२,१ : प्र वः पान्त रघु-मन्यवोऽन्धो यज्ञं रुद्रायमीळ्हुषे भरध्वम् । दिवो अस्तोषि असुरस्य वीरैर् इषुध्या इव मरुतो रोदस्यो. । "क्रोध-विरहित ऋत्विको ! तुम लोग कर्मफल-दाता रुद्र को पालनशील और यज्ञ-साधन अग्नि अर्पित करो । मैं भी उन द्युलोक के असुर (देव) और उनके अनुचर, मरुतों की स्तुति करता हूँ ।"

ऋग्वेद १.१२९,३ : दस्मो हि ष्मा वृषणम् पिन्वसि त्वचं कं चिद् यावीर् अररु शूर मर्त्यम् परिवृणक्षि मर्त्यम् । इन्द्रोत तुभ्य तद् दिवे तद् रुद्राय स्व-यशसे । मित्राय वोच वरुणाय सप्रथः सुमृळीकाय सप्रथः । "इन्द्र ! तुम शत्रुओं का नाश करनेवाले हो । वृष्टिपूर्ण त्वचारूप मेघ का भेदन करके जल गिराते हो और मर्त्य के समान गमनशील मेघ को पकड़ कर उसे वृष्टिरहित करके छोड़ देते हो । इन्द्र ! तुम्हारे इस कार्य को हम तुमसे और द्यु, यशोयुक्त रुद्र, प्रजाओं के सुखदायी मित्र, तथा वरुण से कहेंगे ।"

ऋग्वेद २.१,६ : त्वम् अग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस् त्वं शर्धो मारुतम् पृक्ष ईशिषे । त्व वातैर् अरुणैर् यासि शगयस् त्वम् पूषा विधतः पासि नु त्मना । "अग्नि ! तुम महान् आकाश के असुर (देव) रुद्र हो । तुम मरुतों के बलरूप हो । तुम अन्न के ईश्वर हो । तुम सुख के आधार-स्वरूप

हो। लोहितवर्ण और वायु-सदृश अश्व पर जाते हो। तुम पूषा हो, तुम स्वयं कृपा करके परिचालक मनुष्यों की रक्षा करते हो।"

इस सूक्त की तीसरी ऋचा, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, देखिये जिसमें अग्नि को उसी प्रकार इन्द्र और विष्णु के साथ समीकृत किया गया है जिस प्रकार प्रस्तुत ऋचा में उन्हें रुद्र और पूषा के साथ। इस सूक्त की ४, ५, और ७ वीं ऋचायें भी देखिये। इस ऋचा पर अपने भाष्य में सायण 'रुद्र' शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ देते हैं :

रुद् दुःख दुःख-हेतुर् वा पापादिः। तस्य द्रावयित्वा एतन-नामको देवोऽसि। "रुद्रो वा एष यद् अग्निर्" इत्य् आदिष्व् अग्नेः रुद्र-शब्देन व्यवहारात्। यद्वा त्वं रुद्रः। रौति। माम् अनिष्ट्वा नरा दुःखे पति-ष्यन्ति। रुद्रस् तादृशोऽसि। "रुद् का अर्थ दुःख या पाप आदि है जो दुःख का हेतु होता है। तुमको इस नाम का देवता इसलिये कहते हैं कि तुम इसे भगाते हो (रुद्-द्रावयिता); क्योंकि इस प्रकार के स्थलों पर अग्नि को साधारणतया 'रुद्र' शब्द से व्यक्त किया जाता है : 'जो अग्नि हैं वह रुद्र हैं।' अथवा तुम रुद्र हो। वह रोता है। मेरी उपासना न करते हुये मनुष्य दुःख से पीडित होंगे। तुम ऐसे रुद्र हो।" इत्यादि।

ऋग्वेद २.३३,१ और बाद : आ ते पितर् मारुतां सुम्नम् एतु मा नः सूर्यस्य सदृशो-युयोथाः। अभि नो वीरो अर्वतिक्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः। २. त्वा-दत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा ओशीय भेपजेभिः। वि अस्मद् द्वेषो वितरं वि अंहो वि अमीवाश् चातयस्वा विषूचीः। ३. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियाऽसि तवस्तमस् तवसा वज्र-बाहो। पर्षि नः पारम् अंहसः स्वस्ति विश्वा अभीतीः रपसो युयोधि। ४. मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर् मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती। उद् नो वीरान् अर्पय भेषजेभिर् भिषक्तमं त्वा भिषजा शृणोमि। ५. हवीमभिर् हवते यो हविर्भिर् अव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय। ऋदूदरः सुहवो मा नो यस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधद् मनायै। ६. उद् मा ममन्द वृषभो मरुत्वान् त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्। घृणीव छायाम् अरपा अशीय आ विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्। ७. क स्य ते रुद्र मृळयाकुर् हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। अपभर्ता रपसो दैव्यस्य अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः। ८. प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टिम् ईरयामि। नमस्या कल्मलीकनं नमोभिर् गृणीमसि त्वेष रुद्रस्य नाम[२२५]। ६. स्थिरेभिर् अङ्गैर् पुरु रूप

---

[२२५] तुकी० ऋग्वेद ७.१००,३।

उग्रो वभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ईशानाद् अस्य भुवनस्य भूरेर् न वा उ योषद् रुद्राद् असुर्यम्। १० अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्व अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्। अर्हन्न् इदं दयसे विश्वम् अभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वद् अस्ति। ११. (अवे० १८.१,४०) स्तुहि श्रुतं गर्त्त-सदं युवानम् मृगं न भीमम्[२२९] उपहत्नुम् उग्रम्। मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मद् नि वपन्तु सेनाः। १२. कुमारस् चित् पितरं वन्दमानम् प्रति नानाम् रुद्र उपयन्तम्। भूरेर् दातार सत्पतिं गृणीषे स्तुतस् त्वम् भेषजा रासि अस्मे। १३. या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु। यानि मनुर् अवृणीता पिता नस् ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि। १४. (वास० १६, ५०) परि नो हेतिः रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर् मही गात्। अव स्थिरा मघवद्भ्यस् तनुष्व मीढ्वस् तोकाय तनयाय मृळ १५. एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि। हवन-श्रुद् नो रुद्र इह बोधि बृहद् वदेम विदथे सुवीराः।

"मरुतों के पिता रुद्र! तुम्हारा दिया हुआ सुख हमारे पास आवे। सूर्य-दर्शन से हमें अलग मत करना। हमारे वीर पुत्र शत्रुओं को पराजित करें। २. रुद्र! हम पुत्रों और पौत्रों में अनेक हो जायँ। २. रुद्र! हम तुम्हारी दी हुई सुखकारी ओषधि के द्वारा सौ वर्ष जीवित रहें। हमारे शत्रुओं का विनाश करो, हमारा पाप सर्वांशतः दूर कर दो। सर्वशरीर-व्यापी व्याधि को भी दूर करो। ३. रुद्र! ऐश्वर्य में तुम सर्वश्रेष्ठ हो। हे वज्रबाहु! प्रवृद्धों में तुम अतीव प्रवृद्ध हो। हमें पाप के उस पार ले चलो। हमारे पास पाप न आने पाये। ४. अभीष्टवर्षी रुद्र! हम अन्यान्य नमस्कार, अन्यान्य स्तुति अथवा विसदृश देवों के सत्य आह्वान द्वारा तुम्हें क्रुद्ध न करें। हमारे पुत्रों को ओषधि द्वारा परिपुष्ट करो। मैंने सुना है, तुम वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ हो। ५. जो रुद्र देव हव्य के साथ आह्वान द्वारा आहूत होते हैं उनका स्तोत्र द्वारा मैं क्रोध दूर करूँगा। कोमलोदर, शोभन आह्वानवाले, वभ्रु वर्ण और सुनासिक रुद्र हमें न मारें। ६. मैं प्रार्थना करता हूँ कि अभीष्टवर्षी और मरुत् वाले रुद्र मुझे दीप्त अन्न द्वारा तृप्त करें। जैसे धूप का मारा मनुष्य छाया को आश्रित करता है, वैसे ही मैं भी पाप-शून्य होकर रुद्र-दत्त सुख प्राप्त करूँगा। मैं रुद्र की परिचर्या करूँगा। ७. रुद्र! तुम्हारा वह सुखदाता हाथ कहाँ है जिससे तुम

---

[२२९] तुली० विष्णु, इन्द्र, वरुण, इत्यादि के प्रति भी इसी प्रकार की उक्तियाँ, जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

ओषधि तैयार करके सब को सुखी करते हो। अभीष्टवर्षी रुद्र ! दैव-पाप के विघातक होकर तुम मुझे शीघ्र क्षमा करो। ८. बभ्रुवर्ण, अभीष्टवर्षी और श्वेत आभावाले रुद्र को लक्ष्य करके अतीव महती स्तुति का हम उच्चारण करते हैं। हे स्तोता ! नमस्कार द्वारा तेजस्वी रुद्र की पूजा करो। हम उनके उज्ज्वल नाम का संकीर्तन करते हैं। ९. दृढाङ्ग, बहुरूप, उग्र, बभ्रुवर्ण रुद्र दीप्त तथा हिरण्मय अलंकार[२२७] से सुशोभित होते हैं। रुद्र सारे भुवनों के अधिपति और भर्त्ता हैं। उनका बल अलग नहीं होता। १०. पूजायोग्य रुद्र ! तुम धनुष-बाणधारी हो। पूजार्ह ! तुम नाना रूपोंवाले हो और तुमने पूजनीय निष्क को धारण किया है। अर्चनार्ह ! तुम सारे व्यापक संसार की रक्षा करते हो। तुम्हारी अपेक्षा अधिक बली कोई नहीं है। ११. हे स्तोता ! विख्यात रथ पर आरूढ़, युवा, पशु की भाँति भयकर, और शत्रुओं के विनाशक तथा उग्र रुद्र की स्तुति करो। रुद्र ! स्तुति करने पर तुम हमें सुखी करते हो। तुम्हारी सेना शत्रु का विनाश करे। १२. जैसे आशीर्वाद देते समय पिता को पुत्र नमस्कार करता है, वैसे ही रुद्र ! तुम्हारे आने के समय हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। रुद्र ! तुम बहुधन दाता और साधुओं के पालक हो। स्तुति करने पर तुम हमें ओषधि देते हो। १३. मरुतो ! तुम्हारी जो निर्मल ओषधि है; हे अभीष्टवर्षीगण ! तुम्हारी जो ओषधि अतीव सुखदात्री है, जिस ओषधि को हमारे पिता मनु ने चुना था, वही सुखकर तथा भयहारक ओषधि हम चाहते हैं। १४. रुद्र का हेति-आयुध हमें छोड़ दे। दीप्त रुद्र की महती दुर्मति भी हमें छोड़ दे। सेचन-समर्थ रुद्र ! धनवान् यजमान के प्रति अपने धनुष की ज्या शिथिल करो। हमारे पुत्रों और पौत्रों को सुखी करो। १५. अभीष्टवर्षी, बभ्रुवर्ण, दीप्तिमान् , सर्वज्ञ, और हमारा आह्वान सुननेवाले रुद्र ! हमारे लिये तुम यहाँ ऐसी विवेचना करो कि हमारे प्रति कभी क्रुद्ध न हो, हमें कभी विनष्ट न करो। हम पुत्र और पौत्रवाले होकर इस यज्ञ में प्रभूत स्तुति करेंगे।"

ऋग्वेद २.३४,२ : द्यावो न स्तृभिश् चितयन्त खादिनो वि अभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः। रुद्रो यद् वो मरुतो रुक्म-वक्षसो वृषाऽजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि। "सुवर्णहृदय मरुतो ! यतः सेचन-समर्थ रुद्र ने पृश्नि के निर्मल उदर में तुम्हें उत्पन्न किया है, अतः जैसे आकाश नक्षत्रों से सुशोभित होता है, वैसे ही तुम भी अपने आभरण से सुशोभित होओ। तुम शत्रु-भक्षक और जल-प्रेरक हो। तुम मेघस्थ विद्युत की भाँति शोभित होओ।"

---

[२२७] देखिये 'शुक्र-पिश्,' निरुक्त ८ ११ = ऋग्वेद १०.११०,६, और रॉथ निरुक्त।

ऋग्वेद २.३८,९ : न यस्य इन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतम् अर्यमा न मिनन्ति रुद्रः। न अरातयस् तम् इद स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः। "इन्द्र जिसके व्रत की हिंसा नहीं करते; वरुण, मित्र, अर्यमा, और रुद्र भी हिंसा नहीं करते; शत्रुगण भी हिंसा नहीं करते; उन्हीं द्युतिमान सविता का, कल्याण के लिये इस प्रकार नमस्कार द्वारा हम आह्वान करते हैं।"

ऋग्वेद ३.२,५ : अग्नि सुम्नाय दधिरे पुरो जना वाजश्रवसम् इह वृक्त-बर्हिष.। यत-स्रुचः सुरुचं विश्व-देव्य रुद्र यज्ञाना साधद्-इष्टिम् अपसाम्। "सुख की प्राप्ति के लिये ऋत्विक लोग कुश को फैला कर और स्रुक को उठा कर अन्नदाता, अतीव प्रकाशक, सारे देवों के हितैषी, दुःख-नाशक, और यजमानों के यज्ञ-साधक अग्नि की स्तुति करते हैं।"

ऋग्वेद ४.३,१ : आ वो राजानम् अध्वरस्य रुद्रं होतार सत्ययजं रोदस्यो. अग्निम् पुरा तनयित्नोर् अचित्ताद् हिरण्य-रूप अवसे कृणु-ध्वम्। ६. कद् धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद् वाताप प्रतवसे शुभये परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कद् अग्ने रुद्राय नृ-घ्ने। (७ वें को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) : "हे यजमानो! यज्ञ के अधिपति, देवों के आह्वाता, द्यावा-पृथिवी के अन्नदाता, सुवर्ण की तरह प्रभावाले और शत्रुओं को रुलाने-वाले रुद्रात्मक अग्नि की, अपनी रक्षा के लिये, वज्र-रूप मृत्यु के पूर्व ही, सेवा करो।"...६. "हे अग्नि! जब तुम यज्ञ में वर्धमान होते हो, तब उस कथा को क्यों कहते हो? प्रकृष्ट, बलयुक्त, शुभप्रद, सर्वत्रगामी, सत्य के नेता वायु से वह कथा क्यों कहते हो? बहुस्तुति-भाजन विष्णु से पाप की कथा क्यों कहते हो? बृहत संवत्सर अथवा निर्ऋति से वह कथा क्यों कहते हो?"

ऋग्वेद ५.३,३ को ऊपर पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

ऋग्वेद ५.४१,२ : ते नो मित्रो वरुणो अर्यमाऽऽयुर् इन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुषन्त। नमोभिर् वा ये दधते सुवृक्ति स्तोम रुद्राय मीळ्हुषे सजोषाः। "मित्र, वरुण, अर्यमा, आयु, इन्द्र, ऋभुक्षा, और मरुद्गण! तुम सब देव हमारे शोभन तथा पापवर्जित स्तोत्र का सेवन करो। तुम सब रुद्र के साथ प्रीयमाण होकर पूजा ग्रहण करो।"

ऋग्वेद ५.४२,११ : तम् उ ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य। यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्र नमोभिर् देवम् असुरं दुवस्य।...१५. एष स्तोमो मारुतं शर्धो अच्छा रुद्रस्य सूनूम् युवन्यूनू उद् अश्याः। इत्यादि। "हे विज्ञ! रुद्र का स्तवन करो जिनके बाण और धनुष सुन्दर हैं, जो समस्त ओषधियों के ईश्वर हैं। रुद्र का यजन करो और महान् कल्याण के लिये द्युतिमान और बलवान रुद्र की परिचर्या करो।...

१५ हमारे द्वारा सम्पादित स्तोत्र रुद्र के तरुण पुत्र, मरुतों, के अभिमुख भली-भाँति उपस्थित हों। इत्यादि।"

ऋग्वेद ५.४६,२ (वासं० ३३, ४८) को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

ऋग्वेद ५.५१,१३ : विश्वे देवा न अद्य स्वस्तये वैश्वानरो वसुर्[२२८] अग्निः स्वस्तये। देवा अवन्तु ऋभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पातु अंहसः। "इस यज्ञ में सम्पूर्ण देव हम लोगों के लिये कल्याण और रक्षा करें। मनुष्यों के नेता और गृहदाता अग्नि हम लोगों के लिये कल्याण और रक्षा करें। दीप्तिमान ऋभुगण भी हम लोगों की रक्षा करें। रुद्र हम लोगों का कल्याण, और पाप से हमारी रक्षा करें।"

ऋग्वेद ५.५२, १६ : प्र ये मे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम्। अधा पितरम् इष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वस। "जिन प्रेरक मरुतों ने हमें अपने बन्धुओं के अन्वेषण में यह वचन कहा था; जिन्होंने द्युदेवता अथवा पृश्निवर्ण गौ को माता बताया था और अन्नवान रुद्र को अपना पिता बताया था, वे समर्थ हैं।"

ऋग्वेद ५.५९,८ : मिमातु द्यौर् अदितिर् वीतये नः सं दानु-चित्रा उषसो यतन्ताम्। आचुच्यवुर् दिव्यं कोशम् एते ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणानाः। "द्यावा-पृथिवी हम लोगों की पुष्टि के लिये वृष्टि उत्पादन करें। निरतिशय दानशीला उषा हम लोगों के कल्याण के लिये यत्न करें। हे ऋषि! ये रुद्रपुत्र तुम्हारे स्तवन से प्रसन्न होकर स्वर्गीय वृष्टि वर्षण करें।"

ऋग्वेद ५.६०,५ : अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम् भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः। "ये मरुद्गण एक साथ ही उत्पन्न हुये हैं और परस्पर ज्येष्ठ या कनिष्ठ भाव से वर्जित हैं। ये मरुद्गण परस्पर भाव से सौभाग्य के लिये वर्धमान होते हैं। नित्य तरुण तथा सत्कर्म के अनुष्ठानकारी मरुतों के पिता रुद्र और जननी दोहनयोग्या पृश्नि मरुतों के लिये शोभन दिन उत्पन्न करें।"

ऋग्वेद ६.१६,३९ : य उग्र इव शर्यहा तिग्म-शृङ्गो न वसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथ। "हे अग्नि! तुम उग्र हो। एक धनुर्धर की भाँति, एक तीक्ष्ण शृङ्ग वृषभ की भाँति तुमने पुरों को भग्न किया है।"

इस पर भाष्यकार इस प्रकार टीका करता है. "रुद्रो वा एष यद् अग्निर्" इति श्रुतेः। रुद्र-कृतम् अपि त्रिपुर-दहनम् अग्नि कृतम् एव इति

---

[२२८] देखिये निरुक्त ७.२२ और बाद और १२४१,४२।

अग्निः स्तूयते। "श्रुति के अनुसार 'यह अग्नि ही रुद्र है'। यहाँ अग्नि की स्तुति में यह कहा गया है कि यद्यपि त्रिपुरों को रुद्र ने दग्ध किया था, तथापि यह कार्य अग्नि ने किया था।" एक दूसरी व्याख्या यह है कि अग्नि उस समय रुद्र के बाण में स्थित थे।

ऋग्वेद ६.२८,७ (अवे० ४.२१,७): प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा वः स्तेन ईशत माऽघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः। "हे गौओ! तुम सन्तान युक्त होओ। शोभन तृण का भक्षण करो और सुख से प्राप्त करने योग्य तड़ागादि के निर्मल जल का पान करो। तुम्हारा शासक चोर न हो, और व्याघ्रादि तुम्हारा ईश्वर न हो। कालात्मक रुद्र का वज्र तुमसे दूर रहे।"

ऋग्वेद ६.४९,१० : भुवनस्य पितर गीर्भिर् अभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रम् अक्तु। बृहन्तम् ऋष्वम् अजरं सुषुम्नम् ऋधग् हुवेम कवि नेपितासः। "स्तोता! दिन में इन सारे स्तोत्रों के द्वारा भुवन-पालक रुद्र को वर्द्धित करो और रात्रि मे रुद्र की संवर्द्धना करो।"

ऋग्वेद ६.५०,४ : आ नो रुद्रस्य सूनवो नमन्ताम् अद्या हुतासो वसवो अधृष्टाः। इत्यादि। "रुद्र के पुत्र, अजेय वसुगण, जिनको हम आज आहूत करते हैं, हमारे पास आयें। इत्यादि।" इसी सूक्त की १२ वीं ऋचा को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

ऋग्वेद ६.६६,३ : रुद्रस्य ये मीळ्हुषः सन्ति पुत्राः याश् चो नु' दाधृविर् भरध्यै। विदे हि माता महो मही पा सा इत् पृश्निः सुभ्वे गर्भम् आधात्।···११. तम् वृधन्तम् मारुतम् भ्राजद्-ऋष्टिं रुद्रस्य सूनुं हवसा आ विवासे। इत्यादि। "सेचनकारी रुद्र के जो मरुद्गण पुत्र है और जिनको धारणकर्त्ता अन्तरिक्ष धारण करने मे समर्थ हैं, उन्हीं महान् मरुतों की माता महती है। वह माता मनुष्योत्पत्ति के लिये गर्भ धारण करती है। · ११ मैं उन्हीं वर्धमान् और दीप्तिमान, खड्ग मे युक्त मरुतों की स्तोत्र द्वारा परिचर्या करता हूँ। इत्यादि।"

ऋग्वेद ६.७४,१ और बाद . सोमा–रुद्रा 'धारयेथाम् असुर्यम् प्रवाम् इष्टयोऽरन् अश्नुवन्तु। दमे दमे सप्तरत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे। २. (अवे० ७.४२,१) सोमा-रुद्रा वि वृहत विषूचीम् अमीव या नो गयम् आविवेश। आरे बाधेथां निर्ऋतिम् पराचैर् अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु। ३. (अवे० ७.४२,२) सोमा-रुद्र युवम् एतानि अस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्। अव स्यतम् मुञ्चतं यद् नो अस्ति तनूषु बद्ध कृतम् एनो अस्मत्। ४. तिग्मायुधौ तिग्म हेती सुशेवौ सोमा-

रुद्राव् इह सु मृळतं नः। प्र नो मुञ्चत वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नः सुमनस्यमाना। "सोम और रुद्र ! तुम हमें असुर-सम्बन्धी बल दो। सारे यज्ञ तुम्हें प्रतिगृह में भली-भाँति व्याप्त करें। तुम सप्तरत्न धारण करते हो; इसलिये हमारे लिये तुम सुखकर होओ और द्विपदों और चतुष्पदों के लिये भी कल्याणवाही बनो। २. सोम और रुद्र ! जो रोग हमारे घर में घुसा है, उसी संक्रामक रोग को दूर करो। ऐसी बाधा दो जिससे दरिद्रता पराङ्मुख हो जाय। हमारे पास सुखावह अन्न हो। ३. सोम और रुद्र ! हमारे शरीर के लिये सब प्रसिद्ध औषध धारण करो। हमारे किये पाप, जो शरीर में निबद्ध हैं, उन्हें शिथिल करो। ४. सोम और रुद्र ! तुम्हारे पास दीप्त धनुष तथा तीक्ष्ण शर हैं। तुम लोगों को सुख देते हो। शोभन स्तोत्र की अभिलाषा करते हुये हमें इस संसार में सुखी करो। तुम हमें वरुण के पाश से छुड़ाओ और हमारी रक्षा करो।"

ऋग्वेद ७ १०,४ : इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्र रुद्रेभिर् आ वहा बृहन्तम्। आदित्येभिर् अदितिं विश्व-जन्याम् बृहस्पतिम् ऋकभिर् विश्व वारम्। "अग्नि ! तुम वसुओं के साथ मिलकर हमारे लिये इन्द्र का आह्वान करो; रुद्रों के साथ संगत होकर महान् रुद्र का आह्वान करो; आदित्यों के साथ मिलकर विश्वहितैषी अदिति को बुलाओ और स्तुत्य अङ्गिराओं के साथ मिलकर सबके वरणीय बृहस्पति को बुलाओ।"

ऋग्वेद ७.३५,६······ शं नो रुद्र रुद्रेभिर् जलाषः।···"रुद्रगण के लिये रुद्र देव हमें शान्ति दें", इत्यादि।

ऋग्वेद ७.३६,५ : यजन्ते अस्य सख्यं वयश् च नमस्विनः स्वे ऋतस्य धामन्। वि पृक्षो बाबधे नृभिः स्तवान इदं नमो रुद्राय प्रेष्ठम्। "यजमान लोग अन्नवाले होकर यज्ञस्थल में अवस्थित रहकर रुद्र का सख्य चाहते हैं। नेताओं द्वारा स्तुत होने पर रुद्र अन्न देते हैं। मै रुद्र का प्रिय नमस्कार करता हूँ।"

ऋग्वेद ७.४०,५ : इसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

ऋग्वेद ७.४१,१ (वासं० ३४,३४; अवे० ३.१६,१) : प्रातर् अग्निम् प्रातर् इन्द्रं हवामहे प्रातर् मित्रा-वरुणा प्रातर् अश्विना। प्रातर् भगम् पूषणम् ब्रह्मणस्पतिम् प्रातः सोमम् उत रुद्रं हुवेम्। "हम प्रातःकाल अग्नि, इन्द्र, मित्र, और वरुण को बुलाते हैं, तथा प्रातःकाल अश्विनी-कुमारों की स्तुति करते हैं। प्रातःकाल भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र की स्तुति करते हैं।"

ऋग्वेद ७.४६,१ (निरुक्त १०.६) : इमा रुद्राय स्थिर-धन्वने गिरः।

क्षिप्रेषवे देवाय स्वधान्वे[२२९]। अपाळ्हाय सहमानायवेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः। स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति। अवन्न् अवन्तीर् उप नो दुरश् चर अनमीवो रुद्र जासु न भव। ३. (निरुक्त १०.७) या ते दिद्युद् अवसृष्टा दिवस् परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः। सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस् तोकेषु तनयेषु रीरिषः। ४. मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य। आ नो भज बर्हिषि जीव-शंसे यूयम् पात स्वस्तिभिः सदा नः। "दृढ़धनुष्क, शीघ्रगामी शर वाले, अन्नवाले, किसी के लिये भी अजेय तथा सबके विजेता और तीक्ष्ण आयुध बनाने वाले रुद्र की स्तुति करो। वे सुनें। २. पृथिवीस्थ और स्वर्गस्थ मनुष्य के ऐश्वर्य द्वारा उन्हें जाना जा सकता है। रुद्र! तुम्हारा स्तोत्र करनेवाली हमारी प्रजा का पालन करते हुये हमारे घर में आओ। हमें रोग मत देना। ३. रुद्र! अन्तरिक्ष से छोड़ी गई जो तुम्हारी विद्युत पृथिवी पर विचरण करती है वह हमें छोड़ दे। हे स्वपिवात रुद्र! तुम्हारे पास सहस्रों ओषधियाँ हैं। हमारे पुत्र या पौत्र की हिंसा नहीं करना। ४. रुद्र! न हमें मारना न छोड़ना। तुम क्रोध करने पर जो बन्धन करते हो, उसमें हम न रहें। प्राणियों के प्रशस्य यज्ञ का हमें भागी बनाओ। तुम सदा हमें स्वस्ति द्वारा पालन करो।"

ऋग्वेद ७.५६,१ (सावे० १.४३३) के ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्याः अधा स्वश्वाः। २. नकिर् हि एषा जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम्। "कान्तियुक्त नेता, समाजगृह-निवासी, महादेव के पुत्र, मनुष्य-हितैषी, और सुन्दर अश्ववाले ये रुद्र-पुत्रगण कौन हैं? इनकी उत्पत्ति कोई नहीं जानता। ये ही परस्पर अपनी जन्मकथा जानते हैं।"

ऋग्वेद ७.५८, ५: तान् आ रुद्रस्य मीळ्हुषो विवासे इत्यादि। "कामवर्षक रुद्र-पुत्रों की मैं सेवा करता हूँ, इत्यादि।

ऋग्वेद ८.१३,२०: तद् इद् रुद्रस्य चेतति यह्वम् प्रत्नेषु धामसु।

---

[२२९] प्रो० रॉथ (इल० ऑफ नि०, पृ० १३५) 'स्वधावत्' शब्द को 'स्वतत्र', 'जिसमे अपना वैभव निहित हो' इत्यादि का द्योतक मानते हुये ऋग्वेद ७ २०,१; ७ ३७,२, ७.८६,४, का सन्दर्भ देते हैं। पृ० ४० पर आप 'स्वधा' का 'अपनी दृढता के अनुसार', 'अपनी इच्छा के अनुसार' आदि आशय मानते हुये इन स्थलो को उद्धृत करते हैं जहाँ आपके अनुसार यही आशय है ऋग्वेद १.६,४; १ ३३,११, १ ८१,४, २ ३,११, ३.४७,१; ७.७८,४, और ८.२०,७।

मनो यत्रा वि तद् दधुर् विचेतसः। "जिनके लिये विशिष्ट ज्ञानवाले व्यक्ति स्तोत्र उच्चारण करते हैं, वे ही रुद्रपुत्र मरुद्गण अपने प्राचीन स्थानों में हैं।

ऋग्वेद ८.२०,१७ : यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो विशन्ति असुरस्य वेधसः। युवानस् तथा इत् असत्। "रुद्रपुत्र, असुर के कर्त्ता और नित्य तरुण मरुद्गण जिस प्रकार अन्तरिक्ष से आकर हमारी कामना करें, यह स्तोत्र वैसा ही हो।"

ऋग्वेद ८.२२,१३ "ता उ नमोभिर् ईमहे। १४. ताव् इद् दोषा ताव् उषसि शुभस् पती ता यामन् रुद्र वर्त्तनी[230]। मा नो मर्ताय रिपवे वाजिनी-वसू परो रुद्राव् अतिरव्यतम्। "उन्हीं (अश्विनों) की स्तुति करता हूँ। १४. वे जलपालक और युद्ध में स्तूयमान मार्ग है। रात्रि, उषः-काल, और दिन में सदा हम अश्विनों को बुलाते हैं। अन्न और धन अश्विद्वय! शत्रु के हाथ में हमें मत देना।"

ऋग्वेद ८.२९,५ : इसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

ऋग्वेद ८.६१,३ : अन्तर् इच्छन्ति त जने रुद्रम् परो मनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्। "यजमान की मनोरथसिद्धि के लिये वे अपने प्रज्ञा-बल से उन रुद्र अग्नि को सम्मुख स्थापित करने की इच्छा करते हैं। वे जिह्वा द्वारा अग्नि को ग्रहण करते हैं।"

ऋग्वेद १०.६४,८ : त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीर् अपो वनस्पतीन् पर्वतान् अग्निम् ऊतये। कृशानुम् अस्तॄन् तिष्यं सधस्थे आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रिय हवामहे। "इक्कीस प्रकाण्ड नदियों, वनस्पतियों, पर्वतों, अग्नि, सोमपालक कृशानु, धनुर्धर, तिष्य, और रुद्र, तथा रुद्रों में प्रधान रुद्र को यज्ञ में रक्षा के लिये हम बुलाते हैं।"

ऋग्वेद १०.६५,१ (ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)।

ऋग्वेद १०.६६,३ : इन्द्रो वसुभिः परिपातु नोगयम् आदित्यैर् नो अदितिः शर्म यच्छतु। रुद्रो रुद्रेभिर् देवो मृलयाति नस् त्वष्टा नो ग्नाभिः सुविताय जिन्वतु। "वसुओं के साथ इन्द्र हमारे गृह की रक्षा करें। आदित्यों के साथ अदिति हमें सुख दें। रुद्र-पुत्र मरुतों के साथ रुद्र हमें सुखी करें। पत्नी सहित त्वष्टा हमारा सुख बढ़ावें।

ऋग्वेद १०.९२,५ : प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस् तिरो महीम् अरमति दधन्विरे। येभिः परिज्मा परियन्न् उरु ज्रयो वि रोरुवज्

---

[230] यह 'रुद्र-वर्त्तनी' शब्द प्रस्तुत सूक्त की प्रथम ऋचा तथा ऋग्वेद १०.३९,११ मे, अश्विनो के लिये भी व्यवहृत हुआ है।

जठरे विश्वम् उक्षते।''' ६. स्तोम वो अद्य रुद्राय शिकसे क्षयद्-वीराय नमसा दिदिष्टन। येभिः शिवः स्ववान् एवयावभिर् दिवः सिषक्ति स्व-यशा निकामभि'। "वेगशाली रुद्र की सहायता पाकर नदियाँ बहती है और असीम भूमि को ढँकती हैं। सर्वत्र विचरण करनेवाले इन्द्र सर्वत्र जाकर मरुतों की सहायता से आकाश में गर्जन करते और महावेग से संसार में जल बरसाते हैं।''' ९. आज उन्हीं कर्मकुशल और रुद्र को नमस्कार तथा अनेक स्तोत्र अर्पित करो। वे शत्रुओं का विनाश करते हैं। वे अश्वारूढ़ और उत्साही मरुतों की सहायता पा कर और आकाश से जल-सिंचन करके मंगल-जनक होते हैं और अपनी कीर्त्ति का विस्तार करते हैं।"

ऋग्वेद १०.९३,४ : ते घा राजानो अमृतस्य मन्द्रा अर्यमा मित्रो वरुण. परिज्मा। कद् रुद्रो नृणां स्तुतो मरुतः पूषणो भगः।''' ७. उत नो रुद्रा चिद् मृळताम् अश्विना इत्यादि। "जिन रुद्र पुत्रों की स्तुति करने पर मनुष्यों को सुख मिलता है, वे अर्यमा, मित्र, सर्वज्ञ वरुण, और भग अमृत के राजा, स्तुत्य और पुष्टिकर्त्ता हैं।''' ७. रुद्र अश्विन हमें सुख दें, इत्यादि।"

ऋग्वेद १०.१२५,६ (अवे० ४.३०,५). अह् रुद्राय धनुर् आ तनोमि ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवा उ इत्यादि। "जिस समय रुद्र स्तोत्र-द्रोही शत्रु का वध करने को उद्यत होते हैं, उस समय मैं उनके धनुष का विस्तार करती हूँ। इत्यादि।"

ऋग्वेद १०.१२६,५. उग्रम् मरुद्भी रुद्र हुवेम इत्यादि। "हम उग्र रुद्र को मरुतों सहित बुलावें, इत्यादि।"

ऋग्वेद १०.१३६,१ : केशी अग्नि केशी विष केशी बिभर्ति रोदसी। केशी विश्वं स्वर् दृशे[१३१] केशी इदं ज्योतिर् उच्यते।'''७. वायुर् अस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मा कुननमा। केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणापिबत सह। "केशी अग्नि, जल, और द्यावा-पृथिवी को धारण करते हैं। केशी ही सारे संसार को प्रकाश के द्वारा दर्शनीय बनाते हैं। इस ज्योति को ही केशी कहा जाता है।'''७. जिस समय केशी रुद्र के साथ जल पान करते है उस समय वायु उस जल को हिला और कठिन माध्यमिकी वाक् को भग कर देते हैं।"

प्रो० रॉथ (इल० ऑफ नि०, पृ० १६४) इस सूक्त के 'केशी' को एक ऐसे तपस्वी का द्योतक मानते है जिसने अपनी तपस्याओं द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर के अपने को देवों के समान बना लिया था। आप इस

---

[१३१] 'केशी इद सर्वम् इदम् अभिविश्यति।' निरुक्त १२ २६।

सम्बन्ध में ऋग्वेद ७.५६,८ का उद्धरण देते हैं। फिर भी, अपने कोश में रॉथ, अथर्ववेद ११.२,१८ (जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा) में 'केशिन्' को रुद्र की एक उपाधि मानते हैं। प्रस्तुत ऋचाओं में भी स्थिति ऐसी ही है। यास्क ने 'केशिन्' को सूर्य के अर्थ में ग्रहण किया है जिनकी किरणें ही केश हैं। ७ वीं ऋचा में रुद्र के जल-(विष) पान करने के उल्लेख ने ही सम्भवतः विषपान के आख्यान को जन्म दिया हो सकता है।

ऋग्वेद १०.१६९,१ : मयोभूर् वातो अभिवातु उस्राः ऊर्जस्वतीर् ओषधीर् आरिशन्ताम्। पीवस्वतीर् जीव-धन्याः पिबन्तु अवसाय पद्वते[२३२] रुद्र मृळा। "सुखकर वायु गायों की ओर बहे। गायें बलकारक तृण आदि का आस्वादन करें। प्रभूत और प्राण-परितृप्तिकर जल ये पियें। रुद्रदेव ! चरणयुक्त और अन्नस्वरूप गायों को स्वच्छन्दता से रक्खो।

खण्ड २—शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा में रुद्र से सम्बद्ध स्थल

अब मैं वाजसेनयि संहिता के रुद्र से सम्बद्ध, प्रमुख स्थलों को उद्धृत करूँगा।

वासं० ३.५७ और बाद : एष ते रुद्र भागः सह स्वस्रा अम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा। एष ते रुद्र भाग आखुस् ते पशुः। ५८. अव रुद्रम् अदीमह्य् अव देवम् त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस् करद् यथा नः श्रेयसस् करद् यथा नो व्यवसाययात्। ५९. भेषजम् असि भेषज गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखम् मेषाय मेष्यै। ६० (=ऋग्वेद ७.५९, १२) त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पुष्टि-वर्द्धनम्। उर्वारुकम् इव बन्धनाद् मृत्योर् मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पतिवेदनम्। उर्वारुकम् इव बन्धनाद् इतो मुक्षीय माऽमुतः। ६१. एतत् ते रुद्र अवसं तेन परो मूजवतो अतीहि। अवतत धन्वा पिनाकावसः कृत्ति-वासा अहिंसन् नः शिवोऽतीहि। ६२. त्र्यायुष जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद् देवेषु त्र्यायुष तद् नो अस्तु त्र्यायुषम्। ६३. शिवो नामासि स्वधितिस् ते पिता नमस् ते अस्तु मा मा हिंसीः। निवर्तयाम्य् आयुषे अन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।

"हे रुद्र ! भगिनी अम्बिका के सहित हमारे द्वारा प्रदत्त अपने भाग को ग्रहण करो। इसे तुम कृपापूर्वक ग्रहण करो। यह तुम्हारा अंश है, तुम्हारा पशु चूहा

---

[२३२] 'पद्वद् अवस गाव', निरुक्त १.१७।

है। ५८. हम रुद्र को सन्तुष्ट करें। हम त्र्यम्बक[२३३] देवता को सन्तुष्ट करें जिससे वह हमें श्रेष्ठ निवास से युक्त करें, हमें समान मनुष्यों से अच्छा बनावें और हमें श्रेष्ठ कर्मो में लगावें। ५९. हे रुद्र ! तुम सब रोगों को औषधि के समान नष्ट करते हो। अतः हमारे गौ, अश्व, पुत्र पौत्रादि के लिये सर्व रोग नाशक औषधि प्रदान करो। ६०. दिव्य गंध से युक्त, मनुष्यों को दोनों लोकों का फल देनेवाले, धन धान्य से पुष्ट करनेवाले जिन त्र्यम्बक की हम पूजा करते हैं वह हमें अकाल मृत्यु से रक्षित करें। जैसे पका हुआ फल टूट कर पृथिवी पर गिर पड़ता है वैसे ही इन रुद्र की कृपा से हम जन्म-मरण के पाश से मुक्त हों और स्वर्गरूपी सुख से विमुख न हों। हम त्र्यम्बक की पूजा करते हैं जो हमें हमारे पति प्रदान करते हैं। ६१. हे रुद्र ! यह तुम्हारा भोजन है; इसके साथ तुम, हे कृपाशील ! अपनी अनत प्रत्यञ्चावाले धनुष को चर्मवस्त्र में ढँक कर, हमें बिना क्षति पहुँचाये मूजवान् पर्वत के उस पार चले जाओ।[२३४] ६२. हे रुद्र ! हमें तीन अवस्थावाला जीवन दो; जैसे जमदग्नि, कश्यप और देवों की तीन अवस्था होती है। ६३. तुम्हारा नाम शिव है। वज्र तुम्हारा पिता है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम मुझे हिंसित मत करना। हे यजमान ! इस क्रिया के कारण आयु के निमित्त, अन्नादि के भक्षणार्थ बहुसतति और अपरिमित धन की पुष्टि के लिये, तथा श्रेष्ठ बल पाने के लिये मैं तुम्हें अधिकृत करता हूँ।"[२३५]

अब अगला स्थल, जिसे मैं उद्धृत करूँगा, प्रसिद्ध शतरुद्रिय स्तोत्र है जिसकी पवित्रता तथा फलकारिता की महाभारत के उन दो स्थलों पर प्रशस्ति है जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है :

वासं १६.१ और बाद : नमस् ते रुद्र मन्यवे उतो ते इषवे नमः।

---

[२३३] शत० ब्रा० २ ६,२,९ 'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा। तयाऽस्यैष सह भाग। तद् यद् अस्यैष स्त्रिया सह भागस् तस्मात्।' "उनके अम्बिका नामक एक भगिनी है जिसके साथ वह यह अंश लेते हैं और यत वह इस अंश को एक स्त्री के साथ लेते हैं, अत उन्हें त्र्यम्बक (अर्थात् स्त्र्यम्बक) कहते हैं।"

[२३४] देखिये प्रस्तुत कृति का दूसरा भाग।

[२३५] भाष्यकार का कहना है कि इस मन्त्र का प्रथमार्ध छुरे को सम्बोधित है और द्वितीयार्ध उस व्यक्ति को जिसके सर को छुरे से मूँडना है। वह 'निवार्त्तयाम्य् आयुषे', शब्द का 'मैं दीर्घ आयु के लिये तुम्हे मूँडता हूँ' अनुवाद करता है।

बाहुभ्याम् उत ते नमः। २. या ते रुद्र शिवा तनूर् अघोराऽपाप-काशिनी। तया नस् तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि। ३. याम् इषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्षि अस्तवे। शिवां गिरित्र ता कुरु मा हिंसीः पुरुष जगत्। ४. शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि। यथा नः सर्वम् इज् जगत् अयक्ष्मं सुमना असत्। ५. अध्य् अवोचद् अधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वान् जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव। ६. असौ यस् ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः। ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे। ७. असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। उतैनं गोपा अदृश्रन्न् अदृश्रन्न् उदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः। ८. नमोऽस्तु नील ग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे। अथो ये अस्य सत्वानो अहं तेभ्योऽकर नमः। ९. प्रमुञ्च धन्वनस् त्वम् उभयोर् आर्त्न्योर ज्याम्। याश्च ते हस्ते इषवः परा ता भगवो वप। १०. विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत। अनेशम् अस्य या इषव आभुर् अस्य निषङ्गधिः। ११. या ते हेतिर् मीढुष्टमा हस्ते बभूव ते धनुः। तयाऽस्मान् विश्वतस् त्वम् अयक्ष्मया परिभुज। १२. परि ते धन्वनो हेतिर् अस्मान् वृणक्तु विश्वतः। अथो य इषुधिस् तव आरे अस्मद् निधेहि तम्। १३. अवतत्य धनुष त्वं सहस्राक्ष शतेषुधे। निशीर्य शल्यानाम् मुखा शिवो नः सुमना भव। १४. नमस् ते आयुधाय अनातताय धृष्णवे। उभाभ्याम् उत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने। १५. (= ऋग्वेद १.११४,७)। १६. (= ऋग्वेद १.११४,८)। १७. नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशाञ्च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनाम् पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनाम् पतये नमो नमो हरिकेशाय उपवीतिने पुष्टानान् पतये नमः। १८. नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानाम् पतये नमो भवस्य हेत्यै जगताम् पतये नमो नमो रुद्राय आततायिने क्षेत्राणाम् पतये नमो नमः सूताय अहन्त्यै वनानाम् पतये नमः। १९. नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणाम् पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृताय ओषधीनाम् पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणाम् पतये नमो नमो उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते पत्तीनाम् पतये नमः। २०. नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनाम् पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिने आव्याधिनीनाम् पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानाम् पतये नमो नमो निचेरवे परिचराय अरण्यानाम् पयये नमः। २१. नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनाम् पतये नमो नमो निषङ्गिने इषुधिमते तस्कराणाम् पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णताम्

पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्त चरद्भ्यो विकृन्तानाम् पतये नमः। २२. नम उष्णीषिने गिरिचराय कुलुञ्चानाम् पतये नमो नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नम आतन्वानेभ्यो प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वोनमः। २३. विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश् च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश् च वो नमो नमः शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो नमो नमस् तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः। २४. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च नमो नम उगणाभ्यस् तृहतीभ्यश् च वो नमः। २५. नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः। २६. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमो नमः। क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नमः। २७. नमस् तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नम. कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश् च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः। २८. नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च नमो भवाय रुद्राय च नमः सर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च। २९. नमः कपर्दिने च व्युप्त-केशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च। ३०. नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च। ३१. नम आशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्यया च शीभ्याय च नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च। ३२. नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय नमो जघन्याय च बुध्न्याय च। ३३. नम. सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च। ३४. नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च। ३५. नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च। ३६. नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस् तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नम' स्वायुधाय च सुधन्वने च। नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च। ३८. नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्याय

चातप्याय च नमो मेध्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च। ३९. नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस् ताम्राय चारुणाय च। ४०. नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमो अग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरि-केशेभ्यो नमस् ताराय। ४१. नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च। ४२. नमः पर्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस् तीर्थाय च कुल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च। ४३. नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च। ४४. नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस् तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च। ४५. नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय च उलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च। ४६. नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश् च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः। ४७. द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित। आसाम् प्रजानाम् एषाम् पशूनाम् मा भेर् मा रोङ् मो च नः किंचनाममत्। ४८. (= ऋग्वेद १.११४,१)। ४९. या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी। शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे। ५०. (= ऋग्वेद २.३३,१४[२३६])। ५१. मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आचर पिनाकम् बिभ्रद् आगहि। ५२. विकिरिद्र विलोहित नमस् ते अस्तु भगवः। यास् ते सहस्रं हेतयोऽन्यम् अस्मद् निवपन्तु ताः। ५३. सहस्राणि सहस्रशो भाह्वोस् तव हेतयः। तासाम् ईशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि। ५४. असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्। तेषां सहस्र योजने अव धन्वानि तन्मसि। ५५. अस्मिन् महत्य् अर्णवे अन्तरिक्षे भवा अधि। तेषाम् इत्यादि। ५६. नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिव रुद्रा उपाश्रिताः। तेषाम् इत्यादि। ५७. नीलग्रीवाः शितिकठाः शर्वाः

---

[२३६] मन्त्र के अन्त मे ऋग्वेद मे 'मही गात्' शब्दो के स्थान पर वाजसनेयि संहिता मे 'अघायो' है।

अध. क्षमाचरः। तेषाम् इत्यादि। ५८. ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः। तेषाम् इत्यादि। ५९. येष भूतानाम् अधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः। तेषाम् इत्यादि। ६०. ये पथा पथिरक्षसः ऐलबृदा आयुर्युधः। तेषाम् इत्यादि। ६१. ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः। तेषाम् इत्यादि। ६२. ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। तेषाम् इत्यादि। ६३. ये एतावन्तश्च भूयांश् च दिशो रुद्रा वितस्थिरे। तेषाम् इत्यादि। ६४. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषा वर्षम् इषवः। तेभ्यो दश प्राचीर् दश दक्षिणादश प्रतीचीर् दश उदीचिर् दश ऊर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु ते नो अवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश् च नो द्वेष्टि तम् एषां जम्भे दध्मः। ६५. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये अन्तरिक्षे येषां वात इषवः। तेभ्यो दश इत्यादि। ६६. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषाम्। अन्नम् इषवः। तेभ्यो दश इत्यादि।

"हे रुद्र! तुम्हारे क्रोध को नमस्कार, तुम्हारे बाणों को नमस्कार! तुम्हारे बाहुओं को नमस्कार। २ हे रुद्र! तुम पर्वत पर रहनेवाले हो। तुम्हारा जो कल्याणकारी रूप है,[२३७] जो भयकर नहीं है और पुण्यफल ही देता है उस मंगलमय देह से हमारी ओर देखो। ३. हे पर्वत में निवास करनेवाले! तुम जिस बाण को प्रलय के निमित्त हाथ में ग्रहण करते हो, उसे हे पर्वतों के अधिपति! कल्याणकर करो। तुम हमारे पुरुषों और पशुओं को हिंसित मत करो। ४. हे पर्वत में निवास करनेवाले! हम मगलमय स्तुति से तुम्हें प्राप्त होने के लिये प्रार्थना करते हैं। हमारे सभी मनुष्य और पशु अरोग्यप्रद और श्रेष्ठ हो सकें ऐसा करो। ५. अधिक उपदेशकारी, प्रथम दिव्य भिषज, हमारे कार्यों का अधिकता से वर्णन करें। सभी को नष्ट करते हुये, सभी यातुधानों को नष्ट कर के हमसे दूर भगाओ। ६. हम उस मङ्गलमय देवता के क्रोध को शान्त करने के लिये यत्नशील हैं जो ताम्रवर्ण, अरुण वर्ण और बभ्रुवर्ण हैं। हम उन रुद्रों के क्रोध को भी शान्त करने के लिये यत्नशील हैं जो सहस्रों अंशरूप रश्मियों से इनके सब ओर स्थित हैं। ७. जिसकी ग्रीवा नीली है, जो उदय-अस्त करते हैं, जिनका दर्शन गोपजन तथा जल ले आनेवाली महिलायें[२३८] भी करती हैं, वे रुद्र दर्शन देने के लिये आते ही हमारा कल्याण करें। ८. नीले कण्ठवाले, सहस्र नेत्रवाले, सेचन-समर्थ रुद्र के निमित्त नमस्कार, उनके विशिष्ट अनुचरों को भी

[२३७] तुलना कीजिये महाभारत से ऊपर उद्धृत स्थल।

[२३८] ये लोग 'वेदोक्त सस्कारो से हीन' (वेदोक्त-संस्कार-हीनाः) कहे गये हैं।

नमस्कार। ९. हे भगवान्! धनुष की दोनों कोटियों में स्थित प्रत्यञ्चा को उतार लो, और अपने हाथ में लिये हुये वाणों का भी त्याग करो। १०. इन जटाधारी देव की धनुष प्रत्यञ्चारहित हो जाय, तथा तरकस फलवाले वाणों से रिक्त हो जाय। उनके वाण नष्ट हो जायँ और खड्ग रखने का स्थान भी रिक्त हो जाय। ११. हे सिंचनशील रुद्र! तुम्हारे हाथों में जो धनुष और वाण हैं उन्हें उपद्रवरहित कर सब ओर से हमारा पालन करो। १२. तुम्हारे धनुष से सम्बन्धित वाण हमें सब ओर से त्याग दें। तुम अपने तरकसों को हमसे दूर ही रक्खो। १३. हे सहस्राक्ष! तुम्हारे पास सैकड़ों तरकस हैं। तुम अपने धनुप को प्रत्यञ्चारहित कर वाणों के फलों को भी निकाल दो। इस प्रकार हमारे लिये कल्याणकारी होओ। १४. तुम्हारे धनुष चढ़े वाण को नमस्कार। तुम्हारे दोनों बाहुओं को और तुम्हारे धनुष को भी नमस्कार। (१५वीं और १६वीं ऋचायें ऋग्वेद १.११४,७.८ के प्राय. समान हैं)। १७. हिरण्मय बाहुओंवाले सेनानायक रुद्र के लिए नमस्कार; दिशाओं के स्वामी को नमस्कार; हरे बालोंवाले वृक्षों को नमस्कार; पशुओं के पालक को नमस्कार;[२२९] तेजस्वी और शिशुतृण के समान पतीवर्णवाले को नमस्कार, उपवीत धारण करनेवाले को नमस्कार, जरारहित को नमस्कार; गुणवान् मनुष्यों के स्वामी को नमस्कार। १८. बभ्रुवर्ण वाले को नमस्कार; व्याधिरूप रुद्र को नमस्कार; अन्नों के स्वामी को नमस्कार; संसार के लिये आयुधरूप को नमस्कार; ससार के पालनकर्त्ता को नमस्कार; क्षेत्रपति को नमस्कार; श्रेष्ठ कर्मवालों को न मारनेवाले सारथि को नमस्कार, वनों के पालक को नमस्कार। १९. लोहित वर्णवाले विश्वकर्मा, वृक्षों के पति, सम्पन्नता प्रदान करनेवाले, ओषधियों के अधिपति और व्यापार-कुशल को नमस्कार; लता-गुल्मों के पालक को नमस्कार; संग्राम में शत्रुओं को रुलाने तथा घोर शब्द करनेवाले को नमस्कार। २०. कान तक धनुप खींचनेवाले को नमस्कार, प्राणियों के पालक को नमस्कार, विजेता को नमस्कार, बींधनेवाले को नमस्कार, वीर सेनाओं के अधिपति और पालनकर्त्ता को नमस्कार, महान खड्गधारी को नमस्कार, गुप्तधन का हरण करनेवाले तथा सज्जनों के पालक को नमस्कार, अपहरण करनेवालों, डाकुओं, और चोरों के नियन्ता को नमस्कार, वनों के पालक को नमस्कार; २१. वचको और परिवचकों को देखनेवाले को नमस्कार, गुप्त चोरों के नियन्ता को नमस्कार; उपद्रवकारियों

---

[२२९] इससे वेवर के विचार से, मूलत 'वलिप्राणियो के अधिपति' का तात्पर्य रहा होगा।

को रोकनेवाले को नमस्कार; तस्करों पर नियन्त्रण करनेवाले को नमस्कार; वज्रयुक्त और वधिकों को जाननेवाले को नमस्कार; खड्ग हाथ में लेकर घूमनेवालों के शासक को नमस्कार; परधनहरणकर्त्ता दस्युओं के शासक को नमस्कार। २२. पगड़ी धारण करनेवाले को, पर्वतों में घूमनेवाले को, डाकुओं के अधिपति को, वाण धारण करनेवाले को, और धनुष धारण करनेवाले को, धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने वाले को, धनुष पर वाण चढ़ानेवाले को, धनुष को खींचनेवाले को, वाण-निक्षेप करनेवाले को बारम्बार नमस्कार। २३. वाण चलानेवाले को, वींधनेवाले को, शयन करनेवाले स्वप्नरत मनुष्यों के अन्तर में वास करनेवाले को, तथा जागृतावस्था में रहने वाले को नमस्कार, निद्रावस्था अन्तःस्थित को नमस्कार, बैठे हुओं मे वास करनेवाले को नमस्कार; वेगवान गतिवालों में स्थित तुम्हें नमस्कार। २४. सभारूप को नमस्कार; सभापतिरूप को नमस्कार, अश्वों में स्थित रुद्र को नमस्कार; अश्वों के स्वामी को नमस्कार; देवसेनाओं में स्थित रहनेवाले को नमस्कार; श्रेष्ठ भृत्योंवाली सेना में स्थित रहनेवाले को नमस्कार; संग्राम में स्थित होकर प्रहार करनेवाले को नमस्कार। २५. गणों को नमस्कार, गणों के अधिपति को नमस्कार, विशिष्ट जाति समूहों को नमस्कार, समूहों के अधिपति को नमस्कार; बुद्धिमानों और विषयिओं को नमस्कार, बुद्धिमानों के पालक को नमस्कार; विविध रूपोंवाले को नमस्कार, विश्वरूप को नमस्कार। २६. सेना रूप को नमस्कार, सेनापति रूप को नमस्कार, प्रशंसित रथी को नमस्कार, रथहीन को नमस्कार; रथ के स्वामी में वास करनेवाले को नमस्कार; महान तथा सूक्ष्म को नमस्कार। २७ शिल्पिक को नमस्कार, रथ निर्माणकारी को नमस्कार; कुम्हाररूप तुम को नमस्कार, लोहार-रूप तुमको नमस्कार, निषाद-रूप तुम को नमस्कार, पुञ्जिष्ट-रूप तुमको नमस्कार, श्वानों के अधिपति तुमको नमस्कार, व्याधरूप तुमको नमस्कार। २८. कुत्तों और कुत्तों के स्वामी तुम को नमस्कार; भव को, रुद्र को, शर्व को, पशुपति को, नीलग्रीव को, और शितिकण्ठ को नमस्कार। २९. जटा-जूटधारी को नमस्कार; मुण्डित केशवाले को नमस्कार, सहस्राक्ष को नमस्कार, सौ धनुषवाले को नमस्कार; पर्वतवासी को नमस्कार, शिपिविष्ट[२४०] को नमस्कार, सेचनशील को नमस्कार, वाणवाले को नमस्कार। ३० अल्प देहवाले को नमस्कार, वामन को नमस्कार; वृद्धाङ्ग को नमस्कार, प्रौढ़ावस्थावाले को नमस्कार, वृद्ध को नमस्कार, सब में अग्रगण्य को नमस्कार, सब में प्रमुख तथा प्रथम को नमस्कार। ३१ विश्व-

---

[२४०] ऋग्वेद ७ ९९,७ और ७ १००,६।

व्यापक को नमस्कार; गतिशील को नमस्कार; वेगवान तथा प्रवाहमान को नमस्कार; जल, नदी और टापू में स्थित को नमस्कार। ३२. ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ को नमस्कार; प्रथम उत्पन्न तथा अन्त में उत्पन्न को नमस्कार; मध्यम को तथा अप्रगल्भ को नमस्कार;[२४१] निम्नतम को, वृक्षों के मूल में स्थित को नमस्कार। ३३. शोभ में रहनेवाले[२४२] को नमस्कार, मंगल कार्यों में, दण्ड में, और सुख में स्थित को नमस्कार; यशस्वी को, अवसान में स्थित को नमस्कार; भूमि में, तथा धान्यादि अन्नों में विद्यमान को नमस्कार। ३४. वनों और झाड़ियों में विद्यमान को तथा ध्वनि में और प्रतिध्वनि में विद्यमान को नमस्कार; सेना की पंक्ति में स्थित को नमस्कार, शीघ्रगमनशील रथों में विद्यमान को नमस्कार; वीर पुरुषों और शस्त्रास्त्रों में विद्यमान को नमस्कार। ३५ शिरस्त्राण धारण करनेवाले को नमस्कार, कवचादि धारण करनेवाले को नमस्कार; रथ के भीतर या हाथी के हौदे में विद्यमान को नमस्कार, प्रसिद्धि को नमस्कार; रणभेरी में विद्यमान को नमस्कार; दण्डादि में विद्यमान को नमस्कार। ३६. अपने पक्ष के वीरों की रक्षा करनेवाले को नमस्कार, विचारशील और खड्ग धारण करनेवाले को नमस्कार; तरकसधारी को नमस्कार, तीक्ष्ण बाणों वाले को नमस्कार; आयुध धारण करनेवाले को नमस्कार; धनुष चलाने में कुशल को नमस्कार। ३७. क्षुद्र मार्गों और राजमार्ग में स्थित को नमस्कार, दुर्गम मार्ग में स्थित को नमस्कार, पर्वत के निम्न भाग में स्थित को नमस्कार; नहरादि, सरोवरों और जलों में स्थित को नमस्कार; अल्प सरोवर आदि में स्थित को नमस्कार। ३८. कूप में, गर्त में, अत्यन्त प्रकाश में, घोर अन्धकार में, धूप में, मेघ में, वृष्टि-धारा में, और वृष्टि रोकनेवाले में स्थित को नमस्कार। ३९. वायु में, प्रबल झंझावात में, तथा वास्तुकला में स्थित को नमस्कार; वास्तुग्रह के पालनकर्त्ता को नमस्कार; चन्द्रमा में स्थित देव को नमस्कार; दुःखनाशक रुद्र को नमस्कार; सायंकालीन सूर्य रूप में विद्यमान को नमस्कार, प्रातःकालीन सूर्य को नमस्कार। ४०. कल्याणमयी वेद-वाणी को नमस्कार; प्राणियों के पालक रुद्र को नमस्कार; उग्र को तथा भीम-रूप को नमस्कार; शत्रु को सामने से मारनेवाले को नमस्कार, शत्रु को दूर से मारनेवाले को नमस्कार; प्रलयंकारी को नमस्कार; अत्यन्त हननशील को नमस्कार; हरित केशवाले और वृक्षरूपवाले को नमस्कार; मोक्ष दिलानेवाले

---

[२४१] इनमे से अनेक उपाधियो या विशेषणो का अर्थ समझ पाना अत्यन्त कठिन है; और सम्भवत इनका महत्त्व भी अधिक नही है।

[२४२] 'सोभ' सम्भवत. 'स-उभ' से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

को नमस्कार । ४१. सुख देनेवाले को, कल्याणदाता को, लौकिक सुख करनेवाले को, कल्याणरूप रुद्र के निमित्त कल्याण करनेवाले को, और पाप दूर करनेवाले को नमस्कार । ४२. उस पार विद्यमान को, इस तट पर विद्यमान को, मध्य में विद्यमान को, नौका में विद्यमान को और जलों, कुशादि तथा सागर के फेन में विद्यमान को नमस्कार । ४३. नदी की रेत में विद्यमान को, नदी के प्रवाह में विद्यमान को, नदी के भीतर वृक्ष-कंकरादि में विद्यमान को, स्थिर जल में विद्यमान को,[२४३] जटाजूट युक्त को, हमारे सम्मुख खड़े होनेवाले को,[२४४] ऊसर भूमि में विद्यमान को, और छोटे जल प्रवाहों में विद्यमान को नमस्कार । ४४. गायों में, गोष्ठों में, शय्या में, गृहों में, हृदय में, दुर्गम पथ में, पर्वत कन्दरा में और गहन जल में विद्यमान को नमस्कार । ४५. शुष्क और हरे पदार्थों में विद्यमान, पृथिवी की रज में विद्यमान, सुगन्ध में विद्यमान, लोपस्थानों में विद्यमान, तृणादि में विद्यमान, उर्वरा भूमि में विद्यमान, और कालरूप अग्नि में विद्यमान को नमस्कार । ४६. पर्णों में, गिरे हुए पत्तों में, पत्तों के कीट आदि में, तथा उत्पन्न करने के उद्यम में विद्यमान को नमस्कार; शत्रुओं का संहार करनेवाले, दुःख देनेवाले, त्रिविध ताप उत्पन्न करनेवाले, बाणादि को उत्पन्न करनेवाले और धनुष के निर्माता को नमस्कार, वर्षा करनेवाले को नमस्कार, जो देवताओं के हृदय के समान हैं उनको नमस्कार, विभेद करनेवाले को नमस्कार, पापों को नष्ट करनेवाले को, और अविनाशी को नमस्कार । ४७. हे रुद्र ! तुम पापियों की दुर्गति करनेवाले, सोम को पुष्ट करनेवाले, सहाय-शून्य,[२४५] और नील-लोहित वर्णवाले हो । पशुओं को भय मत दो । प्रजाओं और पशुओं को हिंसित मत करो; हमारे पुत्र आदि को तथा पशुओं को रोगी मत बनाओ, सब का कल्याण करो । ४८. (= ऋग्वेद १.११४,१) । ४९ हे रुद्र ! जो तुम्हारी कल्याण करनेवाली ओषधिरूप शक्ति है, तुम अपनी उस शक्ति से हमारे जीवन को सुखमय करो । ५० (= ऋग्वेद २ ३३,१४) । ५१. हे शिव ! तुम अत्यन्त कल्याण करनेवाले हो । तुम हमारे निमित्त शान्त और श्रेष्ठ मन वाले हो । हमसे दूर स्थित ऊँचे

---

[२४३] देखिये भाष्य ।

[२४४] 'पुलस्त्ये अग्रे तिष्ठति पुलस्ति ', भाष्य ।

[२४५] 'दरिद्र' । भाष्यकार ने इसकी 'निष्परिग्रहोऽद्वितीयत्वात्' के रूप में व्याख्या की है । देखिये राथ का कोश भी । प्रो० वेबर इसका 'टुकड़े करने वाला' अनुवाद करते हैं ।

वृक्ष पर तुम अपना त्रिशूल रख कर मृगचर्म धारण करते हुये आओ।[२४६] तुम अपने धनुष को धारण किये हुये आओ। ५२. हे भगवन्! तुम अनेक उपद्रवों को दूर करनेवाले हो। तुम्हारे लिये नमस्कार। तुम्हारे जो सहस्रों आयुध है वे सभी हमसे अन्यत्र, दुष्टों पर पड़ें। ५३. हे भगवन्! तुम्हारी भुजाओं में सहस्रों प्रकार के खड्ग आदि आयुध है। तुम उन आयुधों के मुख को हमसे पीछे फेर लो। ५४. जो असंख्य और सहस्रों रुद्र पृथिवी पर वास करते हैं, उनके धनुष हमसे सहस्र योजन दूर रहें। ५५. इस अन्तरिक्ष के आश्रय में जो अनेक भव स्थित हैं उनके सभी धनुषों को हम अपने से सहस्र योजन दूर डालते हैं। ५६. नीले कण्ठवाले, उज्ज्वल कण्ठवाले जितने रुद्र स्वर्ग में आश्रित हैं, उनके सभी धनुषों को हम अपने से सहस्र योजन दूर करते हैं। ५७. नीलग्रीवा और हरे वर्ण वाले शर्व अधोलोक में स्थित हैं। हम उनके इत्यादि। ५८. नीली ग्रीवा और हरे तथा लोहित वर्णवाले वृक्षादि में जो रुद्र विद्यमान हैं, हम उनके इत्यादि। ५९. जो सभी भूतों के अधिपति, शिखाहीन, मुड़े हुये सर और जटा-जूट वाले हैं, हम उन रुद्र के समस्त आयुधों को, इत्यादि। ६०. श्रेष्ठ मार्गों के स्वामी, उत्तम मार्गों की रक्षा करनेवाले, अन्न धारण करनेवाले, जीवन पर्यन्त संग्राम में रत रुद्रों के समस्त धनुषों को हम, इत्यादि। ६१. जो रुद्र हाथ में ढाल और तलवार धारण किये तीर्थों में विचरण करते हैं हम उनके समस्त धनुषों को, इत्यादि। ६२. अन्न सेवन करने में जो रुद्र प्राणियों को अधिक ताड़ना देते हैं, तथा पात्रों में स्थित जल आदि पीते हुये मनुष्यों को ग्रस्त करते है, हम उनके समस्त धनुषों को, इत्यादि। ६३. जो रुद्र इन दिशाओं में या इनसे भी अधिक दिशाओं में आश्रित है, उनके सभी धनुषों को हम इत्यादि। ६४. जो रुद्र स्वर्ग में विद्यमान हैं, जिनके वाण वृष्टि रूप हैं उन रुद्रों को नमस्कार। पूर्व दिशा में[२४७], दक्षिण दिशा में, पश्चिम में, उत्तर में तथा ऊर्ध्व-दिशाओं में हाथ जोड़ कर मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। वे रुद्र हमारे रक्षक हों, हमारा कल्याण करें। जिससे हम द्वेष करते है और जो हमसे द्वेष करता है उसे हम इन रुद्रों की डाढ़ में डालते हैं। ६५. जो रुद्र अन्तरिक्ष में वास करते हैं, जिनके वाण पवन हैं उन रुद्रों को नमस्कार। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओं में जो वास करते हैं उनको नमस्कार। वे रुद्र हमारी रक्षा करते हुये

---

[२४६] देखिये वास० ३,६१, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

[२४७] 'प्रागभिमुखा अञ्जुली कुर्वे इति शेष। ओञ्जलिम् लब्ध्वा सर्व-दिक्षु नमस्करोमि।'

कल्याण करें। हम जिससे द्वेष, इत्यादि। ६६. जो रुद्र पृथिवी पर विद्यमान हैं, जिनके वाण अन्न हैं, उन रुद्रों को नमस्कार। पूर्व, दक्षिण, इत्यादि।"

खण्ड ३—रुद्र, भव, सर्व, इत्यादि से सम्बद्ध अथर्ववेद के विभिन्न स्थल

अवे० २.२७,६ : रुद्र जलाष-भेषज नील-शिखण्ड कर्म-कृत्। प्राशम् प्रतिप्राशो जहि अरसान् कृणु ओषधे। "रुद्र, जिनके पास ओषधियाँ हैं, जिनकी नीलवर्ण शिखा है, जो कर्मों को सम्पन्न करनेवाले हैं, वह प्रतिप्राश बन कर प्राश को नष्ट करें : हे ओषधे! उन्हें पराभूत करो।"

अवे० ५.२१,११ : यूयम् उग्रा मरुतः पृश्नि-मातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्। सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युर् इन्द्र। "हे मरुतो! तुम्हारी माता पृश्नि हैं। इन्द्र के साथ हो कर हमारे शत्रुओं को नष्ट करो। सोम राजा (है), वरुण राजा (है), इन्द्र एक महान देव तथा मृत्यु हैं।"

अवे० ६.९३,१ : यमो मृत्युर् अघमारो निर्ऋथो बभ्रुः सर्वोऽस्ता नील-शिखण्डः। देवः जनाः सेनया उत्तस्थिवासस् ते अस्माकम् परि वृञ्जन्तु वीरान्। २. मनसा होमैर् हरसा घृतेन शर्वायास्त्रे उत राज्ञे भवाय। नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्य् अन्यत्रास्मद् अघविषा नयन्तु। "यम, मृत्यु, अघमार, निर्ऋति, पिङ्गलवर्ण नरक, नील-शिखावाले धनुर्धर शर्व, देवताओं की सेना, ये सब हमारे वीरों को छोड दें। २. संकल्प, हवि, अग्नि, घृत से हम धनुर्धर शर्व, राजा भव का नमन करते हैं, जो सर्वथा नमन के योग्य हैं। ये अपने घातक विषों को हमसे अलग अन्य लोगों के पास ले जायँ।"

अवे० ७.८७, १ : यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व् अन्तर् य ओषधीर् वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्व् अग्नये। "जो रुद्र देव यष्टव्य रूप से अग्नि में, वरुण रूप से जल में, और सोम रूप से लताओं में प्रविष्ट हैं वे सब प्राणियों की रचना करते हैं। उन रुद्रात्मक अग्नि और अग्न्यादि गुणवाले रुद्र को हम नमस्कार करते हैं।"

अवे० ८.२,७ : ...भवा-शर्वौ मृडत शर्म यच्छतम् अपसिध्य दुरितं धत्तम् आयुः। "भव और शर्व! इसे सुख दो, इसकी रक्षा करो, इसके रोगादि को दूर कर इसे आयुष्मान् बनाओ।"

अवे० ८.५,१० : अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता

रुद्रो अग्निः। इत्यादि। "देवगण, इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, उसकी रक्षा के लिये उसे मणि बाँधें," इत्यादि।

अवे० ९.७,७ मित्रश् च वरुणश् चांशौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू। "मित्र और वरुण कन्धे हैं, त्वष्टा और अर्यमा अग्रबाहु, और महादेव दोनों भुजायें।"

अवे० १०.१,२३ : भवा-शर्वौ अस्यताम् पाप-कृते कृत्याकृते दुष्कृते विद्युत देव-हेतिम्। "भव और शर्व पापकर्मियों, अभिचार करनेवालों, और दुष्कर्मियों के विरुद्ध विद्युत तथा देवों के व्रज का प्रेरण करें।"

अवे० ११.२,१ : भवा-शर्वौ मृडतम् माऽभियातम् भूत-पती पशु-पती नमो वाम्। प्रथिताम् आयताम् मा वि स्राष्टम् मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः। २. शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्त्तम् अलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः। मक्षिकास् ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त। ३. क्रन्दाय ते प्राणाय याश् च ते भव रोपयः। नमस् ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षाय अमर्त्य। ४. पुरस्तात् ते नमः कृण्मः उत्तराद् अधराद् उत। अभीवर्गाद् दिवस् परि अन्तरिक्षाय ते नमः। ५. मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय सदृशे प्रतीचीनाय ते नमः। ६. अङ्गेभ्यस् ते उदराय जिह्वायै आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः। ७. अस्त्रा नील-शिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना। रुद्रेणार्धक घातिना तेन मा समरामहि। ८. स नो भवः परि वृणक्तु विश्वतः आप इवाग्निः परिवृणक्तु नो भवः। मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्व् अस्मै। ९. चतुर् नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस् ते। तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः। १०. तव चतस्रः प्रदिशस् तव द्यौस् तव पृथिवी तवेदम् उग्रोर्व् अन्तरिक्षम्। तवेद सर्वम् आत्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीम अनु। ११. उरुः कोशो वसुधानस् तवायं यस्मिन्न् इमा विश्वा भुवनान्य् अन्तः। स नो मृड पशुपते नमस् ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्व् अघरुदो विकेश्यः। १२. धनुर् बिभर्षि हरित हिरण्ययं सहस्र-घ्नि शत-वध शिखण्डिन्। रुद्रस्येषुश् चरति देव-हेतिस् तस्यै नमो यतमस्या दिशीतः। १३ योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति। पश्चाद् अनु प्रयुङ्क्षे त विद्धस्य पद-नीर् इव। १४. भवा-रुद्रौ सयुजा सविदानाव् उभाव् उग्रौ चरतो वीर्याय:। ताभ्यां नमो यतमस्याम् दिशीतः। १५. नमस् ते अस्त्व् आयते नमो अस्तु परायते। नमस् ते रुद्र तिष्ठते आसीनायोत ते नमः। १६. नमः साय प्रातर् नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च

शर्वाय च उभाभ्याम् अकर नमः। १७ सहस्राक्षम् अतिपश्यम् पुरस्ताद् रुद्रम् अस्यन्तम् बहुधा विपश्चितम्। मा उपाराम जिह्वया ईयमानम्। १८ श्यावाश्वं कृष्णम् असितम् मृणन्तम् भीमं रथं केशिनः पादयन्तम्। पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्व् अस्मै। १९ मा नोऽभि स्रा मत्य देवहेतिम् मा नः क्रुध' पशुपते नमस् ते। अन्यत्र अस्मद् दिव्यं शाखा वि धूनु। २०. मा नो हिंसीर् अधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुद्धः। म त्वया समरामहि। २१. म नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु। अन्यत्रोग्र वि वर्त्तय पियारूणाम् प्रजाम् जहि। २२. यस्य तक्मा कासिका हेतिर् एकम् अश्वस्येव वृषण क्रन्द एति। अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्व् अस्मै। २३. यो अन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितो अयज्वनः प्रमृणन् देव-पीयून्। तस्मै नमो दशभि. शक्वरीभि'। २४. तुभ्यम् आरण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसा सुपर्णाः शकुना वयासि। तव यक्षम् पशुपते अप्स्व् अन्तस् तुभ्य क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे। २५ शिशुमारा अजगरा' पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि। न ते दूर न परिष्टाऽस्ति ते भव सद्य.। सर्वाम् परि पश्यसि भूमिम् पूर्वस्माद् धस्य् उत्तरस्मिन् समुद्रे। २६. मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः स स्रा दिव्येनाग्निना। अन्यत्रास्मद् विद्युतम् पातयैताम्। २७ भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्रे उर्व् अन्तरिक्षम्। तस्यै नमो यतमस्या दिशीतः। २८. भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर् बभूथ। यः श्रद्धाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्वि-पदे अस्य मृड। २९ (=ऋग्वेद १.११४,७) मा नो महान्तम् उत मा नो अर्भकम् मा नो वहन्तम् उत मा नो वक्ष्यतः। मा नो हिंसीः पितरम् मातर च स्वां तन्व रुद्र मा रीरिषो नः। ३० रुद्रस्यैलव-कारेभ्यो ऽससूक्त गिलेभ्यः। इदम् महास्येभ्य' श्वभ्यो अकर नमः। ३१ नमस् ते घोषिणीभ्यो नमस् ते केशिनीभ्य। नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुञ्जतीभ्यः। नमस् ते देव सेनाभ्य' स्वस्ति नो अभय च न.।

"हे भव और शर्व! हमको सुख दो, रक्षा के लिये हमारे सामने चलो। हे भूतपति, हे पशुपति! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। हमारी ओर अपना लम्बा वाण मत छोड़ो! हमारे द्विपदों तथा चतुष्पदों का संहार मत करो। २. हमारे देहों को गृध्रों, कुत्तों, गीदड़ों के लिये मत छोड़ो। हे पशुपति! तुम्हारी जो मक्षिकायें और पक्षी हैं वे खाद्यान्न के रूप मुझे प्राप्त न करें। ३. हे भव और अमर रुद्र! तुम्हारे प्राणवायु और क्रन्दन शब्द को नमस्कार; तुम्हारे वाणों को नमस्कार। हे सहस्राक्ष! तुम्हें नमस्कार। ४. पूर्व, उत्तर और दक्षिण

दिशाओं में हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम आकाश के मध्य में प्रतिष्ठित हो। हमारा नमस्कार है। ५. हे पशुपति! हे भव! तुम्हारे मुख, चक्षु, त्वचा तथा नील-पीत वर्ण को नमस्कार। तुम्हारे रूप वाली दृष्टि को सामने और पीछे से नमस्कार। ६. तुम्हारे उदर, जिह्वा, दाँत, घ्राणेन्द्रिय, तथ अन्य अंगों के लिये हम नमस्कार करते हैं। ७. नीले केश, सहस्राक्ष, अश्व के समान वेगवाले, आधी सेना का शीघ्र नाश कर देनेवाले रुद्र के द्वारा हम कभी आहत न किये जायँ। ८. जिन भव की महिमा प्रत्यक्ष है वे हमें सब उत्पातों से पृथक् रक्खें। अग्नि जैसे जल को छोड़ता है वैसे ही रुद्र हम को छोड़ दें। ९. शर्व को चार बार नमस्कार; भव को आठ बार नमस्कार। हे पशुपते! तुम्हें दस बार नमस्कार। विभिन्न जातिवाले गवादि जीवों—गायों, अश्वों, मनुष्यों, बकरियों तथा भेड़ों—की रक्षा करो। १०. हे रुद्र! तुम उग्र हो। यह चारों दिशायें तुम्हारी ही हैं। यह स्वर्ग, पृथिवी, और अन्तरिक्ष, सब दिशायें तुम्हारा शरीर-रूप ही हैं। ११. यह तुम्हारा विशाल तथा सम्पन्न कोश ही है जिसमें सब लोक स्थिति हैं। हे पशुपति! हम पर कृपा करो। हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। गीदड़ों तथा अमंगलकारी चिह्नों को हम से दूर करो। बाल बिखराये और चीत्कार करती हुई पिशाचिनी भी हमसे दूर गमन करे। १२. हे शिखा-धारी देव! तुम हरित और सुवर्ण धनुष धारण करते हो जो सहस्रों का एक ही बार में संहार कर देता है। रुद्र का बाण सब ओर जाता है; वह बाण जिस दिशा में हो उसी दिशा में हम उसे प्रणाम करते हैं। १३. रुद्र! जो पुरुष असमर्थ हो कर तुम्हारे सामने से भाग जाता है उसे दण्डित करने में तुम समर्थ हो : वैसे ही जैसे एक व्यक्ति आहत पुरुष के पदचिह्नों के सहारे उसे पकड़ कर मार डालता है। १४. भव और रुद्र! तुम समान मतिवाले मित्र रूप हो। दोनों प्रचण्ड पराक्रमी, अपना शौर्य प्रगट करते हुये घूमते हैं। वे जिस दिशा में विराजमान हों उसी दिशा में उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो। १५. हे रुद्र! हमारे सामने आते हुये तुम्हें नमस्कार; हमसे लौट कर जाते हुये तुम्हें नमस्कार। तुम्हें बैठे हुये और खड़े हुये भी हमारा नमस्कार। १६. तुम्हें सायंकाल, प्रातःकाल, रात्रि और दिन में भी हम नमस्कार करते हैं। भव और शर्व दोनों देवताओं को हमारा नमस्कार। १७. अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी, सहस्रों नेत्रवाले, मेधावी, असंख्य बाण छोड़नेवाले और संसार को व्याप्त करते हुये रुद्र के पास हम न जायँ। १८. हम पहले उस देवता की शरण में जाते हैं जिसके पास अश्व हैं, जो श्याम, कृष्ण, विनाशक, केशिन् के भयंकर रथ को गिरानेवाले हैं। उन्हें नमस्कार है। १९. हे पशुपति! हम पर अपना बाण मत

चलाओ,[२४८] क्रोध न करो। अपने दिव्य बाण को हमसे पृथक् छोड़ो। २०. हमारी हिंसा मत करो; हमें अपनी कृपा के योग्य मानो, हम पर क्रोध मत करो, हम तुम्हारे क्रोधित भाव से पृथक ही रहें। २१. हमारे पशुओं, मनुष्यों, भेड़-बकरियों की कामना मत करो। हे रुद्र! अपने शस्त्रास्त्रों को दुष्टों पर छोड़कर उनकी संतान को नष्ट करो। २२. जिन रुद्रदेव के आयुध पीड़ामय-कास, जिनके शस्त्र सेचनसमर्थ घोड़ों की हुंकार के समान अपराधियों को प्राप्त होते हैं, जिनका आयुध कर्म को लक्ष्य करके उसके योग्य होता है, उनको नमस्कार। २३ जो रुद्र अन्तरिक्ष में स्थित रहते हुये आयाज्ञिकों का संहार करते रहते हैं, हम उन्हें दस शक्करी मन्त्रों से नमस्कार करते हैं। २४. हे पशुपति! सिंह, हरिण, बाज़, हंस, तथा अन्य पक्षियों और पक्षियों को तुम्हारे निमित्त विधाता ने बनाया है। तुम जल में स्थित हो, इसीलिये तुम्हें अभिषिक्त करने को दिव्य जल प्रवाहमान रहते हैं। २५. शिशुमार, अजगर, पुरीकय, जष, मत्स्य, आदि पर तुम अपने तीक्ष्ण अस्त्र को फेंकते हो। हे भव! तुमसे कुछ दूर नहीं हैं; तुम क्षण भर में सम्पूर्ण पृथिवी देखते और पूर्व से उत्तर में पहुँच जाते हो। २६. हे रुद्र! हमको यक्ष्मा से, अथवा विष से, अथवा दिव्य अग्नि से मत मिलाओ। इस विद्युत को हमसे अन्यत्र गिराओ। २७. भव देवता स्वर्ग और पृथिवी के अधिपति हैं; अन्तरिक्ष को वही अपने तेज से युक्त[२४९] करते हैं। वे जिन दिशाओं में हों उनको वहीं नमस्कार। २८ हे भव, हे राजन्! तुम पशुओं के स्वामी हो, जो तुम्हारे निमित्त यज्ञ करता है उसे सुख दो। जो देवताओं को अपना रक्षक मानता है उसके चौपायों और दुपायों को सुख प्रदान करो।[२५०] २९. (= ऋग्वेद १.११४,७) हे रुद्र! हमारे बड़े, मध्यम अथवा छोटों का संहार मत करो। हमारे माता और पिता को मत मारो। हमको वहन करनेवाले[२५१] पुरुषों की हत्या न

[२४८] अथर्ववेद ८.८,११ 'त्रिणेढु एनान् मत्यम् भवस्य।'

[२४९] तुकी० ऋग्वेद १ ५२,१३, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। नोट ६५ में उद्धृत अन्य स्थलों को भी देखिये।

[२५०] तुकी० ऋग्वेद ८ ८९,३.४, जिसे प्रस्तुत कृति के तीसरे भाग में उद्धृत किया जा चुका है।

[२५१] तुकी० ऋग्वेद १ ११४,७। ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद की रचना के समय 'ऋग्वेद के 'उक्षन्तम्' और 'उक्षितम्' उसी प्रकार 'वह्' धातु से व्युत्पन्न माने जाते थे जैसे सायण ने 'वह्' धातु से ही व्युत्पन्न 'ववक्षु' तथा 'वक्ष्' और 'उक्ष्' जैसे रूपों की व्याख्या की है।

करो, और हमारी भी हिंसा न करो। ३०. मैं रुद्र के प्रेरणायुक्त कर्मवाले प्रथम गणों को नमस्कार करता हूँ। कटुभाषी गणों को नमस्कार करता हूँ। भव के उन श्वानों को नमस्कार करता हूँ जो अपने शिकार को बिना चबाये ही निगल जाते हैं। ३१. हे देव! तुम्हारी प्रभूत घोषवाली, केशिनी, चण्डेश्वरी सेनाओं को नमस्कार। सहभोजन करनेवाली सेनाओं को भी नमस्कार। तुम्हारी कृपा से हमारा कुशल हो और हम भय-रहित हों।"

अवे० ११.६,९ : भवा-शर्वाव् इदम् ब्रूमो रुद्रम् पशुपतिश् च यः। इषूर् या एषां संविद्म ता नः सन्तु-सदा शिवाः। "हम भव और शर्व, रुद्र, तथा उनके लिये जो पशुपति हैं, यह स्तोत्र कहते हैं : उनके ये बाण, जिन्हें हम जानते हैं, हमारे लिये सदैव कल्याणकर हों।"

अवे० १२.४,१७ : ये एनाम् अवशाम् आह देवनां निहितं निधिम्। उभौ तस्मै भवा-शर्वौ परिक्रम्येषुम् अस्यतः। "आगे बढ़ते हुये भव और शर्व दोनों ही उसको अपने बाणों का लक्ष्य बनायें जो देवताओं की धरोहर-रूप वशा को अवशा कहता है।"

अवे० १३.४,४ : सोऽर्यमा स रुद्रः स वरुणः स महादेवः। २६. स रुद्रो वसुवनिर् वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः। २७. तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषम् आसते। २८. तस्यामू सवा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह। "वह (सविता) अर्यमा है, वही वरुण हैं, वही रुद्र हैं, वही महादेव हैं। वह (रुद्र) धनदाता हैं; उन्हें ही नमस्कार-युक्त वाणी में वषट्कार कहते है। २७. सभी यातना देनेवाले उन्हीं की अनुज्ञा में चलते हैं। २८. चन्द्रमासहित यह सभी नक्षत्र भी उन्हीं के वशीभूत हैं।"

निम्नोद्धृत स्थल तथा अथर्ववेद के पन्द्रहवें •काण्ड के शेष अंश को प्रो० ऑफरेख्त ने वेबर के इण्डिशे स्टूडियन में उद्धृत करके उसका अनुवाद किया है (पृ०१२१–१४०)।

अवे० १५.५,१ : तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्-देशाद् भवम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्। भव एनम् इष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्-देशाद् अनुष्ठाताऽनुतिष्ठति। नैनं शर्वो न भवो न ईशानो नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवम् वेद। २. तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच् छर्वम् इष्वासम् इत्यादि। ३. तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्-देशात् पशुपतिम् इत्यादि। ४. तस्मै उदीच्या दिशो अन्तर् देशाद् उग्रं देवम् इत्यादि। तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्-देशाद् रुद्रम् इत्यादि। ६. तस्मै ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्-देशाद् महादेवम् इत्यादि। ७. तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्-देशेभ्य ईशानम् इत्यादि।

"उसके लिये पूर्व दिशा के कोने से बाण का सन्धान करनेवाले भव को देवताओं ने उसका अनुष्ठाता बनाया। पूर्व दिशा के कोने से भव उसके अनुकूल रहते हैं; शर्व, ईशान, भी अनुकूल रहते हैं। ऐसा जाननेवाले के समान पुरुषों और पशुओं को वे हिंसित नहीं करते। २. उसके निमित्त दक्षिण दिशा के कोण से बाण-प्रक्षेप करनेवाले शर्व को देवताओं ने अनुष्ठाता बनाया, इत्यादि। ३ उसके लिये पश्चिम दिशा के कोने से बाण-प्रक्षेप करनेवाले पशुपति को देवताओं ने अनुष्ठाता बनाया, इत्यादि। ४. उत्तर दिशा के कोण से देवताओं ने बाण प्रक्षेप करने वाले उग्रदेव को अनुष्ठाता बनाया, इत्यादि। ५. ध्रुवदिशा के अन्तर्देश से बाण-प्रक्षेप करनेवाले रुद्र को देवताओंने अनुष्ठाता नियुक्त किया, इत्यादि। ६ ऊर्ध्व दिशा के कोण से बाण-प्रक्षेप करने वाले महादेव को देवताओं ने अनुष्ठाता बनाया, इत्यादि। ७. सब दिशाओं के कोणों में बाण-प्रक्षेप करनेवाले ईशान को देवताओं ने अनुष्ठाता बनाया, इत्यादि।"

खण्ड ४—रुद्र से सम्बद्ध शतपथ और शाङ्खायन ब्राह्मणों के विभिन्न स्थल

निम्नलिखित स्थल पर रुद्र को अग्नि के साथ समीकृत किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण : अग्निर् वै स देवस् तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशुनाम् पती रुद्रोऽग्निर् इति। तान्य अस्य अशान्तान्य् एव इतराणि नामान्य् अग्निर् इत्य् एव शान्ततमम्। "अग्नि एक देवता हैं। उनके नाम ये हैं : प्राच्य लोग उन्हें शर्व कहते हैं,[252] बाहीक लोग उन्हें भव कहते हैं, पशूनामपति, रुद्र, और अग्नि। उनके ये सभी अन्य नाम (अर्थात् अग्नि के अतिरिक्त) अशान्त हैं। 'अग्नि' ही उनका शान्ततम नाम है।"

अगला स्थल रुद्र के जन्म का वर्णन करने के साथ ही साथ उनको अग्नि के साथ समीकृत भी करता है।

शतपथ ब्राह्मण ६.१,३,७ और बाद : अभूद् वा इयम् प्रतिष्ठा इति। तद् भूमिर् अभवत्। ताम् अप्रथयत् सा पृथिव्य् अभवत्। तस्याम् अस्याम् प्रतिष्ठायाम् भूतानि भूतानाञ्च पतिः संवत्सराय अदीक्षन्त। भूतानाम् पतिर् गृह-पतिर् आसीद् उषाः पत्नी। ८. तद् यानि तानि भूतानि ऋतवस् ते। अथ यः स भूतानाम् पतिः संवत्सरः सः। अथ

[252] इस भाष्यकार ने इस प्रकार टीका की है (वेबर सं०, पृ० १२४). 'प्राच्यादिदेश-भेदेन शर्वादि-नाम-भेदेऽपि देवता एका एव। "यद्यपि देश भेद के अनुसार शर्वादि नाम-भेद किये गये हैं, तथापि देवता एक ही हैं।"

या सा उषाः पत्न्य औषसी सा। तानि इमानि भूतानि च भूतानाञ्च पतिः संवत्सर उषसि रेतोऽसिञ्चम्। स सम्वत्सरे कुमारोऽजायत। सोऽरोदीत्। ६. तम् प्रजापतिर् अब्रवीत् "कुमार किं रोदिषि यच्च छ्रमात् तपसोऽधि जातोऽसि" इति। सोऽब्रवीद् "अनपहृत-पाप्मा वा अस्म्य् अहितनामा नाम मे धेहि" इति। तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात् पाप्मामम् एवास्य तद् अपहन्त्य् अपि द्वितीयम् अपि तृतीयम् अभिपूर्वम् एवास्य तत् पाप्मानम् अपहन्ति। १०. तम् अब्रवीद् रुद्रोऽसि इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोद् अग्निस् तद् रूपम् अभवद् अग्निर् वै रुद्रो यद् अरोदीत् तस्माद् रुद्रः। सोऽब्रवीज् "ज्यायान् वा असतोऽस्मि धेह्य् एव मे नाम" इति। ११. तम् अब्रवीत् "सर्वोऽसि" इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोद् आपस तद्-रूपम् अभवन्न आपो वै सर्वोऽद्भ्यो हि इदं सर्वं जायते। सोऽब्रवीज् "ज्यायान् वै असतोऽस्मि धेह्य् एव मे नाम" इति। तम् अब्रवीत् पशुपतिर् असि इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोद् ओषधयस् तद्-रूपम् अभवन्न् ओषधयो वै पशुपतिस् तस्माद् यदा पशव ओषधीर् लभन्तेऽथ पतीयन्ति। सोऽब्रवीज् "ज्यायान् वा असतोऽस्मि धेह्य् एव मे नाम" इति। १३. तम् अब्रवीद् उग्रोऽसि इति। तद् यद् अस्य तन नाम अकरोद् वायुस् तद्-रूपम् अभवद् वायुर् वा उग्रस् तस्माद् यदा बलवद् वात्य् उग्रो वाति इत्य् आहुः। सोऽब्रवीज् "ज्यायान् वा असतोऽस्मि धेह्य् एव मे नाम" इति। १४. तम् अब्रवीद् अशनिर् असि इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोत् विद्युत् तद्-रूपम् अभवद् विद्युद् वा अशनिस् तस्माद् यं विद्युद् हन्त्य् अशनिर् अवधीर् इत्य् आहुः। सोऽब्रवीज् "ज्यायान् वा असतोऽस्मि धेह्य एव मे नाम" इति। १५. तम् अब्रवीद् भवोऽसि इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोत् पर्जन्यस् तद् रूपम् अभवत् पर्जन्यो वै भवः। पर्जन्याद् हि इद सर्वम भवति। सोऽब्रवीद् "ज्यायान् वा असतोऽस्मि धेह्य् एव मे नाम" इति। १६. तम् अब्रवीद् "महान् देवोऽसि" इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोच् चन्द्रमास् तद्-रूपम् अभवत् प्रजापतिर् वै चन्द्रमाः प्रजापतिर् वै महान् देवः। सोऽब्रवीज् "ज्यायान् वा असतोऽस्मि धेह्य् एव मे नाम" इति। १७. तम् अब्रवीद् ईशानोऽसि इति। तद् यद् अस्य तन् नाम अकरोद् आदित्यस् तद्-रूपम् अभवद् आदित्यो वा ईशान आदित्यो ह्य् अस्य सर्वस्य ईष्टे। सोऽब्रवीद् "एतावान् वा अस्मि मा मेतः परो नाम धा" इति। १८. तान्य् एतान्य्

अष्टाव् अग्नि-रूपाणि कुमारो नवमः। सा एव अग्नेस् त्रिवृत्ता। १६. यद् वा इव अष्टाव् अग्नि-रूपाण्य् अष्टाक्षरा गायत्री तस्माद् आहुर् गायत्रोऽग्निर् इति। सोऽय कुमारो रूपाण्य् अनुप्राविशत्। न वा अग्नि कुमारम इव पश्यन्त्य् एतान्य् एवास्य रूपाणि पश्यन्त्य् एतानि हि रूपाणि प्राविशत्।

"यह प्रतिष्ठा थी। यही भूमि हुई। उसने इसको विस्तृत किया। यह पृथिवी हुई। इस प्रतिष्ठा पर सभी भूतों तथा भूतपति ने संवत्सर-पर्यन्त दीक्षा ली। भूतपति गृहपति था, और उषा उसकी पत्नी। ये भूत ऋतुयें थे। वह भूतपति संवत्सर था। वह पत्नी उषा औषसी (उषा की पुत्री)[२५३] थी। तब ये दोनों, भूत तथा भूतपति, सवत्सर ने उषा को गर्भित किया जिससे एक सवत्सर में एक कुमार[२५४] का जन्म हुआ। उस कुमार ने रुदन किया। प्रजापति ने उससे कहा : 'कुमार ! तुम क्यों रुदन कर रहे हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म श्रम तथा तपस्या के बाद हुआ है ?' कुमार ने कहा : 'मेरा पाप अभी अपहृत नहीं हुआ, और मेरा नामकरण भी नहीं हुआ। मुझे एक नाम दो। इसीलिये जब पुत्र उत्पन्न हो जाता है (किसी भी मनुष्य को) तो उसका एक नाम रख देना चाहिये; यह उसके पाप का अपहरण करता है। उसका दूसरा और तीसरा नाम भी क्रमानुसार रखना चाहिये, क्योंकि यह उसके पाप का अपहनन करता है। प्रजापति ने उससे कहा : 'तुम रुद्र हो।' क्योंकि उसने उसे यह नाम दिया अत' अग्नि इसके रूप हुये, क्योंकि अग्नि रुद्र है। रुदन ('अरोदीत', 'रुद्' धातु से) करने से वह रुद्र हुआ। कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो।' प्रजापति ने कहा : 'तुम शर्व[२५५] हो।' यतः उसने उसे यह नाम दिया अतः जल उसके रूप हुये, क्योंकि जल 'सर्व' है, और यह सब जल से ही उत्पन्न है। कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो।' प्रजापति

---

[२५३] मैं इसकी व्याख्या करने मे असमर्थ हूँ कि किस प्रकार उषा को स्वयं अपनी पुत्री औषसी के साथ समीकृत किया गया है, अथवा किस प्रकार भूतपति = सवत्सर ने अपने को संवत्सर के लिये दीक्षित किया।

[२५४] वेबर (इण्डिशे स्टूडियन, २ ३०२,३९५) के अनुसार 'कुमार' नाम ऋग्वेद ५ २,१ मे अग्नि के लिये व्यवहृत है।

[२५५] इस नाम की उत्पत्ति सम्भवत ऋग्वेद १० ६१,१९ मे मिल सकती है जहाँ ये शब्द आते हैं 'इयम् मे नाभिर् इह मे सधस्थम् इमे मे देवा अयम् अस्मि सर्वं। द्विजा अह प्रथम-जा ऋतस्य इद धेनुर् अदुहज् जायमाना।'

ने कहा : 'तुम पशुपति हो। यतः उसने उसे यह नाम दिया अतः ओषधियाँ उसके रूप हुये क्योंकि ओषधियाँ पशुपति हैं। इसीलिये जब पशु ओषधियाँ पाते हैं तो वे पति (अथवा शक्तिशाली ?) हो जाते हैं। कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो।' प्रजापति ने उससे कहाः 'तुम उग्र हो'। यतः उसने उसे यह नाम दिया अतः वायु उसका रूप हुआ। वायु ही उग्र है। इसीलिये जब यह तेज़ी से बहता है तो मनुष्य कहते हैं 'उग्र बह रहा है।' कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो।' प्रजापति ने उससे कहा : 'तुम अशनि हो।' यतः उसने उसे यह नाम दिया अतः विद्युत् उसका रूप हुआ। विद्युत ही अशनि है। इसीलिये जिसपर विद्युत्पात होता है उस पर लोग अशनिपात हुआ कहते हैं। कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो।' प्रजापति ने उससे कहाः 'तुम भव हो।' यतः उसने उसे यह नाम दिया अतः पर्जन्य उसका रूप हुआ; क्योंकि पर्जन्य ही भव है; क्योंकि यह सम्पूर्ण (जगत्) पर्जन्य से ही उत्पन्न होता है। कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो।' प्रजापति ने कहाः 'तुम महान्देव : हो।' यतः उसने उसे यह नाम दिया अतः चन्द्रमा उसका रूप हुआ। प्रजापति ही चन्द्रमा है : प्रजापति महादेव है। कुमार ने कहा : 'मैं असत् से बड़ा हूँ, मुझे एक नाम दो'। प्रजापति ने कहा : 'तुम ईशान हो।' यतः उसने यह नाम दिया अतः आदित्य उसका रूप हुआ। क्योंकि आदित्य ही ईशान है, क्योंकि वह इस जगत् पर शासन करता है। कुमार ने कहा : 'मैं बस इतना ही हूँ, मुझे अब और नाम मत दो।' ये ही अग्नि के आठ रूप हैं। कुमार उसका नवाँ रूप है। यह अग्नि का 'त्रिवृत्तत्व' है। यतः अग्नि के आठ रूप थे, अतः गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। इसीलिये मनुष्य कहते हैं कि 'गायत्री अग्नि का है'। इस कुमार ने इन रूपों में प्रवेश किया। मनुष्य अग्नि को कुमार के रूप में नहीं देखते; वे उनके इन रूपों को ही देखते हैं; क्योंकि वह (कुमार) इन रूपों में प्रविष्ट हो गया।"

यही वह मूल स्थल प्रतीत होता है जिससे पुराणों की रुद्र के जन्म की कथा को लिया गया है। वह कथा, जैसी मार्कण्डेय पुराण में (प्रायः विष्णु पुराण के समान शब्दों में) मिलती है, इस प्रकार है

मार्क० पुरा० ५२.२ और बाद : कल्पादाव् आत्मनस् तुल्यं सुतम् प्रध्यायतः प्रभोः। ३. प्रादुर्-आसीद् अथाङ्केऽस्य कुमारो नील-लोहितः। रुरोद सुस्वरं सोऽथ द्रवंश् च द्विज सत्तम। किं रोदिषीति तम् ब्रह्मा रुदन्तम् प्रत्युवाच ह। नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच जगत्-पतिम्। रुद्रस्

त्व देव नम्नाऽसि मा रोदीर् धैर्य्यम् आवह् । एवम् उक्तस् ततः सोऽथ सप्तकृत्वो रुरोद ह । ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्तनामानि वै प्रभु । स्थानानि चैषाम अष्टानाम् पत्नीः पुत्राश च वै द्विज । भव सर्व तथेशानं तथा पशुपतिम् प्रभुः । भीमम् उग्रम् महादेवम् उवाच स पितामहः ।

"कल्प के आरम्भ में जब प्रभु (ब्रह्मा) अपने ही समान एक पुत्र का ध्यान कर रहे थे तब उनके गोद में एक नील-लोहित वर्ण के कुमार का प्रादुर्भाव हुआ । वह बालक इधर उधर दौड़ता हुआ ज़ोर ज़ोर से रुदन करने लगा । जब वह रुदन कर रहा था तब ब्रह्मा ने उससे कहा : 'तुम क्यों रुदन करते हो ?' उसने जगत्पति से कहा : 'मुझे एक नाम दो ।' ब्रह्मा ने कहा : 'हे देव ! तुम रुद्र कहे जाओगे; रुदन मत करो, धैर्य धारण करो ।' इस प्रकार सम्बोधित होने पर उस कुमार ने पुनः सात बार रुदन किया । तब प्रभु ने उसे सात अन्य नाम, तथा कुल आठों को स्थान, तथा पुत्र सहित पत्नियाँ भी दीं । पितामह ने रुद्र के अतिरिक्त उसे भव, सर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र, और महादेव कहा ।"

ये नाम (भीम के अतिरिक्त, जिसे अशनि के स्थान पर रक्खा गया है) वही हैं जो उक्त ब्राह्मण में हैं । इसी कथा को कुछ भिन्न रूप से शाङ्खायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण में भी दिया गया है । इस स्थल का एक उद्धरण प्रो० वेबर ने अपने इण्डिशे स्टूडियन (२.३०० और बाद) में भी दिया है । नीचे उद्धृत स्थल के लिये मैं प्रो० आफरेख्त का आभारी हूँ, जिन्होंने बाडलियन लाइब्रेरी, आक्सफोर्ड, की शाङ्खायन ब्राह्मण की पाण्डुलिपी से प्रतिलिपि कर के इसे मेरे पास भेजा है ।

शाङ्खायन ब्राह्मण ६.१ इत्यादि : प्रजापतिः प्रजाकामस् तपोऽतप्यत । तस्मात् पञ्चाजायन्त अग्निर् वायुर् आदित्यश् चन्द्रमा उषाः पञ्चमी । तान् अब्रवीद् यूयम् अपि तप्यध्वम् इति । तेऽदीक्षन्त । तान् दीक्षितांस् तेपानान् उषाः प्राजापत्याऽप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात् प्रत्युदैत् । तस्याम् एषाम् मनः समपतत् । ते रेतोऽसिञ्चन्त । ते प्रजापतिम् पितरम् एत्याब्रुवन् "रेतो व असिचामहा इदम् नो मामुया भूद्" इति । स प्रजापतिर् हिरण्मय चमसम् अकरोद् इषुमात्रम् ऊर्ध्वम् एवं तिर्यञ्चम् । तस्मिन् रेतः समसिञ्चत् । तत उदतिष्टत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रेण प्रतिहिताभिः । २. स प्रजापतिम् पितरम् अभ्यायच्छत् । तम् अब्रवीत् कथा माऽभ्यायच्छसीति । नाम मे कुर्व् इत्य् अब्रवीन् न वा इदम् अविहितेन नाम्नान्नम् अत्स्यामीति । स वै त्वम् इत्य् अब्रवीद् भव एवेति यद भव आपस् । तेन न ह वा एवम् भवो हिनस्ति । नास्य प्रजां नास्य पशून् नास्य

ब्रुवाणं चन। अथ य एनं द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एवं वेद तस्य व्रतम् आ ईम एव वासः परिदधीतेति। ३. त द्वितीयम् अभ्यायच्छत तम् अब्रवीत्। कथा माभ्यायच्छसीति। द्वितीयम् मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीन् न वा इदम् एकेन नाम्नान्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इति अब्रवीच् छर्व एवेति यच् छर्वोऽग्निः। तेन न हा वा एनं शर्वो हिनस्ति नास्य प्रजा नास्य पशून् नास्य ब्रुवाणं चन। अथ य एन द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एवं वेद तस्य व्रतं सर्वम् एव नाश्नीयाद् इति। ४. त तृतीयम् अभ्यायच्छत। तम् अब्रवीत् कथा माभ्यच्छसीति। तृतीयम् मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीन् न वा इद द्वाभ्यां नामभ्याम् अन्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्य् अब्रवीत् पशुपतिर् एवेति यत् पशुपतिर् वायुः। तेन न ह वा एनम् पशुपतिर् हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशून् नास्य ब्रुवाण चन। अथा य एवं द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एव वेद तस्य व्रतम् ब्राह्मणम् एव न परिवदेद् इति। ५. त चतुर्थम् अभ्यायच्छत्। तम् अब्रवीत् माऽभ्यायच्छसीति। चतुर्थम् मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीत्। न वा इद त्रिभिर् नामभिर् अन्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्य् अब्रवीद् उग्र एव देव इति यद् उग्रो देव ओषधयो वनस्पतय'। तेन न ह वा एनम् उग्रो देवो हिनस्ति नास्य प्रजा नास्य पशून् नास्य ब्रुवाणं चन। अथ य एन द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एव वेद तस्य व्रतं स्त्रिया एव विवरं नेच्छेतेति। ६. तम् पञ्चमम् अभ्यायच्छत्। तम् अब्रवीत् कथा माभ्यायच्छसीति। पञ्चमम् मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीत्। न वा इदं चतुर्भिर् नामभिर् अन्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्य् अब्रवीन् महान् एव देव इति। यन् महान देव आदित्यः। तेन न ह वा एनम् महान् देवो हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशून् नास्य ब्रुवाण चन। अथ य एवं द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एवं वेद तस्य व्रतम् उद्यन्तम् एवैन नेच्छेतास्तं यन्त चेति। ७. षष्ठम् अभ्यायच्छत तम् अब्रवीत् कथा मा अभ्यायच्छसीति। षष्ठम् मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीत्। न वा इदम् पञ्चभिर् नामभिर् अन्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्य् अब्रवीद् रुद्र एवेति यद् रुद्रश् चन्द्रमाः। तेन न ह पा एन रुद्रो हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशून् नास्य ब्रुवाणं चन। अथ य एनं द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एवं वेद तस्य व्रतं विमूर्तम् एव नाश्नीयान् मज्जानं चेति। ८. तं सप्तमम् अभ्यायच्छत्। तम् अब्रवीत् कथा माभ्यायच्छसीति। सप्तमम मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीत्। न वा इदं षड्भिर् नामभिर् अन्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्य् अब्रवीद्

ईशान एवेति यद् ईशानोऽन्नं। तेन न ह वा एनम् ईशानो हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशून् नास्य ब्रुवाणं चन। अथ य एनं द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एवं वेद तस्य व्रतम् अन्नम् एवेच्छमानं न प्रत्याचक्षीतेति। ६. तम् अष्टमम् अभ्यायच्छत। तम् अब्रवीत् कथा माभ्यायच्छसीत्य्। अष्टमम् मे नाम कुर्व् इत्य् अब्रवीन् न वा इद् सप्तभिर् नामभिर् अन्नम् अत्स्यामीति। स वै त्वम् इत्य् अब्रवीद् अशनिर् एवेति यद् अशनिर् इन्द्रः। तेन न ह वा एनम् अशनिर् हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशून् नास्य ब्रुवाणं चन। अथ य एनं द्वेष्टि स एव पापीयान् भवति। न स य एवं वेद तस्य व्रतं सत्यम् एव वदेद् हिरण्य च न बिभृयाद् इति। स एषोऽष्टनामाऽष्टधा विहितो महान् देवः। आ ह वा अस्याष्टमात् पुरुषात् प्रजाऽन्नम् अत्ति वसीयान् ह्य् अस्य प्रजायाम् आजायते य एवं वेद।

"प्रजा की इच्छा करते हुये प्रजापति ने तपस्या की। जब उसने इस प्रकार तपस्या की तब उससे पाँच (पुत्र) उत्पन्न हुये : अग्नि, वायु, आदित्य चन्द्रमा और पाँचवी उषा। उसने उनसे कहा : 'तुम लोग भी तपस्या करो।' उन सबने अपने को दीक्षित किया। जब उन सबने अपने को दीक्षित कर लिया और तपस्या कर चुके, तब प्रजापति की पुत्री उषा एक अप्सरा का रूप धारण करके उनके समक्ष प्रस्तुत हुई। उस पर उन सब का मन स्थिर हो गया और उनका रेत स्कन्दित हुआ। तब उन सबने अपने पिता, प्रजापति, के पास आकर कहा : 'हमारा रेत स्कन्दित हो गया है; उसे वहाँ व्यर्थ मत रहने दो।' प्रजापति ने एक सुवर्णमय चमस बनाया जो एक बाण के बराबर गहरा तथा उतना ही चौड़ा था। उसी में उसने उस रेत को एकत्र किया, जिसमें से सहस्राक्ष, सहस्र पैरोंवाला, और सहस्र बाणोंवाला एक प्राणी उत्पन्न हुआ। २. वह अपने पिता, प्रजापति, के पास आया, जिसने उससे पूछा : 'तुम मेरे पास क्यों नहीं आते ?' उसने उत्तर दिया : 'मुझे एक नाम दो। जब तक मुझे एक नाम नहीं मिल जाता तब तक मैं इस अन्न का भोजन नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा : 'तुम भव हो,' क्योंकि भव ही जल है। इसीलिये भव इस मनुष्य, इसकी सन्तान, इसके पशु अथवा अन्य किसी भी ऐसे को हिंसित नहीं करता जो बोलता है। और साथ ही जो उससे घृणा करता है वह अत्यन्त पापी है। जो इसे जानता है उसके साथ स्थिति ऐसी नहीं है। उसका व्रत यह है कि मनुष्य को परिधान धारण करना चाहिये। ३. यह (नवजात शिशु) दूसरी बार फिर प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उससे पूछा : 'तुम मेरे पास क्यों आये ?' उसने उत्तर दिया : 'मुझे दूसरा नाम दो : मैं केवल एक नाम से

इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा. 'तुम शर्व हो'; क्योंकि शर्व अग्नि है। इसीलिये शर्व उसे, अथवा उसकी सन्तान को, उसके पशु को, अथवा किसी भी ऐसे को हिंसित नहीं करता जो बोलता है। साथ ही जो उससे घृणा करता है वह अत्यन्त पापी है। जो इसे जानता है उसके साथ स्थिति ऐसी नहीं है। उसका व्रत यह है कि मनुष्य को प्रत्येक भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये। ४. वह तीसरे वार प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने पूछा: 'तुम मेरे पास क्यों आये?' उसने उत्तर दिया: 'मुझे एक तीसरा नाम दो, मैं केवल दो नामों से ही इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा: 'तुम पशुपति हो', क्योंकि पशुपति वायु है। इसीलिये पशुपति उसे अथवा, इत्यादि। उसका व्रत है कि कोई ब्राह्मण का अपमान न करे। ५. वह चौथे वार प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने पूछा: 'तुम मेरे पास क्यों आये?' उसने उत्तर दिया: 'मुझे एक चौथा नाम दो! मैं केवल तीन नामों से ही इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा: 'तुम उग्रदेव हो; क्योंकि उग्रदेव ही ओषधियाँ और वृक्ष है। इसीलिये उग्रदेव उसे अथवा, इत्यादि। उसका व्रत है कि कोई व्यक्ति स्त्री के विवर को न देखे। ६. वह पाँचवी बार प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने पूछा: 'तुम मेरे पास क्यों आये?' उसने उत्तर दिया: 'मुझे एक पाँचवाँ नाम दो, मैं केवल चार नामों से ही इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा: 'तुम महादेव हो', क्योंकि महादेव आदित्य है। इसीलिये महादेव उसे अथवा, इत्यादि। उसका व्रत यह है कि कोई व्यक्ति उदित अथवा अस्त होते सूर्य को न देखे। ७. वह छठवीं वार प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने पूछा: 'तुम मेरे पास क्यों आये?' उसने कहा: 'मुझे एक छठवाँ नाम दो; मैं केवल पाँच नामों से ही इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा: 'तुम रुद्र हो।' क्योंकि रुद्र चन्द्रमा है। इसीलिये रुद्र उसे अथवा, इत्यादि। उसका व्रत यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी सड़ी हुई वस्तु अथवा मज्जा का भक्षण न करे। ८. वह सातवीं वार प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने पूछा: 'तुम मेरे पास क्यों आये?' उसने कहा: 'मुझे एक सातवाँ नाम दो; मैं केवल छः नामों से ही इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा: 'तुम ईशान हो; क्योंकि ईशान भोजन है। इसीलिये ईशान उसे अथवा, इत्यादि। उसका व्रत है कि कोई भी भोजनाकांक्षी को अस्वीकार न करे। ९. वह आठवीं वार प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने पूछा: 'तुम मेरे पास क्यों आये हो?' उसने कहा: 'मुझे एक आठवाँ नाम दो, क्योंकि मैं केवल सात नामों से ही इस भोजन को ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रजापति ने कहा: 'तुम अशनि हो',

क्योंकि अशनि इन्द्र है। इसीलिये अशनि उसे अथवा, इत्यादि। उसका प्रन यह है कि मनुष्य सत्य बोलें और सुवर्ण रक्खें। यही महादेव हैं जिनके आठ नाम हैं, और आठ प्रकार से निर्मित हुये हैं। इसको जाननेवाले मनुष्य की आठवीं पीढ़ी भोजन प्राप्त करती है, और उसके वश में सदैव सम्पन्नतर मनुष्य जन्म लेते रहते हैं।"

शतरुद्रिय के नाम तथा माहात्म्य के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में यह विवरण मिलता है :

शतपथ ब्राह्मण ९.१,१,१ : अथ अतः शतरुद्रियं जुहोति। अत्र एष सर्वोऽग्निः संस्कृतः। स एषोऽत्र रुद्रो देवता। तस्मिन् देवा एतद् अमृतं रूपम् उत्तमम् अदधुः। स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठद् अन्नम् इच्छमानः। तस्माद् देवा अबिभयुर् यद् वै नोऽयम् न हिंस्याद् इति। २. तेऽब्रुवन् अन्नम् अस्मै सम्भराम तेन एनं शमयाम् इति। तस्मा एतद् अन्नं समभरन् शान्त-देवत्यम्। तेन एनम् अशमयन् तद् यद् एतं देवम् एतेन अशमयस् तस्मात् शान्त-देवत्यम्। शान्त देवत्य ह वै तत् शतरुद्रियम् इत्य् आचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवा.।

"वह अब शतरुद्रिय को हवि समर्पित करता है। यहाँ सर्वाग्नि का संस्कार किया गया है। यहाँ यह रुद्र देवता है। इनमें ही देवों ने उत्तम अमृत रूप का आधान किया। यहाँ वह दीप्यमान और अन्न की इच्छा करता हुआ उठा। देवगण उससे भयभीत हुये, उन्होंने सोचा 'कहीं यह हमें नष्ट न कर दें।' २. उन्होंने कहा : 'आओ हम उसके लिये अन्न एकत्र करें और उससे उसे प्रसन्न करें।' उन लोगों ने उसके लिये वह सब अन्न एकत्र किया जिससे देवता प्रसन्न होते हैं, और उससे उसे प्रसन्न किया। यतः उन लोगों ने उस देवता को इससे प्रसन्न किया, अतः उसे शान्त देवता कहते हैं। इसी 'शान्त देवता' को वे परोक्ष रूप से 'शत-रुद्रिय' कहते हैं, क्योंकि देवगण परोक्षकामी होते हैं।"

इस पर भाष्यकार यह टीका करता है : विहितोऽय होमो रुद्र-रूपतापन्नस्य अग्नेर् उपशमनार्थम्। "वह हवि उस अग्नि को प्रसन्न करने के लिये दी गई है जिसने रुद्र का रूप धारण कर लिया है।"

कुछ और आगे यही ग्रन्थ रुद्र की उत्पत्ति का एक भिन्न विवरण तथा शतरुद्रिय की एक भिन्न व्युत्पत्ति देता है :

शतपथ ब्राह्मण ९.१,१,६ और बाद : प्रजापतेर् विस्रस्ताद् देवता उदक्रामस् तम् एक एव देवो नाजहाद् मन्युर् एव। सोऽस्मिन्न अन्तर् विततोऽतिष्ठत्। सोऽरोदीत्। तस्य यान्य् अश्रूणि प्रास्कन्दंस् तान्य्

अस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन। स एव शत–शीर्षो रुद्र समभवत् सहस्राक्षः शतेपुधिः। अथ या अन्या विप्रुषोऽपतंस् ता असंख्याता सहस्राणि[२५६] इमान् लोकान् अनुप्राविशन्। तद् यद् रुदितात् समभवस् तस्माद् रुद्रा.। सोऽय शतशीर्षा रुद्र' सहस्राक्षः शतेपुधिर्[२५७] अधिज्या-धन्वा प्रतिहितायी भीपयमाणोऽतिष्ठद् अन्नम् इच्छमानः। तस्माद् देवा अबिभयुः। ७. ते प्रजापतिम् अब्रुवन्। अस्माद् वै बिभीमो यद् वै नोऽयं न हिंस्याद् इति। सोऽब्रवीद् अन्नम् अस्मै सम्भरत तेन एन शमयत इति। तस्मा एतद् अन्नं समभरन् शतरुद्रियं तेनैनम् अशमयन्। तद् यद् एतं शतशीर्षाण रुद्रम् एतेनाशमयस् तस्माच् छतशीर्षरुद्र–शमनीयम्। शत-शीर्प-रुद्र–शमनीयं ह वै तत् शतरुद्रियम् इत्य् आचक्षते परोक्षम्। परोक्ष कामा हि देवा इत्यादि।

"विभाजित हो जाने पर प्रजापति से देवगण उत्पन्न हुये। केवल एक देवता, मन्यु, ने उसे नहीं छोड़ा और उसी के साथ लगा रहा। उसने (प्रजापति ने) रुदन किया। उसके नेत्रों से जो अश्रु गिरे वह उस मन्यु में निहित रहे। वह शतशीर्ष, शताक्ष, और सौ तरकसों वाला एक रुद्र हुआ। तब उसके नेत्र से जो असंख्य हज़ार बिन्दु गिरे वे इन लोकों में प्रवेश कर गये। ये सब भी रुद्र कहलाये क्योंकि इन सब की उस समय उत्पत्ति हुई जब उसने रुदन किया। सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष तथा सहस्र तरकसवाला यह रुद्र अपनी धनुष ताने, बाण लिये, और भय उत्पन्न करता तथा अन्न की इच्छा करता हुआ खड़ा हुआ। देवगण इससे भयभीत हुये। ७. उन लोगों ने प्रजापति से कहा: 'हम इस प्राणी से भयभीत हैं कि कहीं यह हमारा विनाश न कर दे।' प्रजापति ने उनसे कहा: 'इसके लिये अन्न एकत्र करो और उससे इसे प्रसन्न करो।' उन लोगों ने उसके लिये इस अन्न, शतरुद्रिय, को एकत्र किया और उसे शान्त किया। यतः उन लोगों ने इससे उस शतशीर्ष रुद्र को शान्त किया, अतः इसी से 'उस शतशीर्ष रुद्र का शमन किया जाना चाहिये' (शत-शीर्ष-रुद्र-शमनीयम्)। इसे ही वे परोक्ष रूप से शतरुद्रिय कहते हैं; क्योंकि देवगण परोक्षकामी होते हैं।"

गत अध्याय में महाभारत से उद्धृत महादेव का वर्णण करनेवाले स्थलों पर यद्यपि उस देवता को अक्सर अग्नि के साथ समीकृत किया गया है (जैसा कि अन्य देवताओं के साथ भी समीकृत किया गया है), तथापि उसे एक

---

[२५६] तुकी० निरुक्त १ १५, और वाज० सं० १६,५४।

[२५७] तुकी० वाज० स० १६.१३।

भिन्न रूप में तथा भिन्न गुणों से युक्त प्रस्तुत किया गया है। फिर भी, स्कन्द अथवा कार्त्तिकेय[२५८] के जन्म के आख्यान में, जिसका महाभारत के वनपर्व में वर्णन है, हमें रुद्र के अग्नि के साथ आरम्भिक सम्बन्ध के कुछ चिह्न मिलते हैं। हमें बताया जाता है कि देव-सेनापति के रूप में स्कन्द का अभिषेक हो जाने पर महादेव और पार्वती वहाँ आते हैं।

महाभारत ३.२२९,२६ और बाद : आगम्य मनुज-व्याघ्र सह देव्या परन्तप। अर्चयामास् सुप्रीतो भगवान् गोवृप-ध्वजः। रुद्रम् अग्निं द्विजाः प्राहू रुद्र-सूनुस् ततस् तु सः। रुद्रेण शुक्रम् उत्सृष्टं तत् श्वेतः पर्वतोऽभवत्। पावकस्येन्द्रिय श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे। पूज्यमान तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः। रुद्र-सूनुं ततः प्राहुर् गुहं गुणवतां वरम्। अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्नि जातो ह्य् अय शिशुः। तत्र जातस् ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस् ततोऽभवत्। रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः पण्णां स्त्रीणां च भारत। जातः स्कन्दः सुर-श्रेष्ठो रुद्र-सूनुस् ततोऽभवत्।

"भगवान शिव तथा पार्वती वहाँ आये। भगवान् वृषध्वज ने अत्यन्त प्रसन्न होकर स्कन्द का समादर किया। ब्राह्मण लोग अग्नि को रुद्र का स्वरूप बताते हैं, इसलिये स्कन्द रुद्र के ही पुत्र हैं। रुद्र ने जिस वीर्य का त्याग किया था वही श्वेत पर्वत के रूप में परिणत हो गया। फिर कृत्तिकाओं ने अग्नि के वीर्य को श्वेत पर्वत पर पहुँचाया था। रुद्र के द्वारा गुणवानों में श्रेष्ठ कुमार कार्त्तिकेय का सम्मान होता देखकर सब देवता कहने लगे : 'ये रुद्र के ही पुत्र हैं। रुद्र ने अग्नि में प्रवेश करके इस शिशु को जन्म दिया है। रुद्रस्वरूप अग्नि से उत्पन्न होने के कारण स्कन्द रुद्र के ही पुत्र कहलाये।' भारत! सुरश्रेष्ठ स्कन्द का जन्म रुद्रस्वरूप अग्नि से, स्वाहा से तथा छः स्त्रियों से हुआ था। इसलिये वे भगवान् रुद्र के पुत्र हुये।"

इस स्थल को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं स्कन्द के जन्म के वृत्तान्त की कुछ पूर्ववर्ती घटनाओं का सारांश प्रस्तुत करूंगा जो महाभारत ३.२१३ से आरम्भ होती हैं। दानवों के हाथ देवसेना की बार-बार पराजय से दुखी इन्द्र इसके कारणों पर विचार कर रहे थे। उसी समय उन्हें एक स्त्री का आर्तनाद सुनाई पड़ा (३.२२३,६)। वह स्त्री कह रही थी कोई वीर उसकी रक्षा करके उसका पति हो जाय। इन्द्र ने उसके पास जाकर देखा कि केशी नामक दैत्य ने उस स्त्री को पकड़ रक्खा है। इन्द्र ने उस दानव को अत्याचार करने से रोका परन्तु उसने अपनी गदा से इन्द्र पर प्रहार कर दिया। इन्द्र ने अपने वज्र से उसकी गदा के दो टुकड़े कर दिये। दोनों में युद्ध हुआ जिसमें पराजित होकर वह दानव उस कन्या को छोड़कर भाग गया। उस

कन्या से इन्द्र को पता चला कि उसका नाम 'देवसेना' और उसकी एक बहन का नाम 'दैत्यसेना' है और वे दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ हैं। उसने बताया कि उसकी बहन केशी से प्रेम करती है, किन्तु वह (देवसेना) नहीं और चाहती है कि इन्द्र उसके लिये ऐसा पति ढूँढ दें जो समस्त देव-शत्रुओं को पराजित कर सके। इन्द्र देवसेना को ब्रह्मा के पास लाते हैं (३.२२४,१ और बाद) और उनसे उसे एक वीर पति प्रदान करने के लिए कहते हैं। ब्रह्मा आश्वासन देते है कि उनके अनुरोध के अनुरूप एक वीर पुरुष का शीघ्र ही जन्म होगा (श्लोक २३)। तब इन्द्र देवसेना के साथ चले जाते हैं। ऐसा हुआ कि वसिष्ठ तथा अन्य ऋषि तपस्या कर रहे थे। देवों-सहित इन्द्र सोमपान की इच्छा से इन ऋषियों के आश्रम पर आये। उन ऋषियों ने अग्नि मे सम्पूर्ण देवताओं के लिए आहुति दी। मन्त्रों द्वारा आहूत होने पर वे अद्भुत नामक अग्नि सूर्यमण्डल से निकल कर मौन भाव से वहाँ आये और ब्रह्मर्षियों द्वारा विधिवत हवन किये हुये भाँति-भाँति के हवनीय पदार्थों को उन महर्षियों से प्राप्त करके सम्पूर्ण देवताओं की सेवा में अर्पित करने लगे। कथा तब आगे इस प्रकार अग्रसर होती है :

महा० ३.२२४,३१ और बाद : निष्क्रामंश् चाप्य् अपश्यत् स पत्नीस् तेषाम् महात्मनाम्। स्वेष्व् आश्रमेषूपविष्टाः स्वपत्नीश् च तथा सुखम्। रुक्म-वेदि-निभास् तास् तु चन्द्र-लेखा इवामलाः। हुताशनार्चिः-प्रतिमाः सर्वास् तारा इवाद्भुताः। स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः। पत्नीर् दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः काम-वशं ययौ। भूयः स चिन्तयामास् न न्याय्य क्षुभितो ह्य् अहम्। साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणाम् अकामाः कामयाम्य् अहम्। नैताः शक्या मया द्रष्टुम् प्रष्टुं वाऽप्य् अनिमित्ततः। गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात् पश्याम्य् अभीक्ष्णशः। संस्पृशन्न् इव सर्वास् ताः शिखाभि. काञ्चन-प्रभाः। पश्यमानश् च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः। निरुष्य तत्र सुचिरम् एवं वह्निर् वशं गतः। मनस् तासु विनिःक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः। काम-सन्तप्त-हृदयो देह-त्याग-विनिश्चितः। अलाभे ब्राह्मण-स्त्रीणाम् अग्निर् वनम् उपागमत्। स्वाहा तम् दक्ष दुहिता प्रथमं कामयत् तदा। सा तस्य छिद्रम् अन्वैच्छच् चिरात्-प्रभृति भाविनी। अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्य् अनिन्दिता। सा तं ज्ञात्वा यथावत् तू वह्नि वनम् उपागतम्। तत्त्वतः काम-सन्तप्तं चिन्तयामास भाविनी। अहं सप्तर्षि-पत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम्। कामयिष्यामि कामार्त्ता तासा रूपेण मोहितम्। एवं कृते प्रीतिर् अस्य कामा-

वाग्निश् च मे भवेत। शिवा भार्य्या त्व् अङ्गिरसः शील-रूप-गुणान्विता। तस्या सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप। जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वराङ्गना। माम् अग्ने काम-सन्तप्तां त्वं कामयितुम् अर्हसि। करिष्यसि न चेद् एवम् मृताम् माम् उपधारय। अहम् अङ्गिरसोभार्य्या शिवा-नामा हुताशन। शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम्। अग्निर् उवाच। कथम् मां त्व विजानीषे कामार्त्तम् इतरा कथम्। याम् त्वया कीर्त्तिता सर्वाः सप्तर्षीणाम् प्रियाः स्त्रियः। शिवा उवाच। अस्माकम् त्वम् प्रियो नित्यम् बिभीमस् तु वय तव। त्वच्चित्तम् इङ्गितैर् ज्ञात्वा प्रेषिताऽस्मि तवान्तिकम्। मैथुनायेह सम्प्राप्ता कामम् प्राप्तुं द्रुतं चर। यामयो माम् प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन। मार्कण्डेय उवाच। ततोऽग्निर् उपयेमे ता शिवाम् प्रीताम् मुदा युतः। प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना। अचिन्तयद् ममेद ये रूप द्रक्ष्यन्ति कानने। ते ब्राह्मणीनाम् अनृत दोष वक्ष्यन्ति पावके। तस्माद् एतद् रक्षमाणा गरुडी सम्भवाम्य् अहम्। वनाद् निर्गमन चैव सुखम् मम भविष्यति। सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात। अपश्यत पर्वत श्वेत शर-स्तम्बैः सुसंवृतम्। दृष्टीविषैः सप्त-शीर्षैर् गुप्तम् भोगिभिर् अद्भुतैः। रक्षोभिश् च पिशाचैश् च रौद्रैर् भूतगणैस् तथा। राक्षसीभिश् च सम्पूर्णम् अनेकैश्च मृग-द्विजैः। सा तत्र सहसा गत्वा शैल पृष्ठ सुदुर्गमम्। प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा। सप्तानाम् अपि सा देवी सप्तर्षीणाम् महात्मनाम्। पत्नी-सरूपता कृत्वा कामयामास पावकम्। दिव्य-रूपम् अरुन्धत्या. कर्त्तु न शकित तया। तस्यास् तपः-प्रभावेण भर्त्तुः शुश्रूषणेन च। षट्कृत्वस् तत् तु निःक्षिप्तम् अग्ने रेत. कुरूत्तम। तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा। तत् स्कन्नं तेजसा तत्र सवृतं जनयत् सुतम्। ऋषिभिः पूजित स्कन्नम् अनयत स्कन्दतां तत.। षट्-शिरा द्विगुण-श्रोत्रो द्वादशाक्षि-भुज क्रमः। एक-ग्रीवैक जठर कुमार. समपद्यत।··· ३.२३१,१ और बाद. यदा स्कन्देन मातॄणाम् एवम् एतत् प्रिय कृतम्। अथैतम् अब्रवीत् स्वाहा "मम पुत्रस् त्वम् औरसः। इच्छाम्य् अह त्वया दत्ता प्रीतिम परम-दुर्लभाम्"। ताम अब्रवीत् तत स्कन्दः प्रीतिम् इच्छसि कीदृशीम्। स्वाहोवाच। दक्षस्याहम् प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज। बाल्यात् प्रभृति नित्यञ्च जातकामा हुताशने। न स माम् कामिनीम् पुत्र सम्यग् जानाति इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुम् पुत्र सहाग्निना। स्कन्द उवाच। हव्य कव्यञ्च यत् किञ्चिद् द्विजानाम् मन्त्र-संस्तुतम्। होष्यन्त्य् अग्नौ सदा देवि स्वाहेत्य् उक्त्वा समुद्धृतम्। अद्य

प्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्-पथे स्थिताः। एवम् अग्निस् त्वया सार्धम् सदा वत्स्यति शोभने। मार्कण्डेय उवाच। एवम् उक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता। पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दम् अपूजयत्। ततो ब्रह्मा महासेनम् प्रजापतिर् अथाब्रवीत्। अभिगच्छ महादेवम् पितरं त्रिपुरार्दनम्। रुद्रेणाग्नि समाविश्य स्वाहाम् आविश्य चोमया। हितार्थं सर्व-लोकानां जातस् त्वम् अपराजितः।

"देवताओं को हविष्य पहुँचा कर जब अग्निदेव वहाँ से जाने लगे तब उनकी दृष्टि उन महात्मा सप्तर्षियों की पत्नियों पर पड़ी। उनमें से कुछ तो अपने आसनों पर आसीन थीं और कुछ सुखपूर्वक सो रही थीं। उनकी अंगकान्ति सुवर्णमयी वेदी के समान थी; वे चन्द्रमा की कला के समान निर्मल थीं, वे अग्नि की लपटों के समान प्रभा बिखेर रही थीं और तारिकाओं के समान अद्भुत सौन्दर्य से प्रकाशित हो रही थीं। इस प्रकार वहाँ मन मे उन ब्रह्मर्षियों की पत्नियों के देखकर अग्नि देव की समस्त इन्द्रियाँ क्षोभ से चंचल हो उठीं। वे सर्वथा काम के अधीन हो गये। फिर उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि 'मेरा यह कार्य कदापि उचित नहीं है। मेरे मन में विकार आ गया है। इन ब्रह्मर्षियों की पत्नियाँ पतिव्रता हैं। ये मुझे बिल्कुल नहीं चाहतीं, तो भी मैं इनकी कामना करता हूँ। मैं अकारण न तो इन्हें देख सकता हूँ और न इनका स्पर्श ही कर सकता हूँ। ऐसी दशा में यदि मैं गार्हपत्य अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँ तो बार-बार इनके दर्शन का अवसर पा सकता हूँ।' मार्कण्डेय जी ने कहा : राजन्! ऐसा निश्चय करके अग्नि देव ने गार्हपत्य अग्नि का आश्रय लिया और अपनी लपटों से सुवर्ण के समान कान्तिवाली उन ऋषि पत्नियों का स्पर्श तथा दर्शन-करते हुये वे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करने लगे। इस प्रकार बहुत देर तक वहाँ स्थित रहकर अग्निदेव काम के वश में हो गये। वे अपना हृदय उन सुन्दरियों पर अर्पित करके उनसे मिलने की कामना कर रहे थे। उनका हृदय कामाग्नि से संतप्त हो रहा था। वे उन ब्रह्मर्षियों की पत्नियों के न मिलने से अपने से अपने शरीर को त्याग देने का निश्चय कर चुके थे, अतः वन में चले गये। प्रजापति दक्ष की पुत्री, स्वाहा, पहले से ही अग्नि को अपना पति बनाना चाहती थी और इसके लिए बहुत दिनों से वह अग्नि का छिद्र ढूँढ रही थी। परन्तु अग्नि के सदा सावधान रहने के कारण साध्वी स्वाहा उनका कोई दोष नहीं देख पाती थी। जब उसे भलीभाँति मालूम हो गया कि अग्नि कामसंतप्त होकर वन में चले गये हैं, तब उसने मन ही मन इस प्रकार विचार किया : 'मैं अग्नि के प्रति काम भाव से पीड़ित हूँ, अतः

स्वयं ही सप्तर्षि पत्नियों के रूप धारण करके मैं अग्नि की कामना करूँगी क्योंकि वे उनके रूप से मोहित हो रहे हैं। ऐसा करने से उनको प्रसन्नता होगी और मेरी कामना भी पूर्ण हो जायगी।' अङ्गिरा की पत्नी शिवा शील, रूप और सद्गुणों से सम्पन्न थी। सुन्दरी स्वाहा देवी पहले उसी का रूप धारण करके अग्नि देव के निकट गई और उनसे इस प्रकार बोली: 'अग्ने ! मैं कामवेदना से संतप्त हूँ, तुम मुझे अपने हृदय में स्थान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो यह निश्चय जान लो कि मैं अपना प्राण त्याग दूँगी। हुताशन ! मैं अङ्गिरा की पत्नी हूँ। मेरा नाम शिवा है। दूसरी ऋषिपत्नियों ने परामर्श करके एक निश्चय पर पहुँच कर मुझे यहाँ भेजा है।' अग्नि ने पूछा: 'देवि ! तुम तथा अन्य सप्तर्षियों की सभी प्रिय स्त्रियाँ, जिनके विषय में अभी तुमने चर्चा की है, कैसे जानती हैं कि मैं तुम लोगों के प्रति कामभाव से पीड़ित हूँ।' शिवा ने कहा: 'अग्निदेव ! तुम हमें सदा ही प्रिय रहे हो, परन्तु हम लोग तुमसे सदा डरते आ रहे थे। इन दिनों तुम्हारी चेष्टाओं से मन की बात जानकर मेरी सखियों ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। मैं समागम की इच्छा से यहाँ आई हूँ। तुम स्वतः प्राप्त हुये काम-सुख का शीघ्र उपभोग करो। हुताशन ! वे भगिनीस्वरूप सखियाँ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं, अतः मैं शीघ्र चली जाऊँगी।' तब अग्निदेव ने प्रेम और प्रसन्नता के साथ उस शिवा को हृदय से लगाया। (शिवा के रूप में) स्वाहा देवी ने प्रेमपूर्वक अग्निदेव से समागम करके उनके वीर्य को हाथ में ले लिया। तत्पश्चात् उसने कुछ सोचकर कहा: 'अग्निकुलनन्दन ! जो लोग वन में मेरे इस रूप को देखेंगे वे ब्राह्मण पत्नियों को झूठा दोष लगायेंगे। अतः मैं इस रहस्य को गुप्त रखने के लिये गरुड़ी पक्षिणी का रूप धारण कर लेती हूँ। इस प्रकार मेरा इस वन से सुखपूर्वक निकलना सम्भव हो सकेगा।' मार्कण्डेय ने कहा: 'राजन् ! ऐसा कह कर वह तत्काल गरुड़ी का रूप धारण करके उस महान् वन से बाहर निकल गई। आगे जाने पर उसने सरकण्डों के समूह से आच्छादित श्वेत पर्वत के शिखर को देखा। सात सिरोंवाले, अद्भुत नाग, जिनकी दृष्टि में ही विष भरा था, उस पर्वत की रक्षा करते थे। इनके अतिरिक्त राक्षस, पिशाच, भयानक भूतगण, राक्षसी समुदाय तथा अनेक पशु-पक्षियों से भी वह पर्वत भरा था। अनेकानेक नदी और झरने वहाँ बहते थे तथा नाना प्रकार के वृक्ष उस पर्वत की शोभा बढ़ाते थे। शुभस्वरूपा स्वाहा देवी ने सहसा उस दुर्गम शैलशिखर पर जा कर एक सुवर्णमय कुण्ड में शीघ्रतापूर्वक उस शुक्र को डाल दिया। कुरुश्रेष्ठ ! उस देवी ने सातों महात्मा सप्तर्षियों की पत्नियों के समान रूप धारण

करके अग्निदेव के साथ समागम की इच्छा की थी; किन्तु अरुन्धती की तपस्या तथा पति-सुश्रूषा के प्रभाव से वह उनका दिव्य रूप धारण नहीं कर सकी; इसलिये छः बार ही अग्नि के वीर्य को वहाँ डालने में सफल हुई। अग्निदेव की कामना रखनेवाली स्वाहा ने प्रतिपदा को उस कुण्ड में उनका वीर्य डाला था। स्कन्दित हुये उस वीर्य ने वहाँ एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। ऋषियों ने उसका बड़ा सम्मान किया। वह स्कन्दित होने के कारण स्कन्द कहलाया। उसके छ सर, बारह कान, बारह नेत्र, और बारह भुजाये थी। परन्तु उस कुमार का कण्ठ तथा पेट एक ही था।" कात्तिकेय देवसेना के साथ विवाह करते हैं (३.२२९,४१ और बाद)। तदनन्तर उनकी मातृ-स्वरूपा छः ऋषि-पत्नियों ने उनके पास आ कर कहा कि उनके पतियों ने उनका परित्याग कर दिया है। ऋषि-पत्नियों ने कहा: 'हम लोग पुण्य-लोक से च्युत हो गये हैं''अतः हमारे सत्य-कथन को सुन कर तुम इस सकट से हमारी रक्षा करो।' तदनन्तर कथा इस प्रकार अग्रसर होती है: "जब स्कन्द ने इस प्रकार मातृगणों का यह प्रिय मनोरथ पूर्ण किया तब स्वाहा ने आकर उनसे कहा' 'तुम मेरे औरस पुत्र हो। अतः मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे परम दुर्लभ प्रीति प्रदान करो।' तब स्कन्द ने पूछा: 'माँ! तुम कैसी प्रीति पाने की अभिलाषा रखती हो?' स्वाहा ने कहा: 'महाबाहो! मैं प्रजापति दक्ष की प्रिय पुत्री हूँ, मेरा नाम स्वाहा है। मैं बाल्यकाल से ही सदा अग्निदेव के प्रति अनुराग रखती आई हूँ। पुत्र! परन्तु अग्निदेव को इस बात का अच्छी तरह पता नहीं है कि मैं उन्हें चाहती हूँ। बेटा! मेरी यह हार्दिक अभिलापा है कि मैं नित्य निरन्तर अग्निदेव के ही साथ निवास करूँ।' स्कन्द बोले: 'देवि! आज से सन्मार्ग पर चलनेवाले सदाचारी धर्मात्मा मनुष्य देवताओं तथा पितरों के लिये हव्य और कव्य के रूप में उठा कर ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित मन्त्रों के साथ अग्नि में जो कुछ आहुति देंगे वह सब स्वाहा का नाम ले कर ही अर्पण करेंगे। शोभने! इस प्रकार तुम्हारे साथ निरन्तर अग्निदेव का निवास बना रहेगा।' स्कन्द के इस प्रकार कहने पर और आदर देने पर स्वाहा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। अपने स्वामी अग्नि देव का संयोग पाकर उसने भी स्कन्द का पूजन किया। तदनन्तर प्रजापति ब्रह्मा ने महासेन से कहा: 'वत्स! अब तुम अपने पिता, त्रिपुरविनाशक, महादेव से मिलो। भगवान् रुद्र ने अग्नि में और भगवती उमा ने स्वाहा में प्रवेश करके समस्त लोकों के हित के लिये तुम जैसे अपराजित वीर को उत्पन्न किया है।"

खण्ड ५—रुद्र से सम्बद्ध उपनिषदों के विभिन्न स्थल

रुद्र का वर्णन करनेवाले ब्राह्मणों के उपरोद्धृत स्थलों के अतिरिक्त अब मैं उपनिषदों से एक भिन्न प्रकृति के स्थलों को उद्धृत करूँगा।

प्रथम स्थल श्वेताश्वतर उपनिषद् से लिया गया है :

३.१ और बाद : य एको जालवान् ईशते ईशनीभि॰ सर्वान् लोकान् ईशते ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च ये एतद् विदुर् अमृतास् ते भवन्ति। २. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्[२५९] य इमान लोकान् ईशते ईशनीभिः। प्रत्यङ् जनास् तिष्ठति सञ्चुकोपान्त-काले[२६०] संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः। ३. (ऋग्वेद १०.८१,३) विश्वतश् चक्षुर् उत विश्वतो-मुखो विश्वतो-बाहुर् उत विश्वतस्-पात्। सम् बाहुभ्याम् धमति सम् पतत्रैर् द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। ४. यो देवानाम् प्रभवश् चोद्भवश् च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं[२६१] स नो बुध्या शुभया सयुनक्तु। ५. और ६ = वाज॰ स॰ १६.२-३ (देखिये ऊपर)··· ४.२१. अजात इत्य् एवं कश्चिद् भीरुः प्रतिपद्यते। रुद्र यत् ते दक्षिणम् मुखम् तेन माम् पाहि नित्यम्। २२ = ऋग्वेद १.११४,८ और वाज॰ स॰ १६.१६ (देखिये ऊपर)।

"जो एक जालवान् अपनी ईश्वरीय शक्तियों से शासन करता है, जो अकेला ही ऐश्वर्य से योग होने पर और जगत् के प्रादुर्भाव के समय अपनी शक्तियों से सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है, उसे जो जानते हैं वे अमर

---

[२५९] 'न द्वितीयाय तस्थु' इस स्थल का मान्य पाठ प्रतीत होता। अथर्वशिरस् उपनिषद् से उद्धृत एक सामानान्तर स्थल पर भी इसी समान पाठ है। इस मन्त्र का आरम्भिक अंश निरुक्त १.१५ मे भी मिलता है जहाँ पाठ भिन्न किन्तु अधिक ग्राह्य है 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय.।' ऋग्वेद पर अपने भाष्य मे सायण ने इन शब्दो को इस प्रकार दिया है 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे।' निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, जैसा प्रो॰ रॉथ (इल॰ ऑफ॰ नि॰ पृ॰ १२, नोट) ने उन्हे उद्धृत किया है, विना स्रोत-निर्देश किये सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत करते हैं. "एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे विघ्नन् पृतनासु शत्रून्। ससृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता प्रत्यङ् जनान् सञ्चुकोचान्त-काले।"

[२६०] शुद्ध पाठ सम्भवत 'सञ्चुकोच' है।

[२६१] नीचे इन दो शब्दो के स्थान पर 'पश्यत जायमानम्' पाठ मिलता है। मन्त्र का शेष अंश जैसे का तैसा है।

हो जाते हैं। २. क्योंकि एक ही रुद्र है, इसलिये उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु के लिये अपेक्षा नहीं करते। वह अपनी शक्तियों द्वारा इन लोकों का शासन करता है, वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है, और सम्पूर्ण लोकों की रचना कर उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें संकुचित करता है। ३. वह सब ओर नेत्रोंवाला, सब ओर मुखोंवाला, सब ओर भुजाओंवाला, और सब ओर पैरोंवाला है। वह एकमात्र देव द्युलोक और पृथिवी की रचना करता हुआ दो भुजाओं और पतत्रों से युक्त करता है। ४. जो रुद्र देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य-प्राप्ति का हेतु, जगत्पति और सर्वज्ञ है, तथा जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था वह हमें शुभ-बुद्धि से संयुक्त करे।··· ४. २१. हे रुद्र! तुम अजन्मा हो इसलिये संसार-भय से कातर पुरुष तुम्हारी शरण लेता है। तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उससे सर्वदा मेरी रक्षा करो।"

अगला स्थल अथर्वशिरस्[२६२] उपनिषद् के आरम्भ से लिया गया है। इस उपनिषद् की जिन पाण्डुलिपियों को मैंने देखा है उनमें अत्यधिक पाठभेद है।

देवा ह वै स्वर्गं लोकम् अगमन्। ते देवा रुद्रम् अपृच्छन् को भवान् इति। सोऽब्रवीद् अहम् एकः प्रथमम् आसं वर्त्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिद् मत्तो व्यतिरिक्त इति। सोऽन्तराद् अन्तरम् प्राविशद् दिशश्चान्तर सम्प्राविशत्। सोऽहम नित्यानित्यो व्यक्ताव्यक्तोऽहम् ब्रह्माब्रह्माहम् प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणञ्च उदञ्चोऽहम अधश्चोर्ध्वञ्च दिशश्च प्रतिदिशश्चाहम् पुमान अपुमान् स्त्री चाह सावित्र्य् अहं गायत्र्य् अहम् त्रिष्टुब् जगत्य् अनुष्टुप् चाहं छन्दोऽहम् गार्हपत्यो दक्षिणाग्निर् आहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौर् अहं गौर्य् अह ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहम् आपोऽहं तेजोऽहम् ऋग्यजुः-सामाथर्वाङ्गिरसोऽहम् अक्षरम् अह क्षरम् अहं गुह्योऽहं गोप्योऽहम् अरण्योऽहम् पुष्करम् अहम् पवित्रम् अहम् अग्रञ्च मध्यञ्च वहिश्च पुरस्ताज् ज्योतिर् इत्य् अहम् एकः। सर्वञ्च माम् एव माम् यो वेद स सर्वान् देवान् वेद। गां गोभिर् ब्राह्मणान् ब्राह्मण्येन हवींषि हविषा आयुर् आयुषा सत्यं सत्येन धर्मं धर्मेन तर्पयामि स्वेन तेजसा। ततो देवा रुद्र नापश्यंस् ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति ततो देवा ऊर्ध्वा-बाहवः स्तुवन्ति यो वै रुद्र स भगवान् यश् च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः। यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च विष्णुस् तस्मै वै नमो नमः। यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च महेश्वरस् तस्मै वै नमो नमः। यो

[२६२] अथर्व शिरस् नामक एक ग्रन्थ का रामायण १ १४,२ मे उल्लेख है।

वै रुद्रः स भगवान् या चोमा तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च विनायकस् तस्मै··· । यो वै रुद्रः···यश्चस्कन्दः··· । यो वै रुद्रः······ यश्चेन्द्रः···। यो वै रुद्रः ··यश्चाग्नि···· । यो वै रुद्रः···या च भू.··· । यो वै रुद्रः···यश्च भुवः·· । ओम् आदौ मध्येभूर् भुवः सुवर् अन्ते शीर्षम्[२८३] जनदोम विश्व-रूपोऽसि । ब्रह्मैवस् त्वं द्वि त्रिधा ऊर्ध्वम् अधश्च त्वं शान्तिश्च त्वं पुष्टिश्च त्व तुष्टिश्च त्वं हुतम् अहुतम् विश्वम् अविश्व दत्तम् अदत्तम् कृतम् अकृतम् परम अपरम परायणञ्चेति । "अपाम सोमम्[२८४] अमृता अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् । किं नूनम् अस्मान् कृणवद् अरातिः किम उ धूर्तिर् अमृत मर्त्यस्य" । (ऋग्वेद ८.४८,३) । सर्व-जगद्धितम वा एतद् अक्षरम् प्राजापत्यं सूक्ष्म सौम्यम् पुरुषम् अग्राह्यम् अग्राह्येण वायु वायव्येन सोम सौम्येन ग्रसति स्वेन तेजसा । तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः । हृदिस्था देवता सर्वा हृदि प्राणे प्रतिष्ठिताः । हृदित्वम् असि यो नित्य तिस्रो मात्राः परम् तु सः । तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः स ओंकारः । य ओंकारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्व-व्यापी सोऽनन्तम् तत् तारं[२८५] यत् तारं तत सूक्ष्म यत सूक्ष्मं तत् शुक्लं यत शुक्ल तद् वैद्युत यद् वैद्युत तत परम् ब्रह्मेति स एकः स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेव. । अथ कस्माद् उच्यत ओंकार. । यस्माद् उच्चार्यमाण एव सर्वं शरीरम् उन्नामयति तस्माद् उच्यते ओंकारः .. अथ कस्मद् उच्यते एकः । य सर्वान् लोकान् उद्गृह्णाति[२८६] सृजति विसृजति वासयति तस्माद् उच्यते एक. । अथ कस्माद् उच्यते एको रुद्रः एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे (स्थितवान् अद्वितीय एव',

---

[२८३] भाष्यकार इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है "शीर्ष शिरोमन्त्र स्वाहेत्य् एवरूप । जनदोम् जनदेति कर्मो पलक्षणार्थम् अक्षर-त्रयम् जनम् जनिम् तदुपलक्षित जनिमद् वस्तु-जातम् तद् ददाति इति जनदः । तस्य सम्बोध-नम् ।" मूल के शब्दो के स्थान पर एक अन्य पाण्डुलिपि मे यह पाठ है "भूस् ते आदिर् मध्यम् भुवम् ते स्वस् ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ।"

[२८४] 'उमया ब्रह्म-विद्या-स्वरूपिण्या कात्तायन्या सह वर्त्तते इति सोमम् तम् । यत सोमम् अपाम तत अमृता मरण-हेतुभिर् अविद्या-तत्-कार्य-सस्कारैर् विवर्जिता अभूम सम्पन्ना ।"—भाष्यकार ।

[२८५] 'तारयति'—भाष्यकार ।

[२८६] 'ऊर्ध्व-मोक्षम् आत्मनि गृह्णाति', भाष्यकार ।

भाष्यकार) तुरीयम् इमं लोकम् ईशते ईशनीयुर् (नियमन शक्तिमान, भाष्य०) जननीयु' (विश्वोत्पादक-शक्तिमान, भाष्य०) प्रत्यङ् जनास् तिष्ठन्ति संयुगस्थान्तकाले सहृत्य विश्वा भुवनानि गोप्ता ।[२६७] तस्माद् उच्यते एको रुद्रः । अथ कस्माद् उच्यते ईशानो यः सर्वान् लोकान् ईशते ईशनीभिर् जननीभिः परम-शक्तिभिः । "अभि त्वा शूर नोनुमः अदुग्धा इव धेनवः । ईशानम् अस्य जगतः स्वर्दृशम् ईशानम् इन्द्र तस्तुषः" (ऋग्वेद ७.३२,२२) । तस्माद् उच्यते ईशान. ।...अथ कस्माद् उच्यते महेश्वरः । यः सर्वान् लोकान् सम्भक्षः सम्भक्षयत्य् अजस्रं सृजति विसृजति वासयति तस्माद् उच्यते महेश्वरः । अथ कस्माद् उच्यते महादेव. । यः सर्वान् भावान् परित्यज्य आत्म-ज्ञान-योगैश्वर्य्ये महति महीयते तस्माद् उच्यते महादेवः । तद् एतद् (एतद् नाम निरुक्ति-रूप चरितम्', भाष्यकार) रुद्र-चरितम् । "एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास् तिष्ठति विश्वतो-मुखः" (वाज० सं ३४,४) । "विश्वतश्-चक्षुर् उत विश्वतो-मुखो विश्वश्वतो-बाहुर् उत् विश्वतस्-पात् । सम् बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर् द्यावा-पृथिवी जनयन् देव एकः" (ऋग्वेद १०.८१,३) .. रुद्रे एकत्वम् (ऐक्यम्', भाष्य०) आहुः । रुद्र शाश्वत वै पुराणम् इत्यादि । ' व्रतम् एतत् पाशुपतम् । अग्निर इति भस्म वायुर् इति भस्म जलम् इति भस्म स्थलम् इति भस्म व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदम् भस्म मन एतानि चक्षूंपि भस्मानि । "अग्निर" इत्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्य अङ्गानि सस्पृशेत् । तस्माद् व्रतम एतत् पाशुपतम् पशु-पाश-विमोक्षाय । योऽथर्वः शिरम् ब्राह्मणोऽधीते सोऽग्नि-पूतो भवति । स वायु-पूतो भवति । स आदित्य पूतोभवति । स सोम-पूतो भवति । स सत्य-भूतो भवति स सर्व-भूतो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सर्वेषु वेदेष्व् अधीतो भवति । स सर्व-वेद-व्रत-चर्य्यासु चरितो भवति । स सर्वैर् देवैर् ज्ञातो भवति । स सर्व-यज्ञ-क्रतुभिर् इष्टवान् भवति । तेन इतिहास–पुराणानां रुद्राणाम् शत–सहस्राणि जप्तानि भवन्ति । गायत्र्याः शत-सहस्र जप्तम् भवति । प्रणवानाम् अयुतं जप्तम् भवति । रूपेरूपे (पाठे पाठे प्रतिपाठम्', भाष्यकार) दश पूर्वान् पुनाति दशोत्तरान्

---

[२६७] एक अन्य पाण्डुलिपी मे इस प्रश्न का एक भिन्न उत्तर दिया गया है . 'यस्माद् ऋषिभिर् नान्यैर् भक्तैर द्रुतम् अस्य रूपम् उपलभ्यते ।"

आचक्षुपः पंक्तिम् पुनाति इत्याह भगवान् अथर्व-शिरोऽथर्व-शिरः (‘अभ्यास आदरार्थः’, भाष्य०) सकृज् जप्त्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीय जप्त्वा गाणपत्यम् अवाप्नोति तृतीय जप्त्वा देवम् एवानुप्रविशत्य् ओं सत्यम्। “यो रुद्रो अग्नौ यो अप्स्व् अन्तर् य ओषधीर् वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चावल्पे तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु अग्नये” (अथर्ववेद ७ ८७,१)।

“देवगण स्वर्गलोक आये। उन लोगों ने रुद्र से पूछा : तुम कौन हो ?’ उसने कहा : ‘मैं ही अकेले सर्वप्रथम हुआ, वर्तमान हूँ और भविष्य में भी रहूँगा। मुझ से व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।’ उसने एक अन्तरिघ के बाद दूसरे में और आकाश में प्रवेश किया। ‘मैं नित्य और अनित्य हूँ; मैं व्यक्त और अव्यक्त हूँ, मैं ब्रह्म और अब्रह्म हूँ,[२९८] मैं पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी, उत्तरी (प्राणवायु, इत्यादि, भाष्य), अधः, ऊर्ध्व, दिशायें, और मध्यम दिशायें हूँ, मैं पुरुष, नपुंसक और स्त्री हूँ, मैं सावित्री हूँ, मैं गायत्री हूँ, मैं ही त्रिष्टुप् (छन्द) हूँ, मैं ही छन्द हूँ, मैं ही गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, और आहवनीयाग्नि हूँ, मैं सत्य हूँ, मैं पृथिवी हूँ, मैं गौरी[२९९] हूँ, मैं ज्येष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं वरिष्ठ हूँ, मैं जल हूँ, मैं तेज हूँ, मैं ही ऋक, यजुष्, सामन् और अथर्वाङ्गिरस हूँ, मैं अक्षर हूँ, मैं क्षर हूँ, मैं गुह्य हूँ, मैं गोप्य हूँ, मैं अरण्य हूँ, मैं पुष्कर हूँ, मैं पवित्र हूँ, मैं अन्त, मध्य और बाह्य, सामना और ज्योति हूँ, यह सब मैं ही अकेले हूँ। जो केवल मुझे ही जानता है, मुझे ही सब कुछ जानता है, वह सब देवताओं को जानता है। मैं स्वयं अपने तेज से ही पृथिवी को किरणों से, ब्राह्मणों को ब्रह्मत्व से, हवियों को हवि से, आयु को आयुष्य से, सत्य को सत्य से, धर्म को धर्म से, तृप्त करता हूँ।’ तब देवों ने रुद्र को नहीं देखा। उन लोगों ने उनका ध्यान किया। तब हाथों को ऊपर उठा कर देवों ने उनकी इस प्रकार स्तुति की : ‘जो रुद्र हैं वह भगवान् हैं, और वह जो ब्रह्मा हैं उनको नमस्कार। जो रुद्र है वह भगवान् हैं, और वह जो विष्णु हैं, उन्हें नमस्कार। जो रुद्र हैं वह भगवान् हैं, और वह जो उमा हैं, उन्हें नमस्कार। वह जो रुद्र हैं, इत्यादि, और वह जो विनायक हैं, उन्हें नमस्कार। वह जो रुद्र हैं, इत्यादि, और वह जो स्कन्द हैं, उन्हें नमस्कार।

---

[२९८] ‘वाक्याभ्यासो रूपस्यात्मनो विस्तवत्त्व-प्रदर्शनार्थं।’ भाष्य०। मैं दूसरे शब्द को ‘ब्रह्म’ नही बल्कि ‘अब्रह्म’ मानना चाहूँगा।

[२९९] ‘शिव-प्रिया। अष्टवर्पा वा कुमारी गौर-वर्णा बाल-नता (?) तु। भा०।

वह जो रुद्र है, इत्यादि, और वह जो इन्द्र हैं, उन्हें नमस्कार। वह जो रुद्र हैं, इत्यादि, और वह जो अग्नि हैं, इत्यादि। वह जो रुद्र हैं, इत्यादि, और वह जो भूः हैं, इत्यादि। वह जो रुद्र हैं, इत्यादि, और वह जो भुवः हैं, इत्यादि। (इसी प्रकार रुद्र को सुवः [स्वः], महः, जन, तपस् , सत्य, पृथिवी, आपस् , तेजस् , वायु, आकाश, सूर्य, सोम, नक्षत्राणि, औष्टौ ग्रहाः, प्राण, काल, यम, मृत्यु, अमृत, भूत, भव्य, भविष्यत , विश्व, कृत्स्न, सर्व, और सत्य के साथ समीकृत किया गया है)। ओम् ! आरम्भ में और मध्य में भूर् , भुवः, स्वः हैं, अन्त में शीर्ष है। हे जीवनदाता, ओम् , तुम विश्व रूप हो। केवल तुम ही द्विधा और त्रिधा ब्रह्म, ऊर्ध्व और अधः हो, तुम शान्ति हो, तुम पुष्टि हो, तुम तुष्टि हो; तुम हुत और अहुत हो; तुम विश्व और अविश्व हो, तुम दत्त और अदत्त हो, तुम कृत और अकृत हो; तुम परम और अपरम हो; तुम सर्वपरायण हो। 'हमने सोम-पान किया है और हम अमर हो गये हैं, हमने ज्योति में प्रवेश किया है, हमने देवों को जान लिया है। अब शत्रु हमारा क्या कर सकता है ? हे अमृत देवता ! अब किसी मर्त्य की धूर्तता हमारा क्या कर सकती है ?'[२७०] यह सम्पूर्ण जगत का अक्षर हितकर्त्ता प्रजापति से उत्पन्न हुआ, और सूक्ष्म, तथा सौम्य है। यह अपने तेज से ही अग्राह्य पुरुष को अग्राह्यत्व से, वायु को वायव्यत्व से, सोम को सौम्य से ग्रसित करता है।[२७१] उस संहारकर्त्ता, महाग्राह, को नमस्कार। सभी देवता हृदय मे निवास करते हैं; हृदय और प्राण में स्थित हैं। तुम जो नित्य हृदय में हो वह तीन मात्रायें हैं, किन्तु वह इसके परे है। उसके उत्तर में शीर्ष है, दक्षिण मे पैर हैं। जो उत्तर है वही ओंकार है, ओंकार ही प्रणव है और प्रणव सर्वव्यापी, सर्वव्यापी अनन्त है, अनन्त वह है जो तारता है, जो तारता है वह सूक्ष्म है, सूक्ष्म शुक्ल है, शुक्ल विद्युतमय है, और जो वैद्युत है वही परम ब्रह्म है। वह एक है, वही केवल रुद्र है, वही ईशान है, वही भगवान् है, वही महेश्वर है, वही महादेव है। अब, ओंकार का नाम कैसे पड़ा ? यतः ज्योंही इसका उच्चारण किया जाता है, यह सम्पूर्ण शरीर को ऊपर उठा देता है, अतः इसे ओंकार कहते हैं। (तदनन्तर प्रणव, सर्वव्यापी, अनन्त, सूक्ष्म, शुक्ल, वैद्युत और परम ब्रह्म शब्दों के सम्बन्ध में भी ऐसे

---

[२७०] प्रस्तुत कृति के तीसरे भाग मे उद्धृत। भाष्यकार के अनुसार 'सोम' का अर्थ यह है स + उम', अर्थात् 'वह जो उमा के साथ' दिव्यज्ञान, कात्यायनी के रूप मे रहता है।'

[२७१] मे इसका आशय समझ पाने मे असमर्थ हूँ।

ही प्रश्न करके उनके उत्तर दिये गये हैं। तब 'एके' की व्याख्या की गई है)। अब उसे 'एक' क्यों कहते हैं? वह जो समस्त लोकों को उत्पन्न, सृजित, विसृजित और धारण करता है, उसे ही इसलिये 'एक' कहते हैं। 'केवल एक ही रुद्र है; दूसरे के लिये कोई स्थान नहीं है। वह इस चतुर्थ लोक का शासन करता है, इसका नियन्त्रण और प्रजनन करता है; सभी जीव उसमें प्रतिष्ठित हैं। प्रलयकाल में वह, भुवनगोप्ता, सम्पूर्ण लोकों को नष्ट कर देता है।'[२७२] इसीलिये उसे एक रुद्र कहते हैं। तब उसे ईशान क्यों कहते हैं? वही सम्पूर्ण लोकों पर अपने अभ्यादेशों तथा परम सृजनात्मक शक्तियों से शासन करता है। 'हे वीर इन्द्र! हम लोग अदोहित गाय की भाँति तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम इस जङ्गम पदार्थ के स्वामी हो तुम स्थावर पदार्थों के ईशान और सर्वदर्शक हो।'[२७३] इसीलिये उसे ईशान कहते हैं। (इसके बाद 'भगवत्' की व्याख्या की गई है)। तब उसे महेश्वर क्यों कहते हैं? वह जो भक्षक है, और सम्पूर्ण लोकों का नित्य भक्षण, सृजन, विसृजन और धारण करता है, उसे ही इसलिये महेश्वर कहते है। तब उसे महादेव क्यों कहते हैं? 'वह जो सभी भावों का परित्याग कर के आत्मज्ञान के महान ऐश्वर्य में योगरत हो कर महानता को प्राप्त करता है, उसे, इसलिये, महादेव कहते हैं। ऐसा रुद्र-चरित्र है। 'यह प्रसिद्ध देव सब दिशाओं को व्याप्त करके स्थित है। सर्वप्रथम यही प्रगट हुआ। गर्भ में यही स्थित है। जन्म लेनेवाला भी यही है। सब पदार्थों में व्याप्त और सब ओर मुखवाला भी यही है।' (वाज० स० ३२.४)। 'विश्वकर्मा की आँखें, मुख, बाहें और चरण सभी ओर से हैं। अपनी भुजाओं और पगों से प्रेरण करते वे दिव्य पुरुप द्यावाभूमि को उत्पन्न करते हैं।' (ऋग्वेद १०. ८१,३)।" पुनः रुद्र का इन श्लोकों में उल्लेख है: "उनका कथन है कि रुद्र में एकत्व है, और रुद्र शाश्वत तथा पुरातन है" इत्यादि। पाशुपत व्रत का इस प्रकार वर्णन है: "पाशुपत व्रत यह है. 'अग्नि भस्म है, वायु भस्म है, जल भस्म है, स्थल भस्म है, आकाश भस्म है, यह सब भस्म है, मन, और आखें भी भस्म हैं।' इन शब्दों का उच्चारण करते हुये भस्म लेकर मलते हुये अपने अगों का स्पर्श करे। यही पाशुपत व्रत है जो पशुपाश का विमोचन करता है। जो ब्राह्मण अथर्व-शिरस् का पाठ करता

---

[२७२] मूल पाठ की जैसी स्थिति है उसके आधार पर इसका आशय समझ पाना कठिन है।

[२७३] ऋग्वेद ७.३२,२२।

है वह अग्नि से, वायु से, सूय से, और सोम से पवित्र होता है, वह सत्य हो जाता है, वह सब कुछ हो जाता है, वह सब तीर्थों में स्नान कर लेता है, वह सब वेदों का पाठ कर लेता है, वह वेदविहित सभी व्रत कर लेता है, सब देवता उसे जान लेते हैं, वह सभी यज्ञ कर लेता है, वह सैकड़ों सहस्र इतिहासों, पुराणों और रुद्र से सम्बद्ध स्थलों का उच्चारण कर लेता है, सैकड़ों हज़ार गायत्री जप कर लेता है, दस सहस्र ओंकार का उच्चारण कर लेता है। प्रत्येक पाठ से वह अपनी पिछली दस पीढ़ियों को पवित्र करता है, और भावी वंशजों की पीढ़ियों को भी पवित्र करता है, जहाँ तक दृष्टि जा सकती है वहाँ तक की वह मनुष्यों की पंक्ति को पवित्र करता है, ऐसा भगवान् अथर्वशिरस् का कथन है। इसका एक बार पाठ करके वह स्वच्छ, पवित्र और कर्म करने के योग्य हो जाता है, दूसरी बार पाठ करने से वह गणों का आधिपत्य प्राप्त करता है, तीसरी बार पाठ करने से वह सत्य-रूप ओंकार में प्रवेश करता है। 'उन रुद्र अग्नि को नमस्कार जो अग्नि में और जलों में निवास करते हैं, जिन्होंने इन ओषधियों में प्रवेश किया है, जिन्होंने इन सब लोकों का निर्माण किया है'।"

मैं इस रहस्यवादी उपनिषद् के अब थोड़े से ही ऐसे स्थलों की ओर संकेत करूँगा जिनमें रुद्र के चरित्र का वर्णन है। तीन देवताओं, ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र का एक साथ ही इन्द्र-सहित (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रेन्द्राः) उल्लेख है; और शम्भु (रुद्र के नामों में से एक) को सब दिव्य गुणों से युक्त और सब का ईश्वर कहा गया है। साथ ही इनकी पूजा के फलों का भी वर्णन है (कारण तु ध्येयः सर्वैश्वर्य्य-सम्पन्नः सर्वेश्वरश् च शम्भुर् आकाश-मध्ये ध्रुव स्तब्ध्वाऽधिक क्षणम् एकं क्रतु-शतस्यापि चतुः-सप्तत्या यत् फल तद् अवाप्नोति कृत्स्नम् ओंकार-गतं च सर्व-ध्यान-योग-ज्ञानानां यत् फलम् ओंकार वेद-पर ईशो वा शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वम् अन्यत् परित्यज्य)।

कैवल्य उपनिषद् (वेबर द्वारा इण्डि० स्टू० २.१० और बाद में अनूदित) में आश्वलायन ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या की व्याख्या करने का निवेदन करते हैं (अथाश्वलायनो भगवन्तम् परमेष्ठिनम् उपसमेत्योवाच अधीहि भगवन् ब्रह्म-विद्याम् इत्यादि)। पितामह (ब्रह्मा), अन्य बातों के साथ-साथ उन्हें यह उपदेश देते हैं : अन्त्याश्रम-स्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्व-गुरुम् प्रणम्य। हृत् पुण्डरीक विरज विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्। अनन्तम् अव्यक्तम् अचिन्त्य-रूपं शिवम् प्रशान्तम् अमृतम्

ब्रह्म योनिम्। तम आदि-मध्यान्तविहीनम् एक विभु चिदानन्द-स्वरूपम् अद्भुतम्। उमासहायम् परमेश्वरम् प्रभु त्रिलोचन नील-कण्ठम् प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर् गच्छति भूत-योनि समस्त-साक्षि तमसः परस्तात्। स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स आत्मा परमेश्वरः[२७४]। स एव सर्वं यद् भूतम् यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा त मृत्युम् अत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।...यः शतरुद्रियम् अधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायु पूतो भवति इत्यादि। "अन्तिम आश्रम में (अर्थात संन्यास आश्रम में) अपनी समस्त इन्द्रियों का निरोध करके, अपने गुरु के प्रति भक्तिपूर्वक प्रणाम करके, अपने हृदय रूपी उस कमल पर ध्यान करे जो विरज, विशुद्ध, निर्मल, चिन्तारहित, अनन्त, अव्यक्त, अचिन्त्य रूप, कल्याणमय, प्रशान्त, अमृत और ब्रह्म-योनि है। उस पर ध्यान करे, जो आदि, मध्य और अन्त से रहित, एक, व्यापक, चिदानन्द-स्वरूप, अद्भुत, उमासहाय, परमेश्वर, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, और प्रशान्त है। ऐसा करके एक मुनि अन्धकार को पार करके भूतयोनि और परम साक्ष्य को प्राप्त करता है। वह ब्रह्मा है, वह शिव है, वह इन्द्र है, वह अक्षर, परमेश्वर, और स्वयं ज्योतिर्मान है, वह विष्णु है, वह प्राण है, वह आत्मा है, वह परमेश्वर है, जो कुछ था, अथवा जो कुछ होगा वह सब वही है, वह सनातन है। उसको जाननेवाला मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। मुक्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।" आगे चल कर यह कहा गया है: "जो शतरुद्रिय का पाठ करता है वह अग्नि, वायु, इत्यादि, से पवित्र हो जाता है।"

ईस्ट इण्डिया ऑफिस की उपनिषदों की एक पाण्डुलिपि में मुझे एक नीलरुद्रोपनिषद् नामक कृति मिली है जो इस प्रकार आरम्भ होती है: अपश्यं चावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमयः। अपश्यम् अपश्यं तं रुद्रं नीलग्रीवं शिखण्डिनम् "मैंने, जो पृथिवीमय हूँ, आकाश से अवरोहण करते हुये देखा; मैंने उस नीलकण्ठ और शिखण्डी रुद्र को देखा।" इस ग्रन्थ में शतरुद्रिय के अनेक श्लोक मिलते हैं।

खण्ड ६—रुद्र से सम्बद्ध इतिहास और पुराणों के कुछ और उद्धरण

प्रस्तुत कृति के आरम्भिक अंशों में मैंने रामायण, महाभारत, इत्यादि से अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं जो महाकाव्य-कालीन महादेव के चरित्र का वर्णन

---

[२७४] एक अन्य पाण्डुलिपि मे 'स कालोऽग्नि स चन्द्रमाः', पाठ है।

करते हैं। अब मैं इतिहासों अथवा पुराणों से ऐसे स्थल उद्धृत करूँगा जो इस देवता की धारण के इतिहास तथा भारतीय देवसभा के अन्य देवताओं के साथ इसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हैं।

रुद्र का संक्षेप में रामायण के १.१४,१ और बाद; १.७५,१४ और बाद; युद्धकाण्ड ११९,१ और बाद, आदि में उल्लेख है, जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। रामायण के जिन अन्य स्थलों पर मैंने रुद्र का सन्दर्भ देखा है, उन्हे नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ। इनमें इस देवता का जो रूप प्रस्तुत किया गया है वह महाभारत की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होता है।

रामायण १.२५,१० और बाद (श्लेगेल सं०) में रुद्र उस कन्दर्प को शाप देते हैं जिसने विवाह के बाद उनके भीतर उस समय प्रवेश करने का प्रयास किया जब वे तपस्या कर रहे थे। इसके फलस्वरूप कन्दर्प अनङ्ग हो जाता है (कन्दर्पो मूर्त्तिमान् आसीत् काम इत्य् उच्यते बुधैः। आवेष्टुम् अभ्यगात् तूर्णं कृतोद्वाहम् उमापतिम्। तपस्यन्तुम् रह स्थाणुं निमयेन समाहितम्। धर्षयामास दुर्मेधा हुङ्कृतश् च महात्मना। अवध्यातस्य रौद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन। व्यशीर्यन्त शरीरात् स्वात् सर्व गात्राणि दुर्मत')।

१.३६,२० में यह उल्लेख है कि पर्वतराज हिमालय ने अपनी पुत्री उमा को अप्रतिरूप रुद्र (रुद्राय अप्रतिरूपाय) को दे दिया। इसी काण्ड के ३७ वें अध्याय में शिव और उमा के संभोग का अत्यन्त अमर्यादित भाषा में इस प्रकार वर्णन है : पुरा राम कृतोद्वाह. सितिकण्ठ महातपा.। उमा च स्पर्धया देवी मैथुनायोपचक्रतुः। तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः। सितिकण्ठस्य देव्याश्च दिव्यं वर्ष-शतं गतम्। एवम् मन्मथ–युद्धे तु तयोर् नासीत् पराजयः। न चापि चापि तनयो राम तस्याम् आसीत परन्तप। "पूर्व समय में, विवाह के बाद, महातपस्वी शितिकण्ठ और देवी उमा मैथुन के उपक्रम में रत हुये। एक सहस्र दिव्य वर्षों तक महादेव शितिकण्ठ और देवी उमा इस प्रकार क्रीडा करते रहे। इस कामयुद्ध में इन दोनों में से कोई भी पराजित नहीं हुआ, और हे राम! उमा देवी को कोई पुत्र भी उत्पन्न नहीं हुआ।" महादेव के एक भयकर पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना से देवगण अत्यन्त भयभीत हुये और उन लोगों ने महादेव तथा उमा से संयमित होने का निवेदन किया। महादेव इसके लिये सहमत हो गये; परन्तु उन्होंने पूछा कि उनके स्खलित शुक्र का क्या होगा। देवों ने कहा कि उसे पृथिवी ग्रहण करेगी। तब देवों ने अग्नि और वायु से उस शुक्र में प्रवेश करने के लिये कहा। अग्नि ने देवों के आदेश के अनुसार उसमें प्रवेश

किया जिससे एक श्वेत पर्वत की उत्पत्ति हुई जहाँ कार्त्तिकेय का जन्म हुआ। तदनन्तर देवताओं ने शिव और उमा की स्तुति की किन्तु उमा ने उन सब की पत्नियों के वाँझ हो जाने का शाप दिया। ३८ वें अध्याय में कार्त्तिकेय के जन्म का वर्णन है। जब देवों के अधिपति त्र्यम्बक (शिव) तपस्या कर रहे थे तब अन्य देवों ने ब्रह्मा के पास जाकर महादेव के स्थान पर एक सेनापति के नियुक्ति की याचना की। उन लोगों ने कहा : "आप ने जिन महादेव को पहले हमारा सेनापति बनाया था वह अब देवी उमा के साथ तपस्या कर रहे हैं।" (यो न सेनापतिर् देव दत्तो भगवता पुरा। स तप. परम आस्थाय तप्यते स्म सहोमया)। ब्रह्मा ने बताया कि उमा के शाप के परिणाम स्वरूप किसी भी देवता की पत्नी को कोई पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकता किन्तु अग्नि देव गङ्गा से एक पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं जिसे ही देवों का सेनापति होना चाहिये। तब देवों ने कैलास पर्वत पर जाकर वहाँ अग्नि को अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये नियुक्त किया। अग्नि ने तदनुसार गङ्गा में गर्भ स्थित किया जिससे कार्त्तिकेय की उत्पत्ति हुई। कार्त्तिकेय का यह नाम इसलिये पड़ा क्योंकि उनका कृत्तिकाओं ने पालन किया था।

४३ वें अध्याय में यह वर्णन है कि राजा भगीरथ ने कपिल द्वारा भस्म किये गये सगर पुत्रों की भस्म को पवित्र करने के लिये गङ्गा को पृथिवी पर लाने के उद्देश्य से किस प्रकार तपस्या की। ब्रह्मा ने भगीरथ के सम्मुख प्रगट होकर उनसे शिव को प्रसन्न करने के लिये भी कहा जिससे गङ्गा के स्वर्ग से गिरने के वेग को वे (शिव) रोक सकें। भगीरथ तदनुसार तब तक घोर तपस्या करते रहे (जैसा कि हमें ४४ वें अध्याय में बताया गया है) जब तक उमापति और पशुपति शिव ने उनके समक्ष प्रगट होकर गङ्गा को धारण करने का आश्वासन नहीं दे दिया। फलस्वरूप शिव ने हिमालय पर्वत पर खड़े होकर गङ्गा से नीचे उतरने के लिये कहा। पहले तो गङ्गा ने उनके आह्वान के विपरीत भी उतरने में संकोच प्रगट किया, किन्तु बाद में उन्हें अपने वेग के साथ पाताल में गिरा देने के उद्देश्य से वह अत्यन्त प्रबल वेग से आकाश से नीचे गिरीं। फिर भी, भगवान शिव उनके (गङ्गा के) गर्व का हनन करने के लिये दृढ थे। फलस्वरूप दीर्घकाल तक गङ्गा पृथिवी पर पहुँचे विना ही शिव की जटाओं में ही चक्कर काटती रहीं। भगीरथ द्वारा पुनः स्तुत होने पर, अन्ततः शिव ने गङ्गा को विन्दु-सरोवर में डाल दिया जिससे वह बहकर सागर तक जा सकें और पाताल पहुँच कर सगर पुत्रों की भस्म को पवित्र करें जिससे उन सब को स्वर्ग लोक प्राप्त हो।

४५ वें अध्याय में दिति और अदिति के परस्पर द्वेषी पुत्रों द्वारा क्षीर-सागर के मन्थन द्वारा अमृत की उत्पत्ति की कथा का वर्णन है। फिर भी, सागर-मन्थन के लिये जिस वासुकि नाग को रस्सी बनाया गया था उसके मुख से अत्यन्त घातक विष की फुँफकार निकलने लगी। तब देवगण इस भयंकर विष से मुक्ति पाने की इच्छा से शिव की शरण में आये :

रामायण १.४५,२१ और बाद : अथ देवा महादेव शङ्करं शरणार्थिनः। जग्मुः पशुपतिं रुद्रम् त्राहि त्राहीति तुष्टुवुः। प्रादारासीत् ततोऽत्रैव शङ्ख-चक्र-गदाधरः। उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रम् शूल-धर हरिः। दैवतैर् मथ्यमाने तु यत् पूर्वं समुपस्थितम्। तत् त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणाम् अग्रजो हि यत्। अग्र पूजाम् इह स्थित्वा गृहाणेदं विषम् प्रभो। इत्य् उक्त्वा च सुर-श्रेष्ठस् तत्रैवान्तरधीयत। देवतानाम् भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्य तु शार्ङ्गिणः। हलाहल विष घोर सञ्जग्राहामृतोपमम्। देवान् विसृज्य देवेशा जगाम भगवान हरः। "तब देवना लोग शरणार्थी हो कर सब का कल्याण करने वाले महान देवता पशुपति रुद्र की शरण में गये और त्राहि-त्राहि की पुकार लगा कर उनकी स्तुति करने लगे। देवताओं के इस प्रकार पुकारने पर देवदेवेश्वर भगवान् शिव वहाँ प्रगट हुये। फिर वहीं शङ्ख-चक्रधारी श्रीहरि भी उपस्थित हो गये। श्रीहरि ने त्रिशूलधारी रुद्र से मुस्करा कर कहा : 'सुरश्रेष्ठ! देवताओं के समुद्रमन्थन करने पर जो वस्तु सर्वप्रथम प्राप्त हुई है वह आप का भाग है, क्योंकि आप सब देवताओं में अग्रगण्य है। प्रभो! अग्रपूजा के रूप में प्राप्त हुये इस विष को आप यहीं खड़े होकर ग्रहण करें।' ऐसा कह कर देवशिरोमणि विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। देवताओं का भय देख कर और भगवान विष्णु की पूर्वोक्त बात सुन कर रुद्र ने उस घोर हलाहल विष को अमृत के समान मानकर अपने कण्ठ मे धारण कर लिया और देवताओं को विदा करके अपने स्थान को चले गये।"

देवों और असुरों ने सागर का मन्थन पुनः आरम्भ किया किन्तु जिस पर्वत को मथानी बना कर वह मन्थन कर रहे थे वह पाताल में धँसने लगा। फलस्वरूप देवों ने इस बार विष्णु की शरण ली। विष्णु ने कूर्म के रूप में उस पर्वत को अपनी पीठ पर धारण किया। अन्ततः अमृत प्रगट हुआ जिसे लेकर विष्णु चले गये।

रामायण के किष्किन्धाकाण्ड मे निहित उत्तराखण्ड के वर्णन के अन्तर्गत कैलास पर्वत को कुबेर का निवास बताया गया है, और शिव के वहाँ निवास करने का कोई उल्लेख नहीं है :

रामायण ४.४३,२० और बाद : तं तु शीघ्रम् अतिक्रम्य कान्तारं लोम-हर्षणम् । पाण्डुरं द्रक्ष्यथ ततः कैलासं नाम पर्वतम् । तत्र पाण्डुर-मेघाभं जाम्बूनद-परिष्कृतम् । कुबेरभवनम् दिव्यं निर्मितं विश्वकर्मणा । "रोंगटे खड़े कर देनेवाले उस दुर्गम प्रान्त को शीघ्र ही लाँघ जाने पर तुम्हें कैलास नामक श्वेतवर्ण पर्वत दिखाई पड़ेगा । उसी पर्वत पर विश्वकर्मा द्वारा निर्मित कुबेर का भवन है जो श्वेत मेघों के समान प्रतीत होता है । उस भवन को जाम्बूनद नामक सुवर्ण से विभूषित किया गया है ।"

एक अन्य स्थल, जो गोरेसियो के रामायण के संस्करण में रुद्र से सम्बद्ध है, (यह स्थल कलकत्ता संस्करण में नहीं है) इस प्रकार :

४.४४,४६ और बाद : तं तु देशम् अतिक्रम्य त्रिशृङ्गो नाम पर्वतः । तस्य पादे सरो दिव्यम् महत् काञ्चन-पुष्करम् । तत प्रभवति दिव्या तीक्ष्ण-श्रोतास् तरङ्गिणी । नदी नैकग्राहाकीर्णा कुटिल लोक-भाविनी । तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गम् पर्वतस्याग्नि-सन्निभम् । वैदूर्य्यमयम् एकञ्च शैलस्याथ समुच्छ्रितम् अनुत्पन्नेषु भूतेषु बभूव किल भूमितः । अग्रजः सर्व-भूताना विश्वकर्मेति विश्रुत । तत् तस्य किल पौराणम् अग्निहोत्रम् महात्मनः । आसीत् त्रिशिखरः शैलः प्रवृत्तास् तत्र येऽग्नयः । तत्र सर्वाणि भूतानि सर्वमेध महामखे । कृत्वाऽभवद् महातेजा. सर्व लोक-महेश्वरः । रुद्रस्य किल संस्थान सरो वै सार्वमेधिकम् तत. प्रवृत्ता सरयूर् घोर-नक्रवती नदी । देव-गन्धर्व-पतगा. पिशाचोरग-दानवाः । प्रविशन्ति न त देशम् प्रदीप्तम् इव पावकम् । तम् अतिक्रम्य शैलेन्द्रम् महादेवाभिपालितम् । इत्यादि ।

"उस क्षेत्र को लाँघने पर तुमको त्रिशृङ्ग नामक एक पर्वत मिलेगा जिसके नीचे एक विशाल और दिव्य सरोवर है । उस सरोवर में सुवर्ण कमल खिलते हैं । वहीं से एक दिव्य और तीक्ष्ण वेगवाली नदी निकलती है । वह नदी ग्राहों से परिपूर्ण है, और लोकों को उल्लसित करती हुई कुटिल गति से बहती है । उस पर्वत पर एक सुवर्ण-शिखर है जो अग्नि के समान द्युतिमान है । उसका एक और शृङ्ग वैदूर्यमणि के समान है । जब अन्य कोई प्राणी नहीं उत्पन्न हुआ था तब सब भूतों में अग्रजन्मा विश्वकर्मा का पृथिवी से प्रादुर्भाव हुआ । उसी महापुरुष ने इस त्रिशृङ्ग नामक पर्वत पर एक प्राचीन अग्निहोत्र यज्ञ किया था जिसमें सभी प्रकार की अग्नियों का उपयोग किया गया था । इस पर्वत पर सभी भूतों की इस सर्वमेध यज्ञ में रचना करके वह महातेजस्वी सब लोकों का महेश्वर हो गया । सर्वमेध यज्ञ का यह सरोवर रुद्र का आवास

है, और इसी से सरयू नदी निकली है, जिसमें भयंकर ग्राह बसते हैं। देव, गन्धर्व, पक्षी, पिशाच, सूर्य, और दानव भी उस क्षेत्र में नहीं प्रवेश करते, जो अग्नि के समान प्रदीप्त रहता है। महादेव से रक्षित उस पर्वत को पार करके," इत्यादि।

जहाँ तक विश्वकर्मा के आख्यान का प्रश्न है (जो पुराणों में सामान्यतया नहीं मिलता और इनके सृष्टि-विषयक सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है) उसकी ऊपर पृ० ७ और ८ पर उद्धृत दो सूक्तों, निरुक्त से उद्धृत पृ० १० के स्थल, तथा नीचे उद्धृत शतपथ ब्राह्मण १३.७,१,१४ की तुलना कीजिये।

शतपथ ब्राह्मण १३.७,१,१४ : तेन हैतेन विश्वकर्मा भौवन ईजे। तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि इदं सर्वम् अभवत् अतिष्ठति सर्वाणि-भूतानि इदं सर्वम भवति य एवम् विद्वान् सर्वमेधेन यजते यो वैतद् एवं वेद। १५. त ह कश्यपो याजयाञ्चकार। तद् अपि भूमिः श्लोक जगौ। "न मा मर्त्य कश्चन दातुम् अर्हति विश्वकर्मन् भौवन मन्द आसिथ। उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते संगरः कश्यपाय" इति। "भुवन के पुत्र विश्वकर्मा ने इस यज्ञ से यजन किया। इससे यजन करके वह सभी भूतों से श्रेष्ठ तथा यह सब कुछ हो गया। जो इसे जान कर सर्वमेध यज्ञ करता है, जो इसे इस प्रकार जानता है, वह सभी भूतों से श्रेष्ठ तथा यह सब कुछ बन जाता है। १५. कश्यप ने उसके लिये यह यज्ञ कराया था। वहीं भूमि ने भी एक सूक्त का पाठ किया :[२७५] 'कोई भी मर्त्य मुझे

---

[२७५] इस पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है "अस्मै च विश्वकर्मा भूमिं दातुम् इयेष तत्र च काले भूमिर् अपि इम श्लोक गीतवती। त्व तु मन्द मन्द-मतिर् जन. आसिथ बभूविथ जात इत्य् अर्थ। उप शब्दो नि-शब्दस्यार्थे। यश् चाशक्यम् प्रतिजानीते मन्द इत्य् अभिप्राय'। "विश्वकर्मा ने उसे यह पृथिवी देने की इच्छा की; और उसी समय पृथिवी ने भी इस सूक्त का गायन किया। तुम मन्द, मन्दमति थे। 'उप' उपसर्ग का यहाँ 'नि' के अर्थ मे प्रयोग हुआ है, और आशय यह है कि जो असम्भव का वचन देता है वह मन्दमति है।" तुकी० महाभारत के वनपर्व से इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत स्थल जहाँ परशुराम द्वारा कश्यप को पृथिवी के दान का उल्लेख है। अनुशासन पर्व से उद्धृत एक अन्य स्थल भी देखिये जहाँ यह कहा गया है कि जब अङ्गराज ने ब्राह्मणो को पृथिवी देनी चाही तब क्रुद्ध होकर पृथिवी उसे छोड कर चली गई। बाद मे कश्यप ने उसमे प्रवेश किया और वह उनकी पुत्री हुई। तुकी० शतपथ ब्राह्मण ७.४,३,५ भी।

दान न करे। भुवनपुत्र विश्वकर्मा! तुम मूर्ख थे। यह पृथिवी सलिल के मध्य में डूब जायगी। कश्यप को दिया गया तुम्हारा यह वचन व्यर्थ है'।"

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त रामायण के स्थल का लेखक उस समय रुद्र को विश्वकर्मा के साथ समीकृत करना चाहता है जब वह कहता है कि 'विश्वकर्मा लोक महेश्वर हो गये।' आगे कूर्म पुराण और महाभारत से नोट २८० तथा २८२ में उद्धृत स्थलों की तुलना कीजिये। यदि महादेव को विश्वकर्मा के साथ समीकृत किया जाय, तो रामायण के अनुसार पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण उन्हें सनातन या शाश्वत नहीं कहा जा सकता।

नीचे दिये जा रहे उद्धरण में महादेव के कैलास पर्वत पर कुबेर के पास आकर श्रीराम के दिव्य चरित्र को स्वीकार करने का वर्णन है।

रामायण ५.८९,६ और बाद:[२७१] अथ प्रधानो धर्मात्मा लोकानाम ईश्वरः प्रभुः। ततः सभायाम् देवस्य राज्ञो वैश्रवणस्य सः। धनाध्यक्ष-सभा देवः प्राप्तो हि वृषभ-ध्वजः। उमा-सहायो देवेशो गणैश् च बाहु-भिर् वृतः। अवतीर्य्य वृषात् तूर्णम् महितः शूल-धृग् विभु.। गिरेस् तस्य महातेज. प्रविष्टस् तु सभां हरः। ऋध्या सहाय युक्तश् च तथा वैश्रवणः स्वयम्। अन्यान्य तौ समालिंग्य उपविष्टाव् उभाव् अपि। सभाया तत्र तौ देवौ ते च देवा यथाक्रमम्। उपविष्टा गणाश् चैव यक्षाश् च सह गुह्यकैः। अक्ष-द्यूत ततस् ताभ्याम् प्रवृत्त समनन्तरम्। एतस्मिन्न् अन्तरे तत्र राक्षसेन्द्र विभीषणम्। दृष्ट्वा पौलस्त्यम् आयान्त शिवः प्राह धनेश्व रम्। अयं विभीषण' प्राप्तः शरणम् तव पार्थिव। मन्युनाऽभिप्लुतो वीर राक्षसेन्द्र विमानितः। इत्यादि।

"अब, धर्मात्मा और लोकेश्वर, वृषध्वज और देवदेवेश्वर शिव, उमा देवी तथा भूतगणों से घिरे हुये धनाध्यक्ष वैश्रवण (कुबेर) की सभा में आये। त्रिशूलधारी और महान् हर ने, जिनका ऋद्धि तथा अनेक अन्य अनुचरों को साथ लेकर स्वयं वैश्रवण ने स्वागत किया, कैलास-पर्वत स्थित वैश्रवण की सभा में प्रवेश किया। एक दूसरे का आलिङ्गन करने के बाद ये दोनों देवता तथा अन्य देवगण भी सभाभवन में अपने-अपने गणों और यक्षों और गुह्यकों के साथ क्रमानुसार आसीन हुये। तब दोनों देवों ने पासा खेलना आरम्भ किया। इसी समय पुलस्त्य-पुत्र राक्षसेन्द्र विभीषण को अपने निकट आता देखकर शिव ने

---

[२७१] यह स्थल केवल गोरेसियो के सस्करण मे ही मिलता है, देव नागरी सस्करण मे नही।

धनाध्यक्ष से इस प्रकार कहा : 'राजन्! यह विभीषण है, जो राक्षसराज (रावण) द्वारा अपमानित होने के कारण दुःखी होकर आपकी शरण में आया है'।" इत्यादि।

जब शिव अभी बोल रहे थे, उसी समय विभीषण ने आकर उन देवों को प्रणाम किया। देवों ने उसे उठाया और श्रीराम के पास जाने के लिये कहा जो उसे राक्षसराज के पद पर अभिषिक्त करेंगे। विभीषण मस्तक झुकाये ध्यान-मग्न खड़ा रहा। तब शिव ने उससे पुनः कहा (श्लोक ३७ और बाद): तं ध्यायमानम् भगवान् उवाच प्रभुर् अव्ययः। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजेन्द्र सुखम् आप्नुहि शाश्वतम्।...३९. तस्माद् उत्तिष्ठ गच्छ त्वम् पुराणम् प्रभुम् अव्ययम्। आधारं सर्वभूतानां शाश्वतं निरवग्रहम। स हि सर्व-निधान च गतिर् गतिमतां वरः। कृत्स्नस्य जगतो मूलं तस्माद् गच्छस्व राघवम्। "उन अव्यय भगवान ने कहा : 'राजेन्द्र! उठो, और शाश्वत सुख प्राप्त करो।...अतः उठ कर प्राचीन, अव्यय प्रभु के पास जाओ जो समस्त भूतों के आधार, नित्य और निरवग्रह हैं; क्योंकि वही सब शरणागतों के शरणस्थल हैं, और जगत के मूल हैं। अतः उन राघव (राम) के पास जाओ'।" तब श्रीराम के पास जाने के लिये विभीषण आकाशमार्ग से प्रस्थान करता है।[२७७]

---

[२७७] निम्नोद्धृत स्थल पर महादेव के कुछ कर्मों का उल्लेख है · रामायण ३.३०२७ (कलकत्ता सस्करण) और ३.३५,९३ (गोरेसियो संस्करण) 'स पपात खरो भूमी दह्यमान शराग्निना। रुद्रेणेव विनिर्दग्ध श्वेतारण्ये पुराऽन्धक।' "बाण की अग्नि से दग्ध हो कर वह राक्षस उसी प्रकार भूमि पर गिर पडा जैसे पहले श्वेत वन मे रुद्र द्वारा दग्ध अन्धक गिरा था।" ४ ५,३० (गोरे०). 'यथा क्रुद्धस्य रुद्रस्य त्रिपुर वै विजिग्युष।' "श्री राम का क्रुद्ध मुख त्रिपुर विजयी क्रुद्ध रुद्र के समान हो गया।" ६ ५१,१७ (गोरे०) "लक्ष्मण के बाण से आहत हो कर राक्षस उसी प्रकार काँपने लगे जैसे रुद्र के बाण से आहत हो कर त्रिपुरो के गोपुर हिलने लगे थे (रुद्र-बाणाहतं घोरं यथा त्रिपुर्-गोपुरम्)। अगले श्लोक मे पशुओ के वधकर्त्ता के रूप मे रुद्र का सन्दर्भ है ६ ७३,३७ और बाद 'हतैर् अश्वै. पदातैश् च तद् बभूव रणाजिरम्। आक्रीड इव रुद्रस्य क्रुद्धस्य निघ्नत पशून्।' "हत अश्वो और पदातियो से वह रणभूमि पशुओ का वध करते हुये रुद्र के उद्यान के समान हो गई।" अगले श्लोक का क्या तात्पर्य है इसे मैं नही समझ सका हूँ. ६ ५५,८८ (गोरे०): कुम्भस्य पततो रूपम् भग्नस्योरसि

ऊपर महाभारत से उद्धृत एक स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी महादेव के अनुयायियों के बीच महादेव की पूजा के विषय को ले कर कोई संघर्ष हो चुका था। यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ जातियों द्वारा इस देवता की जैसी पूजा होती थी उसे अन्य जातियाँ घृणा और यहाँ तक भय की दृष्टि से देखती थीं। इस घृणा का कुछ और सकेत दक्ष-यज्ञ के विध्वंस की पुराकथा में देखा जा सकता है जिसका महाभारत में तथा वायु और अन्य पुराणों में वर्णन है (देखिये विलसन का विष्णु पुराण, पृ० ६१ और बाद)।

सम्भवत. एक सरलतम रूप से इस कथा का रामायण के इस स्थल पर उल्लेख है :

रामा० १.६६,७ और बाद (श्लेगेल सं०) : एवम् उक्तस् तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम्। श्रूयताम् अस्य धनुषो यद् अर्थम् इह तिष्ठति। देवरात इति ख्यातो निमेः षष्ठो महीपतिः। न्यासोऽय तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः। दक्ष-यज्ञ बधे पूर्वं धनुर् आयम्य वीर्यवान्। वध्वस्य त्रिदशान् रुद्र सलिलम् इदम् अब्रवीत्। "यस्माद् भागार्थिनो भागान् नाकल्पयत मे सुराः। वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः। ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनि-पुङ्गव। प्रासादयन्त देवेश तेषाम् प्रीतोऽभवद् भवः। प्रीतश्च ददौ तेषां तान्य् अङ्गानि महौजसाम्। धनुषा यानि यान्य् आसन् शातितानि महात्मना। तद् एतद् देव-देवस्य धनू रत्नम् महात्मन.। न्यास-भूत तदा न्यस्तं अस्माकम् पूर्वके विभो।[२७८]

"मुनि के ऐसा कहने पर राजा जनक महामुनि विश्वामित्र से बोले : 'मुनिवर ! इस धनुष का वृत्तान्त सुनिये। जिस उद्देश्य से यह धनुष यहाँ रक्खा गया है वह सब बताता हूँ। भगवन् ! निमि की दसवीं पीढ़ी में देवरात नामक एक राजा हुये। उन्हीं महात्मा के हाथ में यह धनुष धरोहर के रूप में दिया गया था। कहते हैं, पूर्वकाल में दक्ष-यज्ञ के विध्वस के समय परम पराक्रमी शकर ने खेल-खेल में ही रोषपूर्वक इस धनुष को उठा कर यज्ञ विध्वंस के पश्चात् देवताओं से कहा . 'देवगण ! मैं यज्ञ में भाग प्राप्त

मुष्टिना। ईश्वरेणाभिपन्नस्य रूपम् पशुपतेर इव।' गोरेसियो द्वारा उदधृत भाष्यकार की व्याख्या इस प्रकार है ईश्वरेण प्रलय-कालेन हेतुना अभिपन्नस्य लोकान् अभिसृष्टस्य पशुपते रुद्रस्य रूपम् इव रूपम् बभूव इत्य् अर्थ ।'

[२७८] गोरे० स० मे अतिम पक्ति का यह पाठ है 'तिष्ठत्य अद्यापि भगवन् कुलेऽस्माक सुपूजितम्।'

करना चाहता था, किन्तु तुम लोगों ने नहीं दिया। इसलिये इस धनुष से मैं तुम लोगों के परम पूजनीय श्रेष्ठ अंग काट डालूँगा।' मुनिश्रेष्ठ ! यह सुन कर सम्पूर्ण देवता उदास हो गये और स्तुति के द्वारा देवाधिदेव महादेव को प्रसन्न करने लगे। अन्त में उन पर भगवान् शिव प्रसन्न हुये। प्रसन्न हो कर उन्होंने उन सब महामनस्वी देवताओं को यह धनुष अर्पित कर दिया। वही यह देवाधिदेव महात्मा शंकर का धनुष-रत्न है जो मेरे पूर्वज महाराज देवरात के पास धरोहर के रूप में रक्खा गया था'।"

कथा के इस रूप में वीरभद्र अथवा अन्य किसी दैत्य को यज्ञ का विध्वंस करने अथवा देवों को भगा देने का आदेश देते हुये रुद्र का कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि उन्होंने अपने धनुष से देवों को को आहत करने का निश्चय किया।[२७१]

महाभारत के शान्तिपर्व में इस कथा का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रथम विवरण में (जिसे ज्वर की उत्पत्ति के प्रश्न के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है) शिव की पत्नी, उमा, रथों पर बैठ कर जाते हुये देवताओं को देखकर अपने पति, शिव, से पूछती हैं कि वे लोग कहाँ जा रहे हैं। शिव ने बताया कि देवगण दक्ष के अश्वमेध यज्ञ में जा रहे हैं। तब देवी ने अपने पति से पूछा कि वह भी वहाँ क्यों नहीं जा रहे हैं। शिव ने उत्तर दिया : (१२.२८३,२६ और बाद) सुरैर् एव महाभागे पूर्वम् एतद् अनुष्ठितम्। यज्ञेषु सर्वेषु मम न भाग उपकल्पितः। पूर्वोपायोपपन्नेन मार्गेण वरवर्णिनि। न मे सुराः प्रयच्छन्ति भागं यज्ञस्य धर्मतः। "महाभागे ! देवताओं ने ही पहले ऐसा निश्चय किया था। उन्होंने सभी यज्ञों में से किसी में भी मेरे लिये भाग नियत नहीं किया। सुन्दरि ! पूर्वनिश्चित नियम के

---

[२७१] रामायण ३.३०,३६ (गोरे० स०) मे पुन कथा के इसी रूप को प्रस्तुत किया गया है 'त दृष्ट्वा तेजसा युक्त विव्यथुर् वनदेवता.। दक्षस्यो क्रतु हन्तुम् उद्यतास्त्रम् पिनाकिनम।' पुन. वही ३.७०,२ 'हन्तु कामम् पशु रुद्र क्रुद्ध दक्ष-क्रतौ यथा। पुन ६ ५४,३३ · 'ततो विस्फारयामास रामस् तद् धनुर् उत्तमम्। भगवान् इव सक्रुद्धो भव. क्रतु-जिघांसया।' फिर भी रामायण ३ ३१,१० (गोरे० स) मे रुद्र के गणो का उल्लेख है : 'स तै परिवृतो घोरै राक्षसैर् नृ-वरात्मज। महादेव. पितृ-वने गणै· पार्श्व-गतैर् इव।' एक अन्य स्थल (५ १२,३९, गोरे० स) पर शिव को भूतपति कहा गया है (गृहम् भूतपतेर् इव)।

अनुसार धर्म की दृष्टि से ही देवता लोग यज्ञ में मुझे भाग नहीं अर्पित करते।" उमा यह जान कर अत्यन्त क्रुद्ध हुईं कि उनके पति जैसे महान् देवता के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया गया। अपनी पत्नी के दुःख को जान कर अपने गणों सहित शिव ने जाकर यज्ञ को रोक दिया। यज्ञ ने एक मृग का रूप धारण कर के पलायन किया और शिव उसका पीछा करते हुये आकाश में चले गये। उनके ललाट से स्वेद की एक बूँद गिरी जिससे एक अग्नि उत्पन्न हुई। उस अग्नि से एक भयक प्राणी (ज्वर) की उत्पत्ति हुई जिसने यज्ञ को दग्ध करते हुये देवताओं को पलायन करने के लिये विवश कर दिया, इत्यादि। इसी समय ब्रह्मा ने शिव के निकट प्रगट होकर यह वचन दिया कि अब से देवगण उन्हें (शिव को) भी यज्ञ में भाग देंगे (भवतोऽहि सुरः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो)। ब्रह्मा ने यह भी प्रस्ताव किया कि ज्वर को पृथिवी पर रहने की आज्ञा दी जाय। प्रसन्न होकर शिव ने ब्रह्मा के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और तब से वह यज्ञ में अपना भाग प्राप्त करने लगे (इत्य् उक्तो ब्रह्मणा देवो भागे चापि प्रकल्पिते। भगवन्त तथेत्य् आह परांश्च प्रीतिम् अगमद् उत्स्मयश्च पिनाक-धृक्। अवाप च तदा भागं यथोक्तम् ब्रह्मणा भवः)।

कथा का दूसरा वर्णन इस प्रकार है ' पूर्वकाल में दक्ष ने हिमालय पर्वत के गङ्गाद्वार नामक स्थान पर एक यज्ञ आरम्भ किया, जिसमें इन्द्र तथा ब्रह्मा आदि विभिन्न देवगण सम्मिलित हुये। फिर भी, रुद्र के एक भक्त, दधीचि, को यह देखकर अत्यन्त दुःख हुआ कि उनके देवता की उस यज्ञ में कोई पूजा नहीं हुई: १२.२८४,११ और बाद: तान् दृष्ट्वा मन्युनाऽऽविष्टो दधीचिर् वाक्यम् अब्रवीत। "नायं यज्ञो न वा धर्मो यत्र रुद्रो न इज्यते। बध बन्धम् प्रपन्ना वै किन्तु कालस्य पर्य्यय'। किन्तु मोहाद् न पश्यन्ति विनाशम् पर्युपस्थितम्। उपस्थितम् महाघोर न बुध्यन्ति महाध्वरे।" इत्य् उक्त्वा स महायोगी पश्यति ध्यान-चक्षुपा। स पश्यति महादेव देवीञ्च वर-दाम् शुभाम्। नारदञ्च महात्मान तस्या देव्याः समीपतः। सन्तोषम् परम लेभे इति निश्चित्य योग-वित्। एक-मन्त्रास् तु ते सर्वे येनेशो न निमन्त्रितः। तस्माद् देशाद् अपाक्रम्य दधीचिर् वाक्यम् अब्रवीत्। अपूज्य-पूजनाच्चैव पूज्यानाञ्चाप्य् अपूजनात्। नृ-घातक-समम् पाप शश्वत् प्राप्नोति मानवः। अनृत नोक्त-पूर्वम् मे न च वक्ष्ये कदाचन। देवतानाम् ऋषीणा च मध्ये सत्यम् ब्रवीम्य अहम्। आगतम् पशुभर्त्तारं स्रष्टारं जगतः पतिम्। अध्वरे यज्ञ-भोक्तार सर्वेपाम् पश्यत प्रभुम्। दक्ष उवाच। सन्ति नो बहवो रुद्राः शूल हस्ताः कपर्दिनः।

एकादश-स्थान-गता नाहं वेद्मि महेश्वरम्। दधीचिर् उवाच। सर्वेषाम् एव मन्त्रोऽयं येनासौ न निमन्त्रितः। यथाऽहम् शंकराद् ऊर्ध्वं नान्यम् पश्यामि दैवतम्। तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति। दक्ष उवाच। एतन् मखेशाय सुवर्ण पात्रे हविः समस्तं विधि-मन्त्र-पूतम्। विष्णोर् नयाम्य् अप्रतिमस्य भागम् प्रभुर् विभुश् चाहवनीय एषः। देव्य् उवाच। किम् नाम दानं विषम तपो वा कुर्याम् अह येन पतिर् ममाद्य। लभेत भागम् भगवान् अचिन्त्यो अर्धम् तथा भागम् अथो तृतीयम्। एवम् ब्रुवाणाम् भगवान् स्व-पत्नीम् प्रहृष्ट-रूपः क्षुभिताम् उवाच। न वेत्सि मां देवि कृशोदराङ्गि किम् नाम युक्तं वचनम् मखेशे। अह विजानामि विशाल-नेत्रे ध्यानेन हीना न विदन्त्य् असन्तः। तवाद्य मोहेन च सेन्द्र-देवा लोकास् त्रयः सर्वत एव मूढ़ाः। माम् अध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति रथन्तरं साम-गाश् चोपगान्ति। माम् ब्राह्मणा ब्रह्म-विदो यजन्ते ममाध्वर्यवः कल्पयन्ते च भागम्। देव्य् उवाच। सुप्राकृतोऽपि पुरुषो सर्वः स्त्री-जन-संसदि। स्तौति गर्वायते चापि स्वम् आत्मानम् न संशयः। भगवान् उवाच। नात्मानं स्तौमि देवेशि पश्य मे तनु-मध्यमे। य स्त्रदयामि वरारोहे यागार्थे वर-वर्णिनि।

"उन सब देवताओं को वहाँ उपस्थित देखकर दधीचि क्रोध में भर गये और बोले : 'सज्जनो ! जिसमें भगवान् रुद्र की पूजा नहीं होती वह न यज्ञ है और न धर्म। यह यज्ञ भी रुद्र के बिना यज्ञ कहने योग्य नहीं रहा। इसका आयोजन करनेवाले लोग वध और बन्धन की दुर्दशा में पड़नेवाले हैं। अहो ! काल का कैसा उलट फेर है। इस महायज्ञ में अत्यन्त घोर विनाश उपस्थित होनेवाला है, किन्तु मोहवश कोई देख नहीं रहा है।' ऐसा कह कर महा-योगी दधीचि ने जब ध्यान लगाकर देखा तब उन्हें भगवान शङ्कर और मंगल-मयी वरदायिनी देवी पार्वती का भी दर्शन हुआ। उनके पास ही महात्मा नारद जी भी दिखाई दिये, इससे उनको अत्यन्त संतोष हुआ। योगवेत्ता दधीचि को यह निश्चय हो गया कि ये सब देवता एकमत हो गये हैं। इसी-लिये उन्होंने महेश्वर को यहाँ निमन्त्रित नहीं किया। यह बात ध्यान में आते ही दधीचि यज्ञशाला से अलग हट गये और दूर जाकर कहने लगे : 'अपूजनीय पुरुष की पूजा करने से और पूजनीय महापुरुष की पूजा न करने से मनुष्य सदा ही नरहत्या के समान पाप का भागी होता है। मैंने कभी झूठ नहीं कहा है और आगे भी कभी नहीं कहूँगा। इन देवताओं तथा ऋषियों के बीच में मैं सच्ची बात कह रहा हूँ। भगवान शंकर सम्पूर्ण जगत की सृष्टि करनेवाले, सम्पूर्ण जीवों के रक्षक, स्वामी

तथा सबके प्रभु हैं। तुम सब लोग देख लेना कि वे इस यज्ञ में प्रधान भोक्ता के रूप में उपस्थित होंगे।' दक्ष ने कहा: 'हाथों में शूल और मस्तक पर जटाजूट धारण करनेवाले बहुत से रुद्र हमारे यहाँ रहते हैं। वे ग्यारह हैं और ग्यारह स्थानों में निवास करते हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे किसी महेश्वर को मैं नहीं जानता।" दधीचि बोले: 'मैं जानता हूँ, आप सब लोगों का ही यह मिल-जुल कर किया हुआ निश्चय है। इसीलिये उन महादेव को निमन्त्रित नहीं किया गया है। परन्तु मैं शङ्कर से बढ़कर दूसरे किसी देवता को नहीं देखता। यदि यह सत्य है तो प्रजापति दक्ष का यह विशाल यज्ञ निश्चय ही नष्ट हो जायगा।' दक्ष ने कहा: 'महर्षे! देखो, विधिपूर्वक मन्त्र से पवित्र की हुई यह सब हवि सुवर्ण के पात्र में रक्खी हुई है। यह यज्ञेश्वर श्रीविष्णु को समर्पित है। भगवान् विष्णु की कहीं समता नहीं है। मैं उन्हीं को हविष्य का यह भाग अर्पित करूँगा। ये विष्णु ही सर्वसमर्थ, व्यापक, और यज्ञभाग अर्पित करने के योग्य हैं।'[२८०] देवी (जिसे यहाँ बिना किसी पूर्व

---

[२८०] प्रो० विलसन (पृ० ६३) इसके समानान्तर एक वायुपुराण के स्थल के सम्बन्ध मे यह टिप्पणी करते हैं "कूर्मपुराण मे भी दधीचि और दक्ष के बीच हुये इस वार्तालाप का वर्णन है; किन्तु वहाँ इसमे कुछ कौतूहलवर्धक सामग्री मिलती है। उदाहरण के लिये दक्ष, यह कहते हैं कि यज्ञ के किसी भाग को कभी शिव के लिये निर्धारित नही किया गया, और न उन्हे अथवा उनकी पत्नी को कोई स्तुति ही समर्पित की गई (सर्वेष्व् एव हि यज्ञेषु न भाग. परिकल्पित । न मन्त्रा भार्यया सार्धं शकरस्येति नेष्यते)। प्रत्यक्षत दधीचि इस आपत्ति की उपेक्षा करते हुये रुद्र के लिये एक भाग देने का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार रुद्र देव-त्रयी मे से एक और आदित्य ही हैं जिनके लिये वेदो मे अनेक स्तुतियाँ मिलती हैं (स स्तूयते सहस्रांशु सामगाध्वर्यु-होतृभि । पश्यैन विश्वकर्माण रुद्रम् मूर्त्ति त्रयीमयम्)। दक्ष कहते हैं कि बारह आदित्यो को विशेष हवि दी जाती है, वे सभी सूर्य हैं, और उनके अतिरिक्त वह अन्य किसी आदित्य को नही जानते। वहाँ उपस्थित मुनिगण, जो इस विवाद को सुन लेते हैं, दक्ष का समर्थन करते हैं (ये एते द्वादशादित्या आदित्य-यज्ञ-भागिन । सर्वे सूर्या इति ज्ञेया न ह्य् अन्यो विद्यते रवि । एवम् उक्ते तु मुनय. समायाता दिदृक्षव । बाढम् इत्य् अब्रुवन् दक्षं तस्य साहाय्य–कारिण)। इन धारणाओ को पद्मपुराण और भागवतपुराण के समय मे अन्य पर स्थानान्तरित कर दिया गया है क्योकि इनमे शिव के प्रति दक्ष की उपेक्षा का कारण शिव की घृणित प्रकृति है—उनका नग्न घूमना, चिता-भस्म शरीर मे लगाना। आदि।"

संकेत के बोलता हुआ प्रस्तुत किया गया है) ने कहा : 'आह, मैं कौन सा व्रत, दान या तप करूँ जिसके प्रभाव से आज मेरे पतिदेव, अचिन्त्य भगवान शंकर को यज्ञ का आधा या तिहाई भाग अवश्य प्राप्त हो ?' क्षोभ में भरकर इस प्रकार बोलती हुई पत्नी की बात सुनकर शंकर हर्ष से खिल हो उठे और इस प्रकार बोले : 'देवि ! कृशोदराङ्गि ! तू मुझे नहीं जानती। मैं सम्पूर्ण यज्ञों का ईश्वर हूँ। मेरे विषय में किस प्रकार के वचन कहना चाहिये यह भी तू नहीं जानती। परन्तु मैं सब कुछ जानता हूँ। विशाललोचने ! जिनका चित्त एकाग्र नहीं है, वे ध्यानशून्य असाधु पुरुष मेरे स्वरूप को नहीं जानते। आज तुम्हारे इस मोह से इन्द्र आदि देवताओं सहित तीनों लोक सब ओर से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये है। यज्ञ में प्रस्तोता लोग मेरी स्तुति करते हैं। सामगान करनेवाले रथन्तर साम के रूप में मेरी ही महिमा का गायन करते हैं। वेदवेत्ता विप्र मेरा ही यजन करते हैं, और ऋत्विज लोग यज्ञ में मुझे ही भाग अर्पित करते हैं।'[२८१] देवी ने कहा : 'नाथ ! अत्यन्त गँवार पुरुष भी क्यों न हो, प्राय. सभी स्त्रियों के बीच अपनी प्रशंसा के गीत गाते और अपनी श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं—इसमें तनिक संशय नहीं है।' भगवान् बोले : 'देवेश्वरि ! तनुमध्यमे ! वरारोहे ! वरवर्णिनि ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं करता। मेरा प्रभाव देखो। जिसके कारण तुम्हें दुःख हुआ है उस यज्ञ को नष्ट करने के लिये मैं जिस वीर पुरुष की सृष्टि कर रहा हूँ उस पर दृष्टिपात करो'।" तदनुसार महादेव एक भयकर प्राणी की सृष्टि करते हैं जो अपने गणों तथा अन्य अनुचरों को साथ लेकर दक्ष के यज्ञ को ध्वस्त कर देता है। ब्रह्मा तथा अन्य देवता अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जानना चाहते हैं कि वह विध्वंसक कौन है। उसने कहा कि वह न तो रुद्र है और न देवी, बल्कि वीरभद्र है जिसे यज्ञ का विध्वस करने के लिये भेजा गया है। उसने सबसे महादेवजी की शरण में जाने के लिये कहा जिनका क्रोध अन्य किसी भी देवता के वरदान से भी श्रेष्ठ वर है (वरं क्रोधोऽपि देवस्य वर-दानं न चान्यतः)। इस पर दक्ष महादेव

---

[२८१] वायुपुराण के जिस स्थल का प्रो० विलसन ने अनुवाद किया है वह यहाँ दिये महाभारत से कुछ भिन्न है। इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी की पाण्डुलिपि के अनुसार वायुपुराण का पाठ यह है 'ममाध्वरे संसितार स्तुवन्ति रथन्तरे साम गायन्ति गेयम्। अब्राह्मणे ब्रह्म-सत्रे यजन्ते ममाध्वर्यव कल्पयन्ते च भागम्।" यह उल्लेखनीय है कि महादेव की पूजा को यहाँ ब्राह्मण के बिना भी सम्पन्न किया जानेवाला कहा गया है।

स्तोत्र का गायन करते हैं।[२८२] तब महादेव वहाँ प्रगट होते हैं और दक्ष को यह वर देते हैं कि उनके यज्ञ की तैयारी निष्फल नहीं होगी। इसके बाद दक्ष शिवसहस्रनाम का स्तवन करते हैं।

नीचे इसी कथा के भागवतपुराण के वृत्तान्त से उद्धरण दिया जा रहा है। यहाँ महाभारत से कुछ भिन्नता है। शिव की पत्नी सती, दक्ष की पुत्री थीं (४ १,४७.४८): प्रसूतिम मानवीं दक्ष उपयेमे ह्य अजात्मजः। तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामल-लोचना.। त्रयोदशाददाद् धर्माय तथैकाम् अग्नये विभुः। पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकाम भवच्छिदे। "ब्रह्मा के पुत्र दक्ष ने मनुनन्दिनी प्रसूति से विवाह किया। उससे उन्होंने सुन्दर नेत्रों वाली सोलह कन्यायें उत्पन्न की। भगवान दक्ष ने उनमें से तेरह धर्म को, एक अग्नि को, एक समस्त पितृगण को, और एक संसार का संहार करनेवाले तथा जन्म-मृत्यु से मुक्त करनेवाले शिव को दी।" फिर भी, सती से महादेव के कोई सन्तान नहीं हुई (भवस्य पत्नी तु सती भव देवम् अनुव्रता। आत्मनः सदृशम् पुत्र न लेभे गुण-शीलतः)।

दूसरे अध्याय में हमें यह बताया जाता है कि महादेव और उनके श्वसुर दक्ष के बीच किस प्रकार शत्रुता का आरम्भ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजापतियों के एक यज्ञ में देवता तथा ऋषिगण एकत्र हुये। उसी समय दक्ष ने भी उस यज्ञसभा में प्रवेश किया। उन्हें आया देख ब्रह्मा और महादेव के अतिरिक्त अन्य सभी सभासद उठ कर खड़े हो गये। ब्रह्मा को प्रणाम करके दक्ष अपने आसन पर बैठे, किन्तु महादेव को पहले से ही बैठा देखकर वह उनके व्यवहार को सहन नहीं कर सके (४.२, ८ और बाद): प्राक् निषण्णम् मृड दृष्ट्वा नामृष्यत् तद्-अनादृतः। उवाच वाम चक्षुर्भ्याम् अभिवीक्ष्य दहन्न् इव। श्रूयताम् ब्रह्मर्षयो मे सह-देवाः सहाग्न्यः। साधूनाम् ब्रुवतो वृत्तम् नाज्ञानाद् न च मत्सरात्। अय तु लोक-पालाना यशोघ्नो निरपत्रप। सद्भिर् आचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः। एष मे शिष्यताम् प्राप्तो यन् मे दुहितुर् अग्रहीत। पाणिम् विप्राग्नि-मुखतः सावित्र्या इव साधुवत मृग-शावाक्ष्याः पाणिम् मर्कट-लोचनः। प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वचाऽप्य् अकृत नोचितम्। लुप्तक्रियाया-

---

[२८२] इस स्थल पर महादेव को विश्वकर्मा कहा गया है (तेवो ताहयते तत्र विश्वकर्मा महेश्वद) तुकी० ऊपर नोट २८०। यहाँ कथा मे अन्त-व्यस्तता लक्षित होती है। यद्यपि दक्ष ने महादेव की शरण ली तथापि कथा फिर से आरम्भ होती प्रतीत है।

शुचये मानिने भिन्न सेतवे। अनिच्छन्न् अप्य् अदाम् बालां शूद्रायेवोषतीं गिरम्। प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर् भूत-गणैर् वृतः। अटत्य् उन्मत्त वद् नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन्। चिता-भस्म-कृत-स्नानः प्रेत-स्रङ् न्रस्थि-भूषणः। शिवापदेशो ह्य् अशिवो मत्तो मत्तजन-प्रियः। पतिः प्रमथ-भूतानां तमो-मात्रात्मकात्मनाम्। तस्मा उन्माद-नाथाय नष्ट-शौचाय दुर्हृदे। दत्ता मया वत साध्वी चोदिते परमेष्ठिना। निनिन्द्यैवं स गिरिशम् अप्रतीपम् अवस्थितम्। दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुम् प्रचक्रमे। अयं तु देव-यजने इन्द्रोपेन्द्रादिभिर् भवः। सह भागं न लभतां देवैर् देव-गणाधमः। "परन्तु मृड (शिव) को पहले से ही आसीन देख तथा उनसे अभ्युत्थानादि के रूप में कुछ भी आदर न पाकर दक्ष उनका यह व्यवहार सहन न कर सके। उन्होंने शिव की ओर टेढ़ी दृष्टि से इस प्रकार देखा मानो उन्हें क्रोधाग्नि से दग्ध कर देंगे। फिर दक्ष कहने लगे: 'देवता और अग्नियों-सहित समस्त ब्रह्मर्षिगण! मेरी बात सुनें। मैं नासमझी या द्वेषवश नहीं कहता, वल्कि शिष्टाचार की बात कहता हूँ। यह निर्लज्ज महादेव समस्त लोकपालों की पवित्र कीर्ति को धूल में मिला रहा है। देखिये, इस घमण्डी ने सत्पुरुषों के आचरण को लाञ्छित एवं धूल-धूसरित कर दिया है। वन्दर के समान नेत्रवाले इसने सत्पुरुषों के समान मेरी सावित्री-सदृश मृगनयनी पवित्र कन्या का अग्नि और ब्राह्मणों के सामने पाणिग्रहण किया था, इसलिये यह एक प्रकार से मेरा पुत्र हो गया है। उचित तो यह था कि यह उठकर मेरा स्वागत करता, मुझे प्रणाम करता; परन्तु इसने वाणी से भी मेरा सत्कार नहीं किया। जिस प्रकार शूद्र को कोई वेद पढ़ा दे[२८३], उसी प्रकार मैंने इच्छा न होते हुये भी भावीवश इसको अपनी सुकुमारी कन्या दे दी। इसने सत्कर्म का लोप कर दिया, यह सदा अपवित्र रहता है; बड़ा घमण्डी है, और धर्म की मर्यादा तोड़ रहा है। यह प्रेतों के निवास-स्थान, भयंकर श्मशानों में भूत-प्रेतों को साथ लिये घूमता रहता है। पूरे पागल की भाँति सर के वाल विखेरे, नंग-धड़ंग भटकता है; कभी हँसता है और कभी रोता है। यह सम्पूर्ण शरीर में चिता की अपवित्र भस्म लपेटे रहता है, गले में भूतों के पहनने योग्य नरमुण्डों की माला और अस्थियों के अलङ्कार धारण करता है। यह वस नाममात्र का शिव है, वास्तव में है यह पूरा अशिव। जैसे यह स्वयं मतवाला

---

[२८३] 'उशती गिरम्', जिसकी भाष्यकार ने 'वेद-लक्षणा गिरम्' व्याख्या की है। परन्तु यह स्पष्ट नही है कि 'उशती' का यह आशय कैसे हो सकता है। विलसन के कोश मे 'उशत्' का आशय 'अशुभ' है।

है वैसे ही इसे मतवाले ही प्रिय है। भूत-प्रेत आदि तमोगुणी स्वभाववाले जीवों का यह नेता है। अरे! मैंने केवल ब्रह्मा के बहकावे में आकर ऐसे भूतों के नायक, आचारहीन, और दुष्ट स्वभाववाले से अपनी भोली-भाली कन्या का विवाह कर दिया।[२८४] दक्ष ने इस प्रकार महादेव को बहुत कुछ बुरा भला कहा किन्तु महादेव ने इसका कोई प्रतीकार नहीं किया। वे पूर्ववत् निश्चल भाव से बैठे रहे। इससे दक्ष का क्रोध और भी बढ़ गया और वे जल हाथ में लेकर उन्हें शाप देने के लिये उद्यत हुये। दक्ष ने कहा: 'यह महादेव देवताओं में अत्यन्त ही अधम है। अब से इसे इन्द्र उपेन्द्र आदि देवताओं के साथ यज्ञ का भाग न मिले'।" इस प्रकार शाप देकर दक्ष वहाँ से चले गये। तब नन्दीश्वर ने, जो महादेव के प्रधान गण थे, दक्ष तथा उनके पक्षपाती ब्राह्मणों को इस प्रकार शाप दिया:

भागवत पुराण ४.२,२१ और बाद: य एतम् मर्त्यम् उद्दिश्य भगवत्य् अप्रतिद्रुहि। द्रुह्यत्य् अज्ञ' पृथग्-दृष्टिस् तत्त्वतो विमुखो भवेत्। गृहेषु कूट-धर्मेषु सक्तो ग्राम्य-सुखेच्छया। कर्म-तन्त्र वितनुताद्[२८५] वेद-वाद-विपन्न-धीः। बुध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मा-गतिः पशुः। स्त्री-कामः सोऽस्तु नितरां दक्षो बस्त-मुखोऽचिरत्। विद्या बुधिर् अविद्यायां कर्म-मय्याम् असौ जडः। संसरन्त्व् इह ये चामुम् अनु शर्वावमानिनम्। गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधु गन्धेन भूरिणा। मथ्ना चोन्मथितात्मानः

[२८४] भाष्यकार इस भर्त्सना के वास्तविक परोक्ष अर्थ का इस प्रकार उल्लेख करता है 'वास्तवस् त्व अयम् अर्थ.। लुप्ता क्रिया यस्मिन् पर-ब्रह्म-रूपत्वात्। अतएव नास्ति शुचिर् यस्मात्। अमानिने अभिन्न-सेतवे इति च छेद। तस्य परमेश्वरस्य मदीया मानुषी कन्या कथं योग्या स्माद् इति लज्जादिना दातुम् अनिच्छन्न अपि तत्-सम्बन्ध-लोभेन दत्तवान्। 'शूद्रायेति' अनर्हत्व-मात्रे दृष्टान्तो न हीनत्वे पूर्वापर-स्व-वचन-विरोधापत्ते। एतद् उक्तम् भवति। यथा कश्चित् शूद्राय वेदम् अर्थ-लोभेन ददाति। 'प्रेतावासेष्व्' इत्यादि सर्व विडम्बना-मात्रम् इति। स्वयम् एवाह 'उन्मत्त-वद' इति। अन्यथा 'उन्मत्त' इत्य् एवाव-क्ष्यत्। 'अशिव' नास्ति शिवो यस्मात्। अमत्त। अमत्त जन-प्रिय। इति छेद। 'पति प्रमथ-भूतानाम्' इति भक्त वात्सल्यम् आह। तामसान अपि दोषम् अपनीय पाति इति नष्टानाम् अपि शौच शुद्धिर् यस्मात्। दुष्टेष्व् अप्य एते मया अनुकम्प्या इति हृन् मनो यस्य स दुहृ त तस्मै। 'बत' इति हर्षे ब्रह्मणो वाक्या लज्जा-भयादिकम् परित्यज्य दत्ता इति अर्थ।'

[२८५] यह बर्नफ का पाठ है। बम्बई सं० मे 'वितनुते' पाठ है।

सम्मुह्यन्तु हर-द्विषः। सर्व-भक्षा द्विजा वृत्यै धृत-विद्या तपो-व्रताः। वित्त-देहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्व् इह। "जो इस मरण-धर्मा शरीर में ही अभिमान करके किसी से भी द्रोह न करनेवाले भगवान् शंकर से द्वेष करता है वह भेद बुद्धि वाला मूर्ख दक्ष तत्त्वज्ञान से विमुख ही रहे। यह 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' आदि अर्थवादरूप वेद वाक्यों[२८९] से मोहित और विवेक भ्रष्ट होकर विषय सुखकी इच्छा से कपट धर्ममय गृहस्थाश्रम में आसक्त रह कर कर्मकाण्ड में ही लगा रहता है। इसकी बुद्धि देहादि में आत्म-भाव का चिन्तन करनेवाली है, उसके द्वारा इसने आत्म स्वरूप को विस्मृत कर दिया है। यह साक्षात् पशु के समान है, अतः अत्यन्त स्त्री-लम्पट हो शीघ्र ही इसका मुख बकरे का हो जाय। यह मूर्ख कर्ममयी अविद्या को ही विद्या समझता है, अतः यह, और जो लोग शङ्कर का अपमान करनेवाले इस दुष्ट के अनुगामी है वह, सभी जन्म-मरण-रूप संसार-चक्र में पड़े रहें। वेदवाणी-रूप लता फलश्रुति रूप पुष्पों से सुशोभित है। उसके कर्मफलरूप मनमोहक गन्ध से इनके चित्त क्षुब्ध हो रहे हैं। इसी से ये शङ्कर-द्रोही कर्मों के जाल में फँसे रहें। ये ब्राह्मण लोग भक्ष्याभक्ष्य के विचार का त्याग करके केवल उदर-पोषण के लिये ही तप और व्रतादि का आश्रय ले, तथा धन, शरीर और इन्द्रियों के सुखको ही सुख मान कर उन्हीं के दास बने संसार में याचकों की भाँति भटकते रहें।"

इस शाप से उस यज्ञ में उपस्थित महर्षि भृगु अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे :

वही ४.२,२७ और बाद ' तस्यैवं वदतः शाप श्रुत्वा द्विजकुलाय वै। भृगु· प्रत्यसृजच् छापम् ब्रह्म-दण्डं दुरत्ययम्। भव-व्रत-धरा ये च ये च तान् समनुव्रताः। पाषण्डिनस् ते भवन्तु सच्छास्त्र-परिपन्थिनः। नष्ट-शौचा मूढ-धियो जटा-भस्मास्थि धारिणः। विशन्तु शिव-दीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्। ब्रह्म च ब्राह्मणांश् चैव यद् यूयम् परिनिन्दथ। सेतुम् विधारणम् पुंसाम् अतः पाषण्डम् आश्रिताः। एष एव हि लोकानां शिवः पन्था सनातनः। यम् पूर्वे चानुसतस्थुर यत्-प्रमाण जनार्दनः। तद ब्रह्म परमं शुद्ध सताम् वर्त्म सनातनम् '। विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूत-राट्।

"उनके (नन्दीश्वर) मुख से इस प्रकार ब्राह्मणकुल के लिये शाप सुनकर उसके बदले में भृगुजी ने यह दुस्तर शापरूप ब्रह्मदण्ड दिया : 'जो

---

[२८९] वेदो की यह अवमानना शैवो की इस चेतना से उत्पन्न हो सकती है कि उनकी उपासना-पद्धति उनके पवित्र ग्रन्थ के बहुत अनुकूल नही थी।

लोग शिवभक्त हैं, तथा जो उन भक्तों के अनुयायी हैं वे सत्-शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों। जो लोग शौचाचारहीन, मन्दबुद्धि तथा जटा, राख और अस्थियों को धारण करने वाले हैं वे ही उस शैव-सम्प्रदाय में दीक्षित हों, जिसमें सुरा और आसव ही देवताओं के समान आदरणीय है। तुम लोग, जो धर्म-मर्यादा के संस्थापक और वेद तथा ब्राह्मण की निन्दा करते हो, उससे स्पष्ट होता है कि तुमने पाखण्ड का आश्रय ले रक्खा है। यह वेद मार्ग ही लोगों के लिये कल्याणकारी और सनातन मार्ग है। पूर्व-पुरुष इसी पर चलते आये हैं और इसके मूल साक्षात् जनार्दन हैं। तुम लोग सत्पुरुष के परम पवित्र और सनातन मार्ग-स्वरूप वेद की निन्दा करते हो, इसलिये उस पाखण्ड मार्ग में जाओ जिसमें भूतों के सरदार तुम्हारे इष्टदेव निवास करते हैं।"

इस शाप को सुनकर अपने गणों सहित शिव वहाँ से उठकर चले आये, जब कि दक्ष तथा अन्य प्रजापतियों ने एक सहस्र वर्ष में समाप्त होनेवाला यज्ञ किया। इस यज्ञ में विष्णु ही उपास्यदेव थे।

श्वसुर और जामाता के बीच उत्पन्न यह शत्रुता बनी रही। (३ रा अध्याय) ब्रह्मा द्वारा प्रजापतियों के प्रमुख बना दिये जाने के कारण दक्ष अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठे। उन्होंने बृहस्पतिसव नामक एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया। अन्य देवों को इसी यज्ञ में जाता हुआ देखकर सती अपने पति शिव को यज्ञ में ले चलने के लिये कहती हैं। शिव सती को उनके पिता द्वारा किये गये अपने अपमान का स्मरण दिला कर उन्हें वहाँ न जाने का परामर्श देते हैं। किन्तु अपने सम्बन्धियों को देखने के लिये उत्सुक होने के कारण (अध्याय ४) सती अपने पति के आदेश की उपेक्षा करके यज्ञ में जाती हैं। वहाँ पहुँचने पर उनके पिता दक्ष ने उनकी अवहेलना की। सती ने तब अपने पति का अपमान करने के कारण दक्ष की भर्त्सना की और कहा: 'आपने मेरे पति की निन्दा की है, अत' आपसे उत्पन्न इस शरीर को अब मैं नहीं रख सकती ''मैं आपके अंग से उत्पन्न इस शवतुल्य शरीर को त्याग दूँगी।' सती ने तब स्वेच्छया अपने शरीर को त्याग दिया। इसे देखकर शिव के गण, जो सती के साथ आये थे, क्रुद्ध हो कर दक्ष को मारने के लिये दौड पड़े। उनके आक्रमण को देख कर भृगु ने यज्ञ में विघ्न डालनेवालों का नाश करने के लिये मन्त्रोच्चारण के साथ दक्षिणाग्नि में आहुति दी (यज्ञ-घ्न-घ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह)। इसके फलस्वरूप यज्ञकुण्ड से ऋभु नामक सहस्रों तेजस्वी देवता प्रगट हुये। इन ऋभुओं के आक्रमण से त्रस्त होकर शिव के सभी गण भाग गये। सती की मृत्यु का समाचार सुन कर शिव अत्यन्त क्रुद्ध हुये (अध्याय ५)। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ कर उसे भूमि

पर पटक दिया। उससे तत्काल एक बृहदाकार पुरुष उत्पन्न हुआ जिसे शिव ने दक्ष का यज्ञ नष्ट करने का आदेश दिया। उस पुरुष ने शिव के अन्य गणों के साथ जाकर दक्ष के यज्ञ को नष्ट कर दिया : वही ४.५,१५ और बाद : रुरुजुर् यज्ञ-पात्राणि तथैकेऽग्नी अनाशयन्। कुण्डेष्व् अमूत्र-यन् केचिद् बिभिदुर् वेदि-मेखलाः। अबाधन्त मुनीन् अन्ये एके पत्नीर् अतर्जयन्। अपरे जिगृहुर् देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान्। ''जुह्वतः स्रुव-हस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः। भृगोर् लुलुञ्चे सदसि योऽहसन् श्मश्रु दर्शयन्। भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि। उज्जहार सदःस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तम् असूसुचत्। पूष्णश् चापातयद् दन्तान् कालिङ्गस्य यथा बलः। शप्यमाने गरिमणि[२८७] योऽहसद् दर्शयन् दतः। "कुछ ने यज्ञ-पात्र तोड़ दिये, किन्हीं ने अग्नियों को बुझा दिया, किन्हीं ने यज्ञ-कुण्ड में पेशाब कर दिया और किन्हीं ने वेदी की सीमा के सूत्रों को तोड़ डाला। कोई-कोई मुनियों को त्रस्त करने लगे, कोई स्त्रियों को डराने धमकाने लगे, और किन्हीं ने अपने पास से हो कर पलायन करते हुये देवताओं को पकड़ लिया। भृगु हाथ में स्रुवा लिये हवन कर रहे थे। वीरभद्र ने उनकी दाढ़ी मूँछ नोच ली, क्योंकि उन्होंने ही प्रजापतियों की सभा में मूँछ ऐंठते हुये महादेव का उपहास किया था। उन्होंने क्रोध में भर कर भग-देवता को पृथिवी पर पटक दिया और उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि जब दक्ष देवसभा में शिव की निन्दा कर रहे थे तब उन्होंने ही दक्ष को संकेत से उकसाया था। इसके पश्चात् जैसे अनिरुद्ध के विवाह के समय बलराम ने कलिङ्गराज के दाँत उखाड़े थे उसी प्रकार उन्होने पूषा के दाँत तोड़ दिये, क्योंकि जब दक्ष ने महादेव को अपशब्द कहे तब ये दाँत दिखा कर हँस रहे थे।" तब शिव दक्ष का सर काट देते हैं, यद्यपि इसमें उन्हें कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ता है। देवों ने सम्पूर्ण घटना से स्वयम्भू ब्रह्मा को अवगत कराया, जो विष्णु-सहित उस यज्ञ में अनुपस्थित थे (अध्याय ६)। ब्रह्मा ने देवों को शिव की स्तुति करने का परामर्श दिया क्योंकि देवों ने उन्हें यज्ञ भाग न देकर अनुचित कार्य किया था (अथापि यूय कृत किल्विपा भव ये बर्हिषो भाग-भाजम् परादुः)। ब्रह्मा को आगे करके तब देवगण कैलास पर्वत आये। यहाँ उन लोगों ने देखा कि सन्ध्याकालीन मेघ की कान्तिवाले शरीर पर शिव तपस्वियों के अभीष्ट चिह्न—भस्म, दण्ड, जटा, और मृगचर्म, एवं मस्तक पर चन्द्रकला धारण किये हुये थे (लिङ्गञ्च

---

[२८७] 'गरिमणि गुरुतरे रुद्रे', भाष्य।

तापसा भीष्टम् भस्मदण्ड-जटाजिनम्। अङ्गेन सन्ध्या-ऽभ्र-रुचा चन्द्र लेखाञ्च बिभ्रतम्)। ब्रह्मा ने शिव को सम्बोधित करते हुये कहा: 'देव! मैं जानता हूँ कि आप सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं, क्योंकि विश्व की योनि-शक्ति और उसके वीज शिव से परे जो पर ब्रह्म है वह आप ही हैं। भगवन्! आप मकड़ी के समान ही अपने स्वरूपभूत शिव-शक्ति के रूप में क्रीडा करते हुये लीला से ही ससार का सृजन, पालन और संसार करते हैं (जाने त्वम् ईश विश्वस्य जगतो योनि-वीजयोः शक्तेः शिवस्य च परम् यत् तद् ब्रह्म निरन्तरम्। त्वम् एव भगवन्न् एतच् छिव-शक्त्योः स्वरू-पयोः। विश्वं सृजसि पास्य् अत्सि क्रीडन्न उर्ण-पटो यथा)। ब्रह्मा ने यह भी कहा कि शिव ने ही यज्ञ को प्रगट किया था। शिव ने ही उन मर्यादाओं को भी निर्धारित किया था जिनका नियमनिष्ठ ब्राह्मण पालन करते हैं। ब्रह्मा ने आगे कहा: 'आप सब के मूल हैं। आप ही सम्पूर्ण यज्ञों को पूर्ण करने वाले हैं। यज्ञ भाग पाने का भी आप को पूर्ण अधिकार है। फिर भी, इस दक्षयज्ञ के बुद्धिहीन याजकों ने आपको यज्ञ भाग नहीं दिया। इसी कारण आपने इस यज्ञ को नष्ट कर दिया। अब आप इस अपूर्ण यज्ञ का पुनरुद्धार करने की कृपा कीजिये।' महादेव अंशतः प्रसन्न होकर दक्ष को बकरे की दाढ़ी देते हैं, भग को मित्र के नेत्र से देखने के लिये, पूषा को याजक के दाँतों से भक्षण करने के लिये, और भृगु को बकरे जैसी दाढ़ी मूछ हो जाने के लिये, कहते हैं, इत्यादि। जब दक्ष के शरीर पर बकरे का सर लगा दिया गया तब उन्होंने शिव की स्तुति की। तदनन्तर ब्रह्मा के कहने पर दक्ष ने उपाध्याय, ऋत्विज आदि की सहायता से यज्ञ कार्य आरम्भ कराया। तब ब्राह्मणों ने यज्ञ सम्पन्न करने के उद्देश्य से रुद्रगण-सम्बन्धी भूत-पिशाचों के संसर्ग-जनित दोष की शान्ति के लिये तीन पात्रों में विष्णु के लिये तैयार किये हुये पुरोडाश नामक चरु का हवन किया (वैष्णव यज्ञ-सन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः। पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्ग-शुद्धये)। तब विष्णु का ध्यान करते ही वह वहाँ प्रगट हुये। उन्हें देखकर इन्द्र, ब्रह्मा, महादेव तथा अन्य देवों ने प्रणाम किया। सर्वप्रथम दक्ष ने विष्णु का पूजन किया, उनके बाद ऋत्विजों ने तथा अन्तत स्वय रुद्र, इत्यादि ने भी। इस प्रकार पूजित होने के बाद विष्णु ने इस प्रकार कहा। उनके इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि वह दक्ष और महादेव के विवाद को निरर्थक समझते हुये अपने को ही वह परमेश्वर मानते हैं जिनसे अन्य सभी लोग प्रगट हुये हैं:

भा०पु० ४.७,५० और बाद: श्री-भगवान् उवाच। अहम् ब्रह्मा च शर्वश् च जगतः कारणम् परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयदृग अविशे-

षण: । आत्म-मायां समाविश्य सोऽहम् गुणमयीं द्विज । सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रेस् संज्ञा क्रियोचिताम् । तस्मिन् ब्रह्मण्य् अद्वितीये केवले परमात्मनि । ब्रह्म-रुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति । यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरः-पाण्य्-आदिषु क्वचित् । पारक्यबुद्धिं कुरुते एवम् भूतेषु मत-परः । "श्री भगवान् ने कहा : मैं ही जगत का परम कारण हूँ, मैं ही ब्रह्मा, और शर्व हूँ । मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ, तथा स्वयंप्रकाश और उपाधिशून्य हूँ । विप्रवर ! अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत् का सृजन, पालन, और संहार करता रहता हूँ । मैंने ही इन कर्मों के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण किये हैं । ऐसा जो भेदरहित विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप मैं हूँ उसी में अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र और अन्य समस्त जीवों को विभिन्न रूपों से देखता है । जिस प्रकार मनुष्य अपने सर और हाथ आदि अपने अंगों में 'ये मुझसे भिन्न हैं', ऐसी बुद्धि कभी नहीं करता उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्र को मुझसे भिन्न नहीं देखता ।"

विष्णु की स्तुति करने के पश्चात् दक्ष ने अन्य देवों का भी पूजन किया । उन्होंने रुद्र को भी यथोचित यज्ञभाग दिया । दक्ष पुत्री सती ने, जिन्होंने अपने शरीर का परित्याग कर दिया था, पुनः हिमालय पर्वत और उनकी पत्नी मेना के यहाँ जन्म लिया (एव दाक्षायणी हित्वा सती पूर्व-कलेवरम् । जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायाम् इति शुश्रुम) ।

लिङ्गपुराण के शैव लेखक ने वैष्णव लेखकों से, जिन्होंने भागवतपुराण के लेखक की ही भाँति शिव की अपेक्षा विष्णु को ऊपर उठाने का प्रयास किया है, अगले आख्यान के वर्णन द्वारा प्रतिशोध लिया है । इस आख्यान के अनुसार दूसरे से कौन श्रेष्ठ है इस विषय पर ब्रह्मा और विष्णु में एक विवाद हुआ । उस समय उन दोनों के बीच एक लिङ्ग प्रकट हुआ जिसने दोनों को महादेव से हीन सिद्ध करने का प्रयास किया ।

लिङ्गपुराण १.१७,५ और बाद : पितामह उवाच । प्रधानं लिङ्गम् आख्यातं लिङ्गी च परमेश्वरः । रक्षार्थम् अम्बुधौ मह्यं विष्णोस् त्व् आसीत् सुरोत्तमाः । वैमानिके गते सर्गे जन-लोकं सहर्षिभिः । स्थिति-काले तदा पूर्णे ततः प्रत्याहृते तथा । चतुर्-युग-सहस्रान्ते सत्यलोक गते सुराः । विनाऽधिपत्य समता गतेऽन्ते ब्रह्मणो मम । शुष्के च स्थावरे सर्वे त्व् अनावृष्ट्या च सर्वशः । पशवो मानुषा वृक्षाः पिशाचाः पिशिताशनाः । गन्धर्वाद्याः क्रमेणैव निर्दग्धा भानु-भानुभिः । एकार्णवे महाघोरे तमोभूते समन्ततः । पुष्टे (?) ह्य् अम्भसि योगात्मा निर्मले

किरुपल्लवः । सहस्र-शीर्षा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्र-पात । सहस्रबाहुः सर्वज्ञः सर्व-देव भवोद्भवः । हिरण्यगर्भो रजसा तमसा शङ्करः स्वयम् । सत्त्वेन सर्वगो विष्णुः सर्वात्मत्वे महेश्वरः । कालात्मा काल-नाभस् तु शुक्लः कृष्णस् तु निर्गुणः । नारायणो महाबाहुः सर्वात्मा सदसन्मयः । तथा भूतम् अहं दृष्ट्वा शयानम् पकजेक्षणम् । मायया मोहितस् तस्य तम् अवोचम अमर्षितः । कस् त्व वदेति हेस्तेन समुत्थाप्य सनातनम् । तदा हस्त-प्रहारेण तीव्रेण स दृधेन तु । प्रबुद्धोऽहीय-शयनात् समासीनः क्षण वशी । ददर्श निद्रा-विक्लिन्नं निरजामल-लोचनः । माम् अग्रे सस्थितम भासाभ्याधितो भगवान् हरिः । आह चोत्थाय भगवात् हसन् माम् मधुर सकृत् । स्वागतं स्वागत वत्स पितामह महाद्युते । तस्य तद् वचन श्रुत्वा स्मित-पूर्वम् सुरर्षभाः । रजसा विद्ध-वैरश् च तम् अवोच जनार्दनम् । भाषसे वत्स वत्सेति सर्ग-सहार कारणम् । माम् इहान्तः-स्मित कृत्वा गुरुः शिष्यम् इवानघ । कर्त्तारं जगतां साक्षात् प्रकृतेश्च प्रवर्त्तकम् । सनातनम् अज विष्णुं विरिञ्चि विश्व-सम्भवम् । विश्वात्मान विधातार धातारम् पङ्कजेक्षणम् । किमर्थम् भाषसे मोहाद् वक्तम् अर्हसि सत्वरम् । सोऽपि माम् आह जगता कर्त्ताऽहम इति लोकय । भर्त्ता कर्त्ता भवान् अङ्गद अवतीर्णो ममाव्ययात् । विस्मृतोऽसि जगन्नाथ नारायणम् अनामयम् । पुरुषम् परमात्मानम् पुरा-हूतम पुरुष्टुतम । विष्णुम् अच्युतम् ईशान विश्वस्य प्रभवोद्भवम् । तवापराधो नास्त्य् अत्र मम माया-कृतं त्व् इदम् । शृणु सत्य चतुर्वक्त्र सर्व-देवेश्वरो ह्य् अहम् । कर्त्ता नेता च हर्त्ता च न मया-ऽस्ति समो विभुः । अहम् एव परम् ब्रह्म परं तत्त्वम् पितामह । अहम् एव पर ज्योतिः परमात्मा त्व् अहं विभुः । यद् यद् दृष्ट श्रुत सर्व जगत्य् अस्मिश् चराचरम् । तत् तद् विद्धि चतुर्वक्त्र सर्वम् मन्मयम् इत्य् अथ । मया सृष्टम् पुरा व्यक्त चतुर्विंशतिकं स्वयम् । नित्यान्ता ह्य् अणवो बद्धाः सृष्टाः क्रोधोद्भवादयः । प्रसादाद् हि भवान् अण्डान्य् अनेकानीह लीलया । सृष्टा बुद्धिर् मया तस्याम् अहकारस् त्रिधा ततः । तन्मात्र-पञ्चक तस्माद् मनो देहेन्द्रियाणि च । आकाशादीनि भूतानि भौतिकानि च लीलया । इत्य् उक्तवति तस्मिश् च मयि चापि वचस् तथा । आवयोश् चाभवद् युद्ध सुघोरं रोमहर्षणम् । प्रलयार्णव-मध्ये तु रजसा बद्ध-वैरयोः । एतस्मिन्न् अन्तरे लिङ्गम् अभवच्चावयोः पुरः । विवाद-शमनार्थं हि प्रबोधार्थं तथावयोः । ज्वाल-माला-सहस्राढ्य कालानल-शतोपमम् । क्षय-वृद्धि-विनिर्मुक्तम् आदि-मध्यान्त-वर्जितम् । अनौपम्यम्

अनिर्देश्यम् अव्यक्तं विश्व-सम्भवम्। तस्य ज्वाला-सहस्रेण मोहितो भगवान् हरि। मोहितम् प्राह माम अत्र परीक्षावोऽग्नि-सम्भवम्। अधो गमिष्याम्य् अनल-स्तम्भस्यानुपमस्य च। भवान् ऊर्द्धम् प्रयत्नेन गन्तुम अर्हसि सत्वरम्। एव व्याहृत्य विश्वात्मा स्वरूपम् अकरोत तदा। वाराहम् अहम् अप्य् आशु हसत्वम् प्राप्तवान् सुराः। तदा-प्रभृतिमाम आहुर् हंस हसो विराड् इति। हस हंसेति यो ब्रूयाद् मां हसः स भविष्यति। सुश्वेतो ह्य् अनलाक्षश् च विश्वतः पक्ष-सयुतः। मनोऽनिल-जवो भूत्वा गतोऽहं चोर्ध्वतः सुराः। नारायणोऽपि विश्वात्मा नीलाञ्जन चयोपमम्। दश-योजन-विस्तीर्ण शत-योजनम् आयतम्। मेरु-पर्वत-वर्ष्माणं गौर-तीक्ष्णाग्र-दष्ट्रणम्। कालादित्य-समाभासं दीर्घ-घोणम् महास्वनम्। ह्रस्व-पाद विचित्राङ्गं जैत्र दृढम् अनौपमम्। वाराहम् असितम् रूपम् आस्थाय गतवान अधः। एव वर्ष-सहस्र तु त्वरम् विष्णुर् अधो गतः। नापश्यद् अल्पम् अप्य् अस्य मूलं लिङ्गस्य सूकरः। तावत् कालं गतो ह्य् उर्द्धवम् अहम् अप्य अरिसूदनाः। सत्वरम् सर्व-यत्नेन तस्यान्त ज्ञातुम् इच्छया। श्रान्तो ह्य् अदृष्ट्वा तस्यान्तम् अहंकाराद्[२८९] अधो गतः। तथैव भगवान् विष्णुः श्रान्तः संत्रस्त-लोचनः। सर्व देव-भवस् तूर्णम् उत्थितः स महावपु। समागतो मया सार्द्धम् प्रणिपत्य महामनाः[२९०]। मायया मोहितः शम्भोस् तथा संविग्न-मानसः। पृष्ठतः पार्श्वतश् चैव चाग्रतः परमेश्वरम्। प्रणिपत्य मया सार्धं सस्मार किम इद त्व् इति। तदा समभवत् तत्र नादो वै शब्द-लक्षणः। ओम् ओम् इति सुर-श्रेष्ठाः सुव्यक्त प्लुत लक्षणः। किम् इदम् त्व् इति सञ्चिन्त्य मया तिष्ठम् महास्वनम्। लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदाऽपश्यत् सनातनम्। आद्यं वर्णम् अ-कारा तु उ कार चोत्तरे ततः। म-कारम् मध्यतश् चैव नादान्तं तस्य चोम् इति।

"पितामह ने (देवों और ऋषियों के पूछने पर) कहा: "प्रधान को लिङ्ग कहते हैं और परमेश्वर को लिङ्गी[२९१] कहते हैं। हे देवताओं! मेरे और विष्णु की रचा के लिये इसका सागर में प्रादुर्भाव हुआ था। वैमानिक[२९२]

---

[२८९] भारत से प्राप्त एक प्रतिलिपि मे 'अह कालाद्' पाठ है, जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[२९०] मेरे मतपरीक्षा मे 'भयाद् मुहु' पाठ है।

[२९१] 'लिङ्गाविष्ठानम्', भाष्यकार।

[२९२] 'वैमानिके सर्गे देव-सर्गे', भाष्यकार।

सर्ग ऋषियों सहित जनलोक[293] चला गया, और जब—लोकों का सृष्टि-काल समाप्त हो गया—प्रलयकाल में सभी वस्तुयें समाप्त हो सहस्र चतुर्युगों के अन्त में सत्यलोक में चली गईं, और मैं, ब्रह्मा, जो अन्य सभी के समान तथा बिना किसी आधिपत्य के हो गया,[294] तब अनावृष्टि के कारण सभी स्थावर-जंगम पशु, मनुष्य, वृक्ष, पिशाच, राक्षस, गन्धर्व, आदि सूर्य की किरणों से दग्ध हो गये। महाघोर एकार्णव उस समय अन्धकाराच्छन्न था। तब महाबाहु नारायण, जो सब के आत्मा और सत तथा असत् से मिलकर बने हैं, योग का आश्रय लेकर, एकार्णव जल पर सोते[295] थे। वह नारायण योगात्मा, निर्मल, निरप्लव, सहस्र शीर्षवाले, विश्वात्मा, सहस्र नेत्रोंवाले, सहस्र पैरोंवाले, सहस्र भुजाओंवाले, सर्वज्ञ, सर्वदेवों के उद्गमस्थान, राजोगुण से हिरण्यगर्भ, तमोगुण से शंकर, सत्वगुण से विष्णु, सर्वात्मत्व से महेश्वर हैं। वह कालात्मक, काल-नामधारी, शुक्ल, कृष्ण, तथा निर्गुण हैं। उन कमलनयन भगवान् को इस अवस्था में सोते देखकर मैं मायामोहित हो गया। उस समय उन सनातन भगवान को मैंने अमर्ष में भर कर हाथ से उठाते हुये पूछा कि 'तुम कौन हो? बोलो।' मेरे तीव्र और दृढ़ हस्त-प्रहार से वह अपने सर्प शय्या पर उठ कर एक क्षण के लिये बैठ गये। उन आत्मसंयमी भगवान के कमल के समान निर्मल नेत्र उस समय निद्रा के भार से दबे प्रतीत हो रहे थे। वह भगवान हरि, जो वैभव से युक्त थे, अपने समक्ष मुझे खड़ा देखकर उठते और मन्द-मन्द मुस्कराते हुये बोले: 'हे वत्स, महाद्युति पितामह! तुम्हारा स्वागत है।' मधुर मुस्कान के साथ उच्चरित उनके इन शब्दों को सुन कर, हे देवताओ! मेरा वैर-भाव रजोगुण के द्वारा उद्दीप्त हो उठा और मैंने उन जनार्दन से कहा: 'हे निष्पाप देवता! क्या एक शिष्य को सम्बोधित करनेवाले गुरु के समान, और भीतर ही भीतर मुस्कराते हुये तुमने मुझे 'वत्स वत्स' कह कर सम्बोधित किया है जो (ब्रह्मा) सृष्टि और प्रलय का

---

[293] विभिन्न विवरण इस बात में सहमत हैं कि जब तीन अवर लोक प्रलयाग्नि में दग्ध हो जाते हैं तब महर्लोक के लोग उसे छोड़ कर जन लोक में चले जाते हैं। वायु पुराण के अनुसार जन लोक में ब्रह्म-रात्रि के समय ऋषिगण तथा अन्य अर्ध-देव निवास करते हैं।" विलसन विष्णु पुराण, पृ० २१३।

[294] 'मेरा, अर्थात् ब्रह्मा का सब के समान अन्त हो जाता है।

[295] यहाँ बम्बई संस्करण में 'पुष्टे' पाठ है, परन्तु आशय की दृष्टि से 'शेते' जैसे किसी शब्द की आवश्यकता है।

कारण, जगत का साक्षात् कर्त्ता, प्रकृति का प्रवर्तक, सनातन, अज, विष्णु[२९६], विरिञ्च, विश्वात्मा, विधाता, धाता, और पङ्कजाक्ष हूँ ? तुम इस प्रकार मूर्खतापूर्वक मुझे क्यों संबोधित कर रहे हो ? शीघ्र बताओ।' उसने मुझ से कहा : 'यह जानो कि मै ही जगत् का सृजन् , रक्षण और संहार करता हूँ। तुम भी मेरे इस अक्षर शरीर से उत्पन्न हुये हो। तुमने जगन्नाथ, नारायण, पुरुष, परमात्मा, बहुतों के द्वारा आहूत, बहुतों के द्वारा स्तुत, विष्णु, अच्युत, ईशान, और विश्व के प्रभव के स्थान को विस्मृत कर दिया है। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है : मेरी माया से तुम्हारी बुद्धि मोहित हो गई है। हे चतुर्मुख देवता ! मुझसे सत्य को सुनो। मैं ही सब देवों का ईश्वर हूँ, सब का कर्त्ता, नेता, और संहारक भी मैं हूँ। मेरे समान अन्य कोई प्रभु नहीं है। हे पितामह ! मैं ही परम ब्रह्म, परम तत्त्व, परम ज्योति, और परमात्मा हूँ। इस लोक में जो कुछ भी स्थावर जङ्गम देखा या सुना गया है, वह सब, हे चतुर्वक्त्र देव ! मुझ से ही उत्पन्न हुआ है। पूर्वकाल में मैंने ही सम्पूर्ण व्यक्त जगत की सृष्टि की थी जो चौबीस तत्त्वों से युक्त है। अणुवों की, जो अपने अन्तिम रूप में नित्य हैं, मैंने ही एक साथ आबद्ध किया। मैंने ही अपने क्रोध से[२९७] विभिन्न प्राणियों (रुद्र आदि) की सृष्टि की। मेरी ही लीला के प्रसाद से तुम्हारी तथा अनेक ब्राह्मणों की रचना हुई है। बुद्धि की मेरी लीला से सृष्टि हुई, और उससे पाँच तन्मात्राओं की, तथा उनसे फिर इन्द्रियों-सहित मन और अन्य तत्त्वों, तथा तत्त्वों से रचित प्राणियों की उत्पत्ति हुई।' हम लोगों ने एक दूसरे से जब ऐसी बातें कहीं तब अत्यधिक क्षोभ के कारण हम दोनों के बीच उस प्रलयार्णव[२९८] जल में ही अत्यन्त रोमहर्षक और घोर युद्ध आरम्भ हो गया। उसी समय हम लोगों की कलह निवृत्ति तथा हमें ज्ञान देने के लिये हम लोगों के सामने अत्यन्त प्रदीप्त, और सहस्रों अग्नि ज्वालाओं से व्याप्त एक लिङ्ग प्रगट हुआ। वह क्षय और वृद्धि से मुक्त, आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनुपम, अनिर्दिष्ट, अव्यक्त और सम्पूर्ण विश्व का स्रोत था। उसकी सहस्रों ज्वालाओं से मोहित हो कर भगवान हरि ने मुझसे (ब्रह्मा से, जो स्वयं भी मोहित हो चुका था), इस प्रकार कहा : 'आओ हम इस अग्नि के स्रोत का पता लगायें। मैं इस अनन्त स्तम्भ के निचले भाग की ओर जाता

---

[२९६] ब्रह्मा यहाँ अपने को विष्णु भी मान लते हैं।

[२९७] देखिये ऊपर।

[२९८] इस स्थल के आरम्भिक श्लोक देखिये।

हूँ और तुम शीघ्रतापूर्वक ऊपर जाने का प्रयत्न करो।' इस प्रकार कह कर उन विश्वात्मा ने वाराह का रूप धारण किया; और मैंने भी तत्काल एक हंस का रूप धारण कर लिया। तभी से मनुष्य मुझे हंस कहते हैं क्योंकि हंस ही विराज्[२३९] है। जो मुझे 'हंस हंस' कह कर पुकारेगा वह स्वयं भी हंस हो जायगा। सर्वथा श्वेत अग्नि के समान नेत्र करके मैं सब ओर पंख-वाला हो गया। तब मन तथा वायु के समान वेग से मैं ऊपर की ओर चला। विश्वात्मा नारायण ने भी एक काले वराह का रूप धारण किया। उस समय वह नीले अञ्जन के एक ऐसे पर्वत के समान प्रतीत हो रहे थे जो सौ योजन लम्बा, दस योजन चौड़ा, तथा मेरु पर्वत के समान ऊँचा था। उनके तीक्ष्ण और श्वेत दाँत प्रलय के सूर्य के समान अति तेजस्वी थे। उन लम्बे थूथन वाले, घोर शब्द करनेवाले, छोटे-छोटे पैरों वाले, विचित्र अगों वाले, विजेता, दृढ़, अनुपम, वराहरूपी नारायण ने नीचे की ओर प्रस्थान किया। इस प्रकार एक सहस्र वर्ष तक नीचे जाने के पश्चात् भी वराहरूपी विष्णु को उस लिङ्ग का अन्त नहीं मिला। मैं भी इतने ही समय तक शीघ्रतापूर्वक अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा उस लिङ्ग का अन्त पाने की इच्छा से ऊपर की ओर जाता रहा। परन्तु अन्ततः काल व्यतीत हो जाने से मैं नीचे उतर आया। इसी प्रकार सभी देवों के स्रोत, विष्णु भी अपने भार से अत्यन्त श्रान्त हो कर शीघ्रता से ऊपर आये। वह अत्यन्त भयभीत दिखाई पड़ रहे थे। मुझ से मिल कर उन महात्मा ने शम्भु की माया से मोहित हो कर प्रणाम किया। अत्यन्त उद्विग्न चित, और मेरे साथ ही परमेश्वर (शिव) के समक्ष पीछे, पार्श्व में, और सामने प्रणत हो कर कहा : 'हे सुरश्रेष्ठ ! यह क्या है ?' तब वहाँ प्लुत स्वर और स्पष्ट रूप से ओंकार शब्द सुन पड़ा। हम लोगों ने विचार किया कि यह क्या हो सकता है। तब मेरे साथ साथ खड़े हो कर उन नारायण ने लिङ्ग के दक्षिण ओर ओंकार के स्वरूप को देखा जिसका प्रथम अक्षर 'अकार', उसके बाद 'उ-कार', और मध्य में 'म-कार' है। तीनों अक्षरों के नाद का परि-णाम 'ओम' है'।"

इसके बाद 'ओम' के तथा वर्णमाला के अक्षरों की एक विस्तृत रहस्यवादी व्याख्या आती है।

१८ वें अध्याय में विष्णु द्वारा रुद्र को सम्बोधित एक स्तोत्र आता है जिसमें रुद्र के गुणों का विस्तृत कीर्तन है। महादेव इस स्तोत्र से प्रसन्न होते हैं और ब्रह्मा तथा विष्णु से कहते हैं कि वे दोनों उनसे उत्पन्न हुये है। तदन-

[२३९] देखिये प्रस्तुत कृति का प्रथम भाग।

न्तर रुद्र उन दोनों को वर देकर अपने शुभ हाथों से उनका स्पर्श करते है। नारायण ने यह वर माँगा कि उनकी और ब्रह्मा की रुद्र में सनातन भक्ति हो; जिसे महादेव ने स्वीकार किया। इसके वाद जो स्थल आता है उसे मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

लिङ्ग पुराण १.१८,८ और वाद : जानुभ्यम् अवनीम् गत्वा पुनर् नारायणाः स्वयम्। प्रणिपत्य च विश्वेशम् प्राह मन्दतरं वशी। आवयोर् देव-देवेश विवादम् अति-शोभनम्'। इहागतो भवान् यस्माद् विवाद-शमनाय नौ। तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पुनः प्राह हरो हरिम्। प्रणिपत्य स्थितम् मूर्ध्ना कृताञ्जलि-पुटम् स्मयन्। श्री-महादेव उवाच। प्रलय-स्थिति-सर्गाण कर्त्ता त्व धरणीपते। वत्स वत्स हरे विष्णो पालयैतच् चराचरम्। त्रिधा भिन्ना ह्य् अहं विष्णो ब्रह्म विष्णु भवाख्यया। सर्ग-रक्षा-लय-गुणैर् निष्कलः परमेश्वरः। सम्मोहं त्यज भो विष्णो पालयैनम् पितामहम्। पाद्मे भविष्यति सुतः कल्पे तव पितामहः। तदा द्रक्ष्यसि मा चैव सोऽपि द्रक्ष्यति पद्म-जः। एवम् उक्त्वा स भगवास् तत्रैवान्तर-धीयते। तदा-प्रभृति लोकेषु लिङ्गार्चा सुप्रतिष्ठिता। लिङ्ग वेदी महादेवी लिङ्गं साक्षाद् महेश्वरः। "आत्मसंयमी नारायण ने भूमिपर घुटने टेक कर प्रणाम करने तथा विश्वेश (शिव) की स्तुति करने के वाद कोमल स्वर में इस प्रकार कहा : 'हे देवेश्वर ! हमारा विवाद अत्यन्त अशोभनीय सिद्ध हुआ है,[300] क्योंकि उस विवाद के शमन के लिये आप को यहाँ आना पड़ा।' इन शब्दों को सुन कर हर (शिव) ने मुस्कताते हुये, विष्णु से, जो अब भी करबद्ध खडे स्तुति कर रहे थे, इस प्रकार कहा : 'हे धरणीपति ! तुम ही लोकों के प्रलय, स्थिति और सृष्टि के कर्त्ता हो। वत्स, मेरे हरि, विष्णु ! इस सम्पूर्ण चराचर जगत का पालन करो। मैं ही, जो अभिन्न हूँ, तीन रूपों में विभक्त हो कर उन ब्रह्मा, विष्णु और भव के नाम से जाना जाता हूँ जिनमें ही सृष्टि, पालन, और सहार के सभी गुण निहित हैं। विष्णु ! अपने मोह का परित्याग करो, इन पितामह का पालन करो। पद्मकल्प मे यह तुम्हारे पुत्र होंगे। उस समय तुम मेरा दर्शन प्राप्त करोगे; और कमल से उत्पन्न यह (ब्रह्मा) भी मेरा दर्शन करेंगे।' इस प्रकार कह कर भगवान् रुद्र वहीं अन्तर्धान हो गये। तभी से इन लोकों में लिङ्ग की पूजा प्रतिष्ठित हुई। लिङ्ग की वेदी महादेवी उमा हैं और लिङ्ग साचात महेश्वर हैं।"

---

[300] भाष्यकार 'शोभनम' की 'उभयोर् अपि सम-बलत्वाच् छोभमानम्' के रूप मे व्याख्या करता है।

सम्भवतः पाठक यह विचार कर सकते हैं कि इस आख्यान से लिङ्ग पूजन की उत्पत्ति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

विष्णु पुराण (१.७,६ और बाद) रुद्र को उच्च पद नहीं प्रदान करता। इसमें रुद्र को ब्रह्मा की सन्तान बताया गया है (जैसे ऊपर महाभारत का एक स्थल इन्हें विष्णु का पुत्र कहता है) : सनन्दनादयो ये च पूर्व सृष्टास् तु वेधसा। न ते लोकेष्व् असज्जन्त निरपेक्षाः प्रजासु ते। सर्वे ते चागत-ज्ञाना वीत रागा विमत्सराः। तेष्व् एव निरपेक्षेषु लोक सृष्टौ महात्मनः। ब्रह्मणोऽभूद् महाक्रोधस् त्रैलोक्य-दहन क्षमः। तस्य क्रोधात् समुद्भूत-ज्वाला-माल-विदीपितम्। ब्रह्मणोऽभूत् तदा सर्वं त्रैलोक्यम् अखिलम् मुने। भ्रुकुटी-कुटिलात् तस्य ललाटात्, क्रोध दीपितात्। समुत्पन्नस् तदा रुद्रो मध्याह्नार्क-समप्रभः। अर्ध-नारी-नर वपुः प्रचण्डोऽति-शरीरवान्। "विभजात्मानम्" इत्य् उक्त्वा तम् ब्रह्माऽन्तर्दधे पुन.। तथोक्तोऽसौ द्विधा स्त्रीत्वम पुरुषत्वं तथाऽकरोत्। बिभेद पुरुषत्वं च दशधा चैकधा च सः। सौम्यसौम्यैस् तथा शान्ता शान्तै. स्त्रीत्वं च स प्रभुः। बिभेद बहुधा देवः स्वरूपैर् असितैः सितै।

वेधस् (ब्रह्मा) ने पहले जिन सनन्दनादि को उत्पन्न किया वे निरपेक्ष होने के कारण सन्तान और ससार आदि में प्रवृत्त नहीं हुये। वे सभी ज्ञान-सम्पन्न, विरक्त, और मत्सरादि दोषों से रहित थे। उनको संसार-रचना से उदासीन देखकर महात्मा ब्रह्मा से त्रिलोकी को भस्मकर देनेवाला महान् क्रोध उत्पन्न हुआ। हे मुने! उन ब्रह्मा के क्रोध के कारण सम्पूर्ण त्रिलोकी ज्वालमालाओं से अत्यन्त देदीप्यमान हो गयी। उसी समय उनकी टेढ़ी भृकुटि और क्रोध-सन्तप्त ललाट से मध्याह्न के सूर्य के समान प्रकाशमान रुद्र की उत्पत्ति हुई। उसका अति प्रचण्ड शरीर आधा नर और आधा नारी रूप था। तब ब्रह्मा, 'अपने शरीर का विभाग कर' ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये। ऐसा कहे जाने पर उस रुद्र ने अपने शरीरस्थ स्त्री और पुरुष दोनों भागों को अलग-अलग कर दिया और फिर पुरुष-भाग को ग्यारह भागों में विभक्त किया। उसने स्त्री भाग को भी सौम्य, क्रूर, शान्त, अशान्त, और श्याम–गौर आदि कई रूपों में विभक्त कर दिया।"[३०१]

इसी प्रकार हरिवंश (४३ वाँ श्लोक) भी कहता है. ततोऽसृजत् पुनर् ब्रह्मा रुद्र रोषात्म–सम्भवम्। "तब ब्रह्मा ने रुद्र की सृष्टि की जो उनके क्रोध से उत्पन्न हुये।

---

[३०१] देखिये प्रो० विलसन (विष्णुपुराण, पृ० ५१ मे) की इस स्थल पर टिप्पणी (३ और ४)।

खण्ड ७—गत खण्डों के परिणाम

पिछले १–४ खण्डों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, और ब्राह्मण-ग्रन्थों से रुद्र से सम्बद्ध जिन स्थलों को उद्धृत किया गया है वे महाकाव्यों और पुराणों के पूर्व के समय के इस देवता के चरित्र तथा गुणों के सम्बन्ध में विचार स्थिर करने के लिये भारतीय साहित्य की प्राचीनतम सामग्री प्रस्तुत करते हैं। पाँचवें खण्ड में उपनिषदों से जिन कुछ रहस्यवादी स्थलों को मैंने उद्धृत किया है उनका समय अनिश्चित है, और उनके विषयवस्तु भी रुद्र की पूजा के विकास पर कदाचित ही प्रकाश डालते हैं। गत दूसरे अध्याय में, तथा पिछले खण्ड में मैंने रामायण तथा महाभारत से जो उद्धरण दिये हैं उनमें यद्यपि शिव और महादेव के रूप में समीकृत और बाद के हिन्दू पुराकथाशास्त्र में कल्पित रुद्र के सर्वथा भिन्न और नवीन रूप को प्रस्तुत करनेवाले कुछ प्राचीनतम विवरण निहित हैं, तथापि ये उस प्रक्रिया की व्याख्या के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं जिसके अनुसार भारतीय देवसभा में इन्हें उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। फिर भी, मैं इन स्थलों के आधार पर उन गुणों का सारांश प्रस्तुत करूँगा, जिससे ये रुद्र को क्रमशः युक्त करते हैं। तदनन्तर मैं आरम्भिक स्थलों की तुलना में बाद के स्थलों में इस देवता की धारणा में जो उत्तरोत्तर विभेद उत्पन्न हुये हैं उनका वर्णन करूँगा। फिर भी, इस विषय पर स्वयं अपनी टिप्पणियों के पूर्व मैं वैदिक रुद्र की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रो० एच० एच० विलसन, वेबर, और ह्विट्ने के कुछ विचारों को प्रस्तुत करूँगा।

निम्नलिखित विचारों को प्रो० विलसन के ऋग्वेद के अनुवाद के प्रथम और द्वितीय भागों की प्रस्तावनाओं से उद्धृत किया जा रहा है :

"हमें एक रुद्र मिलता है, जिसे बाद के समय में शिव के साथ समीकृत कर दिया गया; किन्तु पुराणों तक में इस देवता की उत्पत्ति तथा समीकरण अत्यन्त सन्दिग्ध है; जब कि वेदों में इसका मरुद्गणों के पिता, और प्रत्यक्षतः अग्नि अथवा इन्द्र के एक स्वरूप के रूप में वर्णन है। 'कपर्दिन्' उपाधि का, जो इसके लिये व्यवहृत है, वास्तव में शिव की एक विशेषता से कुछ सम्बन्ध अवश्य है—अर्थात् एक विशेष प्रकार की जटा रखने से। परन्तु इस शब्द का वेदों में एक सर्वथा भिन्न आशय है—जिसे अब विस्मृत कर दिया गया है—यद्यपि इसी आशय ने ही बाद में इस प्रकार की जटा रखनेवाले शिव के अग्नि के साथ समीकृत कर दिये जाने के विचार को जन्म दिया हो सकता है। उदाहरण के लिये 'कपर्दिन्' से इनके सर के चारों ओर निकलनेवाली ज्वालाओं को व्यक्त किया जाता रहा होगा, अथवा यह शब्द प्रक्षिप्त भी हो सकता है। जो

कुछ भी हो, शिव के लिये व्यवहृत अन्य कोई भी उपाधि यहाँ नहीं मिलती, और उस रूप का तो लेशमात्र भी संकेत नहीं है जिस 'लिङ्ग' के रूप में गत दस शताब्दियों से प्रायः एकमात्र रूप से इस देवता की पूजा हो रही है। इसी प्रकार बाद के हिन्दू धर्म की एक दूसरी विशिष्टता, रहस्यवादी 'ओंकार' के तीन अक्षरों द्वारा व्यक्त ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की त्रिमूर्त्ति का भी कोई चिह्न नहीं है, यद्यपि प्राचीन काल के धर्मों के एक प्रसिद्ध विद्वान के अनुसार त्रिमूर्त्ति हिन्दू धर्म का प्रथम तत्त्व था और दूसरा तत्त्व लिङ्गम[३०२] (भाग १, पृ० XXVI, XXVII)।

"रुद्र का चरित्र भी प्रायः सन्दिग्ध है। यह सन्देहास्पद ही है कि इसमें वह भयकरता और क्रोध भी सम्मिलित है या नहीं जिससे बाद के समय के रुद्र को संयुक्त किया गया है। यह सत्य है कि इसे वीरों का संहारक कहा गया है, किन्तु इन्द्र भी तो ऐसे ही हैं। मनुष्यों और पशुओं के प्रति इसके क्रोध के प्रभाव के निवारण की प्रार्थना की गई है। किन्तु इसे मेधावी, कृपालु, सन्तान और सुख का दाता भी कहा गया है, और इसकी प्रमुख विशेषतायें इसका ओषधियों का अधिपति होना तथा व्याधि का नाश करना हैं और ये एक क्रुद्ध तथा द्वेषयुक्त नहीं बल्कि उदार तथा कृपालु देवता के गुण हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मरुद्गण इसके पुत्र हैं, और यह सम्बन्ध इसको इन्द्र के साथ सयुक्त करता है। कुछ हीन देवताओं का भी एक वर्ग है जिन्हें रुद्रगण कहा गया है। एक स्थल पर ये रुद्रगण अग्नि के उपासक के रूप में, तथा एक अन्य पर मरुद्गणों की ही भाँति इन्द्र के अनुगामी के रूप में आते हैं। अतः, अभी तक तो रुद्र को इन्द्र के साथ ही समीकृत किया जा सकता है, किन्तु अग्नि को सम्बोधित एक सूक्त में इस नाम को असन्दिग्ध रूप से अग्नि के लिये व्यवहृत किया गया है (देखिये ऋग्वेद १.२७, १०)। भाष्यकार के अनुसार यह शब्द (रुद्र) 'भयकर अग्नि' का द्योतक है; परन्तु मूल स्थल पर इस आशय की कोई आवश्यकता नहीं, जहाँ हम रुद्र को अग्नि का एक रूप मात्र ही मानने तक अपने को सीमित कर सकते है (वही पृ० XXXVII और बाद)।

"प्रथम मण्डल की ही भाँति, दूसरे में भी रुद्र को प्रायः असगत गुणों, अर्थात भयंकरता तथा कृपाशीलता दोनों से युक्त किया गया है; किन्तु यहाँ भी इसका विशेष क्षेत्र ओषधियों का आधिपत्य, तथा ओषधियों का प्रयोग है, और इसे वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (ऋग्वेद २.३३,४)। इसके ओषधियों के अधि-

---

[३०२] क्रूजर रिलीजन्स ड ल ऐन्टीक्विटे, बुक १, अध्याय १, पृ० १४०।

पति होने के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय स्थल मिलता है जहाँ यह कहा गया है कि इसकी ओषधियों में से एक वह भी है जिसे, महाभारत के आख्यान के अनुसार, प्रलय के समय अपनी नौका में मनु ने चुन कर रक्खा था। रुद्र के इस व्यक्तित्व के सामान्य से अधिक विवरण मिलते हैं। कभी-कभी इसे बभ्रु-वर्ण, किन्तु साथ ही उज्ज्वल भी कहा गया है (ऋग्वेद २.३३,८)। ये दृढाङ्ग, वहुरूप, सुन्दर हनुवाले, धनुष-बाण धारण करनेवाले और सुन्दर सुवर्ण-अलंकारों से देदीप्यमान हैं। इन्हें मरुतों का पिता भी कहा गया है। फिर भी, इन सब गुणों में से केवल इनकी उग्रता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जिसे पुराणों के रुद्र के साथ समीकृत किया जा सके (भाग २, पृ० IX और बाद)।"

नीचे प्रो० वेबर के अपने कुछ और मनोरजक विचार, उनके इण्डिशे स्टूडियन (२.१९-२२) से अनूदित करके दिये जा रहे है :

शतपथ ब्राह्मण के नवें काण्ड के आरम्भ में हमें शतरुद्रिय की एक पूर्ण व्याख्या मिलती है। चैत्य का उपधान समाप्त हो जाने के बाद जब उसमे स्थापित अग्नि दीप्तमान होती है तब देवगण (अर्थात् ब्राह्मण[303]) उससे इसलिये भयभीत हो उठते हैं कि कहीं वह उनको नष्ट न कर दे (यद् वै नो यम् न हिस्याद् इति)। अतः इस मानों भूखी ज्वाला को, जिसे रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है, प्रसन्न करने, अर्थात प्रज्वलित अग्नि को शान्त करने के लिए वे रुद्र को तथा उनके गणों, अर्थात् भय के सभी सम्भव रूपों को, इस स्तोत्र द्वारा अनुकूल वनाते और उनके दुष्प्रभावों को अपने से दूर भगाते हैं। इसीलिय ब्राह्मग 'शतरुद्रिय' की 'शान्त-रुद्रिय' (क्योंकि 'शत्' 'शम्' धातु से व्युत्पन्न है) के रूप में व्याख्या करता है। यह दोहरा आशय, जो वास्तव में इसे प्रदान किया गया, सम्भवतः, यद्यपि अस्पष्ट रूप से ही, उस समय से ही विद्यमान रहा हो सकता है जब इस नाम की सर्वप्रथम कल्पना की गई।[304] अग्नि देवता के रूप में रुद्रों के इस व्यवहार में (शतरुद्रिय के विषय वस्तु की अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त) हमें उस समय का संकेत

---

[303] "ब्राह्मणो मे बहुधा मनुष्यो के विचारो को देवों के मुख से कहलवाया गया है। उदाहरण के लिये, जब देवगण कभी भी प्रजापति के पास जा कर किसी कष्ट के निवारण के लिये कहते हैं तो इसका तात्पर्य कुछ व्यक्तियो द्वारा अपेक्षाकृत एक अधिक योग्य व्यक्ति से उपदेश प्राप्त करना मात्र ही है।"

[304] काठको के चारायणीय सम्प्रदाय के आर्षाध्याय मे भी (२.१७) यह कथन है 'शतरुद्रिय देवाना रुद्र–शमनम्।'

मिल सकता है जब इसकी रचना हुई। यद्यपि मूलतः रुद्र सामान्य रूप से 'रव करने वाले' का द्योतक है, और इस लिये यह झंझावात तथा साथ ही साथ चिटखती हुई अग्नि का विशेषण भी हो सकता है, तथापि आरम्भिकतम समय में इस शब्द का अधिकतर प्रथम आशय में ही प्रयोग हुआ है, और इसीलिये ऋग्वेद में यह बहुधा मरुद्गणों की उपाधि के रूप में ही व्यवहृत है। झंझावात के अनवरुद्ध वेग, उसके गर्जन, उसके मानों पृथिवी और आकाश[३०५] को तोड़-फोड़ देने के कार्यों ने उच्च पर्वतीय घाटियों (सम्भवतः कश्मीर), जहाँ हम आरम्भिक समयों में भारतीय आर्यों को बसा मानते हैं, में निवास करनेवाले लोगों पर अत्यन्त भयंकर और शक्तिशाली प्रभाव डाला होगा। इस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं के स्वाभाविक क्रम के अनुसार उन लोगों ने प्रत्येक भयानक और घोर-स्वरूप बातों को झंझावात के देवता के साथ सम्बद्ध करना सीख लिया होगा और इसी देवता को प्रत्येक अभिशाप[३०६] या बुराई का कारण तथा अधिपति मानने लगे होंगे। इस प्रकार के अभिशापों के आधार पर इन अन्तरिक्षीय गणों की संख्या अगणित थी, और ये काले वर्ण के, विद्युत की चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली किरणों से प्रहार करते हुए सर्वत्र रोमहर्षक भय उत्पन्न करते रहते थे।

यह सत्य है कि 'बुद्धिमान, अभीष्टवर्षी, सन्तानदाता, और सुख प्रदान करनेवाले' के रूप में भी रुद्र की स्तुति की गई है;[३०७] किन्तु इस अर्थ में इसको केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही सम्बोधित किया गया है, और वह भी इसलिये कि यह अन्यत्र जा कर स्तोता के शत्रुओं को ही अपने बाणों का लक्ष्य बनाता है और स्तोता को क्षमा कर देता है। स्तोता इसकी ऐसे प्रशंसात्मक शब्दों द्वारा स्तुति करता है जैसे यह एक विशुद्ध उपकारी देवता हो। वह इसके क्रोध को स्तुतियों द्वारा शान्त करके इसे कल्याणकारी (शिव) बनाने का प्रयास करता है। यह प्रत्यक्ष रूप से इस अर्थ में उपकारी प्रतीत भी होता है कि यह मेघों और कुहरों आदि को दूर भगा कर आकाश को स्वच्छ कर देता है। इसी कर्म के सन्दर्भ में इसे वैद्य

---

[३०५] इसीलिये ऋग्वेद १ ११४,५ मे इसे 'वराह' भी कहा कहा है, जैसा कि मेघो की भी अन्यत्र इसी रूप मे कल्पना की गई है (इण्डि० स्टू० १.२७२, नोट)।

[३०६] ऋग्वेद १.११४,२ ३३। इसीलिये इन सूक्तो की सात ऋचाओ को शतरुद्रिय मे सम्मिलित किया गया है।

[३०७] विलसन इन्ट्रो० टु ट्रान्स०ऑफ ऋग्वेद, १ ३३।

तथा गुणकारी ओषधियों का ज्ञाता कहा गया है। परन्तु यह अपने तरकस में बाणों की भाँति व्याधियाँ आदि साथ-साथ ले कर चलता है जिनसे यह मनुष्यों और पशुओं को हिंसित कर सकता है।

"अग्नि की चिटकती हुई ज्वालाओं में, मनुष्यों ने विचार किया कि उन्होंने पुनः झंझावात की क्रुद्ध आवाज़ को सुना। इसी प्रकार अग्नि की भस्मसात कर देनेवाली भयंकरता में भी उसे एक और विनाशात्मक प्रकोप का बोध हुआ। इस प्रकार हमें यह व्याख्या करनी है कि ये दोनों देवता किस प्रकार उत्तरोत्तर एक दूसरे के साथ समीकृत हो गये, और अपनी-अपनी उपाधियों का भी एक दूसरे के लिये आदान-प्रदान कर लिया। यह समी कारण न केवल अग्नि और रुद्र तक ही सीमित हैं, वरन् रुद्रों को भी इसी के अन्तर्गत ले लिया गया है; मुख्यतः इसलिये कि झंझावात के साथ संयुक्त होने के कारण ये अनेक प्रकार की व्याधियों और विपत्तियों को लाते हैं। किन्तु महाकाव्य के समय में ये रुद्रगण पृष्ठभूमि में चले गये और इनके प्राचीन अधिपति, स्वयं रुद्र का अग्नि के साथ समीकृत हो कर विनाश और क्रोध के एक नूतन देवता के रूप में विकास हुआ। अब पहले के रुद्रगण इस नवीन रुद्र के (शिव के रूप में) सेवकों के रूप में प्रगट हुये।

"शतरुद्रिय की रचना के समय दो विनाशक देवताओं (झंझावात और अग्नि के देवताओं) का सम्मिश्रण हो चुका था, और इसमें जिन उपाधियों का वर्णन है उनमें से कुछ हमें पूर्व समय के रुद्र के, और कुछ अग्नि के निकट ले जाती हैं। गिरीश, गिरिशय, गिरिशन्त, गिरित्र, कपर्दिन्, व्युप्त-केश, उग्र, भीम, भिषज्, शिव, शम्भु, और शङ्कर जैसी उपाधियाँ झंझावात से सम्बद्ध हैं, जब कि दूसरी ओर नील-ग्रीव, शितिकण्ठ, हिरण्यबाहु, विलोहित, सहस्राक्ष, पशुपति, शर्व, और भव, इत्यादि अग्नि से सम्बद्ध हैं। अब, प्रायः ये समस्त उपाधियाँ[३०८] पारिभाषिक उपाधियों और महाकाव्यीय शिव की विशेषतायें हैं। फिर भी, इस देवता के लिये व्यवहृत होने पर ये अंशतः अबोधगम्य हो जाती है, और इनकी व्याख्या तभी की जा सकती है जब उन दो तत्वों के आधार पर इनका विभेद कर दिया जाय जिनके योग से इस देवता की उत्पत्ति हुई है।[३०९] परन्तु शतरुद्रिय में रुद्र कहीं भी ईश

---

[३०८] तथा अन्यत्र मिलनेवाली अनेक उपाधियाँ। इस प्रकार शिव की त्र्यम्बक उपाधि और उनकी पत्नी अम्बिका, रुद्र से सम्बद्ध हैं, जब कि त्रिपुर उपाधि और उनकी पत्नी काली, कराली इत्यादि, अग्नि से।

[३०९] इसीलिये इन्हे पुराणो तथा उपनिषद् मे 'कालाग्नि रुद्र भी' कहा गया है।

अथवा महहादेव के रूप में नहीं आते, और इन्हें किसी भी ऐसी चारित्रिक विशिष्टता से युक्त नहीं किया गया है जो महाकाव्यीय शिव के समान हो। यतः 'शिव' शब्द भी केवल इनकी एक उपाधि के रूप में व्यवहृत हुआ है (अपने 'शिवतर' रूप के साथ) अत शतरुद्रिय को भारतीय धर्म के एक पहले के काल का ही मानना चाहिये। इसका एक उपनिषद् के रूप में उत्थान महाकाव्य-काल में हुआ हो सकता है, और इसका कारण शिव की उपासना का इस समय तक हो गया विशेष प्रसार ही हो सकता है।"

इसी विषय पर प्रो० व्हिट्ने के निम्नलिखित विचारों को ज०अ०ओ०सो० (भाग ३, पृ० ३१८ और बाद) से उद्धृत किया जा रहा है :

"द्वितीय क्षेत्र, अन्तरिक्ष, से वायु अथवा झंझावात के अनेक देवता सम्बद्ध हैं। हलकी और मन्द वायु के देवता 'वायु' हैं ('वा' धातु से)। यह सहस्र अश्वों को हाँकते हैं, इनका श्वास दैत्यों को भगाता है, ये अत्यन्त प्रात काल के समय, जब दिन निकलने को होता है तब, सोमपान करने के लिये आते हैं; उस समय उषा इनके लिये दीप्तमान परिधान बुनती है। तीव्र वायु या झंझावात को मरुद्गण या रुद्रगण कहा गया है · इन दोनों नामों का बिना विशेष विभेद के प्रयोग मिलता है, किन्तु प्रथम अपेक्षतया अधिक आता है (इनमें से किसी की भी व्युत्पत्ति को पूर्णतः स्थिर नहीं किया जा सका है)। ये दोनों देवता चितकबरे मृगों पर सवारी करते हैं, प्रदीप्त कवच धारण करते हैं, और अपने हाथों में भाला लिये रहते है। कोई नहीं जानता ये किधर से आते है और किधर जाते है। जब ये तीव्र वेग से दौड़ कर आते हैं तब इनकी आवाज़ सुनाई पड़ती है। इनके सामने पृथिवी प्रकम्पित तथा पर्वत हिल उठते हैं। ये इन्द्र के सखा और प्रायः नित्य उनके मित्र और साथियों के रूप में आते हैं। इन्हें उन रुद्र का पुत्र कहा गया है जो झंझावात का विशेष देवता है। इन देवों के पिता के रूप में रुद्र का अवसर ही उल्लेख मिलता है, किन्तु स्वतन्त्र गुणों से युक्त एक देवता के रूप में यह दुर्लभ है। केवल रुद्र मात्र को समर्पित सूक्त भी बहुत कम हैं। जैसी आशा की जानी चाहिये, ये एक भयंकर देवता हैं . यह एक महान धनुष धारण करते है जिससे ये पृथिवी पर शस्त्रप्रक्षेप करते हैं। इन्हें मनुष्यों का वध करनेवाला, क्षयद्वीर,[३१०] कहा गया है। इनके क्रोध की निन्दा और इनसे स्तोता को हिंसित न करने की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में न भी सही, किन्तु अथर्ववेद और ब्राह्मणों में इन्हें पशुपति कहा गया है क्योंकि खुले गोष्ठों में रहनेवाले पशु झंझावात से विशेष

---

[३१०] तु० की ऋग्वेद १.११४,१ मे इस शब्द का आशय।

रूप से त्रस्त होते हैं। साथ ही प्रसन्न करने के लिये लिये इन्हें सहस्रों ओषधियों का अधिपति, वैद्यों मे सर्वश्रेष्ठ, और क्षति से बचानेवाला कहा गया है। ये अंशतः झञ्झावात द्वारा अन्तरिक्ष को स्वच्छ कर देने के कार्य पर आधारित हो सकते हैं। रुद्र का प्रमुख महत्त्व यह है कि ये वैदिक धर्म और बाद की शैव उपासना के बीच की एक शृङ्खला हैं। एक देवता के रूप में शिव वेदों में अज्ञात है: इनका नाम सूक्तों में आता तो अक्सर है, किन्तु उसका अर्थ केवल 'कल्याणकारी' है। अथर्ववेद तक में यह न तो किसी देवता का नाम है और न किसी अन्य विशेषण से इसका विभेद ही किया गया है। उस देवता के नाम के रूप में, जिसे यह बाद में प्रदान किया गया, यह एक ऐसी मृदूक्ति है जो भारतीय धर्म के अन्तर्गत बहुधा देखी जा सकती है। अतः देवसभा के सर्वाधिक भयंकर देवता' को प्रसन्न करने के लिये इसका एक शान्तिकारक सम्बोधन के रूप में व्यवहार किया गया। शिव और रुद्र के सम्बन्ध को अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सका है। एक कल्पना के अनुसार उत्तर के पर्वतों के एक सर्वथा नवीन देवता को लाकर रुद्र के साथ समीकृत करते हुये उसका प्राचीन धर्म में समावेश करा दिया गया है। दूसरी कल्पना के अनुसार अग्नि की कुछ विशेषताओं को रुद्र के साथ मिला कर एक नवीन रूप दे दिया गया है। किन्तु सम्भवत. इन दोनों में से किसी भी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। शिव रुद्र का एक स्थानीय रूप हो सकता है, जो उन जनपदों के विशिष्ट जलवायुविक प्रभावों से उत्पन्न हुआ हो सकता है, जहाँ से यह शेष हिन्दुस्तान में आया। उस समय इसे एक ऐसे लोगों (भारतीयों) ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, जिनके, जैसा कि अथर्ववेद से विदित होता है, धर्म में भयंकरता के चिह्न पनपने लगे थे।"

ऋग्वेद के सूक्तों में व्यक्त रुद्र के चरित्रों की प्रकृति अत्यन्त भिन्न-जातीय और अक्सर अनिश्चित है। मै अलग-अलग स्थानों से ऐसी उपाधियों को एकत्र करके एक वर्ग के अन्तर्गत रखने का प्रयास करूँगा जिनमें परस्पर सर्वाधिक साम्य लक्षित होता है। इस देवता को उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, अभीष्टवर्षी, और शक्तिशाली (१.४३,१, १.११४,४), सर्वाधिक बलशाली, और ऐश्वर्य में सर्वश्रेष्ठ (२.३३,३), ईशान, और दिव्य शक्तियों से युक्त (२.३३,९), बल में सर्वश्रेष्ठ[३११] (२.३३,१०), लोकों का

---

[३११] तुकी० इसी प्रकार की विष्णु और इन्द्र के लिये व्यवहृत उपाधियाँ। फिर भी, ऋग्वेद २.३८,९ मे रुद्र को इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, और सविता कहा गया है।

पिता,[३१२] शक्तिशाली, उन्नत, अक्षर (६.४९,१०); अपने सार्वभौमिक साम्राज्य तथा शक्ति के द्वारा मनुष्यों और देवों के कार्यों को जाननेवाला (७.४६,२), जलों को गतिशील करनेवाला (१०.९२,५), आत्मनिर्भर (७.४६,१), स्वयशोयुक्त (१.१२९,३, १० ९२,९), वीरों का अधिपति (१.११४,१.३. १०; १०.९२,९), स्तुतियों और यज्ञों का अधिपति (१.४३,४), यज्ञों को परिपूर्ण करनेवाला (१.११४,४); सूर्य और सुवर्ण के समान दीप्तिमान (१.४३,५), सुहनु और बभ्रुवर्ण (२.३३,५), शुक्लवर्ण (२.३३,८), वहुरूप, भयंकर, और सुवर्ण अलंकारों से सुशोभित (२.३३,९), युवा (५.६०,५); हिंसक पशुओं के समान भयकर, विनाशक (२.३३,११), कपर्दिन (१.११४,१.५); और दिव्य वाराह (१.११४,५) कहा गया है। इन्हें अक्सर मरुतों अथवा रुद्रों का पिता कहा गया है (१.६४,२; १.८५,१; १.१ ४,६.९; २.३३,१; २.३४,२, ५.५२,१६, ५.६०,५, ६.५०,४, ६.६६,३; ७ ५६,१, ८.२०,१७)। इन्हें एक वार अग्नि के साथ समीकृत किया गया है (२.१,६)। इन्हें रथारूढ (२.३१,११), वज्रधारी (२.३३,३), धनुष और वाणों से युक्त (२.३२,१०.१४, ५.४२,११, १०.१२५,६), शक्तिशाली धनुष और तीव्रगामी वाण, तथा तीक्ष्ण आयुधों (६.७४,४, ७.४६,१; ८.२९,५) से युक्त, कहा गया है। इनके आयुध आकाश से प्रक्षिप्त होते और पृथिवी का अतिक्रमण करते हैं (७.४६,३)। इन्हें 'नृ-घ्ने' कहा गया है (४.३,६)। इनके क्रोध, दुष्प्रकृति, और विनाशक आयुधों का निवारण किया गया है (१.११४,७ ८; २.३३,१.११.१४, ६.२८,७, ७.४६,३.४)। किन्तु इन्हें अभीष्टवर्षी (१.११४,९), मधुर, सरलता से आहूत (२.३३,५), कृपालु (२.३३,७), शिव (१०.९२,९), मनुष्यों तथा पशुओं के स्वास्थ्य और सुख का कारण (१.११४,१), कहा गया है। अक्सर ही इन्हें गुणकारी ओषधियों, से युक्त, तथा वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (१.४३,४, ११४,५, २. ३३,२.४.७.१२.१३, ५.४२,११, ६.७४,३;[३१३] ७.३५,६, ४६,३; ८.२९,५)। वरदानों के किये इनकी रक्षा का आवाहन किया गया है (१.११४,१.२), और इन्हें देवों के क्रोध का निवारक कहा गया है (१.११४,४, २.३३,७)। ऋग्वेद ६.७४,१ और वाद में इन्हें द्विवचन में सोम के साथ संयुक्त करके

---

[३१२] तुकी० रघुवश १.१, जहाँ परमेश्वर (शिव) और पार्वती को 'जगत पितरौ' कहा गया है।

[३१३] इस स्थल पर ओषधियाँ प्रदान करनेवाले के रूप मे सोम भी रुद्र के साथ सम्बद्ध हैं।

इनसे सुख प्रदान करने तथा दु:खों को दूर भगाने के लिये कहा गया है।

इन स्थलों, तथा जिन सूक्तों से इन्हे लिया गया है उनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश स्थानों पर रुद्र का स्पष्ट रूप से पारिभाषित कोई कार्य नहीं है (जैसे, उदाहरण के लिये, इन्द्र और अग्नि, तथा विष्णु तक का है) अतः ये भौतिक ससार की किसी घटना के स्पष्ट रूप से जनक नहीं हैं। मैंने जिन स्थलों को उद्धृत किया है उनमें से अधिकाश के आधार पर यह कह सकना कठिन है कि ब्रह्माण्ड के किस क्षेत्र के साथ इस देवता के कार्यों को सम्बद्ध किया जाय। यह सत्य है कि इसे बारम्बार मरुतों अथवा रुद्रों का पिता कहा गया है, और इस सम्बन्ध के आधार पर हम इस बात की आशा कर सकते हैं इन दोनों देवताओं (मरुतों और रुद्रों) की अपेक्षा यह कहीं अधिक विशिष्ट रूप से झञ्झावातों का जनक तथा मेघों का पीछा करनेवाला है। फिर भी, ऋग्वेद १ ११४,५, २.३३,३, और १० ९२,५ जैसे थोड़े से स्थलों को छोड़कर उन्हें हम इस प्रकार के कार्यों से सम्बद्ध नहीं देखते। अनेक अस्पष्ट उपाधियाँ, जो इनके लिये नित्य ही व्यवहृत मिलती है, इनके क्रियाकलापों के क्षेत्र के निर्धारण, अथवा इनके व्यक्तित्व की परिभाषा के लिये पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि इनमें से अधिकाश समान रूप से अन्य देवों के लिये भी व्यवहृत हैं। उग्र, बभ्रुवर्ण, सुहत्नु, आदि के साथ स्थिति ऐसी ही है। यहाँ तक कि 'कपर्दिन्' शब्द, जो बाद में यदि विशिष्टतः नहीं तो भी सामान्य रूपसे महादेव की उपाधि बन गया, ऋग्वेद में पूषा के लिये भी व्यवहृत है (देखिये ऊपर नोट २२४)। फिर भी, जहाँ रुद्र का सर्जनात्मक कार्य इस प्रकार अस्पष्ट रूप से व्यक्त है, वहीं इन्हे कुछ अन्य स्पष्ट विशिष्टताओं से युक्त किया गया है। फिर भी, मनुष्यों के शरीर तथा सम्पत्ति को प्रभावित करनेवाली अच्छी और बुरी बातों के सन्दर्भ में इनकी प्रमुख रूप से चर्चा की गई है। और यहाँ इस बात पर कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है कि, यद्यपि इनका अक्सर समृद्धि प्रदान करने के लिये, और गुणकारी ओषधियों को लानेवाले के रूप में आवाहन किया गया है, तथापि इन्हें मुख्यतः अहितकर देवता ही माना गया है जिनके घातक आयुधों को, व्याधियाँ उत्पन्न करने तथा मनुष्यों और पशुओं को हिंसित करने की क्षमताओं को स्तोता अपने से दूर अपने शत्रुओं पर केन्द्रित कराने की स्तुति करता है। यदि यह दृष्टिकोण ठीक है तो रुद्र जो उपचार प्रदान करते हैं वह केवल विनाशक माध्यमों के निवारण के अतिरिक्त कदाचित ही कुछ और हो सकते हैं। अतः एक ही देवता को दो परस्पर विरोधी कार्यों से संयुक्त करना कुछ विचित्र प्रतीत होता है : परन्तु बुराई और अच्छाई,

बीमारी और स्वास्थ्य, मृत्यु और जीवन, स्वभाविक रूप से सम्बद्ध विपरीततायें हैं, जिनमें से एक की उपस्थिति दूसरे की अनुपस्थिति की द्योतक है। इसलिये, बाद के समय में महादेव को स्रष्टा और संहारक दोनों कहा गया है। इसमें हम इतना और जोड़ सकते हैं कि जहाँ किसी विनाशक देवता के क्रोध की निन्दा करना स्वभाविक है, वहीं स्तोता किसी अन्य देवता की स्तुति करके इसके क्रोध तथा ईर्ष्या को जागृत करने में भय का अनुभव भी करेगा। जब विनाशक देवता को आगमन से रोका या उसके दुष्प्रभावों का निवारण किया जा सकता है तो स्तोता के लिए उसके कृपालु होने और अभीष्टवर्षी होने की प्रशस्ति करना भी स्वभाविक है। रुद्र की दशा में ऐसी स्थिति को हम कुछ सूक्तों में देख चुके हैं।

फिर भी, उक्त वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि ज्येष्ठ रुद्र, यद्यपि बाद के महादेव से अनेक दृष्टियों से भिन्न होते हुए भी, उन्हीं के समान उग्र और विनाशक देवता हैं। दूसरी ओर, प्राचीन विष्णु, इसी नाम के बाद के देवता की ही भाँति एक उदार रक्षक ही हैं (ऋग्वेद १.२२,१८;१५५,४,१८६,१०; ८.२५,१२)।

यजुर्वेद में भी रुद्र को उन्हीं गुणों से युक्त किया गया है जिनसे ये ऋग्वेद में युक्त हैं। इस प्रकार ओषधिक गुण (३.५९, १६.५,४९) और विनाशकता, दोनों से ही इन्हें युक्त करते हुये इनकी विनाशक शक्तियों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन्हें (३.६१; १६.१ और अन्यत्र) धनुष तथा बाण लेकर चलनेवाला कहा गया है और स्तोता इनसे इन आयुधों को अपने से दूर रखने का निवेदन भी करता है (१६.९ और बाद, ५१ और बाद)। ऋग्वेद में इनके लिये व्यवहृत अनेक उपाधियाँ यहाँ पुन. मिलती हैं, जैसे बभ्रु (१६.६), कपर्दिन (१६.१०); उग्र (१६.४०), अभीष्टवर्षी और कृपालु (१६.५१), इत्यादि। साथ ही यहाँ अनेक नवीन उपाधियों को भी इन पर लाद दिया गया है, जैसे नीलग्रीवा, सहस्राक्ष (१६.७), सहस्र तरकस वाले (१६.१३), चर्म-वसन धारण करनेवाले (३.६१,१६.५१); पर्वतों में निवास करनेवाले (१६.२,३,४), तथा अनेक अन्य जिनकी यहाँ गणना नहीं कराई जा सकती (१६.१७–४६)। इन उपाधियों के आविष्कार में ऋषियों की कल्पना सीमा का अतिक्रमण कर गई है, और इसके कारण ये उपाधियाँ अत्यन्त भिन्न-जातीय गुणों को व्यक्त करती हैं। रुद्र से संयुक्त यहाँ के कुछ गुणों की प्रकृति अपमानजनक है, जैसे जब इन्हें 'चोरों का अधिपति, डाकुओं का अधिपति, धोखेबाज, तस्करों और दस्युओं का अधिपति इत्यादि' कहा गया है (१६.२०–२१)। इस वेद में रुद्र को

अनेक नवीन नाम, जैसे भव, शर्व, पशुपति, आदि, प्रदान किये गये हैं (१६. १८,२८)। शतरुद्रिय में आनेवाली इनकी उपाधियाँ बाद के महादेव के उग्र, भयंकर, अशुद्ध, और कहीं-कहीं घृणास्पद चरित्र के प्रायः समान हैं। अम्बिका का सर्वप्रथम वाजसनेयि संहिता (३.५) में उल्लेख है, और यह यहाँ रुद्र की पत्नी नहीं वल्कि बहन हैं।

अथर्ववेद में भी रुद्र के ओषधिक और उपचारात्मक तथा, भव और शर्व के विनाशक बाणों और विद्युत प्रहारों का उल्लेख है (२.२७,६; ६.९३,१; १०.१,२३; ११.२,१.१२ इत्यादि)। रुद्र को अग्नि के साथ समीकृत किया गया है (७.८७,१), पुनः सविता के साथ भी (१३.४,४)। दूसरी ओर भव और शर्व, तथा पुनः भव और रुद्र का द्विवचन में उल्लेख है (८.२,७; १०.१,२३; ११.२,१; २,१४.१६, ६,९; १२.४,१७)। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषिगण इन्हें स्वतन्त्र देवता मानते थे। पुनः शर्व का एक धनुर्धर के, और भव का एक राजा के रूप में वर्णन है (६.९३,२); तथा इन्हें और रुद्र को भी, विष तथा यक्ष्मा आदि का अधिपति कहा गया है (६.९३,२, ११.२,२६)। अथर्ववेद ११.२,२.३०, में रुद्र के मांस-भक्षी पक्षियों और कुत्तों का उल्लेख है (तुकी वाज० स० १६.२८)। एक अन्य मन्त्र में भव को पृथिवी तथा आकाश का शासक, और विस्तृत अन्तरिक्ष को व्याप्त करनेवाला कहा गया है (अवे० ११.२,२७)।[३१४]

शतपथ ब्राह्मण (१.७,३,८) में सर्व, भव, पशुपति, और रुद्र सभी को अग्नि के नाम बताया गया है; और इन नामों में से सर्व को प्राच्यों द्वारा, तथा भव को वाहीकों की पश्चिमी जातियों द्वारा व्यवहृत कहा गया है। इसी

---

[३१४] निरुक्त १.१५ मे रुद्र से सम्बद्ध एक स्थल है (रॉथ द्वारा इल० ऑफ नि०, पृ० १२, नोट ४ मे उद्धृत) जिसे भाष्यकार दुर्ग ने विस्तार से दिया है। स्थल इस प्रकार है 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे विघ्नन् पृतनासु शत्रून्। ससृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता प्रत्यङ् जनान् सञ्चुकोचान्त-काले।' "एक ही रुद्र है, और द्वितीय नही। युद्ध मे अपने शत्रुओ का वध करके, समस्त लोको की सृष्टि करके, संसार की रक्षा करके, यह प्रलयकाल मे समस्त प्राणियो को समाप्त कर देते हैं।" दुर्ग ने यह नही बताया है कि श्लोक कहाँ से लिया गया है, और मैं भी इस सम्बन्ध मे कुछ नही कह सकता। प्रथम पक्ति मे रुद्र को एक युद्धकर्त्ता के रूप मे व्यक्त करने के बाद दूसरी पक्ति मे उन्हे विश्व के सृजन, पालन, और सहार के त्रिविध कार्यों से युक्त किया गया है।

ब्राह्मण का एक अन्य स्थल (६.१,३,७ और बाद) एक कुमार ('कुमार' शब्द ऋग्वेद ५.२,१ में अग्नि के लिये व्यवहृत है) के जन्म का वर्णन करता है, जिसे क्रमशः रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्-देव, और ईशान नाम दिये गये हैं, और लेखक के अनुसार ये सभी अग्नि के विभिन्न रूपों को व्यक्त करते हैं। इसी कथा के शाङ्खायन ब्राह्मण के कुछ भिन्न रूप में, इस नवजात देवता को अग्नि के साथ समीकृत नहीं किया गया है। किन्तु प्रो० वेवर द्वारा उल्लिखित शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य स्थल (९.१.१,१ और बाद) में पुनः स्पष्ट रूप से उक्त समीकरण को व्यक्त किया गया है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, अग्नि और रुद्र के सम्बन्ध के चिह्न कार्त्तिकेय के जन्म के उस आख्यान में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं जिसे मैं ऊपर महाभारत से उद्धृत कर चुका हूँ।

फिर भी, यद्यपि ये देवता किसी समय आकर एक दूसरे के साथ इस प्रकार समीकृत भले ही हो गये हों, तथापि ऋग्वेद में रुद्र के लिये व्यवहृत स्पष्ट उपाधियाँ इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि इस देवता को आरम्भिक उपासक सामान्य रूप से अग्नि से भिन्न मानते थे। वैदिक सूक्तों और ब्राह्मणों दोनों में (देखिये ऊपर ऋग्वेद २.१,६, अवे० ७.८७,१, १३.४,४; शतपथ ब्राह्मण ६.१,१,५ इत्यादि), विभिन्न देवताओं को एक साथ समीकृत करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है जिसकी उस दिव्य सिद्धान्त के एक अस्पष्ट से ऐक्य की धारणा से उत्पत्ति हुई हो सकती है जिसका ही इन अनेक देवताओं को प्रगट या व्यक्त रूप माना गया है।

रुद्र से सम्बद्ध जिन स्थलों को मैंने उद्धृत किया है उनमें, तथा महाकाव्यों में मिलनेवाले इसी देवता के आरम्भिकतम विवरणों के बीच एक चौड़ी खाई आती है जिसकी पूर्ति के लिये, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कोई भी प्राचीन सामग्री (क्योंकि उपनिषदों का समय अनिश्चित है) उपलब्ध नहीं है। महाभारत के रुद्र वास्तव में अपने सामान्य चरित्र की दृष्टि से इसी नाम से वर्णित शतरुद्रिय के देवता से बहुत भिन्न नहीं हैं, किन्तु बाद के साहित्य में इनके महत्त्व में अत्यधिक वृद्धि हो गई है, इनके गुणों का कहीं अधिक स्पष्टता से वर्णन किया गया है, और इनकी व्यक्तित्व सम्बन्धी धारणाओं को अनेक परवर्ती गुणों द्वारा और उनकी व्याख्या को अनेक आख्यानों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। एक गौण या अपेक्षाकृत हीन देवता, जैसे कि ये वैदिक युग में हैं, की अपेक्षा रुद्र ने अब अग्नि वायु, सूर्य, मित्र, और वरुण को सर्वथा पृष्ठभूमि में ढकेल दिया है। यद्यपि इन्द्र को अब भी महाकाव्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है, तथापि इनकी एक हीन स्थिति

हो गई है और ये शक्ति अथवा वैभव में रुद्र की समता करने में सर्वथा असमर्थ हैं, क्योंकि विष्णु के साथ-साथ, रुद्र ने अब ब्राह्मणीय उपासना क्षेत्र पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया है। अम्बिका, जिसे बाद में रुद्र की पत्नी कहा जाने लगा, वाजसनेयि संहिता में रुद्र की बहन है। उमा अथवा पार्वती, जिससे वैदिक युग में ये सर्वथा असम्बद्ध थे, और जिसका, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आरम्भिकतम उल्लेख केनोपनिषद् और तैत्तिरीय आरण्यक[३१५] में मिलता है, अब इनकी पत्नी बन गई हैं।[३१६] व्यवस्थित पुराकथाशास्त्र में इन्हें संहारक का कार्य प्रदान किया गया है; जब की सृजन-कार्य ब्रह्मा का और पालन-कार्य विष्णु का माना गया है। साथ ही, एक महान सृजनात्मक शक्ति के प्रतीक लिङ्ग के रूप में भी इनकी पूजा होने लगी।

लासन (इण्डि० ऐन्टी० १.७८३) का कथन है कि महाकाव्यों में लिङ्ग का कोई उल्लेख नहीं है। फिर भी, मैं महाभारत से एक स्थल ऊपर उद्धृत कर चुका हूँ जहाँ विस्तार से लिङ्गोपासना का उल्लेख है, यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि उक्त स्थल का समय क्या है। तुकी० 'महाशेफ' उपाधि भी जो इसी विचार की ओर संकेत करती है :

निम्नलिखित स्थल पर, जो महाभारत से ही लिया गया है, लिङ्ग का पुनः उल्लेख है।

महाभारत १३.१६१,१० : दहत्य् ऊर्ध्वं स्थितो यच् च प्राणान् नृणां स्थिरश् च यत्। स्थिर-लिङ्गं च यन् नित्यं तस्मात् स्थाणुर् इति स्मृतः।......१५. नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गम् अस्य यदा स्थितम्।

---

[३१५] इन स्थलो को अगले खण्ड मे उद्धृत किया जायगा।

[३१६] ऐसा प्रतीत होता है कि (देखिये वेस्टगार्ड का भारतीय इतिहास के प्राचीनतम काल के सम्बन्ध मे शोध प्रबन्ध, पृ० ८२, नोट) पाणिनि (४.१,४९) एक ऐसा नियम देते हैं जिसके अनुसार ऋग्वेद मे मिलनेवाले इन्द्राणी और वरुणानी नामक देवियो के नामो के अतिरिक्त चार अन्य ऐसी देवियो का, जो ऋग्वेद मे नही मिलती और जो सभी शिव की स्त्रिया है (उनके भव, शर्व, रुद्र और मृड नामो के अन्तर्गत) नाम भी बनाया जा सकता है, जैसे भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, और मृडानी। यह नियम इस प्रकार है . 'इन्द्र-वरुण भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्य्याणाम् आनुक्।' फिर भी इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि अन्तिम चार देवियो को पाणिनि के समय तक कुछ महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इन्द्राणी और वरुणानी का तो कभी भी विशेष महत्त्व नही था।

महयन्त्य् अस्य लोकाश च प्रियं ह्य् एतद् महात्मनः। विग्रहम् पूजयेद् यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः। लिङ्ग-पूजयिता नित्यम् महतीं श्रियम् अश्नुते। ऋषयस् चापि देवाश् च गन्धर्वाप्सरसस् तथा। लिङ्गम् एवार्चयन्ति स्म यत् तद् ऊर्ध्वं समास्थितम्। इत्यादि।

"ये ऊर्ध्व-भाग में स्थित होकर देहधारियों के प्राणों का नाश करते हैं। सदा स्थिर रहते हैं और इनका लिङ्ग-विग्रह सदा स्थिर रहता है।······मनुष्य यदि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये प्रतिदिन स्थिर-लिङ्ग की पूजा करता है तो इससे महात्मा शंकर को अत्यन्त प्रसन्नता होती है। जो महात्मा शिव के लिङ्ग की पूजा करता है वह लिङ्गपूजक सदा बहुत बड़ी सम्पत्ति का भागी होता है। ऋषि, देवता, गन्धर्व, और अप्सरायें ऊर्ध्वलोक में स्थित लिङ्ग की ही पूजा करती हैं।"

अनुशासन पर्व के ही एक अन्य स्थल पर शिव के नामों की सूची में भी लिङ्ग का उल्लेख है :

महा० १३.१७,४६ : ऊर्ध्व-रेता ऊर्ध्व-लिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभः स्थितः।···७७. लिङ्गाध्यक्षः सुराध्यक्षः···बीजाध्यक्षो बीज-कर्त्ता।······ ये ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्व-लिङ्गी, ऊर्ध्वशायी, और आकाश में वास करनेवाले हैं।··· ये लिङ्गाध्यक्ष, सुराध्यक्ष, बीजाध्यक्ष, और बीजकर्त्ता हैं।"

हमारे पास यह दिखाने के लिये कोई विवरण नहीं हैं किस प्रकार यह लिङ्ग प्रतीक रुद्र से सम्बद्ध हो गया। किन्तु जैसा कि स्टीवेन्सन (जए्सो० ८.३३०)[३१७] और लासन (इण्डि० ऐन्टी० १.७८३) कल्पना करते हैं,

---

[३१७] इस शोध-निबन्ध मे डा० स्टीवेन्सन यह मत व्यक्त करते हैं कि शिव की, विशेपरूप से लिङ्ग के रूप मे पूजा के लिये आधुनिक हिन्दू धर्म भारत के ब्राह्मण-पूर्व धर्म का ऋणी है अर्थात् वर्तमान ब्राह्मण जाति और धर्म के पूर्व-स्थित आदिवासी जातियो के स्थानीय अन्ध-विश्वासो का। शिव से सम्बद्ध इन विचारो को डा० स्टीवेन्सन ने इन तथ्यो पर आधारित किया है (१) शिव का प्राचीन वैदिक सूक्तो मे उल्लेख नही है, (२) उन सूक्तो मे रुद्र को वह उच्च स्थान प्राप्त नही है जो बाद के शिव को प्राप्त है; (३) दक्ष के आख्यान के विभिन्न विवरण, जैसे शिव को यज्ञ-भाग न देने पर देवो आदि मे समान सहमति, और यह तथ्य कि इनकी उपासना-पद्धति मे ब्राह्मण-पुरोहितो की आवश्यकता नही है, शिव की पूजा की उत्पत्ति को एक बाद का विकास बना देते हैं, (४) लिङ्ग तथा किसी भी अन्य प्राचीन ब्राह्मण-धर्मी प्रतीक के बीच कोई सम्बन्ध नही है, (५) लिङ्गोपासना के प्रमुख पीठ दक्षिणी तथा पूर्वी

इसका आदिवासी अथवा अनार्य भारतीयों की उपासना की वस्तु होना असम्भव नहीं है। बाद में उनसे ग्रहण करके इसे ब्राह्मणों ने रुद्र की उपासना के साथ सयुक्त कर दिया हो सकता है।

यह अनुमान उस समय और भी सम्भाव्य बन जाता है जब हम इस मान्यता की पुष्टि कर दें कि 'शिश्नदेव' शब्द से, जो ऋग्वेद के दो स्थानों पर आता है, उन बर्बर जातियों में प्रचलित किसी उपासना-पद्धति का तात्पर्य है जिनको वैदिक ऋषि अपने से भिन्न धर्मवाला मानकर अक्सर रोष और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जिस स्थल पर यह शब्द आता है उसे प्रस्तुत ग्रन्थ के दूसरे भाग में उद्‌धृत किया जा चुका है। किन्तु मैं उसको यहाँ ससन्दर्भ पुनः उद्‌धृत करके उसकी और अधिक व्याख्या करूँगा। प्रथम स्थल इस प्रकार है :—

ऋग्वेद ७.२१,३ और बाद : त्वम् इन्द्र स्रवितवा अपस् कः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः। त्वद् वावक्रे रथ्यो न धेना रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि भीषा। ४. भीमो विवेष आयुधेभिर् एषाम् अपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्। इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि दूधोद् वि वज्र-हस्तो महिना जघान। ५. न यातव इन्द्र जूजुवुर् नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः। स शर्धद् अर्यो विषुणस्य जन्तोर् मा शिश्नदेवा अपि गुर् ऋतं नः। ६. अभि क्रत्वा इन्द्र भूर् अध ज्मन् न ते विव्यङ् महिमानं रजांसि। स्वेना हि वृत्रं शवसा जघन्थ न शत्रुर् अन्तं विविदद् युधा। ७. देवाश् चित् ते असुर्याय पूर्वे अनु क्षत्राय ममिरे सहांसि। इन्द्रो मघानि दयते विषह्य इन्द्रं वाजस्य जोहवन्तु सातौ। ८ कीरिश् चिद् हि त्वाम् अवसे जुहाव ईशानम् इन्द्र सौभगस्य भूरेः। अवो बभूथ शतम्-ऊते अस्मे अभिक्षत्तुस् त्वावतो वरूता।

"हे शूर इन्द्र! तुमने वृत्र द्वारा आक्रान्त बहुत जल भेजा है। तुम्हारे ही कारण नदियाँ रथियों की भाँति निकलती हैं। तुम से भय के कारण समस्त विश्व काँपता है। ४. इन्द्र ने मनुष्यों के सारे हितकर कार्यों को जानकर

भारत मे, मूल ब्राह्मण धर्म के स्थानो से दूर, मिलते हैं, (६) महाराष्ट्र देश मे लिङ्ग–मन्दिरो मे कोई ब्राह्मण पुरोहित नही मिलता, जब कि इसके विपरीत विष्णु के मन्दिरो मे केवल ब्राह्मण ही पुरोहित होते हे [मेरी समझ से उत्तर भारत मे यह विभेद नही मिलता। बनारस के विश्वनाथ मन्दिर मे, यदि मैं भूल नही कर रहा हूँ तो, केवल ब्राह्मण ही पुरोहित हैं। एडवर्ड फिट्ज़रल्ड हॉल का भी यही विचार है जिनसे मैने इस यिषय पर पत्रव्यवहार किया है]।

तथा आयुधों से भयंकर होकर असुरों को व्याप्त किया था तथा उनके सभी नगरों को कम्पित किया था। उन्होंने प्रमत्त, महिमान्वित, और वज्रहस्त होकर उनका वध किया था। ५. इन्द्र! राक्षस हमें न मारें। बलि-श्रेष्ठ इन्द्र! प्रजा से हमें राक्षस अलग न करें। स्वामी इन्द्र विषम जन्तु को मारने में उत्साहित होते हैं। शिश्न देव हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें। ६ इन्द्र! तुम कर्म-द्वारा पृथिवी के सभी जीवों को अभिभूत करते हो। संसार तुम्हारी महिमा को व्याप्त नहीं कर सकता। तुमने अपने बाहु-बल से वृत्र का वध किया है। युद्ध में शत्रु तुम्हारा पार नहीं पा सकते। ७. इन्द्र! प्राचीन देवों ने भी बल और शत्रु-वध में तुम्हारे बल से अपने बल को कम समझा था। शत्रुओं को पराजित करके इन्द्र भक्तों को धन देते हैं। अन्न-प्राप्ति के लिये स्तोता इन्द्र को बुलाते हैं। ८. इन्द्र! तुम ईशान और ईश्वर हो। रक्षा के लिये स्तोता तुम्हें आहूत करते हैं। वृत्रहन्ता इन्द्र! तुम हमारे यथेष्ट धन के रक्षक हुये थे। तुम्हारे समान हमारा जो हिंसक हो उसका निवारण करो।"

ऋग्वेद १० ९९,१ : कं नश् चित्रम् इषण्यसि चिकित्वान् पृथुग्मानं वाश्रं वावृधध्यै। कत् तस्य दातु शवसो व्युष्टौ तक्षद् वज वृत्र-तुरम् अपिन्वत्। २. स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिम् असुरत्वाऽऽस-साद। स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर् न ऋते सप्तथस्य मायाः। ३. स वाज याता अपदुष्पदा यान् स्वर्षाता परिषदत् सनिष्यन्। अनर्वा यत् शत दुरस्य वेदो घ्नन् शिश्न देवान् अभि वर्पसाऽभूत्। ४. स यह्व्यो अवनीर् गोषु अर्वा आ जुहोति प्रधन्यासु सस्निः। अपादो यत्र युज्यासोऽ-रथा द्रोण्य्-अश्वासः ईरते घृत वाः। ५. स रुद्रेभिर् अशस्तवार. ऋभ्वा हित्वी गयम् आरे-अवद्यः आ अगात्। वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नम् अभीत्य अरोदयत् मुषायन्। ६. स इद् दास तुवी-रवम् पतिर् दन् षळ्-अक्ष त्रि-शीर्षाण दमन्यत्। अस्य त्रितो नु ओजसा वृधानो विपा वराहम् अयो-अग्रया हन्। ७. स द्रुह्वणे मनुषे ऊर्ध्वसानः आ साविषद् अर्शसानाय शरुम्। स नृतमो नहुषोऽस्मात् सुजातः पुरोऽभिनद् अर्हन् दस्यु-हत्ये। "हे इन्द्र! तुम जानकर हमें विचित्र सम्पत्ति देते हो। वह सम्पत्ति बढ़ती है, वह प्रशंसनीय है, और वह हमें बढ़ाती है। इन्द्र के बल की वृद्धि के लिये हमें क्या देना होगा? उनके लिये वृत्र-हिंसक वज्र बनाया गया है। उन्होंने वृष्टि-वर्षण किया। इन्द्र विद्युत से युक्त होकर यज्ञ में समागम के प्रति जाते हैं। वे बल-पूर्वक अनेक स्थानों पर अधिकार कर डालते हैं। वे समान-स्थान में रहनेवाले मरुतों के साथ शत्रु को हराते हैं। वे आदित्यों के सप्तम भ्राता हैं। उनको त्याग करके कोई कार्य नहीं हो सकता। २. वे सुन्दर

गति से जाकर युद्ध-क्षेत्र में अवस्थित होते हैं। वे अविचल होकर सौ द्वारोंवाली शत्रुपुरी से धन ले आते हैं और शिश्न-देवता-परायण दुरात्माओं को अपने तेज से हराते हैं। ४. वे मेघों की ओर जाकर उर्वरा-भूमि पर बहुत जल गिराते हैं। उन सब जलवाले स्थानों पर अनेक छोटी-छोटी नदियाँ एकत्र होकर घृत के समान जल को बहाती हैं। उनके न तो चरण हैं, न रथ है, और न द्रोणि है। ५. इन्द्र बिना प्रार्थना के ही मनोरथ पूर्ण करते हैं। वे प्रकाण्ड हैं। उनके पास दुर्नाम नहीं जाता। वे अपने स्थान से रुद्र-पुत्र मरुतों के साथ यहाँ आवें। मुक्त वम्र के माता-पिता का क्लेश चला गया, क्योंकि मैंने अन्न का हरण करके शत्रुओं को रुलाया है। ६. प्रभु इन्द्र ने कोलाहल करनेवाले दासों का शासन किया था। उन्होंने तीन कपालों और छः आँखोंवाले विश्वरूप को मारा था। इन्द्र के तेज से तेजस्वी होकर त्रित ने लोहे के समान तीक्ष्ण नखोंवाली अँगुलियों से वराह का वध किया था। ७ उनके किसी भक्त को शत्रु यदि युद्ध के लिये बुलाते हैं तो वे दर्प के साथ शरीर को फुला कर शत्रुवध के लिये उत्तम अस्त्र प्रदान करते हैं। वे मनुष्यों के सर्वश्रेष्ठ नेता हैं। दस्युविनाश के समय मान्य इन्द्र ने अनेक शत्रु-पुरियों को ध्वस्त किया था।"[३१८]

ऋग्वेद ७.२१,५ पर अपनी टीका में सायण ने 'शिश्न-देव' शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हुये द्वितीय स्थल की व्याख्या में भी संक्षिप्त रूप से इसी को दोहराया है : शिश्न-देवाः। शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति इति शिश्न-देवाः। अब्रह्मचर्य्याः इत्य् अर्थः। तथा च यास्कः। 'शिश्न-देवा अब्रह्म-चर्य्याः" ।'' "शिश्न देव वह हैं जो शिश्न के साथ क्रीडा करते हैं, अर्थात अब्रह्मचारी लोग। यास्क का कथन है कि 'शिश्नदेवा.' का अर्थ 'अब्रह्मचारी' है।' जैसा कि रॉथ (इल० ऑफ नि० पृ० ४७) ने उद्धृत किया है, निरुक्त के भाष्यकार, दुर्ग, भी सायण के समान ही व्याख्या देते हैं। इनका कथन है कि उन लोगों को शिश्नदेव कहते हैं जो वैदिक कर्मों को छोड़कर नित्य प्रति वेश्याओं आदि के साथ क्रीडा करते रहते हैं (शिश्नेन नित्यम् एव प्रकी-र्णाभि' स्त्रीभिः साकं क्रीडन्त आसते श्रौतानि कर्माण्य् उत्सृज्य)। रॉथ का विचार है कि यह शब्द कामाचारी राक्षसों आदि के लिये प्रयुक्त एक व्यंगात्मक विशेषण है।

मुझे ऐसा नहीं प्रतीत होता कि सायण की व्याख्या में इसी अर्थ की सम्स्तुति है। वेद में कुछ और यौगिक शब्द ऐसे है जिनके अन्त में 'देव'

---

[३१८] प्रो० ऑफरेख्त ने इन दोनों स्थलो के अनुवाद मे मुझे पर्याप्त सहायता दी है।

शब्द आता है, जैसे 'अनृत-देव' (ऋग्वेद ७.१०४,१४), और 'मूर-देव' (७.१०४,२४)। सायण ने 'मूर-देवाः' की = 'मारण क्रीडाः' व्याख्या की है। अतः आप देव को यहाँ भी उसी अर्थ में ग्रहण करते हैं जिसमें शिश्नदेव के देव को ग्रहण किया है। किन्तु अन्य शब्द 'अनृत-देव' में आप देव को उसके सामान्य आशय 'देवता' के अर्थ में ग्रहण करते हुये उसकी 'अनृता असत्य भूता देवा यस्य तादृशः' व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद १.१८०,७ में आप 'अन्ति-देवम्' को भी 'देवों के निकट' अर्थ में ग्रहण करते हैं। यद्यपि बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में 'अनृत-देव' का 'झूठा खेल खेलनेवाला' अर्थ किया गया है, तथापि 'देव' शब्द की व्याख्या के अन्त में इस अर्थ को वापस ले लिया गया है (सायण के अर्थ के पक्ष में)। साथ ही, सायण द्वारा 'शिश्न-देव' को प्रदान किया गया अर्थ भी बहुत सम्भाव्य नहीं प्रतीत होता। क्योंकि 'कामुक' विशेषण उस वैदिक युग के एक भारतीय कवि के लिये अनिवार्यतः भर्त्सनात्मक शब्द नहीं कहा जा सकता, जब यद्यपि विवाह की संस्था को मान्यता तथा आदर प्राप्त हो चुका था, तथापि मनुष्यों की अब्रह्मचर्यात्मक प्रवृत्ति को बहुत अधिक निन्दास्पद नहीं माना जाता था (तुकी ऋग्वेद १.१६७,४; ९.११२,४; १०.८६,१६.१७)। दूसरी ओर, यदि 'शिश्नदेव' शब्द से मानवों का तात्पर्य है, और यदि इससे आर्य उपासना-पद्धति से विचलन का अर्थ अभिप्रेत है, तो ऋग्वेद में इसके अनेक समानान्तर शब्द मिलेंगे, जैसा कि 'अकर्मन्, अदेवयु, अनृच्, अनिन्द्र, अन्य-व्रत, अपव्रत, अव्रत, अब्रह्मन्, अयज्वन्' आदि की तुलना के आधार पर देखा जा सकता है।

फिर भी, यह आपत्ति की गई है कि 'शिश्न' को उस 'लिङ्ग' शब्द का समानार्थी नहीं माना जा सकता जिसका अर्थ 'चिह्न' और जो इसलिये प्रतीकात्मक है; जब कि 'शिश्न' किसी प्रतिमा का अभिव्यञ्जक नहीं बल्कि स्वयं पुरुष के शिश्न का द्योतक है। जैसा कि प्रो० ऑफरेख्त ने मुझे सकेत किया है, ऋग्वेद १.१०५,८ में 'शिश्न' का अर्थ 'पूँछ' भी है : मूषो न शिश्ना व्यदन्ति मा आध्यः। यदि राक्षसों या दैत्य के अर्थ में 'शिश्नदेवाः' को ग्रहण किया जाय तो इसका अर्थ, जैसा कि रॉथ का विचार है, 'पूँछ युक्त दैत्य' होगा 'शिश्न का उपासक' नहीं। वही कठिनाई यहाँ भी उपस्थित होती है जिसका हमें 'दस्यु' का अर्थ निश्चित करने में सामना करना पड़ता है, अर्थात् यह कि 'दस्यु' से मनुष्यों का तात्पर्य है अथवा दैत्यों का। ऊपर उद्धृत प्रथम स्थल (७.२१,५) पर, ऐसा प्रतीत होता है कि, जब तक हम 'शिश्नदेव' के वास्तविक अपरिचित हैं, इससे मनुष्यों अथवा दैत्यों में से किसी का भी आशय ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि आर्य-यज्ञों के अवसरों

पर इनमें से किसी को भी वाञ्छनीय आगन्तुक नहीं माना जाता रहा होगा। सम्भवतः, यतः 'यातवः' (दैत्य) शब्द इसके पूर्व आता है, अतः इससे इन्हीं का तात्पर्य अभिप्रेत प्रतीत होता है। दूसरे स्थल के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

अतः, वैदिक ऋषियों के समकालीन आदिवासियों में शिश्न-पूजा की उपस्थिति का प्रमाण ढूँढना चाहे कितना भी मनोरञ्जक हो, यह मानना होगा कि शिश्न-देव इसका प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में मैंने एक स्थल उद्धृत किया है, जिसमें सिग्नोर गोरेसियो यह मत व्यक्त करते हैं कि दक्षिण की जाति, जिन्हें आप 'राक्षस' शब्द से व्यक्त मानते हैं, विशेष रूप से 'रुद्र' की पूजा करती थी। दक्षयज्ञ के विनाश के सम्बन्ध में आप उसी स्थान पर यह कहते हैं: "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस तथ्य में भारत के प्राचीन धर्मों के संघर्ष को एक पौराणिक आवरण में व्यक्त किया गया है। शिव (जिसे, मैं विश्वास करता हूँ कि, कुसाइट अथवा हेमिटिक जातियों का देवता कहना चाहिये जो भारतीय आर्यों के भारत आने के पहले ही भारत आ गया था) ने विजेताओं की पूजा और यज्ञ में अपना भाग प्राप्त करने की इच्छा की जिससे उसे वञ्चित रक्खा गया था। अतः उनके यज्ञों को नष्ट करके और उनके यज्ञों के अवसर पर हिंसात्मक कार्य करके उसने इसमें सफलता प्राप्त की।" फिर भी, सिग्नोर गोरेसियो इस बात का प्रायः नहीं सा ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि दक्षिण की बर्बर जातियों में शिव की उपासना विशेष रूप से क्यों प्रचलित थी। रामायण ६.१९,५० पर टिप्पणी करते हुये आप ये विचार व्यक्त करते हैं: 'हेमिटिक जातियों की उपासना के अन्तर्गत सर्प को एक विशेष प्रतीक माना जाता था, इसीलिये काले राक्षस इन्द्रजित् ने, जो हेमाइट था, सर्व को अपनी ध्वजा में स्थान दिया था। इस प्रकार सुन्दरकाण्ड के ७८ वें अध्याय में यह कहा गया है कि इन्द्रजित् विशेष रूप से शिव की पूजा किया करता था, और यह शिव एक हेमिटिक देवता है, क्योंकि इसमें हेमिटिक धर्म के सभी गुण विद्यमान है। इसने भारतीय सांस्कृतिक देवसभा में उन्हीं धार्मिक सम्प्रदायैक-साधन के आधार पर स्थान प्राप्त कर लिया जो प्राचीन उपासना पद्धतियों में बहुधा मिलता है।"

गोरेसियो ने सुन्दरकाण्ड के जिस स्थल का ऊपर उल्लेख किया है वह कलकत्ता सस्करण में युद्धकाण्ड के सातवें अध्याव (श्लोक १८ और बाद) में इस प्रकार आता है:

तिष्ठ त्वं किम् महाराज श्रमेण तव वानरान्। अयम् एको महाराज

इन्द्रजित् प्रमथिष्यति। अनेन च महाराज माहेश्वरम् अनुत्तमम्। इष्ट्वा यज्ञ वरो लब्धो लोके परम-दुर्लभः। "महाराज आप चुप चाप यहीं बठे रहें। आपको परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है। अकेले ये महावाहु इन्द्रजित् ही सब वानरों का सहार कर डालेंगे। महाराज! इन्होंने परम उत्तम माहेश्वर यज्ञ का अनुष्ठान करके वह वर प्राप्त किया है जो ससार में दूसरे के लिये अत्यन्त दुर्लभ है।"

यह स्थल इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त नहीं कि महादेव वर्बर दक्षिण के विशेष उपास्य देव थे। अर्जुन, जयद्रथ, परशुराम, तथा जरासन्ध के महाभारत में उपलब्ध विवरणों के आधार पर हम ऊपर देख चुके हैं कि महादेव की उपामना (वर प्राप्ति के लिये) उत्तर भारत के वीरों में भी उसी प्रकार प्रचलित थी जिस प्रकार यहाँ इसी कार्य के लिये इन्द्रजित् द्वारा महादेव की उपासना की चर्चा की गई है। साथ ही, राक्षसगण अपने मनोरथों की सिद्धि के लिये केवल शिव की ही उपासना नहीं करते थे। रामायण के एक स्थल (ऊपर पृ० १४० पर उद्धृत) से ऐसा प्रतीत होता है कि रावण ने ब्रह्मा से वर प्राप्त किये थे।

रावण के पुत्र, अतिकाय, के सम्बन्ध में भी रामायण ६.७१,२१ (कलकत्ता सं०) में यही बात कही गई है :

एतेनाराधितो ब्रह्मा तपसा भावितात्मना। अस्त्राणि चाप्य् अवाप्तानि रिपवश् च पराजिताः। सुरासुरैर् अबध्यत्वं दत्तम् अस्मै स्वयम्भुवा। "तपस्या से विशुद्ध अन्तःकरणवाले इस (अतिकाय) ने दीर्घकाल तक ब्रह्मा की आराधना की थी। इसने ब्रह्मा से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त करके उनके द्वारा अनेक शत्रुओं को पराजित किया है। ब्रह्मा ने इसे देवताओं तथा असुरों से अवध्य होने का वर भी दिया है।"

२८ वें श्लोक में इसे 'वृद्ध-सेवी श्रुति-धर.' कहा गया है। स्वयं रावण को भी रामायण में वैदिक धर्म का माननेवाला बताया गया है। इस प्रकार ६.९३,५८ (कलकत्ता सं० = ६.७२,६२, गोरेसियो सं०) इसके मंत्री, सुपार्श्वको को (गोरेसियो स० मे अविन्ध्य[३१९]), जिसे धर्मपरायण कहा गया है, यह कहते हुये प्रस्तुत किया गया हैं : वेद-विद्या-व्रत-स्नातस् स्व-कर्म-निरतस् तथा। स्त्रियाः कस्माद् बध वीर मन्यसे राक्षसेश्वर। 'हे राक्षसेश्वर! तुम वेद-विहित व्रतों और नियमों के ज्ञाता और धर्मपरायण हो। तव तुम स्त्री के

---

[३१९] महाभारत के वनपर्व मे रामोपाख्यान मे भी इसे अविन्ध्य ही कहा गया है।

वध की बात कैसे सोचते हो ?" और विभीषण, अपने भ्राता रावण की मृत्यु के बाद, उसकी प्रशंसा करते हुये इस प्रकार कहता है : ६.१११,२४ कल० = ६.९३,३० गोरे० : एषो हिताग्निश्[320] च महातपाश् च वेदान्त-गः कर्मसु चाग्र्य-शूरः। "यह रावण अग्निहोत्री, महातपस्वी, वेदान्तवेत्ता, तथा यज्ञादि कर्मों में श्रेष्ठ शूर रहा है।"[321]

पुनः, कलकत्ता सं० के १११ वें अध्याय में यह कहा गया है कि रावण का प्रचलित ब्राह्मण धर्म के अनुसार दाह-संस्कार किया गया, यद्यपि भाष्यकार का कथन है कि इस कार्य में सहायक ब्राह्मण वास्तव में राक्षस-द्विज थे :

रामायण ६.१११,११३ और बाद : चितां चन्दन-काष्ठैश् च पद्मकोशीर चन्दनैः। ब्राह्मया[322] संवर्त्तयामासू राङ्कवास्तरणावृताम्। प्रचक्रू राक्षसेन्द्रस्य पितृमेधम् अनुत्तमम्। वेदिञ्च दक्षिणाप्राची (म् ?) यथा-स्थानञ्च पावकम्। पृषदाज्येन सम्पूर्णं स्रुव स्कन्धे प्रचिक्षिपुः। पादयोः शकटम् प्रादाद (?) अन्तर् ऊर्वोर् उलूखलम्। दारु-पात्राणि सर्वाणि अरणिं चोत्तरारणिम्। दत्त्वा तु मुसलं चान्य यथा-स्थानं विचक्रमु'। शास्त्र दृष्टेन विधिना महर्षि विहितेन[323] च। तत्र मेध्यम् पशुं हत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः। परिस्तरणिकां[324] राज्ञो घृताक्ता समवेशयन्। गन्धैर् माल्यैर् अलंकृत्य रावणं दीन-मानसाः। विभीषण-सहायास् ते वस्त्रैश् च विविधैर् अपि। लाजैर् अवकिरन्ति स्म बाष्प पूर्ण-मुखास् तदा। स ददौ पावकं तस्य विधि-युक्तं विभीषण। स्नात्वा चैवार्द्र-वस्त्रेण तिलान् दर्भ-विमिश्रितान्। उदकेन च सम्मिश्रान् प्रदायविधि-पूर्वकम्।[325]

---

[320] एषो हिताग्निर् इत्य् आर्ष सन्धि। भाष्य०

[321] और, फिर भी, यही विभीषण ११३ वें अध्याय मे पुन अपने मृत भ्राता की निन्दा करता है।

[322] वेद–मार्गानुगत–क्रियया। भाष्य०

[323] कल्प–सूत्र–कृद्–ऋषि–विहितेन। भाष्य०।

[324] 'परिस्तीर्यते मुखम् अनया इति परिस्तरणिका वपा। ताम् राक्षसेन्द्रस्य मुखे समवेशयन्। "वपाऽस्य मुखम् प्रस्तीर्णेति" इति सूत्रात्। भाष्य।

[325] मैं यहाँ तुलना के लिये गोरेसियो सस्करण के पाठ को देता हूँ (६ ९६,१० और बाद). ततस् ते वेद-विद्वासस् तं राज्ञ. पश्चिमा क्रियां। चक्रिरे राक्षसेन्द्रस्य प्रेत-मेधम् अनुत्तमम्। वेदीञ्च दक्षिण प्राच्या च पावकम्। विभीषणस् तु सम्प्राप्य तूष्णी समसृजत् श्रुवम्। पृषदाज्यस्य सम्पूर्णान् श्रुवान् सर्वान् यथाविधि। रावणस्य तदा सर्वे बाष्प–पूर्ण–मुखा द्विजा। पादयो शकटं चक्रुर् अन्तरोराव् उदूखलम्। वानस्पत्यानि चान्यानि अन्तरेऽपि व्यधापयन्।

"मलयचन्दन के काष्ठ, पद्मक, उशीर्, तथा अन्य प्रकार के चन्दनों द्वारा वेदोक्त विधि से चिता बनाई गई और उसके उपर रङ्कुनामक मृग का चर्म बिछाया गया। उसके ऊपर राक्षसराज के शव को सुला कर उन्होंने उत्तम विधि से उसका पितृमेध किया। उन्होंने चिता के दक्षिण पूर्व में वेदी बनाकर उस पर यथास्थान अग्नि को स्थापित किया। फिर दधिमिश्रित घृत से भरी हुई स्रुवा रावण के कन्धे[326] पर रक्खी। इसके बाद पैरों पर शकट और जाँघों पर उलूखल रक्खा। तथा काष्ट के सभी पात्र, अरणि, उत्तरारणि, और मूसल आदि को भी यथा-स्थान रख दिया। वेदोक्त विधि तथा महर्षियों द्वारा रचित कल्पसूत्रों के अनुसार वहाँ समस्त कार्य हुआ। राक्षसों ने मेध्य पशु का हनन करके राजा रावण की चिता पर फैलाये हुये मृगचर्म को घृत से सींच दिया। तदनन्तर रावण के शव को चन्दन और पुष्पों से अलंकृत करके वे राक्षस मन ही मन दुःख का अनुभव करने लगे। फिर विभीषण के साथ अन्यान्य राक्षसों ने भी चिता पर नाना प्रकार के वस्त्र और लावा आदि बिखेरे। उस समय उन सबके मुख पर आँसुओं की धारा बह चली। इसके बाद विभीषण ने चिता में विधिवत् अग्नि दी। तदनन्तर स्नान करके भीगे वस्त्र पहने हुये ही उन्होंने तिल, कुश और जल के द्वारा रावण को विधिवत् जलाञ्जलि दी।"[327]

गोरेसियो का कथन है कि यहाँ ब्राह्मणों का अन्त्येष्टि कर्म एक भिन्न-जातीय राक्षसों में उसी प्रकार प्रचलित होने के रूप में वर्णित है जैसे होमर ने ट्रॉय में यूनानी कर्मों के प्रचलन का वर्णन किया है।

दत्त्वा तु मुषल चैव यथास्थानम् महात्मन। शास्त्र दृष्टेन विधिना महर्षि-विहितेन च। तत। पश्चात् पशु हत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः। अथास्तरणिकं सर्वं घृताक्तं समवेशयन्।

[326] आपस्तम्ब के अनुसार इसे नाक पर रखा जाना चाहिये था। अत यह कार्य अन्य सूत्रों के अनुसार किया गया होगा (यद्यपि "नासिके स्रुवम्" इत्य् आपस्तम्वेनोक्त तथापि सूत्रान्तरात् स्कन्धोपनिक्षेप स्रुवस्य बोध्य)। तुकी० मैक्स मूलर का ब्राह्मणो के अन्त्येष्टि कर्म पर लेख जो जजमोसो० १८५५, पृ० VI मे प्रकाशित है।

[327] इस सम्पूर्ण स्थल पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है 'तत्यजुस् तम् महाभागम् पञ्चभूतानि रावणम्। शरीर-धातवो ह्य् अस्य मास-त्वग्-रुधिरासु च। ब्रह्मास्त्र-निर्दग्धस्य न च भस्माप्य अपूश्यत" इति महाभारतोक्त-त्वेन कस्य वाल्मीकिना श्मशानानयन-पूर्वक-दाह उक्त इति चेन्न। तस्य राम-बाण-वर्णन-विषयेऽत्युक्त्य्-अलंकार-प्रत्वाद् इति वदति।

ऐसा भी प्रतीत नहीं होता कि अगले स्थल पर इन्द्रजित् (रावण–पुत्र) द्वारा किया गया कर्म ब्राह्मण प्रचलनों के विपरीत केवल रचित कृत्य ही था। फिर भी, कलकत्ता संस्करण में एक अन्य स्थल पर भाष्यकार ने निकुम्भिला की पूजा को काली–पूजा कहा है। यतः यह वर्णन कुछ मनोरञ्जक है अतः मैं इसको विस्तार से उद्धृत करूँगा :[३२८]

रामायण ६.१९,३८ और बाद (गोरेसियो) : इन्द्रजित् तु ततस् तेन संयुगेऽद्भुत-कारिणा । निर्जितो बालि-पुत्रेण क्रोध चक्रे सुदारुणम् । सोऽन्तर्धान गतः पापो रावणी रण-कर्कशः । निकुम्भिलायां विधि-वत् पावक जुहुवेऽस्त्र-वित् । जुह्वतस् तस्य तत्राग्नौ रक्तोष्णीषाम्बर स्रजः । आजह्रुस् तत्र सम्भ्रान्ता राक्षसा यत्र रावणिः । शस्त्राणि शितः धाराणि

---

[३२८] कलकत्ता सस्करण मे प्रथम श्लोक तथा द्वितीय का प्रथमार्ध प्रायः गोरेसियो के समान है। इसका द्वितीयार्ध तथा उसके बाद इस प्रकार हैं : 'ब्रह्म-दत्त-वरो वीरो रावणि क्रोध–मूर्छितत । अदृश्यो निशितान् वाणान् मुमोचाशनि-सन्निभान् । "रावण का पुत्र, जिसे ब्रह्मा से वर प्राप्त हो चुका था, क्रोध से पागल होकर विद्युत के समान तीक्ष्ण, वाणो से बीधने लगा।" कलकत्ता स० मे यज्ञ का कोई उल्लेख नही है। रामायण ५.२४ (कलकत्ता) यह कहा गया है कि रावण द्वारा बन्दी हो जाने पर राक्षसियाँ सीता को डराती थी। इनमे से एक ने सीता का भक्षण करने के उद्देश्य से कहा : "सुरा चानीयता क्षिप्र सर्व-शोक-विनाशिनी । मानुषम् मांसम् आस्वाद्य नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम् ।" "शीघ्र ही सुरा लाई जाय जो सब शोको का विनाश कर देती है। मानव-मास का आस्वादन करते हुये हम निकुम्भिला मे नृत्य करें।" इस स्थल के भाष्य मे बताया गया है कि निकुम्भिला लङ्का के पश्चिम मे स्थित भद्र-काली की एक मूर्ति का नाम है (निकुम्भिला नाम लकाया पश्चिम-भागवर्त्तिनी भद्रकाली। ता नृत्यामः तत्-समीप गत्वा नृत्याम)। उत्तर काण्ड (३०,२) मे हमे यह बताया गया है कि रावण ने अपने सेवको के साथ लङ्का के एक उपवन, निकुम्भिला, मे प्रवेश किया (ततो निकुम्भिला नाम लङ्कोपवनम् उत्तमम्)। भाष्यकार का कथन है कि यह "लङ्का के पश्चिमी द्वार पर स्थित यज्ञादि करने का स्थान था" (लङ्का–पश्चिम–द्वार–देश–वर्त्ती–कर्म–सिद्धि–हेतु–भूत–काननम्)। रावण के पुत्र, इन्द्रजित्, ने शुक्राचार्य की सहायता से यहाँ अग्निष्टोम, अश्वमेध, राजसूय, गोमेध, वैष्णव, आदि यज्ञ किये थे। जब उसने माहेश्वर यज्ञ किया तब महादेव ने प्रगट होकर उसे वर दिये। किन्तु वह वैष्णव यज्ञ भी करता था।

समिधोऽथ विभीतकात्। लोहितानि च वासांसि स्रुव कार्पायस तनः। सर्वतोऽग्नि समास्तीर्य्य शरैः स प्रास-तोमरैः। छागलस्यापि कृष्णस्य कण्ठाद् आदाय जीवतः। सोणित तेन विधिवत् स जुहाव रणोत्सुकः। सकृद् एव समिधस्य विधूमस्य महार्चिपः। बभूवुः र्सनिमित्तानि विजयं यान्य् अवेदयन्। प्रदक्षिणावर्त्त-शिखस् तप्तहाटक-सन्निभ.। हविस् तत् पतिजग्राह पावकः स्वयम् उत्थितः। ततोऽग्निमध्याद् उतस्थौ काञ्चनः स्यन्दनोत्तमः। चतुर्भिः काञ्चनापीडैर् अश्वैर् युक्तः प्रभद्रकै.। अन्तर्धान-गतः श्रीमान् दीप्त पावक-सप्रभः। हुताग्निम् तर्पयित्वा च दैत्य-दानव-राक्षसान्। वाचयित्वा ततः स्वस्ति प्रयुक्ताशीर् द्विजातिभिः। आरुरोह रथं श्रेष्ठम् अन्तर्-धान-चरं शुभम्। स्व-वश्यैर् वाजिभिर् युक्त शस्त्रैश् च विविधैर् युतम्: ५० जाम्बूनदमयो नागस् तरुणादित्य-सन्निभिः। बभूवेन्द्रजितः केतुर् वैदूर्य-समलङ्कृतः। हुत्वाऽग्नि राक्षसैर् मन्त्रैस् ततो वचनम् अब्रवीत्।

"किन्तु युद्ध-स्थल में भयानक कर्म करनेवाले वालिपुत्र अंगद से पराजित हो कर इन्द्रजीत ने अत्यन्त भयंकर क्रोध प्रगट किया। रावण के इस पापी पुत्र ने, जो अत्यन्त रण-कर्कश था, अन्तर्धान-विद्या का आश्रय लेकर यज्ञ-स्थल पर विधिवत पावक को आहुति दी। जब वहाँ वह लाल पगड़ी बाँध कर, अलंकार और हार धारण किये हुये अग्नि में आहुतियाँ डाल रहा था तब राक्षसगण तीक्ष्ण आयुध, लकड़ी के लट्ठे, हरीतकी, तथा काले लोहे का स्रुवा आदि लाये। वाणों, भालों, लोहे की गदाओं आदि के ढेर को अग्नि में डाल कर, तथा एक काले जीवित बकरे के गले से रक्त निकाल कर उस युद्ध के लिये उत्सुक राक्षसकुमार ने अग्नि में आहुति दी। उसी समय उस प्रदीप्त और धूम्ररहित अग्नि से ऐसे शुभ शकुन प्रगट हुये जो विजय के द्योतक थे। अपनी ज्वालाओं को दाहिने ओर करते हुये स्वच्छ सुवर्ण के समान दीप्तमान स्वय पावक ने प्रगट हो कर उस हवि को ग्रहण किया। तब अग्नि के बीच से एक भव्य और सुवर्ण रथ प्रगट हुआ जिसमें सुवर्ण शिरस्त्राणों से युक्त चार शुभ अश्व जुते हुये थे। प्रदीप्त अग्नि के समान दीप्तिमान इन्द्रजित् अग्नि को आहुतियों से सन्तुष्ट करके अन्तर्धान हो गया। दैत्यों, दानवों, और राक्षसों ने स्वस्तिवाचन किया। ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त करके वह सुन्दर रथ पर आरूढ़ हुआ जिसमें आत्मनिर्देशित अश्व जुते और विविध प्रकार के आयुध रक्खे थे।··· ५०. उगते हुये सूर्य के समान दीप्तिमान और वैदूर्यमणि से अलंकृत एक सुवर्णमय सर्व इन्द्रजित

की ध्वजा में स्थित हुआ। राक्षस मन्त्रों से अग्नि में आहुति देकर वह इस प्रकार बोला।" इत्यादि।

इन्द्रजित के इस यज्ञ की विभीषण ने पुनः चर्चा की है : ६.८४,१४ और बाद (कलकत्ता सं० = ६.६२,१३ गोरेसियो) : चैत्यं निकुम्भिलाम् अद्य प्राप्य होमं करिष्यति। हुतवान् उपयातो हि देवैर् अपि स-वासवैः। दुराधर्षो भवत्य् एष संग्रामे रावणात्मजः।··· १६. स सैन्यास् तत्र गच्छामो यावत् तन्न समाप्यते।··· २३. समाप्त-कर्मा हि स राक्षसर्षभो भवत्य् अदृश्यः समरे सुरासुरैः। युयुत्सता तेन समाप्त-कर्मणा भवेत् सुराणाम् अपि संशयो महान्। "वह इस समय निकुम्भिला के मन्दिर में जाकर होम करेगा और जब होम करके लौटेगा उस समय उस रावणात्मज को संग्राम में परास्त करना इन्द्रसहित समस्त देवताओं के लिये भी असम्भव होगा।···१६. जब तक उसका होम समाप्त नहीं होता उसके पहले ही हम लोगों को सेना के साथ वहाँ चलना चाहिये।···२३ वह राक्षस शिरोमणि जब अपना अनुष्ठान[329] पूरा कर लेगा तब समराङ्गण में देवता और असुर भी उसे देख नहीं सकेंगे। अपना कर्म पूर्ण करके जब वह युद्ध की इच्छा से रणभूमि में खड़ा होगा उस समय देवताओं को भी अपने जीवन के सम्बन्ध में सन्देह होने लगेगा।"

निम्नोद्धृत स्थल पर विभीषण पुनः इसी विषय पर आते हैं (६ ८५,१२ कल० = ६.६४,११ गोरे०) : तेन तीव्रेण तपसा वर-दानात् स्वयम्भुवः। अस्त्रम् ब्रह्म-शिरः प्राप्तं कामगाश् च तुरङ्गमाः। स एष सह सैन्येन प्राप्तः किल निकुम्भिलाम्। यद्य् उत्तिष्ठेत् कृतम् कर्म हतान् सर्वांश् च विद्धि नः। निकुम्भिलाम् असम्प्राप्तम् अकृताग्निं च यो रिपुः। त्वाम् आततायिनं हन्यात् इन्द्रशत्रो स ते वधः। "उस वीर ने तपस्या करके ब्रह्मा के वरदान से ब्रह्मशिर नामक अस्त्र और मनचाही गति से चलनेवाले घोड़े प्राप्त किये हैं। निश्चय ही इस समय सेना के साथ वह निकुम्भिला में गया है। वहाँ से अपना हवन-कर्म समाप्त करके यदि वह उठेगा तो हम सब लोगों को उसके हाथ से मरा ही समझिये। सम्पूर्ण लोकों के स्वामी ब्रह्मा ने उसे वरदान देते हुए कहा था : 'इन्द्रशत्रो! निकुम्भिला के पास पहुँचने तथा हवन-सम्बन्धी कार्य पूर्ण करने के पहले[330] ही जो शत्रु तुझ को मारने के लिये आक्रमण करेगा, उसी के हाथ से तेरा वध होगा।"

---

[329] उत्तरकाण्ड ३५,१२ और बाद, मे यह वर्णन है कि इन्द्र पर विजय के बाद इन्द्रजित ने बन्दियो को मुक्त करने के पूर्व यह वर प्राप्त किया था।

[330] भाष्यकार ने 'निकुम्भिला तद्-याग-भूमिम् महाकाली-क्षेत्र तद्-आख्या-

अगले अध्याय में यह वर्णन किया गया है कि लक्ष्मण आदि उसके होम की समाप्ति के पूर्व ही निकुम्भिला आ गये (६.८६,१४ क० = ६.६५,१२ गोरे०) : स्वम् अनीकम् विपण्णम् तु दृष्ट्वा शत्रुभिर् अर्दितम्। उदतिष्ठत दुर्धर्षः स कर्मण्य् अननुष्ठिते। वृक्षान्धकाराद् निर्गम्य जात-क्रोधः स रावणिः। इत्यादि। "रावणकुमार इन्द्रजित् अत्यन्त दुर्धर्ष वीर था। उसने जब सुना कि उसकी सेना शत्रुओं द्वारा पीड़ित होकर अत्यन्त कष्ट में है तब अनुष्ठान समाप्त होने के पूर्व ही वह युद्ध के लिये उठ खड़ा हुआ। उस समय उसके मन में अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ, और वह वृक्षों के अन्धकार से निकला," इत्यादि।

पुनः, सुन्दरकाण्ड के स्थल पर (जो कलकत्ता सं० में नहीं केवल गोरेसियो स० में है) महादेव को, अपने भाई रावण का साथ छोड़ कर आये विभीषण का स्वागत करते हुये दिखाया गया है। अब, यदि लेखक का उद्देश्य शिव को राक्षसों के विशेष उपास्य देव के रूप में प्रस्तुत करना होता तो हमें यह भी आशा करनी चाहिये कि वह राक्षसों की तपस्या और उपासना से प्रसन्न हुये महादेव को राक्षसों के प्रति विशेष स्नेह और कृपा दिखाते हुये वर्णन करेगा। परन्तु यहाँ राक्षस-वर्ग को छोड़ कर आनेवाले एक राक्षस के प्रति शिव द्वारा अनुकूल भाव प्रदर्शित करने की इस तथ्य के साथ सगति नहीं है।

युद्ध काण्ड के ४१ वें अध्याय में (जो केवल गोरेसियो सं० में ही मिलता है) रावण विष्णु की विस्तार से उपेक्षा करता है। किन्तु मैं इसे विष्णु की उपासना के प्रति किसी विशेष प्रकार की द्वेष की भावना का प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि इसमें इन्द्र, शिव, और ब्रह्मा का भी थोड़ा उल्लेख है। इसके विपरीत तर्क की काव्यात्मक आवश्यकता को ध्यान में रख कर ही इस स्थल की रचना की गई है। यदि कवि का उद्देश्य राम को विष्णु के अवतार

न्यग्रोध-मूल-रूपम्।' "वह यज्ञ भूमि महाकाली का क्षेत्र है जिसे न्यग्रोध वृक्ष का मूल कहते हैं।" कल० स० ६.८७,१ और बाद (= ६ ६६,२ गोरे०) में इस वृक्ष का इस प्रकार उल्लेख है 'प्रविश्य तु महद् वनम्। अदर्शयत तत्-कर्म लक्ष्मणाय विभीषण। नील-जीमूत-सकाश न्यग्रोधम् भीमदर्शनम्। तेजस्वी रावण-भ्राता लक्ष्मणाय न्यवेदयत्। इहोपहारम् भूतानाम् बलवान् रावणात्मज। उपहृत्य तत्. पश्चात् सग्रामम् अभिवर्त्तते। अदृश्य सर्व-भूताना ततो भवति राक्षस। निहन्ति च रणे शत्रून् बध्नाति च शरोत्तमैः। तम् अप्रविष्टम् न्यग्रोधम् हनम् त्व रावणात्मजम्। विध्वसय शरैस् तीक्ष्णैर् इत्यादि।

के रूप में प्रस्तुत करना था तो यह भी स्वाभाविक था कि रावण को विष्णु की उद्दण्डतापूर्वक उपेक्षा करते हुये भी दिखाया जाय। तथ्य तो यह है कि रामायण में राक्षसों को जिन गुणों से युक्त किया गया है उनका ऐतिहासिक की अपेक्षा कहीं अधिक काव्यात्मक महत्त्व है। कवि ने इस स्थल पर अपने पात्रों को उन्हीं गुणों से युक्त किया है जिनकी प्रसंगानुसार सर्वाधिक आश्यकता है। ये गुण कभी कभी सर्वथा विरोधी हैं, जैसे कि रावण को वैदिक कर्मों का पालन करनेवाला तथा साथ ही साथ ब्राह्मणों का वध और उनके यज्ञों को नष्ट करनेवाला भी बताया गया है। अतः मै रामायण में ऐसा कोई आधार नहीं देखता जो यह सिद्ध कर सके कि दक्षिण भारत की जातियाँ विशेष रूप से शैव-उपासना की अनुयायी थीं।[331]

खण्ड ८—शिव की पत्नी, उमा, के आरम्भिक और बाद के विवरणो का स्वरूप

हम पहले ही देख चुके हैं कि वाजसनेयि संहिता (३.५७) में अम्बिका को, जो बाद के समय में रुद्र की पत्नी बन गई, रुद्र की बहन कहा गया है।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, तलवाकर अथवा केन उपनिषद् ही वह प्राचीनतम ग्रन्थ है जहाँ उमा का नाम आता है। इसके तीसरे खण्ड में यह कहा गया है कि एक समय ब्रह्मा ने देवों के लिये विजय प्राप्त की। उस समय देवगण अपनी विजय का श्रेय स्वयं अपने पराक्रम को दे रहे थे जिसके कारण ब्रह्मा ने प्रगट हो कर उनको उनकी त्रुटि से अवगत कराया। पहले देवों ने उन्हें नहीं पहचाना और अग्नि तथा वायु को यह निश्चित करने के लिये बुलाया कि वह उपास्य देव कौन हैं। जब अग्नि और वायु ब्रह्मा के पास आये तब ब्रह्म के पूछने पर इन दोनों ने क्रमशः सब कुछ दग्ध कर देने तथा सब कुछ को उठा ले जाने के अपने-अपने गुणों को बताया। ब्रह्मा ने इन लोगों से एक तृण को दग्ध करने या उड़ाने के लिये कहा परन्तु ये असफल

[331] रामायण के उत्तरकाण्ड (अध्याय ४–८) मे यह वर्णन है कि सुकेश नामक एक राक्षस ने पूर्वकाल मे महादेव और पार्वती से वर प्राप्त किया तथा उसके तीन पुत्रो ने, जो लङ्का के अधिपति थे, देवो पर आक्रमण किया, परन्तु विष्णु द्वारा पराजित होकर उन सब को पाताल की शरण लेनी पडी। किन्तु न तो यह और न उत्तरकाण्ड (३६,४२) मे वर्णित लिङ्ग पूजा ही शिव की विशेष पूजा के दक्षिण मे प्रचलित होने का प्रमाण प्रस्तुत करते है।

रहे और इस प्रकार यह जाने बिना ही लौट आये कि वह (ब्रह्म) कौन है। तब इन्द्र को इस कार्य के लिये भेजा गया (केन उप० ३.११-१२, ४.१-२): अथ इन्द्रम् अब्रुवन् "मघवन्न् एतद् विजानीहि किम् एतद् यक्षम्" इति। "तथा" इति" तद् अभ्यद्रवत् तस्मात् तिरोदधे। १२. स तस्मिन्न् एवाकाशे स्त्रियम् आजगाम बहु शोभमानाम् उमां हैमवतीम्। तां होवाच किम् एतद् यक्षम् इति। ४.१ : सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्-विजये महीयध्वम् इति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति। "तब उन लोगों ने इन्द्र से कहा : 'मघवन ! यह यक्ष कौन है इस बात को मालूम करो।' तब इन्द्र 'बहुत अच्छा' कह कर उस यक्ष के पास गये, किन्तु यक्ष इन्द्र के सामने अन्तर्धान हो गया। वह इन्द्र तब उसी आकाश में एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री के पास आये और उस सुवर्णभूषिता उमा से बोला : 'यह यक्ष कौन है ?' उसने कहा : 'यह ब्रह्म है। तुम ब्रह्म की ही विजय में इस प्रकार महिमान्वित हुये हो।' कहते हैं कि तभी से इन्द्र ने यह जाना कि यह ब्रह्म है।"[३३२]

केन उपनिषद् के इस स्थल पर अपनी टिप्पणी[३३३] में वेबर (इण्डिशे

---

[३३२] भाष्यकार ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है 'तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिम् बुध्वा विद्या उमा-रूपिणी प्रादुर्भूत् स्त्री-रूपा। स इन्द्रस् ताम् उमाम् बहु शोभमाना सर्वेषा हि शोभामानाना शोभनतमा विद्या तदा "बहु शोभमाना" इति विशेषणम् उपपन्नम् भवति। हैमवती हेम-कृताभरणवतीम इव बहु शोभमानाम् इत्यर्थ । अथवा उनैव हैमवतो दुहिता हैमवती नित्यम् एव सर्वज्ञेन ईश्वरेण सह वर्त्तते इति ज्ञातु समर्था इति कृत्वा ताम् उपाजगाम इन्द्रम् ताम्र ह उमाम् किलोवाच पप्रच्छ किम् एतद् दर्शयित्वा तिरोभूतम् यक्षम्। "उन इन्द्र की यक्ष मे भक्ति जानकर स्त्री वेशधारी उमारूपी विद्यादेवी प्रगट हुई। वह इन्द्र उस अत्यन्त शोभामयी हैमवती उमा के पास गया। समस्त शोभायमानो मे विद्या ही सर्वाधिक शोभामयी है। इसलिये उसके लिये 'बहु-शोभमाना' यह विशेषण उचित ही है। हैमवती, अर्थात् हेम-निर्मित आभूषणोवाली के समान अत्यन्त शोभामयी। अथवा हिमवान् की कन्या होने से उमा ही हैमवती है। वह सर्वदा उस सर्वज्ञ ईश्वर के साथ वर्तमान रहती है, अत उसे जानने मे समर्थ होगी—यह सोचकर इन्द्र उमके पास गया, और उससे पूछा 'बताइये, इस प्रकार दर्शन देकर छिप जानेवाला यह यक्ष कौन है ?"

[३३३] डा० रूअर ने इसका अनुवाद किया है (बिब० इ० १५ ८४ और बाद)।

स्टू०, २.१८६ और बाद) उमा के पुराकथाशास्त्रीय इतिहास पर एक मनोरंजक और सर्वथा अपना विवरण प्रस्तुत करते हैं। आप कहते हैं : "तीसरे और चौथे खण्डों में जो विवरण है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि केन उपनिषद् की रचना उस समय हुई थी जब—तीन प्रमुख देवताओं, अग्नि, वायु, और सूर्य[३३४], जिन्हें क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के तीन प्रमुख प्रतिनिधि माना जाता था—अग्नि, वायु, और इन्द्र को इस प्रकार का प्रतिनिधि माना जाता था। ये वास्तव में दो ही हैं क्योंकि इन्द्र अनिवार्यतः वायु के साथ समीकृत किये जा सकते हैं। यद्यपि प्रथम त्रयी के मुझे अनेक उदाहरण, विशेषतः दोनों यजुर्वेदों में, मिले हैं, तथापि द्वितीय त्रयी का, जो कि वास्तव में दो ही देवों का समूह है, केवल ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.९९,१३) में ही उल्लेख मिल सका है। मैं इसकी सतोषजनक व्याख्या करने में भी असमर्थ हूँ। दूसरी ओर, समस्त दिव्यत्व की समिष्टि के रूप में 'ब्रह्म' की कल्पना पहले से ही विद्यमान है और उक्त आख्यान का विषय दिव्यत्व के समस्त अस्थायी प्रगट रूपों की अपेक्षा ब्रह्म की श्रेष्ठता को स्पष्ट रूप से स्थापित करना है।

"किन्तु हम उस उमा हैमवती की स्थित की व्याख्या कैसे करें, जो शाश्वत ब्रह्म और देवों के मध्यस्थ के रूप में आती है? शङ्कराचार्य के अनुसार यह विद्या देवी है जो उमारूपिणी बनकर इन्द्र के सामने आती है। सायण भी यही व्याख्या देते हैं जो (तैत्त० आर० १०.१,१५० पर भाष्य करते हुये) सोम का विवेचन करते समय इस स्थल को उद्धृत करके यह टिप्पणी करते हैं : हिमवत्-पुत्र्या गौर्य्या ब्रह्म विद्याभिमानिरूपत्वाद् गौरि-वाचक उमा-शभो ब्रह्म-विद्याम् उपलक्षयति। अत एव तलवकारोपनिषदि ब्रह्म-विद्या-मूर्त्ति-प्रस्तावे ब्रह्म-विद्या-मूर्त्तिः पठ्यते "बहु शोभमानाम् उमा हैमवतीं तां होवाच" इति। तद्-विषयः तया उमया सह वर्त्तमानत्वात् सोमः। "यतः हिमवत् की पुत्री गौरी ब्रह्म विद्या की अभिमानिनी हैं अतः उमा शब्द, जो गौरी का द्योतक है, ब्रह्मविद्या का द्योतक है। इसलिये तलवकार उपनिषद् में ब्रह्मविद्या के मूर्त्तिकरण के सम्बन्ध में ब्रह्म-विद्या को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है : 'उसने अत्यन्त शोभायमान उमा हैमवती से कहा।' सोम वह है जिससे उनके साथ रहने से उन्हीं (उमा का) सन्दर्भ है।" और पुनः अनुवाक ३८ की उसी टीका में यह कहा गया है : उमा ब्रह्म-विद्या तया सह वर्त्तमान सोम परमात्मन्। "उमा ब्रह्म-विद्या हैं : हे सोम!

[३३४] देखिये ऊपर।

परमात्मा ! तुम ! जो उसके साथ रहते हो', इत्यादि ।" आगे, 'अम्बिका-पतये' शब्द की व्याख्या करते हुये अनुवाक १८ की उसी टीका में हमें ये शब्द मिलते हैं . अम्बिका जगन्माता पार्वती तस्याः भर्त्रे । "अम्बिका जगन्माता पार्वती हैं—उनके पति को", इत्यादि । और 'उमापतये' शब्द की, जो तैत्त० आर० के आन्ध्र नहीं वल्कि द्रविड पाठ में ही आता है, इस प्रकार व्याख्या की गई हैं : तस्या एव ब्रह्म विद्यात्मको देह उमा-शब्देनोच्यते तस्याः स्वामिने । "उनकी (अम्बिका की) देह को, जो ब्रह्म विद्या की वाचक है, उमा शब्द से व्यक्त किया गया है—उस (उमा) के पति को", इत्यादि । यह अन्तिम स्थल वैदिक स्थलों की उस शृङ्खला का अंतिम स्थल है जिसमें मुझे उमा शब्द मिला है; क्योंकि कैवल्य उपनिषद् में मिलनेवाला 'उमा-सहाय' शब्द वैदिक काल का नहीं है । साथ ही, यद्यपि अन्य स्थलों के भाष्य भी[३३५] सोम की 'उमया सहित' के रूप में व्याख्या करते है, तथापि इस प्रकार की व्याख्या उतनी ही निराधार है जितनी ऊपर सायण द्वारा विवेचित स्थल पर, जहाँ यह शब्द केवल 'सोम-हवि' मात्र का द्योतक है । अतः उक्त दृष्टियों से (अंशतः भाष्यकारों की सहमति से और अंशतः उस स्थिति से जो केन उपनिषद् में उमा की है) इस शब्द का आशय प्रायः निश्चितता के साथ 'ब्रह्म-विद्या' स्थिर किया जा सकता है, और उमा प्रत्यक्षतः सरस्वती से सीधे सम्बद्ध हो सकती हैं; साथ ही हम इसका 'ओम्' तक के साथ व्युत्पत्तिशास्त्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा कर सकते हैं । फिर भी, कुछ अतिरिक्त बातें भी हैं जो उमा के मौलिक आशय पर एक सर्वथा भिन्न प्रकाश डालती प्रतीत होती हैं । प्रथमतः, इन्हें हैमवती क्यों कहा गया है ? इन्हें हिमवत् से क्या करना है ? क्या बात यह है कि मध्य देश में निवास करनेवाले आर्यों के पास ब्रह्मविद्या मूलतः हिमवत् से आई थी ? कौषीतकि ब्राह्मण (इण्ड० स्टू० १.१५३) से हमें यह पता लगता है कि उत्तर भारत की वाणी की अपेक्षाकृत अधिक शुद्धता का उल्लेख किया गया है, और विद्यार्थी इस क्षेत्र में आकर भाषा सीखने (वाच शिक्षितुम्) के बाद अपने प्रदेश में लौट कर अधिक आदर का पात्र बन जाता था । अब यदि यह स्थिति केवल भाषा तक ही सीमित न रहकर विचारों के क्षेत्र में व्याप्त मिलती तो सर्वथा स्वाभाविक होती । हम यदि यह देखते कि शाश्वत ब्रह्म का ज्ञान हिमालय की शान्त घाटियों में उस मध्य देश के पूर्व विकसित हुआ जहाँ लोग व्यावहारिक जीवन

[३३५] उदाहरण के लिये वाज० स० १६ ३९ पर महीधर, तथा तैत्त० सं० के इसी के समानान्तर स्थल पर भट्ट भास्कर मिश्र ।

की समस्याओं में अधिक उलझे रहते थे, तो भी इसे स्वाभाविक कह सकते थे। किन्तु उमा हैमवती सम्बन्धी यह दृष्टिकोण मुझे बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि हम इस बात का कदापि निश्चय नहीं कर सकते कि उमा वास्तव में ब्रह्मविद्या की ही द्योतक हैं (यहाँ यह कह देना भी उचित है कि प्राचीन भारतीय देवताओं की व्याख्या करते समय काल्पनिक तत्व की अपेक्षा भौतिक तत्व को अधिक महत्त्व देना ही अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है)। साथ ही, इनकी बाद की रुद्र की पत्नी के रूप में स्थिति (तैत्ति० आर०) की इस दशा में व्याख्या सर्वथा असम्भव हो जायगी। अब, इस बाद की देवी की उपाधियों में एक 'पार्वती' उपाधि भी है, जो हैमवती शब्द की व्याख्या करते समय हमें 'हिमवत्' पर अधिक ज़ोर देने की ओर नहीं बल्कि 'पर्वत' (पर्वत पर) की ओर प्रेरित करती है। और इसी के साथ मैं शतरुद्रिय से प्राप्त रुद्र की उपाधियों, जैसे गिरिश, गिरिशन्त, गिरिशय, गिरित्र, आदि को भी सम्बद्ध कर सकता हूँ जिनमें हम शिव के कैलास पर्वत पर निवास करने के चिह्न देख सकते हैं। शिव वह झंझावात हैं जो पर्वतों को व्याप्त करते हैं, और इसलिये उनकी पत्नी को पार्वती, या हैमवती (हिमवत् की पुत्री) कहना उचित ही है। साथ ही साथ, यह स्पष्ट नहीं है कि हमें इनकी पत्नी से क्या तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये,[३२६]

---

[३२६] भारतीय पुराकथाशास्त्र मे अक्सर दोनो को पत्नियाँ तो प्रदान की गई हैं किन्तु उनका कोई सृष्ट्यात्मक कार्य निर्धारित नही किया गया है। एक टिप्पणी मे वेबर यह कहते हैं "क्या यह उन नदियो और झरनो की द्योतक हैं जिन्हे रुद्र, झञ्झावात पर्वतो और मेघो से नीचे गिराता है? और क्या 'अम्बिका' नाम का इसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है? इसी प्रकार सरस्वती, वाणी की धारा की देवी, को भी "अम्बितमा' कहा गया है, इसे 'अम्ब' शब्द से सम्बोधित किया गया है, और पर्वत के उच्चतम शिखर से उत्पन्न कहा गया है (उत्तमे शिखरे जाता पर्वतमूर्धनि)। इस दृष्टिकोण के अनुसार 'उमा और सरस्वती', 'अम्बिका और अम्बितमा', 'पार्वती और पर्वत मूर्धनि जाता', सम्भवत मूलरूप से समान रहे होगे, और बाद मे ही क्रमश इस रूप मे पृथक हो गये कि एक मे प्रकृति की उग्र और विनाशक शक्ति केन्द्रित हो गई और दूसरे मे जलधाराओ का तरल संगीत एकत्र हो गया। तो क्या इस प्रकार हमे एक ओर केनोपनिषद् की उमा मे, और दूसरी ओर तैत्त० आर० की 'वरदा' मे दोनो के मौलिक समीकरण के दो उदाहरण देखना चाहिये? कुन, जैसा कि उन्होने मुझे सूचित किया है, अम्बिका और सरस्वती के समीकरण को निश्चित

और जब मूलतः यह उनकी पत्नी नहीं बल्कि बहन हैं, क्योंकि उमा और अम्बिका बाद में एक ही व्यक्तित्व की द्योतक हैं, और अम्बिका रुद्र की बहन हैं (इण्डि० स्टू० १.१८३)। उमा का अम्बिका के साथ यह समीकरण हमें उमा की एक नूतन व्युत्पत्ति की ओर अग्रसर करता है। क्योंकि, जिस प्रकार 'अम्बिका' (माता) शब्द केवल एक स्तुत्यात्मक और प्रशंसात्मक उपाधि मात्र प्रतीत होता है जिसका क्रूर देवी को प्रसन्न करके के लिये प्रयोग किया गया है (देखिये वाज० सं० ३.५ पर महीधर—ठीक वैसे ही जैसे रुद्र को शिव कहा गया है) उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि हमें 'उमा को 'अव्' (रक्षा करना) धातु से व्युत्पन्न मानना चाहिये। यह सत्य है कि 'म' के पहले आनेवाला अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है, किन्तु 'सिम' और 'हिम' शब्द यह दिखलाते हैं कि ऐसा आवश्यक नहीं है, तथा 'रुमा' नाम सम्भवत' (जब तक कि हम इसे 'रुम्' से व्युत्पन्न नहीं मानते) एक सर्वथा समान शब्द है। यह निश्चित रूप से एक रहस्य ही बना रहता है कि किस प्रकार रुद्र की निर्दय पत्नी यहाँ केन उपनिषद् में परमब्रह्म और इन्द्र के बीच मध्यस्थ बन जाती हैं, क्योंकि इसे ठीक मान लेने पर हमें इस उपनिषद् को उस समय का मानना होगा जब उमा के पति रुद्र को ईश्वर तथा इसीलिये ब्रह्म भी माना जाता था—अर्थात् इसे किसी शैव सम्प्रदाय के समय का मानना होगा। किन्तु यतः यह बात शंकास्पद और असम्भाव्य है, अतः हमें सर्वप्रथम तब तक यह मानना चाहिये कि भाष्यकारों द्वारा 'उमा' को ब्रह्मविद्या' मानने की धारणा सर्वथा केनोपनिषद् के इसी स्थल पर आधारित है, जब तक कि उमा और सरस्वती का मौलिक समीकरण, जिसको गत टिप्पणी में सम्भव माना गया है, यहाँ भी दृष्टिगत नहीं होता।

मैं वर्तमान अवसर को शिव की पत्नी के कुछ अन्य नामों की चर्चा करने के भी अनुकूल समझता हूँ। जिस प्रकार शिव के अन्तर्गत, सर्वप्रथम दो देवता अग्नि और रुद्र, सम्मिलित थे, उसी प्रकार इनकी पत्नी को भी अनेक दिव्य रूपों का योग मानना चाहिये,[३२७] और यह बात इनकी उपाधियों को देखने से

मानते हैं।"] क्या उमा और सरस्वती के इस कल्पित मौलिक समीकरण की रामायण १ ३६,१३ की इस पुराकथाशास्त्र से पुष्टि नही होती कि उमा कनिष्ठ, जब कि गङ्गा हिमवत् की ज्येस्ठ पुत्री है। मूइर।]

[३२७] इसका अत्यन्त उल्लेखनीय उदाहरण महाभारत ४ १७८ और बाद मे युधिष्ठिर द्वारा की गई दुर्गा की स्तुति मे मिलता है, जहाँ युधिष्ठिर इन्हे 'यशोदा, कृष्णा', आदि कहते हैं। इस स्थल का समय चाहे कितना भी आधुनिक हो, है यह अत्यन्त उल्लेखनीय।"

स्पष्ट भी हो जाती है। जहाँ इनमें से एक वर्ग के नाम, जैसे उमा, अम्बिका, पार्वती, हैमवती, रुद्र की पत्नी के अन्तर्गत आते हैं, वहीं अन्य, जैसे काली, कराली (देखिये इण्डि० स्टू० १.२८७) हमें अग्नि की पत्नी की ओर ले जाती हैं, जब कि गौरी तथा अन्य समान उपाधियों से सम्भवतः 'निर्ऋति' का तात्पर्य है।

तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें खण्ड का, जिसमें इनकी अनेक नामों से अनेक बार स्तुति है, इनके चरित्र के अनुमान के लिये विशेष महत्त्व है। जिन प्रमुख स्थलों पर इनकी चर्चा है उनका ऊपर संकेत किया जा चुका है (इण्डि० स्टू० १.७५ और २२८[३३८])। इसके पहले आनेवाली स्तुतियों की ही भाँति यह भी गायत्री का अनुकरण है, जो इस प्रकार है : कात्यायनाय विद्महे कन्याकुमारि[३३९] धीमहि। तन् नो दुर्गिः प्रचोदयात्। "हम कात्यायनी का विचार करते हैं और कन्या कुमारी का ध्यान करते हैं; दुर्गा हमें प्रेरित करे।"

यहाँ व्याकरण की दृष्टि से मूल में उस आशय को ढूँढ पाना निश्चित रूप से कठिन है जो सायण ने इसे प्रदान किया है[३४०] और जो परम्परा से इसके

---

[३३८] इन स्थलो मे से प्रथम मे लेखक वह टिप्पणी करता है कि अथर्ववेद के उपनिषदो के अन्तर्गत नारायणी उपनिषद् भी मिलता है, "किन्तु इसमे उल्लेखनीय पाठभेद हैं जो इसके बाद के समय के होने के द्योतक हैं। इस प्रकार तैत्त० आर० से उद्धृत ये शब्द 'कात्यायनाय विद्महे कन्याकुमारि तन् नो दुर्गि प्रचोदयात', इस उपनिषद् मे अथर्ववेद के अनुरूप इस प्रकार बदल दिये गये हैं 'कात्यायनायै विद्महे कन्याकुमारि धीमहि तन् नो दुर्गा प्रचोदयात्।' यह उस आशय के अनुकूल है जो अपनी व्याख्या मे सायण इस शब्द को प्रदान करते हैं।" लिङ्गपुराण २४८ मे दुर्गा की यह स्तुति इन शब्दो मे आती है : "कात्यायन्यै विद्महे कन्याकुमार्यै धीमहि तन् नो दुर्गा प्रचोदयात्।'

[३३९] लेखक यहाँ यह कहता है कि इण्डि० स्टू० १,७५ मे गलती से 'कन्यकुमरिम्' पाठ दिया गया है।

[३४०] वेबर (१.२२८, नोट) के अनुसार सायण की व्याख्या इस प्रकार है 'पश्चाद् दुर्गा-गायत्री। "हेम-प्रख्याम् इन्दु-खण्डाङ्क-मौलिम्" इत्य् आगम-प्रसिद्ध-मूर्त्ति-धरा दुर्गाम् प्रार्थयते "कात्यायनाय" इति। कृत वास्ते इति कात्यो रुद्र.।···स एवयानम् अधिष्ठान यस्या सा कात्यायनी अथवा कतस्य ऋषि-विशेषस्य अपत्य कात्य।···कुत्सितम् अनिष्ठम् मारयति इति कुमारी कन्या दीप्यमाना चासौ कुमारी च कन्याकुमारी। दुर्गि. दुर्गा। लिङ्गादि-व्यत्यय. सर्वत्र छान्दसो द्रष्टव्य।"

साथ सयुक्त है, क्योंकि यही आशय अर्ववेद के उपनिषदों में इस स्थल के परिवर्तन का आधार है। अन्य जिन देवों का आवाहन किया गया है वे सब पुरुष हैं, जैसे रुद्र, महादेव, दन्ति, नन्दि, षण्मुख, गरुड, ब्रह्मन्, विष्णु, नरसिंह, आदित्य, अग्नि। अतः यदि बारहवें देव को एक स्त्री मानना हो तो यह हमारे लिये आश्चर्यजनक ही होगा, मुख्यतः तब जब कि इसका रूप पुल्लिङ्ग है। दूसरी ओर, शब्दों का आशय हमें परम्परागत व्याख्या को स्वीकार करने के लिये विवश करता है।···साथ ही, कात्यायनी, कन्याकुमारी, और दुर्गा हमें शिव की पत्नियों के रूप में पहले से ही ज्ञात हैं: और वास्तव में सभी हमें अग्नि की ज्वाला की ओर ले जाती हैं। यह सत्य है कि जहाँ तक कात्यायनी का प्रश्न है, यह कुछ कठिन है, यद्यपि जब हम ब्राह्मणों की यज्ञीय-प्रणाली के सन्दर्भ में कात्य-परिवार के अत्यधिक महत्त्व पर विचार करते हैं तब एक विशेष प्रकार की अग्नि का, जिसे सम्भवतः कात्यों में से ही किसी ने परिचित कराया, उन्हीं के नाम से नामकरण कर दिया जाना बहुत असम्भाव्य नहीं प्रतीत होता, तदनन्तर यही नाम काली, कराली, और दुर्गा से सम्बद्ध हो गया जो मूलतः केवल अग्नि के विशेषण मात्र हैं। कन्याकुमारी पवित्र, शुद्ध, यज्ञीय अग्नि की ज्वाला के लिये अत्यन्त उपयुक्त विशेषण है, और यहाँ तक कि पेरिप्लस अथवा प्लिनी के समय में भी हम इसकी उपासना को भारत के दक्षिणतम छोर तक प्रचलित पाते हैं। किन्तु क्या ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उस समय यह यज्ञाग्नि के रूप में नहीं बल्कि शिव की पत्नी के रूप पूजित थी? तैत्ति० आर० (आन्ध्र शाखा) के दूसरे अनुवाक में अग्नि को समर्पित सूक्त दुर्गा को यज्ञाग्नि के साथ समीकृत करने के लिये पर्याप्त निर्णायक है। दूसरे श्लोक में वहाँ यह कहा[२४१] गया है: ताम् अग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्। दुर्गां देवीं शरणम् अहम् प्रपद्ये सुतरसि तरसे नमः। "मैं देवी दुर्गा की शरण लेता हूँ जो तपस्या से ज्वलन्त, अग्निवर्ण, सूर्य की पुत्री हैं और जो कर्मों का फल प्रदान करने में आनन्द का अनुभव करती हैं। हे साहसिक देवी! तुम्हारी शक्ति को नमस्कार।" इसके बाद के पाँच श्लोक भी उसी विचार को दोहराते हैं (जैसे परिशिष्ट के दुर्गा-स्तव भी) जो ऋग्वेद १.९९[२४२] में आते हैं। विचार ये हैं: अग्नि स्तोता को दुर्ग और

---

[२४१] यह श्लोक ऋग्वेद १०.१२७ और १२८ के बीच मे रात्रिपरिशिष्ट के दुर्गा स्तव मे भी मिलता है।

[२४२] श्लोक इस प्रकार है. 'जातवेदसे सुनवाम सोमम् अरातीयतो निदहाति वेद। स न पर्षद् अति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धु दुरिताऽति अग्नि।

दुरित सभी कठिनाइयों में सहायता करेंगे। दूसरे श्लोक को निश्चित रूप से इस अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है : इस प्रकार हम दुर्गा को निर्ऋति से उत्पन्न कह सक्ते हैं। किन्तु मुझे यही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि इस स्थल को ज्वलन्त अग्नि के आशय में ग्रहण किया जाय जो समस्त दुर्ग और दुरित कठिनाइयों से मुक्त करनेवाली दुर्गा है। इस प्रकार इस नाम को भी अम्बिका, शिव, उमा, आदि के वर्ग के अन्तर्गत ही रक्खा जा सकता है। यदि एक बाद के समय में दुर्गा ने निश्चित रूप से 'निर्ऋति का स्थान ले लिया तो यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि आरम्भ से स्थिति ऐसी ही थी, यह केवल इतना ही दिखाता है कि मूल आशय बाद में लुप्त हो गया। और स्वाभाविक भी है, क्योंकि शिव की पत्नी का रुद्र के साथ और अग्नि के साथ भी सम्बन्ध होने के कारण एक भयंकर स्वरूप था (तुकी० कराली)।

"तैत्तिरीय आरण्यक १० में मुझे शिव की पत्नी का जो अन्तिम नाम मिलता है वह ३४ वें अनुवाक में आनेवाला 'वरदा' है। यह सत्य है कि यहाँ यह सरस्वती के एक नाम के रूप में आता है, दुर्गा के नहीं, क्योंकि श्लोक इस प्रकार हैः आयातु वरदा देवी अक्षरम् ब्रह्म-सम्मितम्। गायत्रीं छन्दसाम् माता इदम् (१) ब्रह्म जुषस्व मे। ''सर्ववर्णे महादेवि सन्ध्या-विद्ये सरस्वती।[३४३] किन्तु ३६ वें अनुवाक में बात इतनी स्पष्ट नहीं हैः उत्तमे शिखरे जाता भूम्याम् पर्वत-मूर्धनि। ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम्। स्तुतो (= स्तुता उ) मया वरदा वेद-माता प्रचोदयन्ती पवने द्विजाता[३४४] इत्यादि। यहाँ प्रथम अंश हमें पार्वती और हैमवती का स्मरण दिलाता है। कोई उचित रूप से यह नहीं समझ सकता किस प्रकार सरस्वती के लिये इस उपाधि का प्रयोग किया गया है (जब तक कि हम इससे पर्वतों से प्रवाहित होनेवाले जलों का आशय न ग्रहण करें, क्योंकि, जैसा कि सुविदित है, सरस्वती एक नदीदेवी और वाग्देवी दोनों ही है)। इसी प्रकार महादेवी और सन्ध्यादेवी भी (देखिये 'संध्या' के अन्तर्गत विलसन

---

[३४३] इन शब्दो का आशय इस प्रकार है वरदायिनी देवि! इधर आओ। हे वेदमाता! मेरे इस गायत्री छन्द को ग्रहण करो जिसके अक्षर वेद के समकक्ष हैं। हे सर्ववर्ण, महादेवी, तुम सन्ध्याविद्या और सरस्वती हो।

[३४४] आशय यह है पृथिवी के उच्चतम शिखर पर उत्पन्न, पर्वत-मूर्धनि, हे देवि! ब्राह्मणो की आज्ञा से तुम अपनी इच्छानुसार गमन करो। हे वरदायिनी, वेदमाता, वायु मे द्विजात देवि! हमे प्रेरित करते हुये", इत्यादि।

का कोश) एक बाद के समय में एकमात्र शिव की पत्नी के द्योतक हैं। फिर भी, अन्य नाम, सर्व-वर्णा, छन्दसाम् माता, वेद-माता, और अन्ततः स्वयं सरस्वती, हमें सरस्वती के निकट लाते हैं। अनुवाक ३४-३६ के स्तुत्यात्मक प्रयोग का भी यही आशय है। अतः हमारे लिये केवल यही मानने की सम्भावना शेष रह जाती है कि यहाँ दोनों देवियों का सम्मिश्रण है (और इस प्रकार यह सम्भाव्य मौलिक समीकरण की स्मृति है)। इसी प्रकार हम केनोपनिषद् की उमा हैमवती के सम्बन्ध में गत नोट २३६ की कल्पना को ही स्वीकार कर सकते हैं।

ऊपर दिये गये उद्धरण में दो नाम, जिनका बाद में शिव की स्त्री के लिये प्रयोग होने लगा, अर्थात् काली और कराली नाम, एक महत्वपूर्ण उपनिषद् (मुण्डक १.२,४) में भी आते हैं, किन्तु वहाँ ये अग्नि की दो भिन्न जिह्वाओं के नाम हैं : काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा। डा० रुअर ने इसका इस प्रकार अनुवाद किया है : "अग्नि की सात लप लपाती जिह्वायें ये हैं: काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरूपी देवियाँ।" फिर भी, भाष्यकार संक्षिप्त रूप से यह टिप्पणी करता है : काली कराली मनोजवा च सुलोहिता च या च सुधूम्र-वर्णा स्फुलिङ्गिनी विश्व-रूपी च देवी लेलायमाना दहनस्य जिह्वाः। अग्नेर् हविर्-आहुति ग्रसनार्था एताः सप्त जिह्वाः। "काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, और देवी विश्वरूपी, ये सात अग्नि की लप-लपाती जिह्वायें हैं। इन सात जिह्वाओं से अग्नि हवियों की आहुतियों का ग्रसन करते हैं।';

इस स्थल पर वेबर (इण्डि० स्टू० १.२८६ और बाद) यह टिप्पणी करते हैं: "प्रथम दो नामों का बाद में मूर्त्तीकरण हो गया और ये उन दुर्गा (जो शिव की पत्नी और अग्नि से विकसित नाम है) के नाम बन गये जो (दुर्गा), जैसा कि सुविदिति है, काली, कराला, करालवदना, करालानना, और करालमुखी नामों से बलि-प्रधान उपासना की देवी बन गई। यह प्रत्यक्ष है कि अग्नि की जिह्वा से बलि-प्रधान उपास्य देवी काली और कराला देवी के रूप में इस शब्द के आशय के विकास में पर्याप्त समय लगा होगा : और यतः इस बाद के नाम को हम भवभूति कृत उस मालति-माधव नाटक में भी पाते हैं जिसे विलसन ने ईसा की आठवीं शताब्दी का माना है, अतः मुण्डक उपनिषद् और काफी प्राचीन होगा। दुर्गा, उमा और पार्वती की उपासना के आरम्भ को, चाहे इस स्थल के आधार पर नहीं, तो भी यजुर्वेद के उपनिषदों के आधार पर

दिखाया जा सकता है (देखिये इण्ड० स्टू० १.७८) ।" एक नोट में वेवर इतना और कहते हैं : "तीसरा नाम, मनोजवा, हमें यम के नाम 'मनोजवस्' का स्मरण दिलाता है जो वाज० सं० ५.११ में आता है । क्या यही एक वाद के समय में शिव की पत्नी का द्योतक वन गया ? क्योंकि, शिव की ही भाँति, यम भी, अग्नि के निश्चित रूप से प्राचीनतर स्तर हैं, जव कि शिव अपेक्षाकृत वाद के ।"

ऊपर खण्ड ६ में भागवत तथा विष्णु पुराणों से उद्धृत स्थलों पर महादेव की पत्नी को मूलतः दक्ष की पुत्री कहा गया है, और वह दक्ष के यज्ञ के समय स्वेच्छया देहत्याग के वाद दूसरे जन्म में ही हिमवत् की पुत्री वनतीं हैं। रामायण के निम्नोद्धृत स्थल पर इस दोहरी पैतृकता अथवा जन्म के सम्वन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है :

रामायाण १.३६,१३ और वाद (श्लेगेल सं०) : शैलेन्द्रो हिमवान् नाम धातूनाम् आकरो महान् । तस्य कन्याद्वय जात रूपेणाप्रतिमम् भुवि । या मेरु-दुहिता राम तयोर् माता सुमध्यमा । नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया । तस्यां गङ्गेयम् अभवज् ज्येष्ठा हिमवतः सुता । उमा नाम द्वितीयाऽभूत् कन्या तस्यैव राघव ।...१६. या चान्या शैल-दुहिता कन्यासीद् रघु-नन्दन । उग्रं सा व्रतम् आस्थाय तपस् तेपे तपो-धना । उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैल-वरः सुताम् । रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोक-नमस्कृताम् । इत्य् एते शैल-राजस्य सुते राम वभूवतुः । गङ्गा च सरिताम् श्रेष्ठा देवीनां चाप्य् उमा वरा । "श्रीराम ! हिमवान् नामक एक पर्वत है जो समस्त पर्वतों का राजा तथा सव प्रकार की धातुओं का वहुत वड़ा आगार है । हिमवान् की दो कन्यायें हैं जिनके सुन्दर रूप की इस भूतल पर कहीं तुलना नहीं है । मेरुपर्वत की मनोहारिणी पुत्री मेना हिमवान की प्रिय पत्नी है । सुन्दर कटि प्रदेशवाली मेना ही उन दोनों कन्याओं की जननी है । रघुनन्दन ! मेना के गर्भ से जो पहली कन्या उत्पन्न हुई वही यह गङ्गा है । यह हिमवान् की ज्येष्ठ पुत्री हैं । हिमवान् की ही दूसरी कन्या, जो मेना के गर्भ से उत्पन्न हुई, उमा नाम से प्रसिद्ध है ।...१९. रघुनन्दन ! गिरिराज की जो दूसरी कन्या उमा थीं, वे उत्तम एवं कठोर व्रत का पालन करती हुई घोर तपस्या में लग गईं । उन्होंने तपोमय धन का संचय किया । गिरिराज ने उग्र तपस्या में संलग्न हुई अपनी उस विश्ववन्दिता पुत्री उमा का अनुपम प्रभावशाली रुद्र से विवाह कर दिया । रघुनन्दन ! इस प्रकार सरिताओं में श्रेष्ठ गङ्गा तथा भगवती उमा—ये दोनों गिरिराज हिमवान् की कन्यायें है । सारा संसार इनके चरणों में मस्तक झुकाता है ।"

हरिवंश में उमा की यह कथा है जो कुछ बातों में रामायण से भिन्न है क्योंकि इसमें हिमवत् और मेना की ऐसी तीन पुत्रियों की चर्चा है जिनमें गङ्गा सम्मिलित नहीं है :

हरिवंश १.१८,१३ और बाद : एतेषाम् मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः। पत्नी हिमवतः श्रेष्ठा…१५. तस्य कन्यास् तु मेनायां जनयामास शैल-राट्। अपर्णाम् एकपर्णां च तृतीयाम् एकपाटलाम्। न्यग्रश्चरन्त्यः सुमहद् दुश्चर देव-दानवैः। लोकान् संतापयामासुस तास् तिस्रः स्थाणु-जङ्गमान्। आहारम् एक-पर्णेन एकपर्णा समाचरत्। पाटला-पुष्पम् एक च आदधाय् एकपाटला। एका तत्र निराहारा ताम् माता प्रत्यषेधयत्। "उ-मा" इति निषेधन्ती मातृ-स्नेहेन दुःखिता। सा तथोक्ता तद मात्रा देवी दुश्चर-चारिणी। उमेत्य् एवाभवत् ख्याता त्रिषु लोकेषु सुन्दरी। तथैव नाम्ना तेनेह विश्रुता योगधर्मिणी। एतत् तु त्रिकुमारीक जगत् स्थास्यति भार्गव। तपः-शरीरास् ताः सर्वास् तिस्रो योग-बलान्विता.। सर्वाश् च ब्रह्म-वादिन्यः सर्वाश् चैवोर्ध्व-रेतस.। उमा तासां वरिष्ठा च ज्येष्ठा च वर-वर्णिनी। महायोग-बलोपेता महादेवम् उपस्थिता। असितस्यैकपर्णा तु देवलस्य महात्मनः। पत्नी दत्ता महाब्रह्मन् योगाचार्याय धीमते। जैगीषव्याय तु तथा विद्धि ताम् एकपाटलाम्।

"इनकी मानसी कन्या का नाम मेना है, जो महागिरि हिमवान् की श्रेष्ठ पत्नी है। पर्वतराज हिमवान् ने मेना के गर्भ से तीन कन्यायें उत्पन्न की, जिनके नाम ये हैं : अपर्णा, एकपर्णा और तीसरी एकपाटला। इन तीनों कन्याओं ने ऐसी घोर तपस्या का अनुष्ठान प्रारम्भ किया जो देवताओं और दानवों के लिये भी दुष्कर था। इससे उन तीनों ने स्थावर-जङ्गम-सहित समस्त लोकों को सतप्त कर दिया। उन दिनों एकपर्णा एक ही पत्ता खा कर रह जाती थी, और एकपाटला पाटला के एक पुष्प को ही आहार रूप में ग्रहण करती थी। उनमें से एक निराहार रहने लगी। मातृ-स्नेह के कारण दुःखित हो उनकी माता ने उससे 'उ मा' (अरी ! ऐसा मत कर) कहकर निषेध किया। वह दुश्चर तप करनेवाली सुन्दरी इस प्रकार मात द्वारा कहे जाने पर इस 'उमा' नाम से तीनों लोकों में विख्यात हो गई। उसी प्रकार वह योगधर्म का पालन करनेवाली उसी नाम से विख्यात हुई। भार्गव ! इन तीन कुमारियों से युक्त होकर ही यह जगत स्थिर रहेगा। इन तीनों का शरीर तपोमय है; ये सब योगबल से सम्पन्न तथा ब्रह्मवादिनी और ऊर्ध्वरेता हैं। उमा इन सब से ज्येष्ठ, सुन्दरी, तथा महान् योगबल से सम्पन्न थीं। उनका विवाह महादेव से हुआ।

महाब्रह्मन्! एकपर्णा बुद्धिमान् महात्मा योगाचार्य असित-देवल को पत्नी-रूप में दी गई। इसी प्रकार एकपाटला जैगीषव्य को व्याही गई।"

नीचे श्रीकृष्ण के परामर्श पर अर्जुन द्वारा पाठ किये गये दुर्गा-स्तोत्र के आरम्भिक अंश का उद्धरण दिया जा रहा है :[३४५]

महाभारत ६.२३,४ और बाद : अर्जुन उवाच। नमस् ते सिद्ध-सेनानि आर्ये मन्दर-वासिनि। कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्ण-पिङ्गले। भद्रकालि नमस् तुभ्यम् महाकालि नमोऽस्तुते। चण्डि चण्डे नमस् तुभ्यम् तारिणि वरवर्णिनि। कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये। शिखि-पिच्छ-ध्वज-धरे नानाभरण-भूषिते। अट्ट-शूल-प्रहारणे खड्ग-खेटक-धारिणि। गोपेन्द्रास्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोप-कुलोद्भवे। महिषासृक्-प्रिये नित्य कौशिकि पीत-वासिनि। अट्टहासे कोक-मुखे नमस् तेऽस्तु रण-प्रिये। उमे साकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभ-नाशिनि। हिरण्याक्षि विरूपाक्षि धूम्राक्षि च नमोऽस्तु ते। वेद-श्रुतिमहापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि। जम्बू कटक-चैत्येषु नित्य सन्निहितालये। त्वम् ब्रह्म-विद्या विद्यानाम् महनिद्रा च देहिनाम्। स्कन्ध मातर् भगवति दुर्गे नान्तार-वासिनि। स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती। सावित्री वेद-माता च तथा वेदान्त उच्यते। स्तुताऽसि त्वम् महादेवि विशुद्धेनान्तरात्मना। जयो भवतु मे नित्यं त्वत्-प्रसादाद् रणाजिरे। कान्तार-भय-दुर्गेषु भक्तानाम् पालनेषु च। नित्यं वससि पाताले युद्धे जयसि दानवान्। त्व जम्भनी मेहिनी च माया ह्रीः श्रीस् तथैव च। सन्ध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा। तुष्टिः पुष्टिर् धृतिर् दीप्तिश् चन्द्रादित्य-विवर्धिनी। भूतिर् भूतिमता संख्ये वीक्ष्यसे सिद्ध-चारणैः।

"अर्जुन बोले . मन्दराचल पर निवास करनेवाली सिद्धों की सेनानेत्री आर्ये! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है। तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला, कृष्णपिङ्गला, भद्रकाली, और महाकाली आदि नामों से प्रसिद्ध हो, तुम्हें बारम्बार प्रणाम है। दुष्टों पर प्रचण्ड कोप करने के कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तों को तारने के कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीर का दिव्य वर्ण अत्यन्त सुन्दर है, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। महाभागे! तुम्ही पूज्यनीया कात्यायनी हो, तुम्हीं विकराल रूप-धारिणी काली हो; तुम्हीं विजया और जया के नाम से विख्यात हो। मोरपख की तुम्हारी ध्वजा है। नाना प्रकार

---

[३४५] भगवद्गीता, जिसमे श्रीकृष्ण की इतने उच्च शब्दो मे प्रशस्ति है, भीष्मपर्व के अन्तर्गत आती है।

के आभूषण तुम्हारे अंगों की शोभा बढ़ाते हैं। तुम भयकर त्रिशूल, खड्ग, और खेटक आदि आयुध धारण करती हो। नन्द गोप के वंश मे तुमने अवतार लिया था इसलिये गोपेश्वर श्रीकृष्ण की तुम छोटी बहन हो; परन्तु गुण और प्रभाव में सर्वश्रेष्ट हो। महिषासुर का रक्त बहा कर तुम्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। तुम कुशिक गोत्र में अवतार लेने के कारण कौशिकी नाम से भी प्रसिद्ध हो। तुम पीताम्बर धारण करती हो। जब तुम शत्रुओं को देख कर अट्टहास करती हो उस समय तुम्हारा मुख चक्रवाक के समान उद्दीप्त हो उठता है। युद्ध तुम्हें बहुत ही प्रिय है। मैं तुम्हें बारम्बार प्रणाम करता हूँ। उमा, शाकम्भरी, श्वेता, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी, और सुधूम्राक्षी, आदि नाम धारण करनेवाली देवि! तुम्हें अनेक बार नमस्कार। तुम वेदों की श्रुति हो, तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त पवित्र है, वेद और ब्राह्मण तुम्हें प्रिय हैं। तुम्हीं जातवेदा अग्नि की शक्ति हो; जम्बू, कटक और चैत्यवृक्षों में तुम्हारा नित्य निवास है। तुम समस्त विद्याओं में ब्रह्मविद्या और देहधारियों की महानिद्रा हो। भगवति! तुम कार्तिकेय की माता हो, दुर्गम स्थानों में वास करनेवाली दुर्गा हो। सावित्री! स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती,[३४६] वेदमाता तथा वेदान्त—ये सब तुम्हारे ही नाम हैं। महादेवि! मैंने विशुद्ध हृदय से तुम्हारा स्तवन किया है। तुम्हारी कृपा से इस रणाङ्गण में मेरी सदा विजय हो। माँ! तुम घोर जगल में, भयपूर्ण दुर्गम स्थानों में, भक्तों के घरों में तथा पाताल में नित्य निवास करती हो। युद्ध में दानवों को हराती हो। तुम्हीं जम्भनी, मोहिनी, माया, ह्री, श्री, सन्ध्या[३४७], प्रभावती, सावित्री, जननी, तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य-चन्द्रमा को बढ़ानेवाली दीप्ति हो। तुम्हीं ऐश्वर्यवानों की विभूति हो। युद्धभूमि में सिद्ध और चारण तुम्हारा दर्शन करते है।"

महाभारत के विराट पर्व में एक अन्य बहुत कुछ इसी समान स्तोत्र है जिससे युधिष्ठिर ने दुर्गा की स्तुति की है। अन्य बातों के अतिरिक्त वहाँ इसे यह भी कहा गया है: "दुर्गा का विन्ध्य पर्वतों में नित्य निवास है। और मदिरा, मास, और यज्ञ पशु इन्हें विशेष रूप से प्रिय हैं (विन्ध्ये चैव नग-श्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्। कालि कालि महाकालि सीधु-मांस-पशु-प्रिये) (देखिये महाभारत ४.६,१ और बाद)।

हरिवंश (२.२,९ और बाद) में यह वर्णन है कि देवकी के गर्भो को

---

[३४६] तुलना कीजिये प्रो० वेबर ने उमा और सरस्वती के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है और जिसे ऊपर नो ३६४ मे उद्धृत किया जा चुका है।

[३४७] देखिये ऊपर।

नष्ट करने के कंस के निश्चय को जानकर विष्णु पाताल लोक में गये। पाताल में विष्णु ने निद्रा कालरूपिणी की सहायता माँगी। विष्णु ने निद्रा को यह वरदान दिया कि भूतल पर उसका प्रभाव विष्णु के समान हो जायगा और वह सम्पूर्ण जगत् की आराध्य देवी बन जायगी (श्लोक २९.३०)। विष्णु ने निद्रा से यशोदा के नवें गर्भ से उसी समय जन्म लेने को कहा जब कि वह स्वयं (विष्णु) देवकी के आठवें गर्भ से जन्म लेंगे (श्लोक ३३-३५)। तदनन्तर विष्णु ने उसे जन्म लेने पर दोनों गर्भों को बदल देने की योजना बताया, अर्थात् वह स्वयं यशोदा के पास और निद्रा को को देवकी के पास पहुँचा दिया जायगा (श्लो० ३८)। आगे विष्णु ने कहा: 'तदनन्तर कंस तुम्हारा पैर पकड़ कर तुम्हें शिला पर पटक देगा किन्तु तुम उसके हाथ से निकल कर आकाश में शाश्वत स्थान प्राप्त कर लोगी। तुम्हारी अंगकाति मेरे ही समान होगी।...आकाश में देवताओं-सहित इन्द्र मेरी आज्ञा से तुम्हारा दिव्य विधि से अभिषेक करेंगे और अपनी बहन बना लेंगे। कुशिक गोत्र से सम्बद्ध होने के कारण तुम कौशिकी नाम से प्रसिद्ध होओगी।[३४८] वे देवराज इन्द्र तुम्हें विन्ध्यगिरि पर शाश्वत स्थान प्रदान करेंगे। वहाँ मुझे मन में स्थान दे कर तुम विन्ध्यपर्वत पर विचरनेवाले शुम्भ और निशुम्भ नाम दानवों का उनके अनुयायियों सहित वध कर दोगी। वहाँ तुम्हारी पशुबलि के द्वारा पूजा होगी।" (श्लोक ३९-५२)। तदनन्तर वैशम्पायन पूर्वकाल में ऋषियों द्वारा बताये गये आर्या (दुर्गा) देवी की स्तुति का वर्णन करते हैं, जो 'नारायणीं नमस्यामि देवीं त्रिभुवनेश्वरीम्' आदि शब्दों से आरम्भ होती है (वही २.३,१ और बाद)। इस स्तुति में इस देवी को अनेक उन्हीं नामों से पुकारा गया है जो उपरोक्त अर्जुन की स्तुत में मिलते हैं, जैसे श्री, धृति, कीर्ति, ह्री, सन्ध्या, कात्यायनी, कौशिकी, जया, विजया, तुष्टि, पुष्टि इत्यादि (श्लोक २ और बाद)। इसे यहाँ यम की ज्येष्ठ बहन भी कहा गया है (श्लो० ४ : ज्येष्ठा यमस्य भगिनी)। इसे अनेक बर्बर जातियों जैसे शबर, बर्बर, पुलिन्द द्वारा पूजित कहा गया है (श्लो० ७)। इसे 'सुरामांस-प्रिया' (श्लो० १२), तथा सुरा-देवी (श्लो० १९) भी कहा गया है। इसे महर्षि वाल्मीकि में सरस्वती रूप से, व्यास में स्मृति रूप से, ऋषि-मुयियों में धर्म बुद्धिरूप से, देवताओं में सत्य संकल्प रूप से (श्लो० १८) स्थित, और समस्त चराचर जगत को व्याप्त करनेवाली (श्लो० २५ : त्वया व्याप्तम् इदं सर्व जगत् स्थावरजङ्गमम्) कहा गया है।

---

[३४८] ऋग्वेद १ १०,११ मे "कौशिक' इन्द्र की एक उपाधि हैं।

इस स्थल का उद्देश्य दुर्गा की उपासना को (जिसके व्यापक प्रचलन की वैष्णव उपेक्षा नहीं कर सकते थे) विष्णु के संरक्षण में प्रचलित सिद्ध करना प्रतीत होता है।

श्रीकृष्ण के पुत्र, प्रद्युम्न द्वारा दुर्गा को सम्बोधित एक स्तुति हरिवंश के विष्णुपर्व के १०९ वें अध्याय में, और दूसरी अनिरुद्ध द्वारा इसी देवी की स्तुति इस ग्रन्थ के इसी पर्व के १२० अध्याय में मिलती है। इस द्वितीय स्तुति का वैशम्पायन को नमस्कार करने के बाद (अनन्तम् अक्षयं दिव्यम् आदि-देवं सनातनम्। नारायणं नमस्कृत्य) वर्णन किया गया है। इसमें इस देवी को ऋषियों और देवताओं द्वारा वाणीरूपी पुष्पों से पूजित (ऋषिभिर् दैवतैश् चैव वाक्-पुष्पैर् अर्चितां शुभाम्, वही २.२१०,५) कहा गया है। स्तुति मे दुर्गा इन्द्र और विष्णु की बहन के रूप में सम्बोधित हैं (महेन्द्र-विष्णु-भगिनीम्, श्लो० ६) इन्हें गौतमी तथा अनेक उन नामों से पुकारा गया है जो उपरोक्त स्तुति में भी मिलते हैं। साथ ही यहाँ इनके लिये कुछ नये नामों का भी प्रयोग हुआ है जिनका इस प्रकार वर्णन है (श्लो० २७ और बाद) : ब्रह्मा विष्णुश् च रुद्रश् च चन्द्र-सूर्याग्नि-मारुताः।…कृत्स्नं जगद् इदम् प्रोक्त देव्या नामानुकीर्त्तनात्।

इस देवी की उपासना मार्कण्डेय पुराण के देवी-माहात्म्य में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है, जहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस देवी को महादेव नहीं बल्कि विष्णु के साथ सम्बद्ध और महामाया, योगनिद्रा, इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया है। यहीं इसके सम्बन्ध में इस प्रकार कथन है। (मार्कण्डेयपुराण ८१.४७ और बाद) : नित्यैव सा जगन्-मूर्तिर् तया सर्वम् इद ततम्। तथापि तत-समुत्पत्तिर् बहुधा श्रूयताम् मम। देवानां कार्य-सिद्ध्य अर्थम् आविर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्य् अभिधीयते। "वह जगन्मूर्त्ति नित्य हैं; वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रही है, किन्तु तो भी उनके अनेक प्रकार से उत्पन्न होने की कथा मुझसे सुनो। देवताओं की कार्य-सिद्धि के लिये जब वह आविर्भूत होती हैं तब नित्य होने पर भी लोक में 'उत्पन्न हुई कही जाती हैं'।" इसके बाद कथा इस प्रकार अग्रसर होती है : कल्प के अन्त में जब विष्णु योगनिद्रा में निमग्न थे तब मधु और कैटभ नामक दो अत्यन्त भयंकर असुरों की विष्णु के कान से उत्पत्ति हुई। ये दोनों असुर ब्रह्मा का सहार करने के लिये उद्यत हुये। ब्रह्मा ने विष्णु को निद्रा में लीन देखकर उन्हें जगाने के उद्देश्य से योगनिद्रा की स्तुति आरम्भ की जो "एकाग्र हृदय से विष्णु के नेत्रों में स्थित, विश्वेश्वरी, जगत् का सर्जन. पालन और सहार करनेवाली थी" (हरि-नेत्र-कृतालयाम्।

विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थिति-संहार-कारिणीम् । निद्राम् भगवतीं विष्णोः) । इन देवी के कुछ कार्यों का इस प्रकार वर्णन है (श्लोक० ५६): त्वयैव धार्यते सर्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत् । त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वम् अत्स्य् अन्ते च सर्वदा । "हे देवि ! तुम ही इस जगत् को उत्पन्न करती हो, तुम ही इसको धारण करती हो, तुम ही इसका पालन करती हो, और प्रलयकाल में तुम ही इसको सदा ग्रसित कर लेती हो ।" और पुनः इनके लिये यह कहा गया है (श्लो० ६३ और बाद) : यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सद् असद् वाऽखिलात्मके । तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा । यया त्वया जगत्-स्रष्टा जगत्-पाताऽत्ति यो जगत् । सोऽपि निद्रा-वशं नीतः कस् त्वाम् स्तोतुम् इहेश्वरः । विष्णुः शरीर-ग्रहणम् अहम् ईशान एव च । कारितास् ते यतोऽतस् त्वाम् कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् । "हे अखिलात्मके ! जो कुछ सत् और असत् वस्तु है, उनकी जो शक्ति है, वह सब तुम्हीं हो, अतएव तुम्हारी स्तुति किस प्रकार करूँ । हे देवि ! जगत की सृष्टि, स्थिति, और प्रलय के कारण उन भगवान् विष्णु को ही जब तुमने निद्राभिभूत कर रक्खा है तब और कौन तुम्हारी स्तुति करने में समर्थ होगा ? विष्णु, ईशान और मुझको (ब्रह्मा को) जब तुमने ही शरीर ग्रहण कराया है तब दूसरा कौन तुम्हारी स्तुति करने में समर्थ होगा ?"

महिषासुर का वध करने के बाद इस देवी को सम्बोधित स्तुति का आरम्भिक अंश इस प्रकार है :

मार्कण्डेय पुराण ८४.१ और बाद : शक्रादयः सुरगणा निहतेऽतिवीर्ये तस्मिन् दुरात्मनि सुरारिबले च देव्या । ताम् तुष्टुवः प्रणति-नम्र-शिरोधरांसा वाग्भिः प्रहर्ष-पुलकोद्गम-चारु देहाः । देव्या यया ततम् इदं जगद् आत्म-शक्त्या निःशेष-देव-गण-शक्ति-समूह मूर्त्या । ताम् अम्बिकाम् अखिल देव-महर्षि-पूज्याम् भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः । यस्याः प्रभावम् अतुलम् भगवान् अनन्तो ब्रह्मा हरश् च न हि वक्तुम् अलम् बलञ्च । सा चण्डिकाऽखिल-जगत्-परिपालनाय नाशाय चाशुभ-भयस्य मतिं करोतु । "जब देवी ने दुरात्मा, अतिवीर, और देवताओं के शत्रु उस असुर का वध कर दिया तब इन्द्र आदि देवताओं का समूह, जिनका शोभायमान शरीर अति प्रसन्नता के कारण पुलकित हो गया था, अपना मस्तक, कंठ और कन्धा झुका कर नमस्कारपूर्वक विविध प्रकार के वचनों से दुर्गा का स्तवन करने लगा । देवताओं ने कहा : 'जिन्होंने अपने प्रभाव से उस चराचर जगत को विस्तारित किया, सम्पूर्ण देवताओं के शक्तिसमूह से मिल कर जो मूर्त रूप में परिणत हुईं

और जो सम्पूर्ण देवता तथा महर्षियों की पूजनीय हैं, हम उन अम्बिका को प्रणाम करते हैं, वह हमारा मंगल करें। भगवान् अनन्तदेव ब्रह्मा और महादेव जिनके प्रभाव और बल का वर्णन करने में समर्थ नहीं होते वह चण्डिका देवी सम्पूर्ण जगत् का पालन करने के लिये तथा अमंगल और भय के विनाश के लिये इच्छा करें।"

ये उदाहरण उस प्रतिष्ठा और आदर को दिखाने के लिये पर्याप्त हैं जो कालान्तर में इस देवी ने अपने स्तोताओं की दृष्टि में प्राप्त कर लिया। साथ ही, यहाँ वर्णित इस देवी के चरित्र के साथ ऊपर महाभारत और रामायण इत्यादि से उद्धृत इसी के वर्णनों के साथ तुलना करने पर यह विदित होगा कि इसने अब बाद में भारतीय देवसभा के अन्तर्गत उससे कहीं उच्च स्थान प्राप्त कर लिया जो मूलतः दक्ष और हिमवान् की पुत्री को प्राप्त था।

परिशिष्ट

पृ० ७, पंक्ति ५

'आरम्भणम्'। तुलना कीजिये ऋग्वेद ७.१०४,३ के 'आरम्भणे तमसि' शब्दों से।

पृ० १३, पंक्ति ८

'मार्त्ताण्डम्'। तुलना कीजिये ऋग्वेद २.३८,८ :...विश्वो मार्त्ताण्डो आ पशुर् गात्।...जिसकी भाष्यकार ने यह व्याख्या की है : "प्रत्येक पशु और पक्षी अपने आश्रयस्थान में जाता है।"

पृ० २२ पं० १३

ब्रह्माण्ड का छान्दोग्य उपनिषद् में भी उल्लेख है : ३.१९, १ और बाद : आदित्यो ब्रह्म इत्य् आदेशः। तस्योपव्याख्यानम्। असद् एवेदम् अग्रे आसीत्। तत् सद् आसीत्। तत् समभवतत्। तद् अण्डं निरवर्त्तत। तत् संवत्सरस्य मात्राम् अशयत। तद् निरभिद्यत् ते अण्ड-कपाले रजतं च सुवर्णं च अभवताम्। तद् यत् रजतं सा इयम् पृथिवी यत् सुवर्णं सा द्यौर् यज् जरायु[1] ते पर्वता यद् उल्वं[2] स मेघो नीहारो[3] या धमनयस्[4] ता नद्यो यद् वास्तेयम्[5] उदकं स समुद्रः। अथ यत् तद् अजायत सोऽसाव् आदित्यस् तां जायमानं घोषा उलूलवो[6]ऽनुदतिष्ठन् [ऽनूदतिष्ठन ?] सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामास् तस्माद् तस्योदयम् प्रति प्रत्यायनम्[7] प्रति घोषा उलूलवोऽनुतिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः।

"सूर्य ब्रह्म है—ऐसा उपदेश है। इसी उपदेश का व्याख्यान किया जाता है। यह नामरूपात्मक जगत् ही अपनी उत्पत्ति से पहले ऐसा था ? अर्थात्

---

[1] गर्भ = वेष्टनं स्थूलम्। भाष्य०।

[2] सूक्ष्म गर्भ-परिवेष्टनम। भाष्य०।

[3] अवश्याय। भाष्य०।

[4] शिरा। भाष्य।

[5] वास्तौ भवम् वास्तेयम्। भाष्य।

[6] 'उरुरवो विस्तीर्ण-रवा उदतिष्ठन्न् उत्थितवन्त।'

[7] प्रत्यस्त-गमनम्...अथवा पुनः पुन प्रत्यागमनम्।

ऐसा नहीं था। यह असत् जगत् सत्ता से युक्त हुआ; तदनन्तर यह परिमाण वाला हुआ, फिर स्थूल हुआ; पुनः अण्डाकार हुआ; और फिर वह अणु एक संवत्सर-पर्यन्त जैसे का तैसा पड़ा रहा। एक संवत्सर के पश्चात् वह पक्षियों के अण्डों की भाँति फूटा और फूट कर अण्ड के जो दो भाग हुये उनमें एक सुवर्ण का और दूसरा रजत् का हुआ। इन दोनों भागों में जो रजत-भाग था वही यह पृथिवी है, जो दूसरा सुवर्ण का भाग था वह आकाश है। जो गर्भाशय है वे पर्वत है; जो गर्भ-परिवेष्टन है वह मेघों के साथ कुहरा है, जो नसें हैं वह नदियाँ है, जो नाभि के नीचे जल है वही समुद्र है। अब, जो उस अणु से उत्पन्न हुआ वही यह प्रत्यक्ष सूर्य है। उत्पन्न हुये इस सूर्य के साथ उत्साहवाले शब्द हुये और फिर सब स्थावर जङ्गम जीव उत्पन्न हुये। इसके बाद सब भोग्य-पदार्थ उत्पन्न हुये। इसीलिये इस सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर उत्सव के शब्द उत्पन्न होते हैं। सब स्थावर-जगम भूत और सब भोग्य पदार्थ उसके पीछे पीछे उत्पन्न होते हैं।"

पृ० २६, प० २४

वेबर के इण्डिशे स्टूडियन १.७८, से मुझे यह पता लगा है कि तैत्तिरीय आरण्यक में भी यह कहा गया है कि एक "काले वाराह ने अपने सौ बाहुओं से पृथिवी को ऊपर उठाया" (वराहेण कृष्णेन शत-बाहुना उद्धृता)।

पृ० ३२, पं० ६

रामायण के उत्तरकाण्ड (४,९ कल० सं०) में भी इस प्रकार कहा गया है : प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपः सलिल-सम्भवः। तासां गोपायने सत्वान् असृजत् पद्म-सम्भवः। "पद्मसम्भव प्रजापति की जलों से उत्पत्ति हुई, पहले जलों की सृष्टि करके उन्होंने उनकी रक्षा के लिये जीवों की सृष्टि की।" जलों की रक्षा करने के लिये सहमत होने से ही उनका 'राक्षस' (रक्ष् ' धातु = रक्षा करना, से) नाम पड़ा।

इस श्लोक पर भाष्यकार इस प्रकार टिप्पणी करता है : "आपः सृष्ट्वा" भूमेर् अधो-वर्त्तिनीर् अपः सृष्ट्वा इत्य् अर्थः। तत्र "सलिल-सम्भवः" प्रजापतिर् अभूद् इत्य् अन्वयः। तथा "आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीत् तस्मिन् प्रजापतिर् वायुर् भूत्वाऽचरत्। स इमाम् अपश्यत् तां वराहोऽभूत्वाऽऽहरद्" इति श्रुतेश्च। "जलों की सृष्टि करके' से यह अर्थ है कि भूमि के नीचे के जलों की सृष्टि करके। उन्हीं में सलिल-सम्भव प्रजापति उत्पन्न हुये—ऐसा अन्वय है।"...भाष्यकार तब मनु १.८ और बाद का, तथा वेद से उद्धरण दे कर आगे इस प्रकार कहता है :..."और श्रुति के

अनुसार 'यह सम्पूर्ण जगत् पहले केवल जल ही जल था। इसी में प्रजापति वायु हुआ और गतिशील हुआ। उसने इस पृथिवी को देखा : एक वराह का रूप धारण कर उसने इसे उपर उठाया।"

रामायण के किष्किन्धाकाण्ड ४३,५४ और बाद (कल० सं०) में ब्रह्मा (पुल्लिङ्ग) को विश्वात्मा के साथ समीकृत किया गया है : तम् अतिक्रम्य शैलेन्द्रम् उत्तरस् तोयसां निधिः। तत्र सोम-गिरिर् नाम मध्ये हेममयो महान्। ५५. स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते। सूर्य-लक्ष्म्याऽभिविज्ञेयस् तपतेव विवस्वता। ५६. भगवांस् तत्र विश्वात्मा शम्भुर् एको दशात्मकः। ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षि परिवारितः न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणाम् :उत्तरेण च। इत्यादि। "उस पर्वतराज के उस पार उत्तरी समुद्र है। उस समुद्र के मध्यभाग में सोमगिरि नामक एक बहुत ऊँचा सुवर्णमय पर्वत है। वह देश सूर्य से रहित है तो भी सोमगिरी की प्रभा से सदा प्रकाशित होता रहता है। तपते हुये सूर्य की प्रभा से जो देश प्रकाशित होते हैं उन्हीं की भाँति उसे सूर्यदेव की शोभा से सम्पन्न-सा जानना चाहिये। वहाँ विश्वात्मा शम्भु, एक किन्तु एकादश-रूप ब्रह्मा निवास करते हैं। वह देवेश वहाँ ब्रह्मर्षियों से घिरे रहते हैं। तुम उत्तर कुरु की सीमा से आगे कदापि मत बढ़ना', इत्यादि।"

भाष्यकार ५६ वें श्लोक पर यह टिप्पणी करता है : विश्वं समति व्याप्नोति इति विश्वात्मा व्यापकः। तेन विष्णु-रूपः। विष्णु-व्याप्ताव् इत्य् अनुसारात् स एव शम्भुः शम् भवत्य् अस्मात्। स एवैकादशानु-वाकार्थैकादश-रुद्रात्मकः। स च ब्रह्मा ब्राह्मणत्वाज् जगत्-स्रष्टृत्वाद् एव रूप-त्रयात्मा भगवांस् तत्र सोम-गिरौ कार्य-ब्रह्म-लोकत्वाद् वसतीत्य् अर्थः। "वह जो सब में व्याप्त है, वही व्यापक विश्वात्मा है। इसलिये वह विष्णु रूप है। यतः विष्णु व्याप्त करते हैं अतः वे ही वह शम्भु हैं जिनसे सब सुख उत्पन्न होते है। ये ही ग्यारह अनुवाक के विषय हैं और एकादश रुद्रों के रूप में निवास करते हैं [भाष्यकार ने ऐसी दशा में 'एकादशात्मकः' पाठ ग्रहण किया होगा। गोरेसियो के सस्करण में 'बहुधात्मकः' पाठ है], और यह ब्रह्मा नामक देवता अपने ब्रह्मत्व से तीन रूपों में स्थित होकर सोम-गिरि पर निवास करते हैं। इनके ऐसे वास करने से ब्रह्मलोक की सृष्टि हुई [?]"। नीचे, तुलना के लिये, मैं इस स्थल के गोरेसियो के संस्करण के मूल को उद्धृत कर रहा हूँ।

किष्किन्धाकाण्ड ४४,११७ और बाद : कुरूंस् तान् समतिक्रम्य उत्तरे पयसां निधिः। तत्र सोमगिरिर् नाम हिरण्मय-समो महान्। इन्द्र-लोक-

गता ये च ब्रह्म-लोक-गताश् च ये। सर्वे ते समवेक्षत गिरिराजं दिवं गताः। असूर्योऽपि हि देशः स तस्य भासः प्रकाशते। ससूर्य इव लक्ष्मीवास् तपतीव दिवाकरे। भगवांस् तत्र भूतात्मा स्वयम्भूर् बहुधात्मकः। ब्रह्मा भवति वश्यात्मा सर्वात्मा सर्वभावनः।

पृ० ५९, अन्तिम पंक्ति

रावण द्वारा अपहृत सीता को खोजने के लिये वानरों के विभिन्न दिशाओं में भेजे जाने का रामायण के किष्किन्धा काण्ड में जो उल्लेख है उसमें विष्णु के तीन-पाद-प्रक्षेपों का भी एक सन्दर्भ है। इस सन्दर्भ की प्रकृति ऐसी है कि इसमें इन पाद-प्रक्षेपों का मौलिक अर्थ सुरक्षित प्रतीत होता है :

किष्कि० ४०,५४ और बाद (कल०) : ततः पर हेममयः श्रीमान् उदय-पर्वतः। तस्य कोटिर् दिवं स्पृष्ट्वा शत-योजनम् आयता। जातरूपमयी दिव्या विराजति स-वेदिका।...५७. तत्र योजन-विस्तारम् उच्छ्रतं दश-योजनम। शृङ्गैः सौमनसम् नाम जातरूपमय ध्रुवम्। ५८. तत्र पूर्व-पद कृत्वा पुरा विष्णुस् त्रिविक्रमे। द्वितीयं शिखरे मेरोश् चकार पुरुषोत्तमः। ५९. उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः। दृश्यो भवति भूयिष्ठं शिखरं तद् महोच्छ्रयम् ('दृश्यो भवतिभूताना शिखरं तम् उपाश्रितः', गोरेसियो)। "उसके बाद सुवर्णमय उदय पर्वत है, जो दिव्य शोभा से सम्पन्न है। उसका गगन-चुम्बी शिखर सौ योजन लम्बा है। उसका आधारभुत पर्वत भी वैसा ही है। उसके साथ वह दिव्य सुवर्ण शिखर अद्भुत शोभा पाता है' '५७. उस सौ योजन लम्बे उदयगिरि के शिखर पर एक सौमनस नामक सुवर्णमय शिखर है जिसकी चौड़ाई एक योजन और ऊँचाई दस योजन है। पूर्वकाल में पुरुपोत्तम विष्णु ने अपना पहला पैर उस सौमनस नामक शिखर पर रखकर दूसरा पैर मेरु पर्वत के शिखर पर रक्खा था। सूर्यदेव उत्तर से घूमकर जम्बूद्वीप की परिक्रमा करते हुये जब अत्यन्त ऊँचे सौमनस नामक शिखर पर आकर स्थित होते हैं तब जम्बूद्वीप निवासियों को उनका अधिक स्पष्टता के साथ दर्शन होता है।"

५८ वें श्लोक की अपनी टीका में भाष्यकार विषय पर बहुत अधिक प्रकाश नहीं डालता : तत्र शत योजन-दीर्घे उदय-गिरि शिखरे तत्र सौमनसे शृङ्गे त्रिविक्रमे त्रिभिः पदैस् त्रिलोक्य्-आक्रमण-प्रस्तावे प्रथमम् पदम् मेरोः शिखरे चकार। ५९ वें श्लोक पर : अथानन्तरम् उत्तरेण जम्बुद्वीपम् परिक्रम्य तम् महोच्छ्रय शिखरम् सौमनसाख्यम् प्राप्य स्थितो दिवाकरो जम्बु-द्वीप-वत्तिनाम् भूयिष्ठम् दृष्टो भवति सौमनसः शिखरे

इत्य अर्थः। इदम् सत्य-युगाभिप्रायं त्रेतायां क्षीर-सागर-मध्य-गस्य द्वापरे सुरोद-मध्य-गस्य कलौ लङ्का-मध्य-गस्य जम्बुद्वीप स्थ मनुष्य-दृश्यताया अन्यत्रोक्तत्वात्।

"उस सौ योजन लम्बे उदयगिरि के शिखर के सौमनस नामक शिखर पर विष्णु ने तीन पाद-क्रमण द्वारा लोकों को नापते समय अपना 'पहला पैर मेरु शिखर पर रक्खा था।" [यहाँ कुछ शब्द छूट गये प्रतीत होते है क्योंकि भाष्यकार मूल का विरोध करता हुआ दूसरे पाद के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता]। ५९ वें श्लोक पर यह टीका करता है : "जब उत्तर से जम्बूद्वीप की परिक्रमा करके सूर्य जब सौमनस शिखर पर आते हैं तब यहाँ के निवासी उनका अधिक स्पष्टता से दर्शन करते हैं। ऐसा सत्ययुग में था। क्योंकि अन्यत्र यह कहा गया है कि त्रेता युग में जम्बूद्वीप के लोग सूर्य को क्षीर-सागर के मध्य से जाते हुये, और द्वापर में मदिरा के समुद्र के मध्य से जाते हुये, और कलियुग में लका के मध्य से जाते हुये देखते हैं।"

विष्णु के तीन पगों का रामायण के अन्य भागों में भी उल्लेख है। ६.३९,२२ (कल०) में यह कथन है : प्रासादैश्च विमानैश् च लङ्का परम-भूषित। घनैर् इवातपापाये मध्यमं वैष्णवम् पदम्। "लङ्का उस समय मंदिरों और प्रासादों से अत्यन्त सुशोभित थी जब ग्रीष्म ऋतु के समाप्त होने पर विष्णु का मध्यम पद आकाश में मेघों-सहित स्थित हुआ।" भाष्यकार ने विष्णु की मध्यम स्थिति की आकाश के रूप में व्याख्या की है। इस स्थल से विष्णु के पाद-क्रमण का मूल अथवा पौराणिक, दोनों में से कोई आशय हो सकता है।

पृ० १५७, पंक्ति १२

इस टिप्पणी में मैं इस बात के और प्रमाण प्रस्तुत करूँगा कि श्रीराम को मूलतः विष्णु का अवतार नहीं माना जाता रहा होगा।

कलकत्ता संस्करण और श्लेगेल के संस्करण में प्रथम काण्ड के पहले और दूसरे अध्यायों के सारांश में श्रीराम के दिव्यत्व का कोई सन्दर्भ नहीं है। गोरेसियो के पहले और तीसरे अध्यायों की दशा में भी स्थिति ऐसी ही है। फिर भी, चौथे अध्याय में गोरेसियो के संस्करण में (अन्य में नहीं) देवों द्वारा निर्मित रावण-वध की योजना तथा उस दिव्य चरु का, जिससे दशरथ के पुत्रों का जन्म हुआ, स्पष्ट रूप से उल्लेख है (श्लोक १४, १५)। रामायण १.१,१८ (कल०) में राम को शक्ति में विष्णु के समान, और रूप में चन्द्रमा के समान, कहा गया है। प्रथम समता का तात्पर्य यह है कि राम विष्णु नहीं थे। अन्यथा इस तुलना की क्या आवश्यकता थी? भाष्यकार

इस पर यह टीका करता है : यद्यपि रामो विष्णुर एव सर्वरूपण् च तथापि मानुषोपाधि-भेदात् सर्वत्र-सादृश्यं द्रष्टव्यम्। यद्वा विष्णुना सदृश इत्य् अनन्वयालंकारः। "यद्यपि राम विष्णु ही थे, तथापि उनके मनुष्य रूप की भिन्नता के कारण उनमें और विष्णु में सभी दृष्टियों से सादृश्य की कल्पना की गई है। अथवा इस सादृश्य को अनन्वयालंकार माना जा सकता है।" देखिये प्रो० गोल्डस्टूकर के कोश में 'अनन्वयालङ्कार शब्द।

श्लेगेल और लासन का अनुसरण करते हुये ऊपर, पृ० १५३ और बाद, में मैंने यह संकेत किया है कि श्लेगेल के १४ वें अध्याय में वर्णित दूसरा यज्ञ ऐसा प्रतीत होता है जिसका वर्णन रामायण का मूल अंश नहीं हो सकता। अभी कलकत्ता से छपा संस्करण, जो श्लेगेल के संस्करण से अक्सर भिन्न है, ५–११ श्लोकों को छोड़ कर सीधे १२ वें पर श्लोक पर आ जाता है। देवों द्वारा विष्णु से दशरथ के पुत्रों के रूप में अवतार लेने, आदि के विवरण में दोनों संस्करणों के श्लोकों के क्रम में अन्तर है, विषय-वस्तु में नहीं। कलकत्ता संस्करण के १.१५,३२ के 'पितरं रोचयामास तदा दशरथम् नृपम' को १.१६,८ में पुनः दोहराया गया है। अब मैं नीचे एक ही घटना के कलकत्ता और गोरेसियो के संस्करणों के पाठों को आमने सामने उद्धृत कर रहा हूँ।

कलकत्ता सं० १.१८,८ और बाद	गोरेसियो सं० १.१९,१० और बाद
८ ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः। ततश् च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। ९. नक्षत्रेऽदिति-दैवत्ये स्वोच्च-संस्थेषु पञ्चसु। ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताव् इन्दुना सह। १०. प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्व-लोक-नमस्कृतम। कौशल्याऽजनयद् रामं दिव्य-लक्षण-संयुतम्। ११. विष्णोर् अर्धम् महाभागम्	१०. तासाम् प्रजज्ञिरे पुत्राश् चत्वारोऽमित-तेजसः। राम-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-भरता देवरूपिण.। ११. जन्म-तेजो-गुण-ज्येष्ठम् पुत्रम् अप्रतिमौजसम्। कौशल्याऽजनयद् रामं विष्णु तुल्य-पराक्रमम्। १२. (प्रायः कल० के समान)। १३. भवाय स हि लोकानाम् रावणस्य वधाय च। विष्णोर् वीर्यार्धतो जज्ञे रामो राजीवलोचनः।[1]

[1] यद्यपि यह श्लोक कलकत्ता सं० मे नही है, तथापि श्लेगेल के संस्करण मे पाँचवाँ है"।

पुत्रम् ऐक्ष्वाकु-नन्दनम् । लोहिताक्षम् महाबाहुं रक्तोष्ठम् दुन्दुभिस्वनम । १२ कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेण-मित–तेजसा । यथा वारेण[10] देवा-नाम् अदितिर वज्रपाणिनां । १३. भरतो नाम कैकेय्याम् जज्ञे सत्य पराक्रमः । साक्षाद् विष्णोश् चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः । १४. अथ लक्ष्मण-शत्रुघ्नौ सुमित्राऽजनयत् सुतौ । वीरौ सर्वास्त्र-कुशलौ विष्णुर् अर्ध-समन्वितौ ।[11] १५. पुण्ये जातस् तु भरतो मीन लग्ने प्रसन्न-धीः । सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ । १६. राज्ञ. पुत्रा महात्मानश् चत्वारो जज्ञिरे पृथक् । गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ।

१४. तेजोवीर्याधिकः शूरः श्रीमान् गुण-गणाकरः । बभूवानवरश् चैव सकाद् विष्णोश् च पौरुपे । १५. तथा लक्ष्मण शत्रुघ्नौ सुमित्राऽजनयत् सुतौ । दृढ़-भक्ती महोत्साहौ रामस्यावरजौ गुणैः । १६. ताव् आय् आस्ताम् चतुर्-भागौ विष्णोः सम्पिण्डिताव् उभौ । एक-एक-चतुर्भागाद् अपरस्माद् अजायत । १७. भरतो नाम कैकेयाः पुत्रः सत्य-पराक्रमः । धर्मात्मा च महात्मा च प्रख्यात-बल-विक्रमः । १८. स चतुर्भिर् महभागैः पुत्रैर् दशरथो वृतः । बभूव परम्-प्रीतो देवैर् इव पितामहः । २० तेषाम् केतुर् इव श्रेष्ठो रामो लोक-हिते-रत. । स्वयम्भूर् इव देवानां सर्वेषा सम-दर्शनः ।

कलकत्ता संस्करण में श्लेगेल के संस्करण का पाँचवा और गोरेशियो के संस्करण का १३ वाँ श्लोक नहीं है; किन्तु अन्य के समान इसके भी ११ वें (जो श्लेगेल में नहीं है) श्लोक में यह कहा गया है कि विष्णु के आधे अंश ने राम के रूप में अवतार लिया। इस शाखा के सम्बन्ध में भी वही कहा जा सकता है जो मैंने ऊपर पृ० १५३ और बाद में कहा है—अर्थात् यह कि, दशरथ के पुत्रों को विष्णु के अवतार बनानेवाले श्लोकों को कथा-सूत्र में कोई भी व्यतिक्रम उत्पन्न किये बिना छोड़ दिया जा सकता है। १३-१५ श्लोकों में दिये भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के विवरणों में कुछ असंगति है। भरत को छोड लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का परिचय देने (श्लो० १४) के बाद कवि (श्लोक १५) पुन भरत पर आकर इनके जन्म आदि का और विवरण देता है, और फिर पुनः अन्य भाइयों का विवरण देता है। फिर भी, यदि श्लोक १३.१४ प्रक्षिप्त हैं, तो यह सम्भव है कि कुछ ऐसी पंक्तियों को, जिनकी श्लोक १५

[10] मुझे पता नही कि 'वारेण' का क्या अर्थ है। सम्भवत. हमे 'वरेण' या 'अवरेण' पाठ ग्रहण करना चाहिये। अन्य सस्करणो मे 'अधिपेन' पाठ है।

[11] देखिये १.१५,२१ (श्लेगेल)।

को पूर्ण करने के लिये आवश्यकता प्रतीत होती है, छोड़ दिया गया होगा, क्योंकि भरत की माता तथा सुमित्रा के पुत्र के नामोल्लेख की आवश्यकता बनी रहती है। इस स्थल के गोरेसियो के संस्करण में दशरथ के पुत्रों के जन्म के समय के ज्योतिषशास्त्रीय विवरणों को छोड़ दिया गया है, यद्यपि ये मूल काव्य के अंग रहे हो सकते हैं।[12] इस संस्करण का १२ वाँ (तथा दोनों अन्य संस्करणों का समानान्तर) श्लोक, जिसमें राम की इन्द्र के साथ तुलना है, और १४ वाँ श्लोक (गोरे०) जिसमें राम को इन्द्र तथा विष्णु से किसी प्रकार हीन नहीं कहा गया है, कदाचित ही एक ऐसे महाकाव्य के मूल अंश हो सकते हैं जिसमें राम के अवतार का वर्णन है, क्योंकि राम (जिन्हें विष्णु का अवतार माना गया है) के पराक्रम की इन्द्र से तुलना पाठक के मन में काव्य के नायक राम के प्रति विशेष आदर का सृजन नहीं कर सकती क्योंकि इन्द्र विष्णु से एक हीन देवता हैं। इस विषय पर गोरेसियो यह टिप्पणी करते हैं (अपने संस्करण के ६ वें भाग में पृ० ४२२ पर नोट ९० में): "यह इस महाकाव्य के ऐसे स्थलों में से एक है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राम के विष्णु के अवतार होने का विचार प्रक्षिप्त है। यदि राम वास्तव में विष्णु के अवतार और मनुष्य रूप में स्वयं विष्णु ही थे तो उन्हें यहाँ 'विष्णु से हीन नहीं' कहना बहुत उचित नहीं है। यह तो यही कहना हुआ कि कोई व्यक्ति स्वयं अपने से हीन नहीं है। परन्तु मैं यहाँ ऐसा निर्णय नहीं सकता, क्योंकि समस्या पर अभी और विचार आवश्यक है।"

पुन, अरण्यकाण्ड ३०, २० और बाद (गोरेसियो सं०) में यह कहा गया है कि जब राक्षसगण राम पर आक्रमण करने के लिये आये तब देवता तथा अन्य प्राणी राम की सुरक्षा के लिये अत्यन्त चिन्तित हो उठे: ततो देवर्षि-गन्धर्वाः सिद्धाश् च सह चारणैः। ऊचुः परम-संत्रस्ता गुह्यकाश् च परस्परम्। चतुर् दश सहस्राणि रक्षसाम् भीम-कर्मणाम्। एकश् च रामो धर्मात्मा कथं युद्धम् भविष्यति। रामो नो विदितो योऽयं यथा च वसुधां गतः। मनुष्यत्वं तु मत्वाऽस्य कारुण्याद् व्यथितम् मनः। नर्दन्तीव चमूस् तेषां रक्षसां कामरूपिणाम्। नाना-विकृत-वेशानां रामाश्रमम् उपागमत। "तब देवों, ऋषियों, गन्धर्वों, सिद्धों, चारणों, और गुह्यकों ने भय से अत्यन्त त्रस्त होकर परस्पर इस प्रकार कहा: एक ओर चौदह सहस्र भीमकर्मा राक्षस हैं, और दूसरी ओर अकेले धर्मात्मा राम:

[12] सिग्नोर गोरेसियो का विचार हैं कि ये विवरण निरर्थक हैं।

फिर दोनों के बीच कैसे युद्ध होगा? हम जानते हैं कि ये राम कौन हैं, और पृथिवी पर कैसे अवतीर्ण हुये हैं, किन्तु इनके मानव स्वभाव को देखते हुये हमारा मन करुणा से अत्यन्त व्यथित हो रहा है। इन स्वेच्छया रूप धारण करनेवाले राक्षसों की, जो अनेक विकृत रूप धारण किये हुये हैं, सेना भीषण नाद करती हुई राम के आश्रम के निकट आ गई है।"

कलकत्ता संस्करण, ३.२३,१९ और बाद में देवों आदि द्वारा कहा गया वचन सर्वथा भिन्न है : ततो देवाः स गन्धर्वाः सिद्धाश् च सह चारणैः। समेयुश्च महात्मानो युद्ध-दर्शन-कांक्षया। २० ऋषयश् महात्मानो लोके ब्रह्मर्षि-सत्तमाः। समेत्य चोचु. सहितास् तेऽन्योन्यम् पुण्य-कर्मणः[13] | २१. स्वस्ति गो-ब्राह्मणानाञ्च लोकानां चेति सस्थिता. ।[14] जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान्। २२. चक्र हस्तो यथा युद्धे सर्वान् असुर्-पुङ्गवान्। एवम् उक्त्वा पुनः प्रोचुर् आलोक्य च परस्परम्। २४. चतुर्दश सहस्राणि रक्षसाम् भीम-कर्मणाम्। एकश् च रामो धर्मात्मा कथ युद्धम् भविष्यति। २४. इति राजर्षयः सिद्धाः स-गणाश् च द्विजर्षभाः। जात-कौतूहलास् तस्थुर् विमान-स्थाश् च देवताः २५. आविष्टं तेजसा राम सग्राम-शिरसि स्थितम्। दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद् दिव्यथिरे तदा। २६. रूपम् अप्रतिम तस्य समस्याक्लिष्ट-कर्मणः। बभूव रूप क्रुद्धस्य रुद्रस्येव महात्मनः।...३५. तस्य रुष्टस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा। दक्षस्येव क्रतुं हन्तुम् उद्यतस्य पिनाकिनः[15]।
"तदनन्तर श्रीराम और राक्षसों का युद्ध देखने की इच्छा से देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण आदि महात्मा वहाँ एकत्र हुये। इनके अतिरिक्त, जो तीनों लोकों म प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि शिरोमणि पुण्यकर्मा महात्मा ऋषि हैं वे भी वहाँ एकत्र हुये और परस्पर मिल कर यों कहने लगे : 'गौओं, ब्राह्मणों, और समस्त लोकों का कल्याण हो। जैसे चक्रधारी विष्णु युद्ध में समस्त श्रेष्ठ असुरों को परास्त कर देते हैं उसी प्रकार इस संग्राम में राम भी पुलस्त्यवंशी निशाचरों पर विजय प्राप्त करें।' ऐसा कह कर वे पुनः एक दूसरे की ओर देखते हुये बोले : 'एक ओर भयंकर कर्म करनेवाले चौदह सहस्र राक्षस हैं और दूसरी ओर अकेले धर्मात्मा राम—फिर यह युद्ध कैसे होगा?' ऐसी बातें करते हुये राजर्षि, सिद्ध, विद्याधर, आदि गणों के साथ श्रेष्ठ महर्षि तथा

[13] 'अदीर्घत्वम्', भाष्य०।

[14] मैं नही जानता कि इन शब्दो की क्या व्याख्या की जाय।

[15] यह श्लोक गोरेसियो के सस्करण मे भी है।

विमान पर स्थित हुये देवता कौतूहलवश वहाँ खड़े हो गये। युद्ध के मुहाने पर वैष्णव तेज से आविष्ट हुये श्रीराम को खड़ा देख कर उस समय सब प्राणी भय से व्यथित हो उठे। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तथा रोष में भरे हुये महात्मा राम का वह रूप क्रुद्ध रुद्र के समान अप्रतिम प्रतीत होता था।' ३५. उस समय रोष में भरे हुये राम का रूप दक्षयज्ञ का विनाश करने के लिये उद्यत पिनाकधारी महादेव के समान दिखायी देने लगा।"

इन दो शाखाओं से उद्धृत इन पाठों की तुलना से यह सम्भाव प्रतीत होता है कि देवों और अन्य दर्शकों के जिस वचन का कलकत्ता संस्करण में उल्लेख है वह सबसे प्राचीन और मौलिक है, क्योंकि उसमें श्रीराम की दिव्य-प्रकृति का कोई उल्लेख नहीं है, और २२ वें श्लोक में विष्णु का उसी प्रकार तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये उल्लेख किया गया है जिस प्रकार २६ वें और ३५ वें श्लोकों में रुद्र का। दूसरी ओर, गोरेसियो के संस्करण में श्रीराम की दिव्य प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। अतः मेरा अनुमान है कि इसमें जो देवों का संक्षिप्त सभापण मिलता है उसे किसी बाद के सम्पादक ने पहले के लम्बे संभापण के स्थान पर रख दिया है।

राक्षसों के विरुद्ध युद्ध अभियानों में राम का जीवन असफलताओं से रहित नहीं है। युद्धकाण्ड के ४५ वें अध्याय (कलकत्ता स० = २० वों अध्याय, गोरेसियो) में यह वर्णन है कि रावण-पुत्र इन्द्रजित द्वारा सर्पमय बाणों से राम और लक्ष्मण दोनों ही अत्यन्त आहत हो गये।

अब नीचे के सभी उद्धरण केवल कलकत्ता संस्करण से दिये जा रहे हैं। जहाँ विशेष रूप से गोरेसियो संस्करण का सन्दर्भ आया है उसका तदनुसार उल्लेख कर दिया गया है।

६.४५,७ और बाद, में यह कहा गया है : राम लक्ष्मणयोर् एव सर्व-देह भिदः शरान्। भृशम् आवेशयामास रावणिः समितिञ्जय'। निरन्तर-शरीरौ तु ताव् उभौ राम-लक्ष्मणौ। क्रुद्धेनेन्द्रजिता वीरौ पन्नगैः शरतां गतैः। तयोः क्षत-ज-मार्गेण सुस्राव रुधिरम् बहु।...१६. बद्धौ तु शर-बन्धेन ताव् उभौ रण-मूर्धनि। निमेषान्तर-मात्रेण न शेकतुर् अवेक्षितुम्। २२. पपात प्रथमं रामो विद्धो मर्मसु मार्गणैः क्रोधाद् इन्द्रजिता येन पुरा शक्रोऽपि निर्जितः। "तत्पश्चात्, युद्ध-विजयी रावण पुत्र इन्द्रजित् पुनः राम और लक्ष्मण पर ही उनके सम्पूर्ण अंगों को विदीर्ण करनेवाले बाणों की बारम्बार वर्षा करने लगा। कुपित हुये इन्द्रजित् ने उन दोनों वीर, राम और लक्ष्मण, को बाणरूपधारी सर्पों द्वारा इस

तरह बाँधा कि उनके शरीर मे थोड़ा-सा भी ऐसा स्नान नहीं रह गया, जहाँ वाण न लगा हो। उन दोनों के अंगों में जो घाव हो गये थे उनके मार्ग से अत्यधिक रक्तस्राव होने लगा। ...१६. युद्ध के मुहाने पर वाण के बन्धन से बँधे हुये वे दोनों वन्धु पलक मारते-मारते ऐसी दशा को पहुँच गये कि उनमें आँख उठा कर देखने की भी शक्ति नहीं रह गई।[१६]......२२. जिसने पूर्वकाल में इन्द्र को परास्त किया था, उस इन्द्रजित् के क्रोधपूर्वक चलाये हुये वाणों द्वारा मर्मस्थल में आहत होने के कारण पहले श्रीराम धराशायी हो गये।"[१७] उनके मित्र, वानरों ने आकर दोनों बन्धुओं को असहाय अवस्था में पड़े देखा। ६.४६, ३ और बाद: अन्वशोचन्त राघवौ। अचेष्टौ मन्दनिश्वासौ शोणितेन परिप्लुतौ। शर-जालान्वितौ स्तब्धो ,शयानौ शर-तल्प-गौ। निश्वसन्तौ यथा सर्पौ निश्चेष्टौ दीन-विक्रमौ। इत्यादि। "वे श्री रघुनाथ जी के लिये शोक करने लगे। उस समय वे दोनों भ्राता रक्त से लथपथ होकर वाणशय्या पर पड़े थे। वाणों से उनका सारा शरीर व्याप्त हो रहा था। वे निश्चल हो कर धीरे-धीरे साँस ले रहे थे। उनकी चेष्टायें समाप्त हो गई थीं। सर्पों के समान साँस खींचते और निश्चेष्ट पड़े उन दोनों भ्राताओं का पराक्रम मन्द हो गया था।" इत्यादि। तब विभीषण वानरों को यह कह कर सान्त्वना देते हैं कि श्रीराम और लक्ष्मण शीघ्र स्वस्थ होंगे: श्लोक ३८ और बाद: अथवा रक्ष्यतां रामो यावत् संज्ञाविपर्ययः। लब्ध-संज्ञौ हि काकुत्स्थ भयं नौ व्यपनेष्यतः। नैतत् किञ्चन रामस्य न च रामो मुमूर्षति। न ह्य् एनं हास्यते लक्ष्मीर् दुर्लभा या गतायुषाम्। "अथवा जब तक श्री राम को चेत न हो तब तक इनकी रक्षा करनी चाहिये। चेतना लौटने पर ये दोनों रघुवंशीवीर हमारा समस्त भय दूर कर देंगे। श्रीराम के लिये यह संकट कुछ भी नहीं है। ये मर नहीं सकते, क्योंकि जिनकी आयु समाप्त हो चली है उनके लिये जो दुर्लभ लक्ष्मी है वह इनका त्याग नहीं कर रही है।"

यह देखा जा सकता है कि यहाँ श्रीराम की दिव्य प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। लक्ष्मी को इनकी पत्नी भी नहीं बताया गया है,

---

[१६] इसपर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है 'न शेकतुर् अवेक्षितुम्। तादसाव् इव स्थितौ मनुष्यत्व-नटनाय इति बोध्यम्।'

[१७] इन्द्र पर इन्द्रजित् की विजय का उत्तरकाण्ड के ३४ वें अध्याय मे वर्णन है। इसका असली नाम मेघनाद था किन्तु इन्द्र को जीतकर वन्दी वना लेने के बाद से ब्रह्मा ने इसका 'इन्द्र-जित्' नाम रख दिया। देखिये इसी काण्ड का ३५ वाँ अध्याय भी।

यद्यपि भारतीय पुराकथाशास्त्र में उन्हें (लक्ष्मी को) नारायण की पत्नी माना गया है (देखिये उत्तरकाण्ड १७.३५ पर भाष्यकार की टीका जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा)। अगले ४७ वें अध्याय में यह वर्णन है कि रावण ने त्रिजटा नामक राक्षसी के साथ सीता को अपने पुष्पक विमान में बैठाकर उस स्थान पर भेजा जहाँ राम और लक्ष्मण असहायों की भाँति पड़े थे, और 'देवताओं के पुत्रों के समान प्रभावशाली' ('देव-सुत-प्रभावौ' श्लो० २४) इन भ्राताओं को देखकर इन्हें मृत समझती हुई सीता विलाप करने लगी। ४८ वें अध्याय में सीता का विलाप है जिसमें सीता इन दोनों भ्राताओं के पास अनेक दिव्यास्त्र होने की तो चर्चा करती हैं (किन्तु इनकी दिव्य प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहतीं) यद्यपि ये इन्द्र के समान थे, तथापि, सीता कहती है कि, इनका शत्रु की अदृश्य माया के कारण वध हो गया। वह यह भी कहती हैं कि भाग्य पर किसी का वश नहीं चलता (श्लो० १६ और बाद : ननु वारुणम् आग्नेयम् ऐन्द्र वायव्यम् एव च। अस्त्रम् ब्रह्म-शिरश् चैव राघवौ प्रत्यपद्यत। अदृश्यमानेन रणे मायया वासवोपमौ।...निहतौ।...१९. न कालस्याति-भारोऽस्ति कृतान्तश् च सुदुर्जयः)। तब राक्षसी त्रिजटा सीता को सान्त्वना देती हुई कहती है (श्लो० २२) की उनके पति मरे नहीं हैं; और इस बात की व्याख्या करती है कि वह ऐसा क्यों मानती हैं। श्लो० ३० और बाद. में वह यह कहती है : नेमौ शक्यौ रणे जेतु सेन्द्रैर अपि सुरासुरैः। तादृश दर्शनम् दृष्ट्वा मया चोदीरितं तव। इद तु सुमहच् चित्रं शरैः पश्यस्व मैथिलि। विसञ्ज्ञौ पतिताव् एतौ नैव लक्ष्मीर विमुञ्चति। प्रायेण गत-सत्त्वानाम् पुरुषाणा गता-युषाम्। दृश्यमानेषु वक्त्रेषु परम् भवति वैकृतम्। "इन दोनों वीरों को रणभूमि में इन्द्र-सहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। वैसा लक्षण देखकर ही मैंने तुमसे ये बातें कही हैं। मिथिलेशकुमारी ! यह महान् आश्चर्य की बात तो देखो। बाणों के लगने से ये मूर्च्छित होकर पड़े हैं किन्तु इस पर भी लक्ष्मी इनका त्याग नहीं कर रही हैं। जिनके प्राण निकल जाते हैं अथवा जिनकी आयु समाप्त हो जाती है उनके मुखपर यदि दृष्टिपात किया जाय तो प्रायः वहाँ अत्यन्त विकृति दिखाई पड़ती है।"

जब वानर श्रीराम की रक्षा कर रहे थे उसी समय उनकी चेतना लौट आई। ४९, २ : एतस्मिन्न् अन्तरे रामो प्रत्यबुध्यत वीर्यवान्। स्थिरत्वात् सत्य योगाच्च[१८] शरैः सन्दामितोऽपि सन्। "इसी बीच पराक्रमी

[१८] 'महाबल-युक्तत्वात्', भाष्य०। गोरेसियो सस्करण मे 'सत्त्व-योगाच्च' पाठ है।

राम नागपाश से बँधे होने पर भी अपने शरीर की दृढ़ता और शक्तिमत्ता के कारण मूर्च्छा से जाग उठे।" तब वह (राम) अपने भ्राता, लक्ष्मण, को मृत समझ कर स्वयं विलाप करते हुये अपने ही रणकौशल को इसके लिये दोषी मानते हैं (श्लो० १८ : इमाम् अद्य गतोऽवस्थाम् ममानार्यस्य दुर्नयैः)।

५० वें अध्याय में विभीषण श्रीराम और लक्ष्मण की दशा पर विलाप करता हुआ, लंका का राज्य पाने की अपनी इच्छा के अपूर्ण रह जाने पर खेद प्रगट करता है, परन्तु सुग्रीव उसे सान्त्वना देते हुये इस प्रकार कहते हैं (श्लो० २१ और बाद) : राज्यम् प्राप्स्यसि धर्मज्ञ लङ्कायां नेह संशयः। रावणः सह पुत्रेण स्व-कामं नेह लप्स्यते। गरुडाधिष्ठिताव् एताव् उभौ राघव-लक्ष्मणौ। त्यक्त्वा मोहम् बधिष्येते स-गणं रावणं रणे। "धर्मज्ञ ! तुम्हें लङ्का का राज्य प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं है। पुत्रसहित रावण यहाँ अपनी कामना पूर्ण नहीं कर सकेगा। ये दोनों भ्राता, श्रीराम और लक्ष्मण, मूर्च्छा त्यागने के पश्चात् गरुड़ की पीठ पर बैठ कर रणभूमि में राक्षसों-सहित रावण का वध करेंगे।" सुग्रीव एक और भविष्यवाणी करते हैं : "आप चेतना लौटने पर इन दोनों शत्रुदमन श्रीराम और लक्ष्मण को साथ ले शूरवीर वानरगणों के साथ किष्किन्धा चले जाइये। मैं रावण को पुत्र और बन्धु-बान्धवों सहित मारकर उसके हाथ से मिथिलेशकुमारी को उसी प्रकार छीन लाऊँगा जैसे देवराज इन्द्र अपनी खोई हुई राज्यलक्ष्मी को दैत्यों के पास से हर लाये थे।" (श्लो० २४ और बाद : सह शूरैर् हरि-गणैर् लब्ध-सञ्ज्ञाव् अरिन्दमौ। गच्छ त्वम् भ्रातरौ गृह्य किष्किन्ध्यां रामलक्ष्मणौ। अहं तु रावणं हत्वा स-पुत्रं सह-बान्धवम्। मैथिलीम् आनयिष्यामि शक्रो नष्टाम् इव श्रियम्)।[१९]

एक अन्य वानर, सुषेण, तब यह वर्णन करता है (श्लो० २६-३२) कि पूर्व समय एक बार दानवों से युद्ध करते हुये जब देवगण बाणों से आहत हो कर मूर्च्छित हो गये थे तब बृहस्पति ने मन्त्रों और ओषधियों से उन सब का उपचार किया था। सुषेण ने कहा कि कुछ वानरों को उन्हीं ओषधियों को लाने के लिये क्षीर-सागर भेजना चाहिये। इसके बाद कलकत्ता संस्करण, श्लो० ३३ और बाद, सीधे श्रीराम और लक्ष्मण के उपचार के लिये दिव्य पक्षी,

---

[१९] गोरेसियो के संस्करण मे पन्द्रह और श्लोक आते हैं (६ २५,२७-४१) जिनमे सुग्रीव अपने पराक्रम की चर्चा करते हैं। परन्तु ये श्लोक कलकत्ता स० मे नही मिलते।

गरुड़, के आगमन का वर्णन करता है। परन्तु गोरेसियो संस्करण में, कलकत्ता संस्करण के ३२ वें और ३३ वें श्लोकों के बीच में निम्नलिखित श्लोक और अधिक मिलते हैं :

गोरेसियो सं०, अध्याय २६, श्लो० ८,९,१०,११ : अथैनम् उपसगम्य वायुः कर्णे वचोऽब्रवीत्। राम राम महाबाहो आत्मानं स्मर वै हृदा। नारायणस् त्वम् भगवान् राक्षसार्थेऽवतारितः। स्मर सर्प-भुज देवं वैनतेयम् महाबलम। स सर्प बन्धाद् घोरात् तु युवा सम्भोचयिष्यति। स तस्य वचनं श्रुत्वा राघवो रघुनन्दनः। सस्मार गरुडं देवम् भुजगानाम् भयावहम्। "उसी समय वायु ने उनके पास आ कर उनके कान में इस प्रकार कहा : 'महाबाहु राम ! राम ! अपने हृदय में अपना स्मरण करो : तुम ही भगवान् नारायण हो, जो राक्षसों के लिये पृथिवी पर अवतीर्ण हुये हो। अपने मन से महाबली वैनतेय, गरुड़ देवता का स्मरण करो; वह तुम दोनों को इस घोर सर्पबन्धन से मुक्त करेंगे।' वायु के शब्द सुन कर राम ने सर्पों को भयभीत करनेवाले गरुड देवता का स्मरण किया।"

इन श्लोकों का कलकत्ता संस्करण में न मिलना इस बात को सम्भव बना देता है कि ये मूल रामायण के अंश नहीं हैं। किन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त भी, इस बात का एक और प्रमाण इस परिस्थिति द्वारा उपलब्ध होता है कि दोनों ही शाखा में कुछ और बाद में आनेवाले श्लोकों में राम को, गरुड़ द्वारा स्वस्थ कर दिये जाने के बाद, यह पूछते हुये दिखाया गया हुआ है कि उन पर कृपा करनेवाला यह कौन है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि गरुड़ से वह अनभिज्ञ हैं, जब कि गोरेसियो सं० में इसके ठीक पहले उन्हें गरुड़ का स्मरण करते हुये दिखाया गया है। जिन श्लोकों में यह बात आती है वे इस प्रकार हैं : ७.५०,३७ और बाद (कल०) : ताम् आगतम् अभिप्रेक्ष्य नागास् ते विप्रदुद्रुवुः। यैस् तु तौ पुरुषौ बद्धौ शर-भूतैर् महाबलैः। ततः सुपर्णः काकुत्स्थौ स्पृष्ट्वा प्रत्यभिनन्द्य च। विममर्श च पाणिभ्याम् मुखे चन्द्र-समप्रभे। वैनतेयेन सस्पृष्टास् तयोः संरुरुहुर[२०] व्रणाः। सुवर्णे च तनू स्निग्धे तयोर् आशु बभूवतुः। ४०. तेजो वीर्यम् बलं चौज उत्साहश्च महा-गुणः। प्रदर्शनञ्च बुद्धिश्च स्मृतिश् च द्विगुणा तयोः। ताव् उत्थाप्य महातेजा गरुडो वासवोपमौ। उभौ च सस्वजे हृष्टो रामश् चैनन् उवाच ह। भवत्-प्रसादाद् व्यसन रावणि-प्रभवम् महत्। उपायेन व्यतिक्रान्तौ शीघ्र चबलिनौ

[२०] 'यथा-पूर्वं सरूढ-मासा अभूवन्', भाष्य०।

कृतौ। यथा तातं दशरथ यथाऽजञ्च पितामहम्। तथा भवन्तम् आसाद्य हृदयम् मे प्रसीदति। ४४. को भवान् रूप सम्पन्नो दिव्य-स्रग्-अनुलेपन'। "उन्हें आया देख जिन महाबली नागों ने बाण के रूप में आकर उन दोनों महापुरुषों को बाँध रक्खा था, वे सब के सब वहाँ से भाग खड़े हुये। तत्पश्चात् गरुड़ ने उन दोनों रघुवंशी बन्धुओं का स्पर्श करके अभिनन्दन किया और अपने दोनों हाथों से उनके चन्द्रमा के समान कान्तिमान मुखों को पोंछा। गरुड़ का स्पर्श प्राप्त होते ही श्रीराम और लक्ष्मण के सब घाव भर गये और उनके शरीर तत्काल ही सुन्दर कान्ति से युक्त तथा स्निग्ध हो गये। उनमें तेज, वीर्य, बल, ओज, उत्साह, दृष्टिशक्ति, बुद्धि और स्मरणशक्ति, आदि महान् गुण पहले से भी दूने हो गये। फिर महातेजस्वी गरुड ने उन दोनों भ्राताओं को, जो साक्षात् इन्द्र के समान थे, उठाकर हृदय से लगा लिया। तब श्रीराम ने प्रसन्न होकर उनसे कहा: 'इन्द्रजित् के कारण हम लोगों पर जो महान् संकट आ गया था उसे हम आपकी कृपा से लाँघ गये। आप विशिष्ट उपाय के ज्ञाता हैं, अतः आपने हम दोनों को शीघ्र ही पूर्ववत् बल से सम्पन्न कर दिया। जैसे पिता दशरथ और पितामह अज के पास जाने से मेरा मन प्रसन्न हो सकता था वैसे ही आपको पाकर हृदय हर्ष से खिल उठा है। आप बड़े रूपवान् हैं, दिव्य पुष्पों की माला तथा दिव्य अगराग से विभूषित है। हम जानना चाहते हैं कि आप कौन हैं?''' इत्यादि।[२१]

इसका समानान्तर गोरेसियो संस्करण का स्थल (६.२६,१६ और बाद), जैसा कि मैं कह चुका हूँ इससे बहुत भिन्न नहीं है, और उसमें भी राम को इसी प्रकार गरुड का परिचय पूछता हुआ दिखाया गया है।

राम के प्रश्न के उत्तर में गरुड़ अपना परिचय (श्लो० ४६ और बाद) देते हुये अपने को राम का मित्र बताते हैं और कहते हैं कि उनके अतिरिक्त

---

[२१] कल० स० के ४०, ४१ वें श्लोको पर अपनी टीका मे भाष्यकार इस बात की व्याख्या करना आवश्यक समझता है कि जो कुछ यहाँ कहा गया है उसकी राम के दिव्यत्व के साथ किस प्रकार संगति है. 'द्विगुणा वैनतेय-स्पर्शात् पूर्वतोऽप्य अधिका। अत्र अन्यैर् देवैर् अवतीर्य भगवतो रामस्य मूल-मूर्त्त राज्ञ-उपकार' सम्पादितो गरुडेन तुह्य-रूपत एव इति बोध्यम्।' तदनन्तर ४४ वें श्लोक की टीका करते हुये यही भाष्यकार इस प्रकार कहता है · 'को भवान्' इत्य् अयम् प्रश्नोऽपि मनुष्य-शरीरोचित-व्यवहार एव तत् सत्यत्व-प्रत्यापनार्थं। अत्र रामसमीप-गमन-पर्यन्तम् पक्ष्य् आकारेणैव आगत्य् सन्निधि-मात्रेण नाग-बन्धनञ्च निरस्य राघव-स्पर्शनाद्-अर्थम् पुरुषाकारेण व्यवहृत्वान् इति बोध्यम्।'

देवों या असुरों में कोई भी राम को नाग-पाश से मुक्त नहीं करा सकता था। गरुड़ राम को आश्वस्त करते हैं कि वह रावण का वध करके सीता को प्राप्त करेंगे। तदनन्तर श्रीराम की परिक्रमा तथा आलिङ्गन करके गरुड़ चले जाते हैं (श्लो० ६० : प्रदक्षिण तत· कृत्वा परिष्वज्य च)।[२२]

गोरेसियो के संस्करण में एक और स्थल (६.३३) है जिसमें यह कहा गया है कि प्रहस्त के मारे जाने के बाद रावण की महिषी, मन्दोदरी, सभा-भवन में जा कर रावण को राम से और अधिक द्वेष न करने के लिये कहती है : (श्लो० २५ और बाद) : न च मानुष-मात्रोऽसौ रामौ दशरथात्मजः। एकेन येन वै पूर्वम् बहवो राक्षसा हता·। "यह राम केवल मनुष्य मात्र नहीं हैं, क्योंकि इन्होंने अकेले ही अनेक राक्षसों का वध कर दिया है।" इसी विचार को अगले दो श्लोकों में भी दोहराया गया है जिसमें हत हुये राक्षसों का नाम भी दिया गया है।

यह स्थल, कलकत्ता संस्करण में नहीं मिलता, जिसमें गोरेसियो के संस्करण के ३३ वें अध्याय के ७.५१ श्लोक, और सम्पूर्ण ३४ वाँ अध्याय नहीं है।

रामायण के इसी युद्धकाण्ड के ५९ वें अध्याय (कल०) में यह वर्णन है कि रावण ने लक्ष्मण को ब्रह्मा से प्राप्त एक शक्ति से आहत कर दिया (श्लो० १०५-१०७)। परन्तु जब रावण अपने इस आहत शत्रु (लक्ष्मण) को उठाने लगा तब वह इसमें असमर्थ रहा (श्लो० १०९ और बाद) : हिमवान् मन्दरो मेरुस् त्रैलोक्यं वा सहामरैः। शक्यम् भुजाभ्याम् उद्धर्तु न सख्ये भरतानुजः। शक्त्या ब्राह्म्या तु सौमित्रिस् ताडितोऽपि स्तनान्तरे। विष्णोर् अमीमास्य-भागम् आत्मानम् प्रत्यनुस्मरन्। "जिस रावण में देवताओं-सहित हिमवान्, मन्दार, मेरुगिरि, अथवा तीनों लोकों को भुजाओं द्वारा उठा लेने की शक्ति थी वही भरत के छोटे भाई, लक्ष्मण, को उठाने में समर्थ न हो सका। ब्रह्मा की शक्ति से वक्षःस्थल मे चोट खाने पर भी लक्ष्मण ने भगवान विष्णु के अचिन्त्य अंशरूप से अपना चिन्तन किया।" श्लोक १२० में भी ऐसे ही विचार हैं : विष्णोर् भागम् अमीमांस्यम् आत्मानम् प्रत्यनुस्मरन्। गोरेसियो के संस्करण के ३६ वें अध्याय के ८६, ८८, ९८ श्लोकों में भी ऐसे ही विचार आते हैं। श्लोक ८८ के शब्द इस प्रकार हैं : विष्णोर् अचिन्त्यो यो भागो मानुष देहम् आस्थितः। फिर भी यह उक्ति दोनों ही संस्करणों में प्रक्षिप्त हो सकती है।

---

[२२] इसी अन्तिम व्यवहार से भाष्यकार राम के भगवान् होने का निष्कर्ष निकालता है। भाष्यकार के शब्द ये हैं . 'प्रदक्षिण कृत्वा इति अनेन दिव्य-देवतावतारो राम इति।"

इसी अध्याय (५९, कल०) में यह वर्णन है कि राम से पराजित हो कर रावण लङ्का लौट जाने के लिये विवश हुआ। लौट कर वह इस प्रकार कहता है (६०, ५ और बाद) : सर्वं तत् खलु ने मोघं यत् तप्तम् परमं तपः। यत् समानो महेन्द्रेण मानुषेणास्मि निर्जितः। इदम् तद् ब्रह्मणो घोरं वाक्यम् माम् अभ्युपस्थितम्। "मनुष्येभ्यो विजानीहि भय त्वम् इति तत् तथा। देव दानव-गन्धर्वैर् यक्ष-राक्षस-पन्नगैः। अबध्यत्वम् मया प्रोक्तम् मानुषेभ्यो न याचितम्।" तम इमम् मानुषम् मन्ये रामं दशरथात्मजम्। इक्ष्वाकु-कुल-जातेन ह्य् अनरण्येन[२३] यत् पुरा। उत्पत्स्यति हि मद्-वंशे पुरुषो राक्षसाधम। यस् त्वं स-पुत्र सामात्यम् स-बल साश्व-सारथिम्। निह-निष्यति संग्रामे त्वां कुलाधम दुर्मते। शप्तोऽहम् वेदवत्या च यथा सा धर्षिता पुरा। ११. सेयं सीता महाभागा जाता जनक-नन्दिनी। उमा नन्दीश्वरश् चापि रम्भा वरुण-कन्यका। यथोक्तास्[२४] तन् मया प्राप्त न मिथ्या ऋषि-भाषितम्। एतद् एव समागम्य यत्न कर्त्तुम् इहार्हथ।

---

[२३] देखिये विलसन का विष्णुपुराण, पृ० ३७१ : "जिसका पुत्र अनरण्य था, जिसका दिग्विजय के समय रावण ने वध किया था" (ततोऽनरण्यस्। त रावणो दिग्-विजये जघान)। यहाँ, तथा प्रस्तुत कृति के दूसरे भाग मे, रामायण के पूर्व के काण्डो मे वर्णित घटनाओ से भिन्न घटनाओ का उल्लेख है।

फिर भी, अनरण्य की कथा का रामायण के उत्तर काण्ड के १९ वे अध्याय मे वर्णन है। दुष्यन्त, सुरथ, गाधि, गय, पुरूरवा, इन सब ने (यद्यपि भाष्यकार के अनुसार ये सब भिन्न-भिन्न कालो मे हुये थे) बिना युद्ध के ही रावण से पराजय स्वीकार कर ली थी। फिर भी, अयोध्या के राजा, इक्ष्वाकु-वंशी अनरण्य से जब रावण ने युद्ध करने या पराजय स्वीकार करने के लिये कहा, तब अनरण्य ने युद्ध करना ही उचित समझा (श्लो० ९), किन्तु उसकी सेना पराजित हुई और रावण ने उसको भी रथ से नीचे फेंक दिया (श्लो० २१)। जब रावण ने अपने उस शत्रु से अपनी विजय का उल्लेख किया तब उसने कहा कि वह रावण द्वारा नही बल्कि भाग्य द्वारा पराजित हुआ है, और रावण उसमें निमित्त मात्र है (श्लो० २६)। अनरण्य ने यह भी भविष्य-वाणी की एक दिन उसी का एक वंशज, राम, रावण का वध करेगा (श्लो० २९ उत्पत्स्यते कुले ह्य अस्मिन्न् इक्ष्वाकूणाम् महात्मनाम्। रामो दाशरथिर् नाम यस् ते प्राणान् हरिष्यति)।

[२४] 'यथोक्तवन्त · यद् ऊचु ···इति पाटान्तरम्', भाष्य।

"मैंने जो बहुत बड़ी तपस्या की थी वह सब अवश्य ही व्यर्थ हो गई; क्योंकि आज महेन्द्र-तुल्य पराक्रमी मुझ रावण को एक मनुष्य ने परास्त कर दिया। ब्रह्मा ने मुझसे कहा था कि 'तुम्हें मनुष्यों से भय प्राप्त होगा। इस बात को भली प्रकार जान लो।' उनका कहा हुआ यह घोर वचन इस समय सफल होकर मेरे समक्ष उपस्थित हुआ है। मैंने तो देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, और सर्पों से ही अवध्य होने का वर माँगा था, मनुष्यों से अभय होने की वर-याचना नहीं की थी। पूर्वकाल में इक्ष्वाकुवंशी राजा अनरण्य ने मुझे शाप देते हुये कहा था कि 'राक्षसाधम! कुलाङ्गार! दुर्मते! मेरे ही वंश में एक ऐसा श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न होगा जो तुझे पुत्र, मंत्री, सेना, अश्व, और सारथि के साथ समराङ्गण में मार डालेगा।' ऐसा प्रतीत होता है कि अनरण्य ने जिसकी ओर सकेत किया था, यह दशरथकुमार राम वही मनुष्य है। इसके अतिरिक्त पूर्वकाल में मुझे वेदवती ने भी शाप दिया था, क्योंकि मैंने उसके साथ बलात्कार किया था। ऐसा प्रतीत होता है वही महाभागा जनकनन्दिनी सीता होकर प्रकट हुई है। इसी प्रकार उमा, नन्दीश्वर, रम्भा, और वरुण-कन्या[२५] ने भी जैसा कहा था वैसा ही परिणाम मुझे प्राप्त हुआ है। सच है, ऋषियों की बात कभी मिथ्या नहीं होती।[२६] अब तुम लोग आये हुये संकट को टालने का प्रयत्न करो।"

यह देखा जा सकता है कि इस सम्पूर्ण स्थल में कहीं भी राम के दिव्यत्व की कोई चर्चा नहीं है। अतः यह बोधगम्य है कि मूल आख्यान में राम को पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न और राक्षसों के राजा, रावण, के वध की क्षमता से युक्त एक मानव राजा के रूप ही व्यक्त किया गया होगा।

उक्त स्थल पर उल्लिखित अधिकांश आख्यानों को उत्तरकाण्ड में दिया गया है। मैं यहाँ उनका सारांश प्रस्तुत करूँगा। अनरण्य की कथा को संक्षेप में ऊपर नोट २३ में दिया जा चुका है।

वेदवती की सुन्दर कथा का उत्तरकाण्ड के १७ वें अध्याय (श्लो० १ और बाद) में इस प्रकार वर्णन है: दिग्विजय करता हुआ रावण हिमालय के वन में आकर भ्रमण करने लगा। यहाँ उसने एक अत्यन्त रूपमती तपस्वी कन्या को देखा और तत्काल उस पर मोहित हो गया। रावण ने उस कन्या

[२५] इन सभी नामो से सम्बद्ध आख्यानो का भाष्यकार ने सक्षेप मे उल्लेख किया है।

[२६] भाष्यकार यहाँ यह टिप्पणी करता है. "ऋषि-पदेन तपो-युक्ता उच्यन्ते।' इससे, इस प्रकार वेदवती तथा अन्य का तात्पर्य होगा।

से कहा कि उसकी तपस्या उसकी युवावस्था और दिव्य रूप के सर्वथा विपरीत है। रावण द्वारा परिचय पूछने पर उस कन्या ने बताया कि उसका नाम वेदवती है और वह बृहस्पति-पुत्र महर्षि कुशध्वज की पुत्री है जिसका प्रतिदिन वेदाभ्यास करनेवाले उन पिता से वाङ्मयी कन्या के रूप में प्रादुर्भाव हुआ था। आगे उसने बताया : 'देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, और नाग भी पिता जी के पास जा कर मुझे माँगने लगे, किन्तु पिता जी ने मुझे किसी को नहीं दिया। पिता जी की इच्छा थी कि तीनों लोकों के स्वामी विष्णु ही उनके दामाद हों। इसलिये वे दूसरे किसी के हाथ मुझे नहीं देना चाहते थे (श्लो० १२ : पितुस् तु मम जामाता विष्णुः किल सुरेश्वरः। अभिप्रेतस् त्रिलोकेशस् तस्माम् नास्यस्य मे पिता। दातुम् इच्छति तस्मै तु)। कुशध्वज के इस निश्चय से क्रुद्ध होकर दैत्यराज शम्भु ने उनका सोते समय वध कर दिया। इस पर वेदवती की माता (जिसका नाम नहीं दिया गया है) ने अपने पति के शरीर का आलिङ्गन करके अग्नि में प्रवेश किया (श्लो० १५)। तदनन्तर वेदवती इस प्रकार कहती है (श्लोक १६) : ततो मनोरथं सत्यम् पितुर् नारायणम् प्रति। करोमीति तम् एवाहं हृदयेन समुद्वहे। इति प्रतिज्ञां आरुह्य चरामि विपुलं तपः।...१८. नारायणो मम पतिर् न त्व् अन्यः पुरुषोत्तमात्। आश्रये नियमं घोरं नारायण परीप्सया। "तब से मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि भगवान नारायण के प्रति पिता जी का जो मनोरथ था उसे मैं सफल करूँगी। इसलिये मैं उन्हीं को अपने हृदय-मन्दिर में धारण करती हूँ।[२७] यही प्रतिज्ञा करके मैं यह महान् तप कर रही हूँ।...१८. नारायण ही मेरे पति हैं। उन पुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा पति नहीं हो सकता। उन नारायण देव को प्राप्त करने के लिये ही मैंने इस कठोर व्रत का आश्रय लिया है।" रावण को इस स्पष्टीकरण से संतोष नहीं हुआ। उसने कहा कि इस प्रकार का पुण्यसंग्रह वृद्ध स्त्रियों को ही शोभा देता है। अतः उसने उस अत्यन्त रूपवती तरुणी से अपनी पत्नी बनने के लिये आग्रह करते हुये कहा कि वह विष्णु से कहीं अधिक श्रेष्ठ है (श्लो० २४)। वेदवती ने कहा कि उसके (रावण के) अतिरिक्त और कौन विष्णु के प्रति ऐसी बात कह सकता है। यह उत्तर सुन कर रावण ने अपनी उँगली के छोर से वेदवती के केश पकड़ लिये (श्लो० २७)। वेदवती अत्यन्त क्रुद्ध हो उठी और उसने तत्काल

---

[२७] यह भाषा संसार के अन्य भागों की तपस्वी स्त्रियों का बिल्कुल समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत करती है।

ही अपने केश काट दिये। उसने कहा कि इस प्रकार अपमानित हो कर अब वह जीवित नहीं रह सकती और रावण के सामने ही अग्नि में प्रवेश करेगी। आगे वह इस प्रकार कहती है (श्लो० ३१ और बाद) : यस्मात् तु धर्षिता चाहं त्वया पापात्मना वने। तस्मात् तव वधार्थं हि समुत्पत्स्यत्य् अहम् ('समुत्पत्स्यति समुत्पत्स्ये इत्य् अर्थः', भाष्य०) पुनः। नहि शक्यः स्त्रिया हन्तुम् पुरुष पाप निश्चय'। शापे त्वयि मयोत्सृष्टे तपसश् च व्ययो भवेत्। यदि त्व अस्ति मया किञ्चित् कृत दत्तं हुत तथा। तस्मात् त्व् अयोनिजा साध्वी भवेयं धर्मिणः सुता। एवम् उक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसम्। पपात च दिवो दिव्या पुष्प-वृष्टि समन्ततः। सैषा जनक-राजस्य प्रसूता तनया प्रभो। तव भार्या महाबाहो विष्णुस् त्व हि सनातन.। पूर्वं क्रोध-हत. शत्रुर् ययाऽसौ निहतस् तथा। उपाश्रयित्वा शैलाभस् तव वीर्यम् अमानुषम्। " 'तुझ पापात्मा ने इस वन मे मेरा अपमान किया है, इसलिये मैं तेरे वध के लिये पुन. उत्पन्न होऊँगी। स्त्री अपनी शारीरिक शक्ति से किसी पापाचारी पुरुष का वध नहीं कर सकती। यदि मैं तुझे शाप दूँ तो मेरी तपस्या क्षीण हो जायगी। यदि मैंने कुछ भी सत्कर्म, दान और होम किये हों तो अगले जन्म में मैं सती-साध्वी अयोनिजा कन्या के रूप मे प्रगट होऊँ तथा किसी धर्मात्मा पिता की पुत्री बनूँ।' ऐसा कहकर वह प्रज्वलित अग्नि में समा गई। उस समय उसके चारों ओर आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि होने लगी। भगवन्! वही वेदवती जनक की पुत्री के रूप में जन्म लेकर आप की पत्नी हुई हैं, क्योंकि आप ही सनातन विष्णु हैं। उस पर्वत के समान शत्रु का, जो उसके क्रोध से पहले ही हत हो चुका था, अब आप की अमानुषीय शक्ति का आश्रय लेकर उसी ने वध किया है।" इस पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है : अनेन सीतैव रावण-वधे मुख्यं कारणम् रामे तु हन्तृत्वम् आरोपितम् इति शुचितम्। "इसका तात्पर्य यह है कि सीता ही रावण के वध की प्रमुख कारण थीं किन्तु रावण के वध का कार्य राम ने सम्पन्न किया।" पिछले श्लोक के इन शब्दों पर कि 'आप ही सनातन विष्णु' हैं, भाष्यकार यह टीका करता है : अनेन सीताया लक्ष्मीत्वं स्फुटम् एवोक्तम्। तद् उक्तम् पराशरेण "राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्ण-जन्मनि" इति। "इसके द्वारा स्पष्ट रूप से यह कहा गया है सीता लक्ष्मी थी। पराशर ने इस प्रकार कहा

---

[२८] इसके शब्द इस प्रकार है 'कैलाश-शिखर चालन-वेलाया रावणस्य स्त्री-निमित्तम् मरणम् इत्य् एव-रूपम् इत्य् आहु ।'

है : 'इस देवता के राम-रूपी जीवन में वह सीता हुई, और कृष्ण रूपी जन्म में रुक्मिणी।''

इससे उत्तरकाण्ड में उमा से सम्बद्ध कोई पृथक् कथा नहीं मिली है, किन्तु भाष्यकार[२८] ने इनके साथ पिछले श्लोक के उल्लेख को (६.६०, ११) सम्बद्ध करते हुये नदीश्वर की इस कथा का वर्णन किया है जो उत्तरकाण्ड के १६ वें अध्याय (श्लो० १ और बाद) में मिलती है : कुबेर को पराजित करने के बाद रावण कार्तिकेय के जन्मस्थान, शरवण तीर्थ में आया। पर्वत पर चढ़ कर उसने एक अन्य अत्यन्त सुन्दर वन देखा। वहाँ उसका पुष्पक विमान रुक गया और आगे नहीं बढ़ सका। उसने वहाँ एक काले, पिङ्गल वर्ण और नाटे कद के विकराल रूपवाले नन्दीश्वर को देखा जो महादेव के पार्षद थे। नन्दीश्वर ने रावण को रोकते हुये कहा कि उस पर्वत पर महादेव क्रीड़ा करते हैं, अतः देवता-सहित समस्त प्राणियों का उस पर आना वर्जित कर दिया गया है (श्लो० १०)। रावण ने तब क्रोध से पूछा कि ये शङ्कर (महादेव) कौन हैं। इस प्रकार पूछ कर रावण ने अट्टहास करते हुये वानर के समान मुखवाले उन नन्दीश्वर का उपहास किया। यह देखकर शिव के दूसरे स्वरूप, नन्दीश्वर, अपने वानर-रूप के उपहास पर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और इस प्रकार शाप दिया : 'तुम्हारे कुल का विनाश करने के लिये मेरे ही समान पराक्रम, रूप और तेज से सम्पन्न वानर उत्पन्न होंगे (श्लो० १७ : तस्माद् मद् वीर्य्य-संयुक्ता मद्-रूप-सम-तेजसः। उत्पत्स्यन्ति वधार्थं हि कुलस्य तव वानराः)। नन्दीश्वर यह भी कहते हैं कि वह उसी क्षण रावण का वध कर सकते हैं किन्तु वह तो स्वयं अपने कर्मों से ही हत हो चुका है (श्लो० २०)। रावण ने तब यह धमकी दी कि यतः उसका विमान रुक गया है अतः वह उस पर्वत को ही समूल उखाड़ देगा। उसने यह भी पूछा कि शङ्कर को इस प्रकार उस स्थान पर नित्य क्रीड़ा करने का क्या अधिकार है। उन्हें इस जानने योग्य बात का भी पता नहीं है कि उनके समक्ष भय का स्थान उपस्थित है। ऐसा कह कर रावण ने पर्वत के निचले भाग में अपनी भुजायें लगाकर उसे उठा लिया। तब वह पर्वत हिलने लगा जिससे समस्त रुद्रगण काँप उठे और पार्वती देवी भी विचलित हो शङ्कर से लिपट गईं (श्लो० २६ : चचाल पार्वती चापि तदा श्लिष्टा महेश्वरम्)। फिर भी, शिव ने उस पर्वत को अपने पैर के अँगूठे से खिलवाड़ में ही दबा दिया। फिर तो रावण की भुजायें भी उसी पर्वत के नीचे दब गईं और वह सहसा अत्यन्त तीव्र आर्तनाद कर उठा जिससे तीनों लोकों के प्राणी काँप उठे। रावण

के मन्त्रियों ने तब उससे कहा कि वह नीलकण्ठ, उमावल्लभ महादेव को सन्तुष्ट करे। उन मन्त्रियों ने यह भी कहा कि शङ्कर अत्यन्त दयालु हैं, अतः वे स्तुतियों से अवश्य द्रवित होंगे। तदनुसार रावण ने महादेव की स्तुति आरम्भ की। अपनी भुजाओं की पीडा से रोते और स्तुति करते उसके एक सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये। तत्पश्चात् महादेव प्रसन्न हुये (श्लो० ३५)। उन्होंने दशग्रीव की भुजाओं को संकट से मुक्त करके उससे कहा: 'तुमने पर्वत से दब जाने के कारण जो अत्यन्त भयानक राव (आर्तनाद) किया था उससे भयभीत हो कर तीनों लोकों के प्राणी रो उठे थे, इसलिये अब से तुम रावण नाम से प्रसिद्ध होगे।' रावण के निवेदन करने पर शिव ने उसे एक खड्ग देते हुये उसे वापस लौटने की आज्ञा दी (श्लो० ४३)।

रम्भा की कथा का उत्तरकाण्ड के ३१ वें अध्याय में वर्णन है। रावण अपनी सेना ले कर देवों को पराजित करने के लिये कैलास पर्वत पर आया। वहाँ उसने अप्सराओं में सर्वाधिक सुन्दरी रम्भा को देखा और उस पर मोहित हो गया (श्लो० २०)। रम्भा ने बताया कि वह वास्तव में रावण की पुत्रवधू है क्योंकि वह रावण के भाई, कुबेर, के पुत्र नलकूबर, की पत्नी है। उसने यह भी बताया कि वह उस समय नलकूबर के ही पास जा रही है, अतः रावण का प्रस्ताव उसे ग्राह्य नहीं हो सकता (श्लो० ३४)। रावण ने कहा कि अप्सराओं का कोई पति नहीं होता। ऐसा कह कर रावण ने उसके साथ बलपूर्वक समागम किया (श्लो० ४१)। रम्भा ने जाकर सब बातें नलकूबर को बताई (श्लो० ४६)। क्रुद्ध हो कर नलकूबर ने तब अपनी समस्त इन्द्रियों का स्पर्श किया (चक्षुर्-आदीन्द्रिय-गण सर्वम्) और फिर जल हाथ में लेकर रावण को यह शाप दिया (श्लो० ५४):
अकामा तेन यस्मात् त्वम् बलाद् भद्रे प्रधर्षिता। ५५. तस्मात् स युवतीम् अन्या नाऽकामाम् उपयास्यति। यदा ह्य् अकामां कामार्त्तो धर्षयिष्यति योषितम्। मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा।
"तुम्हारी इच्छा न रहने पर भी रावण ने तुम पर बलपूर्वक अत्याचार किया है। अतः वह आज से दूसरी किसी ऐसी युवती से समागम नहीं कर सकेगा जो उसे चाहती न हो। यदि वह कामपीडित होकर उस न चाहनेवाली युवती पर बलात्कार करेगा तो तत्काल उसके (रावण के) मस्तक के सात टुकड़े हो जायँगे।" इस शाप को सुन कर रावण ने फिर कभी बलात्कार न करने का निश्चय किया।

मुझे उत्तरकाण्ड में वरुण-पुत्री की कोई कथा नहीं मिली है, किन्तु

भाष्यकार ६.६०,११ के उल्लेख की इस प्रकार व्याख्या करता है : वरुण-कन्यका पुञ्जिकस्थली तन्-निमित्तम् ब्रह्म-शापः स्त्री-धर्षणे मरण रूपः। "वरुण की पुत्री पुञ्जिकस्थली थी। इसी के कारण ब्रह्मा ने स्त्री के साथ बलात्कार करने पर मृत्यु हो जाने का शाप दिया था।"

ऊपर उद्धृत रावण के आत्मभर्त्सनात्मक भाषण के बाद, रावण ने अपने भाई कुम्भकर्ण (एक राक्षस, जो ब्रह्मा के शाप[१९] के कारण केवल एक दिन जागता था और छः महीने तक सोता रहता था) को जगाने की आज्ञा दी। राक्षसों ने अत्यन्त कठिनाई से कुम्भकर्ण को जगाया। जागने पर कुम्भकर्ण ने पूछा (श्लो० ६७ और बाद) कि उसे क्यों जगाया गया। उसे बताया गया कि देवों से नहीं बल्कि एक राम नामक मानव से राक्षसों को अत्यन्त भय उत्पन्न हो गया है (श्लो० ७२ : मानुषान् नो भयं राजन् तुमुलम् सम्प्रधावितम्। इत्यादि)। इसे सुन कर उसने राक्षसों को आश्वासन दिया कि वह अपने शत्रुओं का विनाश करके स्वयं राम और लक्ष्मण के रक्त का पान करेगा। दो सहस्र पात्रों की मदिरा पी कर वह अपने भाई, रावण, के पास परामर्श के लिये आया। कुम्भकर्ण के पूछने पर रावण ने उसे समस्त स्थिति से अवगत कराते हुये (६२ वाँ अध्याय) उसकी सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता बताया। उत्तर में कुम्भकर्ण ने नैतिकता का उपदेश (६३, २–२१) देते हुये रावण की दुश्चरित्रता की भर्त्सना की। यह इतनी कटु भर्त्सना थी कि एक भाई से इसकी आशा नहीं हो सकती थी। रावण ने कुम्भकर्ण को बताया (श्लो० २३–२७) कि यह भाषण का नहीं बल्कि कार्य का समय है। रावण ने उससे यह भी कहा कि यदि उसे अपनी वीरता और पराक्रम का कुछ भी ध्यान और विश्वास है तो वह राम से युद्ध करने के लिये जाय। कुम्भकर्ण ने तब अपने भाई के शत्रुओं को नष्ट कर देने का आश्वासन दिया (श्लो० ३० और बाद)। परन्तु कुम्भकर्ण के इस अन्तिम संवाद के, जो गोरेसियो के ४२ वें अध्याय में आता है, पूर्व इसी संस्करण में ४१ वें अध्याय के ३०–५३ श्लोकों में कुम्भकर्ण का ही एक और भाषण, तथा इस अध्याय के शेष अंश में रावण का एक भाषण आता है। यह दोनों ही भाषण कलकत्ता संस्करण में नहीं हैं। जैसा कि गोरेसियो का विचार है, इन दोनों को विचारों की शृङ्खला को हानि पहुँचाये बिना ही छोड़ दिया जा सकता है। फिर भी, इस भाषण का कुछ विवरण आवश्यक है क्योंकि कुम्भकर्ण राम के दिव्यत्व का वही विवरण देता है जिसे हम इस

---

[१९] देखिये ६.६१,२८।

महाकाव्य के आरम्भिक अंशों में देख चुके हैं। कुम्भकर्ण ने बताया कि एक दिन उसकी नारद से मुलाकात हुई जो उसी समय देवों की सभा से लौटे थे। नारद ने बताया था कि जब देवगण राक्षसों के विनाश का उपाय कर रहे थे तो उस अवसर पर ब्रह्मा ने ये बातें कही थीं : (अध्याय ४०, श्लो० ४४ और बाद, गोरे०) : एवम् उक्ते तु वचने ब्रह्मा देवान् उवाच ह। अवध्यत्वम् मया दत्तम् देव-दैत्यैश्च राक्षसैः। मानुषेभ्यो भय तस्य वानरेभ्यश्च देवताः। सुरासुर-समूहेऽपि वधस् तस्य न विद्यते। तस्माद् एष हरिर् देवः पद्मनाभस् त्रिविक्रम। पुत्रो दशरथस्यास्तु चतुर्बाहुः सनातनः। भवन्तो वसुधा गत्वा विष्णोर् अस्य महात्मनः। वानराणाम् तनु कृत्वा सहायत्वम् करिष्यथ। "(बृहस्पति के) ऐसा कह चुकने पर ब्रह्मा ने देवों से इस प्रकार कहा : 'मैंने रावण को देवताओं और दैत्यों से अवध्य होने का वर दिया है। हे देवगण ! मनुष्य और वानरों से भय उत्पन्न होगा। अन्यथा समस्त देवता और असुर मिल कर भी उसका वध नहीं कर सकते। अतः यह हरि (विष्णु), जिनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ, जिन्होंने तीन बार पाद क्रमण किया, जो चतुर्बाहु और सनातन हैं, दशरथ के पुत्र बनें। आप सब देवता भी वानरों के रूप में पृथिवी पर अवतार ले कर पराक्रमी विष्णु की सहायता करें'।" कुम्भकर्ण ने कहा कि विष्णु ही राम के रूप में अवतीर्ण हो कर उन सब का वध करने आये हैं। अतः वह सीता को लौटा कर त्रिलोक-वन्दित राम से सन्धि कर लेने का परामर्श देता है।

कुम्भकर्ण के इस उपदेश के उत्तर में रावण विष्णु की उपेक्षा करते हुये इस प्रकार कहता है (६.४१,२ और बाद, गोरे० सं०) : कोऽसौ विष्णुर् इति ख्यातो यस्य त्वम् तात बिभ्यसे। देवत्वे न नमस्ये तम् तथाऽन्यान् देवतागणान्। मनुष्यत्व गते तस्मिन् किम् भयम् त्वाम् उपस्थितम्। नित्यम् समर-भीतास्तु मानुषाः सुमहाबल। खादयित्वा तु तान् पूर्वं कथम् पश्चाद् नमाम्य् अहम्। प्रणम्य मानुष रामम् सीताम् दत्वा तु तस्य वै। हास्य-भूतस् तु लोकानाम् अनुयास्यामि पृष्ठतः। राघवा तम् महाबाहो दीन-रूपोऽथ दास-वत्। ऋद्धिं च पश्यमानोऽस्य कथ शक्ष्यामि जीवितुम्। हृत्वा तस्य पुरा भार्य्याम् मानं कृत्वा सुदारुणम्। प्रणमेद् रावणो रामम् एष ते बुद्धि-निर्णयः। यदि रामः स्वय विष्णुर् लक्ष्मणोऽपि शतक्रतुः। सुग्रीवस् त्र्यम्बकः साक्षात् स्वयम् ब्रह्मा तु जाम्बवान्। अहो शास्त्राण्य् अधीतानि यस्य ते बुद्धिर् ईदृशी। अतीताश्रमिणं रामं यो नमस्कर्तुम् इच्छसि। देवत्वं यः परित्यज्य मानुषीं योनिम्

आश्रितः। अस्मान् हन्तुं खिलायातः स सन्धेयः कथम् मया। यदि वा राघवो विष्णुर् व्यक्तं ते श्रोत्रम् आगतः। देवतानाम् हितार्थं तु प्रविष्टो मानुषीं तनुम्। स वानराणाम् राजानं सुग्रीवम् शरणं गतः। अहोऽस्य सदृश सख्य तिर्यग्योनि-गतैः सह। वीर्य-हीनस् तु किं विष्णुर् यः श्रितः ऋक्ष-वानरान्। अथवा वीर्यहीनोऽसौ येन पूर्वम् महासुर। वामनं रूपम् आस्थाय याचितस् त्रिपदं पदम्। बलिस् तु दीक्षितो यज्ञे तेन त्वं सख्यम् इच्छसि। येन दत्ता मही सर्वा स-सागर-वनार्णवा। उपचार-कृता पूर्वम् स बद्धो यज्ञ-दीक्षितः। उपकारी हतस् तेन सोऽस्मान् रक्षति वैरिण। यदा मे निर्जिता देवाः स्वर्गं गत्वा त्वया सह। तदा किम् नास्ति विष्णुत्वं तस्य देवस्य राक्षस। साम्प्रतं कुत आयातः स विष्णुर् यस्य बिभ्यसे। शरीर-रक्षणार्थाय ब्रूपे त्व वाक्यम् ईदृशम्। नाय क्लीवयितुं कालः कालो योद्धुं निशाचर। स्वाम्यम् पितामहात् प्राप्तं त्रैलोक्य वशगं कृतम्। राघवम् प्रणमे कस्माद् हीन-वीर्य-पराक्रमम्। तद् गच्छ शयनीयं त्वम् पिव त्वम् विगत-ज्वरः। शयमान न हन्यात् त्वा राघवो लक्ष्मणस् तथा। अहं रामम बधिष्यामि सुग्रीवञ्च स-लक्ष्मणम् वानरांश्च हनिष्यामि ततो देवान् महारणे। विष्णुञ्चैव बधिष्यामि ये च विष्णव्-अनुयायिनः। गच्छ गच्छस्व तत् क्षेत्र चिर जीव सुखी भव। भ्रातर त्व् एवम् उक्त्वाऽसौ रावणः काल-चोदितः। सावलेप स-गर्जश्च पुनर् वचनम् अब्रवीत्। जानामि सीताम् धरणी-प्रसूतां जानामि रामम् मधुसूदनञ्च। एतद् हि जाने त्व् अहम् अस्य वध्यस् तेनाहृता मे जनकात्मजैपा।[30] न कामाच्चैव न क्रोधाद् धारामि जनकात्मजाम्। निहतो गन्तुम इच्छामि तद् विष्णोः परमम् पदम्।

"यह विष्णु नामक व्यक्ति कौन है जिससे तुम भयभीत हो रहे हो? देवता के रूप में न तो उसकी और न अन्य किन्हीं देवगणों की मैं पूजा करता हूँ: तब अब उसके मनुष्य रूप में उससे तुम्हे क्यों भय उत्पन्न हो रहा है? मनुष्य तो नित्य ही समर से भयभीत रहते हैं। जब पहले मैं इन सब का भक्षण कर चुका हूँ तो अब मैं इनके समक्ष नत-मस्तक कैसे होऊँ? मानव राम को प्रणाम करके सीता को लौटा दूँ—यह कार्य करके मैं सम्पूर्ण लोकों का उपहासपात्र कैसे बनूँ? राघव (राम) के पीछे-पीछे दीन-भाव से कैसे चलूँ? उनकी समृद्धि देखकर मैं कैसे जीवित रह सकता हूँ? यह तुम्हारा मत है कि

[30] गो० के सस्करण मे इस काण्ड के ३४,७ मे इसी समान एक श्लोक पहले भी आ चुका है।

राम की पत्नी का अपहरण करके, और इतना दारुण मान दिखाकर अब रावण उसके समक्ष प्रणत हो। यदि राम स्वयं विष्णु, लक्ष्मण इन्द्र, सुग्रीव त्र्यम्बक, और जाम्बवान ब्रह्मा होते तो भी मैं ऐसा नहीं कर सकता था। तुम तो शास्त्रों के ज्ञाता हो, तब तुम ऐसा विचार व्यक्त कर रहे हो, तुम चाहते हो कि मैं उस राम को नमस्कार करूँ जो समाज के किसी भी आश्रम से रहित है, जिसने अपने देवत्व को छोड़कर मनुष्य योनि का आश्रय लिया है! मैं उसके साथ सन्धि कैसे कर सकता हूँ जो मेरा वध करने के लिये आया है? और यदि तुमने स्पष्ट रूप से यह सुन रक्खा है कि राम विष्णु हैं और देवताओं के कल्याण के लिये उसने मानव शरीर धारण किया है; तब भी वानरों के राजा, सुग्रीव से उसको सहायता लेने की आवश्यकता पड़ी! तिर्यग्योनि के लोगों के साथ उसकी यह मैत्री क्या उचित है? क्या विष्णु पराक्रम से इतना हीन हो गया है कि उसे सहायता के लिये रीछों और वानरों का आश्रय लेना पड़ा? अथवा क्या वह निश्चित रूप से पराक्रमविहीन है, जिसने पूर्व-समय में यज्ञ के लिये दीक्षित असुरराज बलि से वामन-रूप धारण करके तीन पग भूमि की याचना की थी। ऐसे व्यक्ति से तुम मैत्री करने के लिये कहते हो। पूर्व-समय में उस बलि ने जब उसे सागरों, वनों, महासागरों-सहित यह सम्पूर्ण पृथ्वी दे दी तब उसने यज्ञ-दीक्षित बलि को बाँध लिया। इस प्रकार उसने जब एक उपकार करनेवाले को नष्ट कर दिया तब हम लोगों की, जो उसके शत्रु हैं, कैसे रक्षा करेगा? जब तुम्हारे साथ स्वर्गलोक में जाकर मैंने देवताओं को जीत लिया था तब क्या इस देवता का विष्णुत्व नहीं था? अब यह विष्णु कहाँ से आ गया जिससे तुम भयभीत हो रहे हो? तुम अपनी शरीर-रक्षा के लिये ही ऐसा वचन कह रहे हो। हे निशाचर! यह कायरता का नहीं बल्कि युद्ध का समय है। मैंने पितामह से अभय प्राप्त किया है; सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरे अधीन है; फिर मैं उस राम को प्रणाम क्यों करूँ जो शक्ति और पराक्रम से रहित है? अतः तुम अपने शयनागार में जाओ, और शान्तिपूर्वक मदिरा का पान करो। जब तुम शयन कर रहे होगे तब राम या लक्ष्मण तुम्हारा वध नहीं करेंगे। मैं स्वयं राम, लक्ष्मण, और सुग्रीव का, वानरों का, और तदुपरान्त देवताओं का भी युद्ध में वध करूँगा। मैं विष्णु का तथा उसके समस्त अनुचरों का भी वध करूँगा। तुम अपने निवास में जाओ! जाओ दीर्घायु होते हुये सुखपूर्वक निवास करो।' इस प्रकार भाग्य से प्रेरित होकर अपने भ्राता को इस प्रकार उद्दण्डतापूर्वक और ज़ोर-ज़ोर से सम्बोधित करने के बाद रावण ने पुनः यह वचन कहे: "मैं भूमिजात सीता को जानता हूँ, मैं राम और मधुसूदन को जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरा उनके हाथों वध होना है; और

इसीलिये मैंने इस जनक-नन्दिनी का अपहरण किया है। मैंने कामपीडित होकर अथवा क्रोध के कारण उसे अपने पास नहीं रक्खा है : मैं तो उनके हाथों मृत्यु प्राप्त करके विष्णु के परमपद को प्राप्त करना चाहता हूँ'।"

इस अन्तिम संक्षिप्त भाषण में स्वर-परिवर्तन उल्लेखनीय है। विष्णु का उपहासक सहसा अपने देवता को पहचान कर उनका विनम्र उपासक बन जाता है। यह स्थल इस अध्याय के अन्तिम अंशों में अपेक्षाकृत और बाद में किसी ऐसे लेखक द्वारा जोड़ दिया गया प्रतीत होता है जिसने आरम्भिक अंशों को बिना किसी पश्चाताप अथवा शर्त के बने रहने देना उचित नहीं समझा।

पुनः, रावण की मृत्यु के पश्चात् उसकी महिषी, मन्दोदरी अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती हुई इस प्रकार कहती है (६.११३, ५ और बाद, कल०): स त्वम् मानुष मात्रेण रामेण युधि निर्जितः। न व्यपत्रपसे राजन् किम् इद राक्षसेश्वर। ६. कथ त्रैलोक्यम् आक्रम्य श्रिया वीर्य्येण चान्वितम्। अविषह्य जघान त्वाम् मानुषो वन-गोचरः। ७. मानुषाणाम् अविषये चरतः काम रूपिणः। विनाशस् तव रामेण सयुगे नोपपद्यते। ८. न चैतत् कर्म रामस्य श्रद्दधामि चमू-मुखे। सर्वतः समुपेतस्य तव तेनाभिमर्शणम्। ९. अथवा राम रूपेण कृतान्तः स्वयम् आगतः। मायां तव विनाशाय विधाया-प्रतितर्किताम्। १०. अथवा वासवेन त्व धर्षितोऽसि महाबल। वासवस्य तु का शक्तिस् त्वां द्रष्टुम अपि सयुगे। ११. महाबलं महावीर्य देव-शत्रुम् महौजसम्। व्यक्तम् एव महायोगी[३१] परमात्मा सनातन'। १२. अन्-आदि-मध्य निधनो महतः परमो महान्। तमसः परमो धाता शङ्ख-चक्र-गदा-धरः। १३. श्रीवत्स-वक्षा नित्य-श्रीर् अजय्यः शाश्वतो ध्रुवः। मानुष रूपम् आस्थाय विष्णुः सत्य-पराक्रमः। १४. सर्वैः परिवृतो देवैर् वानरत्वम् उपागतैः। सर्वलोकेश्वरः श्रीमान् लोकानां हित काम्यया। १५. महबलम् महावीर्य्यं देव शत्रुम भयावहम्। स-राक्षस परीवार हतवांस् त्वाम् महाद्युतिः। १६. इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितम् त्रिभुवन त्वया। स्मरद्भिर् इव तद् वैरम् इन्द्रियैर् एव निर्जितः। १७. यदैव हि जन-स्थाने राक्षसैर् बहुभिर् वृतः। खरस् तु निहतो भ्राता तदा रामो न मानुषः।

"वही आप आज युद्ध में एक मानवमात्र राम से परास्त हो गये। राजन्! क्या आपको इससे लज्जा नहीं आती। राक्षसेश्वर! बोलिये, यह क्या बात है? आपने तीनों लोकों को जीतकर अपने को सम्पत्तिशाली और पराक्रमी

---

[३१] 'स्वाभाविक-सर्व-शक्ति-युक्त.', भाष्य०।

बनाया था। आपके वेग को सह लेना किसी के लिये सम्भव नहीं था, फिर आप-जैसे वीर को एक वनवासी मनुष्य ने कैसे मार डाला ? आप ऐसे देश में विचरण करते थे जहाँ मनुष्यों की गति सम्भव नहीं थी। आप इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ थे, तो भी युद्ध में राम के हाथ से आपका विनाश हुआ—यह सम्भव या विश्वास के योग्य नहीं प्रतीत होता। युद्ध के मुहाने पर सब ओर से विजय प्राप्त करनेवाले आप की राम द्वारा जो पराजय हुई है वह राम का ही कार्य है—ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। अथवा साक्षात् काल ही अतर्कित माया रचकर आपके विनाश के लिये राम के रूप में यहाँ आ पहुँचा था। महाबली वीर ! अथवा यह भी सम्भव है कि साक्षात् इन्द्र ने आप पर आक्रमण किया हो। परन्तु इन्द्र की क्या शक्ति है जो युद्ध में आपकी ओर आँख उठाकर देख भी सके, क्योंकि आप महाबली, महापराक्रमी, और महातेजस्वी देवशत्रु थे। निश्चय ही ये राम महान् योगी एव सनातन परमात्मा है, इनका आदि, मध्य, और अन्त नहीं है, ये महान् से भी महान् , अज्ञानान्धकार से परे, तथा सबको धारण करनेवाले परमेश्वर हैं जो अपने हाथ में शङ्ख, चक्र और गदा धारण करते हैं, जिनके वक्षस्थल मे श्रीवत्स चिह्न अंकित है, भगवती लक्ष्मी जिनका कभी साथ नहीं छोडतीं, जिन्हें परास्त करना सर्वथा असम्भव है, तथा जो नित्य स्थिर एव सम्पूर्ण लोकों के अधीश्वर हैं : ऐसे सत्य पराक्रमी भगवान् विष्णु ने ही समस्त लोकों के हितार्थ मनुष्य रूप धारण करके, वानर रूप में प्रगट हुये सम्पूर्ण देवताओं के साथ आकर, राक्षसों-सहित आपका वध किया है, क्योंकि आप देवताओं के शत्रु तथा समस्त ससार के लिये भयकर थे। पहले आपने अपनी इन्द्रियों को जीत कर ही तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की थी, उस वैर का स्मरण करती हुई ही इन इन्द्रियों ने अब आपको परास्त किया है। जब मैंने सुना कि जनस्थान में अनेक राक्षसों से घिरे होने पर भी आपके भाई खर को राम ने मार डाला तब उसी समय मुझे विश्वास हो गया कि श्री रामचन्द्र कोई साधारण मनुष्य नहीं है।"

कलकत्ता सस्करण के इस उद्धरण की यदि गारेसियो के सस्करण के समानान्तर स्थल (अध्याय ९५) से तुलना की जाय तो यह विदित होगा कि इस अवसर पर बाद वाले की अपेक्षा प्रथम का स्थल अधिक अस्तव्यस्त है। ५–८ श्लोक दोनों संस्करण में प्रायः समान हैं; किन्तु गोरेसियो के नवें श्लोक के, जिसमें राम के देवत्व की चर्चा है, अतिरिक्त कलकत्ता संस्करण में सात श्लोक ऐसे हैं जिनमे न्यूनाधिक मात्रा में इसी विचार का समर्थन किया गया है। गोरेसियो सस्करण के ९ वें और १० वें श्लोक इस प्रकार हैं : अथवा राम-रूपेण विष्णुश् च स्वयम्

आगतः। तव नाशाय मायाभिः प्रविश्यानुपलक्षितः। २०. यदैव हि जन-स्थाने राक्षसैर् बहुभिर् वृतः। खरस् तव हतो भ्राता तदैवासौ न मानुषाः। "अथवा तुम्हारे विनाश के लिये विष्णु स्वयं अपनी अदृश्य माया का आश्रय लेकर राम के रूप में प्रविष्ट होकर आये थे; १०. क्योंकि अनेक राक्षसों से घिरे हुये तुम्हारे भाई, खर, को राम ने जनस्थान में मार डाला—यह राम मनुष्य मात्र नहीं हैं।" यह देखा जा सकता है कि यहाँ एक श्लोक (१० वाँ) ऐसा है जो कलकत्ता सस्करण के १७ वें के समान है। यह श्लोक अपने संस्करण में नवें के ठीक वाद आता है, और फलस्वरूप इस संस्करण (गोरे०) में ९ वें श्लोक में विचारों का वह विकास नहीं मिलता जो कलकत्ता संस्करण के १०-१५ वें श्लोकों में विकसित हुआ है। अब यदि हम यह माने कि रामायण के मूल पाठ में राम के विष्णु के अवतार होने का कोई उल्लेख नहीं था, तो प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होगा कि कलकत्ता सस्करण का नवाँ श्लोक, जो कृतान्त के राम के रूप में अवतरित होने का उल्लेख करता है, गोरेसियो के समानान्तर श्लोक, जो विष्णु को राम मानता है, की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। इस दशा में कलकत्ता संस्करण का ११ वें और उसके वाद के श्लोक, जो राम को एक अवतारी पुरुष बताते हैं, वाद के प्रक्षेप सिद्ध होंगे। परन्तु ११ वें और उसके वाद के श्लोकों का परीक्षण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपने पहले के श्लोकों की श्रृङ्खला में भली प्रकार आवद्ध हैं। इस प्रकार यदि सम्पूर्ण एक श्रृङ्खलावद्ध विषयवस्तु को प्रस्तुत करता है तो हम केवल यही (इस मान्यता की परिकल्पना के आधार पर कि राम का भगवत्तत्व मूल महाकाव्य का विषय नहीं है) मान सकते हैं कि प्रक्षेप और परिवर्तन का विस्तार अपेक्षाकृत अधिक है। यह द्रष्टव्य है कि कलकत्ता सस्करण का ११३ वाँ अध्याय भी गोरेसियो सस्करण की अपेक्षा अनेक अन्य अंशों की दृष्टि से भी अधिक विकसित है। इस प्रकार कलकत्ता संस्करण के ४० वे श्लोक के वाद, जो गोरेसियो के सस्करण के २८ वें श्लोक के समानान्तर है, आठरह ऐसे और श्लोक मिलते हैं जो गोरेसियो में नहीं है। कलकत्ता संस्करण के ५९ वें श्लोक (= २९, गोरेसियो स०) के वाद भी १२ ऐसे श्लोक आते हैं जो गोरेसियो में नही हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों शाखाओं के संस्करण परस्पर पृथक हो कर सचरण की परम्परा में अलग-अलग रूपों से विकसित हुये। अन्यथा हमें यह मानना पड़ेगा कि गोरेसियो संस्करण ने ऐसे स्थलों को छोड़ दिया जो पहले दोनों ही शाखाओं के समान स्रोत के रूप में विद्यमान थे।

अब मैं जिस स्थल को उद्धृत करूँगा उसमें आख्यान विष्णु के अवतार का कोई उल्लेख न करके केवल सीता के जन्म को ही वह निमित्त मानता है जिससे रावण का वध होना है। राम से पराजित हो कर राक्षस गण जब लङ्का भाग आये तब उनकी स्त्रियाँ अपनी जाति पर आई विपत्ति के लिये विलाप करती हैं। इस विलाप में वे इस प्रकार कहती हैं (६.९५, २५ और बाद, कलकत्ता सं०) : रुद्रो वा यदि वा विष्णुर् महेन्द्रो वा शतक्रतुः। हन्ति नो राम-रूपेण यदि वा स्वयम् अन्तकः। हत प्रवीर रामेण निराशा जीविते वयम्। अपश्यन्तो[32] भयस्यान्तम् अनाथा विलपामहे। राम-हस्ताद् दशग्रीवः शूरो दत्त-महावरः। इदम् भयम् महाघोरं समुत्पन्नं न बुध्यते। त न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः। उपसृष्टम्[33] परित्रातुं शक्ता रामेण संयुगे। उत्पाताश्चापि दृश्यन्ते रावणस्य रणे रणे। कथयन्ति हि रामेण रावणस्य निवर्हणम्। पितामहेन प्रीतेन देव-दानव-राक्षसैः। रावणस्याभयं दत्तम् मनुषेभ्यो न याचितम्। तद् इदम् मानुषम् मन्ये प्राप्तं निःसंशयम् भयम्। जीवितान्त-कर घोर रक्षसा रावणस्य च। पीड्यमानास् तु बलिना वर-दानेन रक्षसा। दीप्तैस् तपोभिर् विबुधाः पितामहम् अपूजयम्। देवताना हितार्थाय महात्मा वै पितामहः। उवाच देवतास् तुष्ट इदं सर्वा महद् वचः। अद्य-प्रभृति लोकास् त्रीन् सर्वे दानव-राक्षसाः। भयेन प्रावृता नित्य विचरिष्यन्ति शाश्वतम्[34]। दैवतैस् तु समागम्य सार्वैश् चन्द्र-पुरोगमैः। वृष-ध्वजस् त्रिपुर-हा महादेवः प्रतोषितः। प्रसन्नस् तु महादेवो देवान् एतद् वचोऽब्रवीत्। उत्पत्स्यति हितार्थं वो नारी रक्षः-क्षयावहा। एषा देवैः प्रयुक्ता तु क्षुद् यथा[35] दानवान् पुरा। भक्षयिष्यति नः सर्वान् राक्षस-घ्नी स-रावणान्। रावणस्यापनीतेन[36] दुर्विनीतस्य दुर्मतेः। अयं निष्टानको घोर. शोकेन समभिप्लुतः।

---

[32] 'अपश्यन्तोऽपश्यन्त्य आर्ष', भा०।

[33] 'उपसृष्ट हन्तुम् आरब्धम्', भा०। गोरे० मे 'परिक्रान्तुम्' के स्थान पर 'परित्रातुम्' पाक है।

[34] गो० स० (६.७४,३६) मे यह श्लोक इस प्रकार है 'अद्य-प्रभृति लोकेषु ये भूता भय-वर्जिता। भयार्त्तास् ते पुनर् इह विचरिष्यन्ति राक्षसा।

[35] मूल मे 'क्षुद्-व्यथा', पाठ है, किन्तु भाष्य मे 'क्षुद्-यथा' है। सम्भवत. शुद्ध पाठ 'क्षुधिता' है, जो गोरेसियो स० मे मिलता है।

[36] 'अपनीतेन अनयेन', भा०।

तन्न पश्यामहे लोके यो नः शरणो-दो भवेत्। राघवेनोपसृष्टानाम् कालेनेव युगक्षये। "ऐसा प्रतीत होता है कि राम का रूप धारण कर हमें साक्षात् रुद्र, विष्णु, शतक्रतु इन्द्र, अथवा स्वय यमराज ही मार रहे हैं। हमारे प्रमुख वीर राम के हाथों हत हुये। अब हमलोग अपने जीवन से निराश हो चले हैं। हमें इस भय का अन्त नहीं दिखाई पडता; इसीलिये हम अनाथ की भाँति विलाप कर रहे हैं। दशमुख रावण शूरवीर है। उसे ब्रह्मा ने महान् वर दिया है। इसी दर्प के कारण वह श्रीराम के हाथ से प्राप्त हुये इस महाघोर भय को समझ नहीं पा रहा है। युद्धस्थल में राम जिसे मारने के लिये कृतसंकल्प हों उसे न देवता, न गन्धर्व, न पिशाच, और न राक्षस ही बचा सकते हैं। रावण के प्रत्येक युद्ध में जो उत्पात दिखायी देते हैं वे राम के द्वारा रावण के विनाश की सूचना देते हैं। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर रावण को देवताओं, दानवों तथा राक्षसों की ओर से अभयदान दे दिया था। मनुष्यों की ओर से अभय प्राप्त होने के लिये इसने याचना ही नहीं की थी। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह निःसन्देह मनुष्यों की ओर से ही घोर भय प्राप्त हुआ है जो राक्षसों और रावण के जीवन का अन्त कर देनेवाला है। बलवान् राक्षस रावण ने अपनी उद्दीप्त तपस्या तथा वरदान के प्रभाव से जब देवताओं को पीड़ा दी तब उन्होंने पितामह ब्रह्मा की आराधना की। इससे ब्रह्मा संतुष्ट हुये और उन्होंने देवताओं के हित के लिये उन सब से यह महत्त्वपूर्ण बात कही 'आज से समस्त दानव तथा राक्षस भय से युक्त होकर ही नित्य-निरन्तर तीनों लोकों में विचरण करेंगे।' तत्पश्चात् इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं ने मिल कर त्रिपुरनाशक वृषभध्वज महादेव को संतुष्ट किया।[३७] संतुष्ट होकर महादेव ने देवताओं से कहा—'तुम लोगों के हित के लिये एक दिव्य नारी का आविर्भाव होगा जो समस्त राक्षसों के विनाश में कारण होगी।' यह निशाचरनाशिनी[३८] हम सब लोगों को उसी प्रकार खा जायगी जिस प्रकार पूर्वकल्प में देवताओं द्वारा प्रयुक्त हुई क्षुधा[३९] ने दानवों का भक्षण किया था। उद्दण्ड और दुर्बुद्धि रावण के अन्याय से यह शोक-सयुक्त घोर विनाश हम सब को प्राप्त हुआ है। जगत् में हम किसी ऐसे

---

[३७] भाष्यकार यह टिप्पणी करता है एवम् ब्रह्मण प्रसादात् सभयत्वम् अत्र प्राप्तम्। सहारादि-कृत (?) रुद्र-प्रदान तु नाश एवास्माकम् इत्य् आहु।

[३८] भाष्यकार के अनुसार सीता। गोरेसियो का पाठ इस प्रकार है सैषा दैव-प्रसृष्टा तु क्षुधिता जनकात्मजा', इत्यदि।

[३९] 'पूर्वकल्प मे।' भाष्य०।

पुरुष को नहीं देख पा रहे हैं जो महाप्रलय के समय काल की भाँति इस समय रघुनाथ राम से संकट में पड़ी हुई हम राक्षसियों को शरण दे सके।"

ऊपर उत्तरकाण्ड से प्रस्तुत देववती की कथा की तुलना कीजिये। क्या आख्यान का एक यह भी रूप रहा हो सकता है कि विष्णु नहीं बल्कि सीता ही रावण की वास्तविक विनाशक थीं?

इस महाकाव्य के एक आरम्भिक अंश में यह वर्णन है कि राम ने राक्षस खर का वध कर दिया। तब देवों ने उन्हें जिस प्रकार बधाई दी उसकी कवि द्वारा राम को विष्णु का अवतार मानने के विचार के साथ संगति नहीं है।

रामायण ३.३०,२७ और बाद (कल०): स पतात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना। रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथाऽन्धकः। स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर् यथा। बलो वेन्द्राशनि-हतो निपपात हतः खरः। एतस्मिन्न् अन्तरे देवाश् चारणैः सह सङ्गताः। दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्प-वर्षं समन्ततः। रामस्योपरि संहृष्टा ववृषुर् विस्मितास् तदा। आर्धाधिक-मुहूर्त्तेन रामेण निशितैः। चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्। खर-दूषण-मुख्याना निहतानि महामृधे। अहो वत महत् कर्म रामस्य विदितात्मनः। अहो वीर्यम् अहो दाढ्यं विष्णोर् इव हि दृश्यते। इत्य् एवम् उक्त्वा ते सर्वे ययुर् देव यथागतम्। "जैसे श्वेतवन में रुद्र ने अन्धकासुर को जलाकर भस्म किया था, उसी प्रकार दण्डकवन में राम के उस बाण की अग्नि में जलता हुआ निशाचर खर पृथिवी पर गिर पड़ा। जैसे वज्र से वृत्रासुर, फेन से नमुचि और इन्द्र की अशनि से बलासुर मारा गया था, उसी प्रकार उस बाण से आहत होकर खर धराशायी हो गया। इसी समय देवता चारणों के साथ मिल कर आये और हर्ष में भर कर दुन्दुभि बजाते हुये वहाँ श्रीराम के ऊपर चारों ओर से पुष्पवृष्टि करने लगे। उस समय उन्हें यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि राम ने अपने पैने बाणों से डेढ़ मुहूर्त में ही इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले खर-दूषण आदि चौदह सहस्र राक्षसों का उस महासमर में संहार कर डाला। वे बोले: 'अहो! अपने स्वरूप को जाननेवाले भगवान् राम का यह कर्म महान और अद्भुत है, इनका बल-पराक्रम भी अद्भुत है, और इनमें विष्णु की भाँति आश्चर्यजनक दृढ़ता दिखाई देती है।' ऐसा कह कर वे सब देवता जैसे आये थे वैसे ही चले गये।"

इन पंक्तियों के लेखक ने राम को कदाचित ही विष्णु का अवतार माना होगा, क्योंकि अन्यथा राम की विष्णु के साथ तुलना की कोई आवश्यकता

नहीं थी। गोरेसियो संस्करण के समानान्तर स्थल (३५ वाँ अध्याय) पर ये श्लोक नहीं हैं। इनके स्थान पर अनेक प्रकार के ऋषियों से राम के प्रति यह कहलवाया गया है कि सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व इत्यादि, उनकी विजयश्री की प्रशंसा और ब्रह्मा तथा महादेव भी उनके प्रति आदर प्रदर्शित कर रहे हैं। तब राम ने अपने-अपने दिव्य विमानों में स्थित हो कर पास ही खडे देवों को प्रणाम किया (नमश्चक्रे विमानस्थान् दृष्ट्वाऽदूरे दिवौकसः)।

नीचे कलकत्ता सस्करण में आनेवाला एक अन्य स्थल उद्धृत किया जा रहा है जो गोरेसियो के संस्करण में नहीं मिलता। इसमें यह वर्णन है कि रावण से युद्ध आरम्भ करने के पूर्व महर्षि अगस्त्य ने राम को सूर्य की स्तुति करने का परामर्श दिया जिससे उनकी विजय निश्चित हो जाय। इसमें स्वयं राम के देवत्व के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा गया है, और वास्तव में इस प्रकार की स्तुति का ऐसे देवत्व के साथ कोई सामञ्जस्य भी नहीं है :

६. १०६,१ और वाद (कल०) : ततो युद्ध-परिश्रान्तं समते चिन्तया स्थितम्। रावण चाग्रतो दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम्। २. दैवतैश् च समागम्य द्रष्टुम् अभ्यागतो रणम् उपागम्याब्रवीद् रामम अगस्त्यो भगवांस् तदा। ३. राम राम महाबाहो शृणु गुह्य सनातनम्। येन सर्वान् अरीन् वत्स समरे विजयिष्यसि। ४. आदित्यहृदयम् पुण्य सर्व-शत्रु-विनाशनम्। जयावह जपन् नित्यम् अक्षयम् परम शिवम्। ५. सर्व-मङ्गल-मङ्गल्यं सर्व-पाप-प्रणाशनम्। चिन्ता-शोक-प्रशमनम् आयुर्वर्धनम् उत्तमम्। ६. रश्मिमन्त समुद्यन्त देवासुर-नमस्कृतम्। पूजयस्व विवस्वन्तम् भास्करम् भुवनेश्वरम्। ७. सर्व-देवात्मको ह्य् एष तेजस्वी रश्मि-भावनः। एष देवासुर-गणान् लोकान् पाति गभस्तिभि.। ८. एष ब्रह्मा च विष्णुश् च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः। महेन्द्रो धनद' कालो यमः सोमो ह्य अपांपतिः। ९. पितरो वसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः। वायुर् वह्निः प्रजाप्राणः ऋतु कर्ता प्रभाकरः। १०. आदित्य. सविता सूर्यः ख-गः पूषा गभस्तिमान्। सुवर्ण-सदृशो भानुर् हिरण्यरेता[४१] दिवाकरः।···२६. पूजयस्वैनम् एकाग्रो देव देवं जगत्-पतिम्। एतत् त्रिगुणितं जप्त्वा युद्धेषु विजयिष्यसि। २७. अस्मिन् क्षणे महाबाहो रावण त्व जहिष्यसि। एवम् उक्त्वा ततोऽगस्त्यो जगाम स यथागतम्। एतच् छ्रुत्वा महातेजा नष्ट-शोकोऽभवत् तदा। धारयामास सुप्रीतो राघवः प्रयतात्मवान्। २९. आदित्यम् प्रेक्ष्य जप्त्वेदम् परं हर्षम् अवाप्तवान्। त्रिर् आचम्य शुचिर् भूत्वा

धनुर् आदाय वीर्यवान्। २०. रावणम् प्रेक्ष्य हृष्टात्मा जयार्थं समुपागमत्। सर्व-यत्नेन महता वृतस् तस्य वधेऽभवत्। ३१. अथ रविर् अवदद् निरीक्ष्य रामम् मुदित-मनाः परमम् प्रहृष्यमाणः। निशिचर पति सङ्क्षय विदित्वा सुर-गण-मध्य-गतो वचस् त्वरेति। "उधर राम युद्ध से श्रान्त होकर चिन्ता करते हुये रणभूमि में खड़े थे। इतने में रावण भी युद्ध के लिये उनके सामने उपस्थित हुआ। यह देखकर भगवान् अगस्त्य मुनि, जो देवताओं के साथ युद्ध देखने के लिये आये थे, राम के पास आकर बोले: 'सबके हृदय में रमण करनेवाले महाबाहो राम! यह सनातन गोपनीय स्तोत्र सुनो। वत्स![42] इसके जप से तुम युद्ध में अपने समस्त शत्रुओं पर विजय पा जाओगे। इस गोपनीय स्तोत्र का नाम है 'आदित्य-हृदय'। यह परम पवित्र और सम्पूर्ण शत्रुओं का नाश करनेवाला है। इसके जप से सदा विजय की प्राप्ति होती है। यह नित्य अक्षय और परम कल्याणमय स्तोत्र है। यह सम्पूर्ण मगलों का भी मगल है। इससे सब पापों का नाश हो जाता है। यह चिन्ता और शोक को मिटानेवाला तथा आयु की वृद्धि करनेवाला उत्तम साधन है। भगवान् सूर्य अपनी अनन्त किरणों से सुशोभित हैं। वे नित्य उदय होने वाले, देवता और असुरों से नमस्कृत, विवस्वान नाम से प्रसिद्ध, भास्कर, और भुवनेश्वर हैं। तुम उनका पूजन करो। सम्पूर्ण देवता उन्हीं के स्वरूप हैं। वे तेज की राशि तथा अपनी किरणों से जगत को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करनेवाले हैं। वे ही अपनी रश्मियों का प्रसार करके देवता और असुरों सहित सम्पूर्ण लोकों का पालन करते हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति, इन्द्र, कुबेर, काल, यम, चन्द्रमा, वरुण, पितर, वसु, साध्य, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, मनु, वायु, अग्नि, प्रजा, प्राण, ऋतुओं को प्रकट करनेवाले, तथा प्रभा के पुञ्ज हैं। उन्हीं के नाम आदित्य, सविता, सूर्य, खग, पूषा, गभस्तिमान्, सुवर्ण सदृश, भानु, हिरण्यरेता, और दिवाकर हैं।" इसके बाद श्लोक ११–१५ में सूर्य के अनेक अन्य नाम आते हैं। तदनन्तर श्लोक १५–२१ में विभिन्न सम्बोधनों द्वारा उनकी स्तुति है, जिसम एक सम्बोधन 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय'[43] भी है। कुछ और स्तुतियों के पश्चात् राम से पुनः इस देवता की

---

[41] 'अक्षराधिवयम् आर्षम्', भा०।

[42] देखिये ऊपर पृ० ३५४। विष्णु द्वारा 'वत्स' कह कर सम्बोधित होने पर ब्रह्मा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे थे। अगस्त्य मुनि द्वारा वत्स कह कर सम्बोधित करने पर भी कवि का अभिप्राय क्या राम को दिव्य मानना रहा हो सकता है?

[43] ब्रह्मेशनाच्युताना सृष्टि-सहार-स्थिति-कर्तृणाम् ईशाय स्वामिने। "सृष्टि-

स्तुति करने के लिये कहा गया है : "२६. इसीलिये तुम एकाग्रचित्त होकर उन देवाधिदेव जगदीश्वर की पूजा करो। इस आदित्य हृदय का तीन बार जप करने से तुम युद्ध में विजय पाओगे। महाबाहो! तुम इसी क्षण रावण का वध कर सकोगे।' इस प्रकार कहकर अगस्त्य जैसे आये थे वैसे ही चले गये। उनका उपदेश सुनकर महातेजस्वी राम का शोक दूर हो गया। उन्होंने प्रसन्न होकर आदित्य-हृदय को धारण किया और तीन बार आचमन करके शुद्ध हो भगवान सूर्य की ओर देखते हुये उसका तीन बार जप किया। इससे उन्हें अत्यन्त हर्ष हुआ। फिर परम पराक्रमी रघुनाथ ने धनुष उठा कर रावण की ओर देखा और उत्साहपूर्वक विजय पाने के लिये अग्रसर हुये। उन्होंने पूर्ण प्रयत्न करके रावण के वध का निश्चय किया। उस समय देवताओं के बीच खडे भगवान् सूर्य ने प्रसन्न होकर राम की ओर देखा और निशाचरराज रावण के विनाश का समय निकट जानकर हर्षपूर्वक कहा : 'रघुनन्दन! शीघ्रता करो'।"

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, यह उद्धरण गोरेसियो-संस्करण में सर्वथा अनुपस्थित है, जिसके ८९ वें अध्याय का अन्तिम श्लोक कलकत्ता संस्करण के १०४ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक के विल्कुल समान है। तदनन्तर गोरेसियो के ९० वें अध्याय का पहला श्लोक आता है जो कलकत्ता संस्करण के १०७ वे अध्याय के चौथे श्लोक के अनुरूप है। गोरेसियो में जितना विषय नहीं मिलता उसे कथासूत्र को आघात पहुँचाये बिना ही छोड दिया जा सकता है। वास्तव में कलकत्ता संस्करण के १०७ वें अध्याय के आरम्भ में उसी बात का दोहराया जाना, जिसे १०५ के अन्त में कहा जा चुका है, इस निष्कर्ष को सम्भव बना देता है कि सम्पूर्ण १०६ वाँ अध्याय प्रक्षिप्त है। दूसरी ओर, यह विचित्र प्रतीत होता है कि एक ऐसा स्थल, जो राम के दिव्यत्व के प्रतिकूल है, बाद में जोड़ दिया गया। इस प्रकार के प्रक्षेप की एक मात्र बोधगम्य व्याख्या यही हो सकती है कि इस स्तोत्र के समावेश द्वारा सूर्य की महानता का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है, यद्यपि इसका रामायण की प्रमुख रूपरेखा के लिये कोई महत्त्व नहीं है।

दूसरी ओर, नीचे एक ऐसा स्थल उद्धृत किया जा रहा है जिसमें राम को मानवेतर गुणों से सयुक्त किया गया है। अपने भ्राता, रावण, को छोड़ कर विभीषण के राम के पास चले आने पर राम के दल के लोगों ने इस बात

स्थित्य्-अन्त-कारणीम् ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिकाम्। सञ्ज्ञा याति (?) भगवान् एक एव जनार्दन" इति स्मृते। भाष्य०।

पर विचार किया कि इस प्रकार के भगोड़े पर विश्वास किया जाय या नहीं। कुछ ने विभीषण पर सन्देह किया, परन्तु स्वयं राम उसका स्वागत करने के पक्ष में थे। वार्तालाप के बीच राम ने उस समय इस प्रकार कहा (६.१८,२२ और बाद, कल०) : स दुष्टो वाऽप्य् अदुष्टो वा किम् एष रजनीचरः। सूक्ष्मम् अप्य् अहित कर्त्तुम् मम शक्तः कथञ्चन। पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्। अङ्गुल्य्-अग्रेण तान् हन्याम इच्छन् हरि-गणेश्वर। "राक्षस दुष्ट हो या साधु, क्या वह किसी भी प्रकार मेरा सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप से भी अहित कर सकता है? वानरयूथपते! यदि मैं चाहूँ तो पृथिवी पर जितने भी पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस हैं उन सब को एक अंगुलि के अग्रभाग से ही मार सकता हूँ।" इस प्रकार की अभिव्यक्ति एक आन्तरिक दिव्य शक्ति की ओर संकेत करती है। गोरेसियो के संस्करण में इसका स्वरूप कुछ भिन्न है। राम इसमें (सुन्दरकाण्ड ९१, ३) यह कहते हैं कि वह इन समस्त प्राणियों को "तत्काल और दिव्यास्त्र के बल से नष्ट कर सकते हैं" (शक्तोऽहं सहसा हन्तुं दिव्येनास्त्र-बलेन च), जिसका तात्पर्य यह है कि अपनी शक्ति से नहीं बल्कि एक अस्त्र की शक्ति से। फिर भी, वास्तविक युद्ध में यह सिद्ध हुआ कि राम अपने शत्रुओं को इतनी सरलता से नष्ट नहीं कर सके, क्योंकि हम ऊपर देख चुके हैं कि इन्द्रजित् के विरुद्ध युद्ध करते समय उनकी स्थिति कितनी शोचनीय हो गई थी।

राम के पार्थिव जीवन की समाप्ति का उत्तरकाण्ड के ११६ और बाद के अध्यायों में इस प्रकार वर्णन है। एक मुनि के वेश में उपस्थित होकर काल राम के महल के द्वार पर आता है (११६,१ और बाद) और अपने को ब्रह्मा का दूत बताकर राम से मिलने की इच्छा व्यक्त करता है (श्लो० ३)। उसे आदरपूर्वक भीतर ले जाया गया (श्लो० ९) परन्तु आने का प्रयोजन पूछने पर उसने बताया कि वह बिलकुल एकान्त में ही राम को अपना संदेश सुनायेगा, और यदि अन्य कोई उसकी बात सुनेगा तो उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा (श्लो० १३)। राम ने लक्ष्मण को यह सब कुछ बताकर उनसे बाहर द्वार पर खड़े होने के लिये कहा। तब काल राम को बताता है (११७,१) कि उसे ब्रह्मा ने यह सन्देश देने के लिये भेजा है : 'पूर्वावस्था में मैं (ब्रह्मा) आप से (राम = विष्णु से) उत्पन्न हुआ था। सृष्टि के आरम्भ में आपने ही मुझे सृष्टि-कार्य सौंपा था' (श्लो० ४–७)। 'तदनन्तर आप मेरा (ब्रह्मा का) अनुरोध स्वीकार करके विष्णु के रूप में प्रगट हुये, और फिर आपने ही अदिति के गर्भ से जन्म लिया (श्लो० १०)।' 'जब रावण के

द्वारा प्रजा का विनाश होने लगा तब आपने उस निशाचर का वध करने की इच्छा से मनुष्य शरीर में अवतार लेने का, और स्वयं ही ग्यारह सहस्र वर्षों तक मर्त्यलोक में निवास करने की अवधि का निश्चय किया। वह अवधि अब समाप्त होने को है (श्लो० १२–१३)।' 'यदि और अधिक समय तक यहाँ रहकर प्रजापालन की इच्छा हो तो आप रह सकते हैं; अथवा यदि परमधाम में पधारने का विचार हो तो विष्णु के रूप में पुनः प्रतिष्ठित होकर देवताओं की रक्षा करें (श्लो० १४–१५)।' राम यह उत्तर देते हैं कि उन्होंने तीनों लोकों के कल्याण के लिये जन्म ग्रहण किया था, परन्तु अब वह परमधाम वापस हो जायँगे क्योंकि देवताओं का पालन करना भी उनका कर्त्तव्य है (श्लो० १८)। जब राम तथा काल में इस प्रकार बातें हो रही थीं उसी समय क्रोधी स्वभाववाले महर्षि दुर्वासा[४४] ने वहाँ आकर राम से उसी समय मिलने की इच्छा व्यक्त की और कहा कि अन्यथा वह राम को सपरिवार शाप दे देंगे (११८,१ और बाद)। अपने बन्धु-बान्धवों को बचाने की दृष्टि से लक्ष्मण ने, यह जानते हुये भी कि राम और काल के वार्तालाप के समय उपस्थित होने पर उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा, महल में प्रवेश करके राम को महर्षि का सन्देश दिया (श्लो० ८ और बाद)। राम तत्काल बाहर आये और दुर्वासा का यथोचित भोजन आदि से सत्कार किया। महर्षि के चले जाने पर राम काल को दिये अपने वचन का स्मरण करके अत्यन्त दुःखी हुये क्योंकि वार्ता के समय उपस्थित होने के कारण लक्ष्मण को प्राणदण्ड देना था (श्लो० १६)। फिर भी, लक्ष्मण राम से चिन्तित न होने का आग्रह करते हैं, और कहते हैं कि राम स्वयं अपना वचन भग न कर उनकी मृत्यु होने दें (११९,२ और बाद)। राम के मंत्रिगण भी यही परामर्श देते हैं (श्लो० ९)। तब राम लक्ष्मण का परित्याग करते हैं। लक्ष्मण सरयू नदी के तट पर आकर अपनी समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण करते हैं, और इन्द्र उन्हें सशरीर स्वर्गलोक ले जाते हैं। विष्णु के इस चतुर्थांश के स्वर्ग आनेपर देवगण अत्यन्त हर्षित होते हैं (श्लो० १९)। इसके बाद राम भरत का राज्याभिषेक करके स्वयं लक्ष्मण का अनुसरण करते हुये वन में चले जाने की इच्छा व्यक्त करते हैं (१२०,१ और बाद)। फिर भी, भरत इस बात को अस्वीकार करते हुये अपने भ्राता के साथ ही चलने का निश्चय करते हैं (श्लो० ८)। उस समय राम की समस्त प्रजा भी अत्यन्त दुखी होकर राम के पीछे ही चलने का निश्चय करती है (श्लो० १२)। शत्रुघ्न के पास

[४४] तु० की ऊपर पृ० १७७।

भी दूत भेजे गये किन्तु उन्होंने भी राम के साथ ही जाने का निश्चय किया (१२१,१-१४)। तदनन्तर राम अपने बन्धु-बान्धवों और पुरवासियों के साथ महाप्रस्थान के लिये चले। उस समय वे वेदपाठ के अतिरिक्त और कोई बात नहीं कर रहे थे। चलने के अतिरिक्त उनमें कोई अन्य गति दिखाई नहीं देती थी। वे लौकिक सुख का परित्याग कर के गन्तव्य पथ पर अग्रसर हो रहे थे। उनके दाहिने पार्श्व में श्री, बायें पार्श्व में भूदेवी, और आगे संहार-शक्ति चल रही थी। नाना प्रकार के बाण, विशाल एवं उत्तम धनुष, तथा अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र भी पुरुष का रूप धारण करके उनके साथ चल रहे थे। चारों वेद ब्राह्मण का रूप धारण करके चल रहे थे। गायत्री, ओंकार, और वषट्कार भी भक्ति भाव से राम का अनुसरण कर रहे थे। महात्मा ऋषि, ब्राह्मण, अन्तःपुर की स्त्रियो, बालक, वृद्ध, नपुंसक तथा सेवक आदि भी राम के पीछे-पीछे सरयूतट की ओर चल रहे थे। भरत और शत्रुघ्न अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ अपने आश्रयस्वरूप राम के, जो अग्निहोत्र के साथ जा रहे थे, पीछे-पीछे गये। समस्त मन्त्री और भृत्यवर्ग भी अपने पुत्रों तथा पशुओं आदि के साथ राम के पीछे-पीछे चला। इन सभी के साथ श्री राम सरयूतट पर आये (१२२-१२३ अध्याय)। इसी समय ब्रह्मा सम्पूर्ण देवताओं तथा महात्मा ऋषि-मुनियों से घिरे हुये उस स्थान पर आये। उनके साथ आये असंख्य दिव्य विमानों आदि से सारा आकाशमण्डल दिव्य तेज से व्याप्त होने लगा। परम पवित्र, सुगन्धित वायु बहने और दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी। इतने ही में राम सरयू के जल में प्रवेश करने लगे। तब ब्रह्मा आकाश से बोले : 'श्रीविष्णु स्वरूप रघुनन्दन ! आइये, आपका कल्याण हो। हमारा अत्यन्त सौभाग्य है जो आप अपने परमधाम को पधार रहे हैं। आपकी इच्छा हो तो चतुर्भुज विष्णुरूप में प्रवेश करें। ''आप सम्पूर्ण लोकों के आश्रय (लोक-गति') हैं, आपकी पुरातन पत्नी, विशाललोचना माया के अतिरिक्त अन्य कोई आपको यथार्थ रूप से नहीं जानता, क्योंकि आप अचिन्त्य, अविनाशी और परमब्रह्म हैं'। इन शब्दों को सुन कर राम ने भाइयों के साथ शरीर-सहित अपने वैष्णव तेज में प्रवेश किया। तत्पश्चात् विष्णुरूप में विराजमान राम ने ब्रह्मा से अपने साथ आये सम्पूर्ण जन समुदाय को भी उत्तम लोक प्रदान करने के लिये कहा। राम ने कहा : 'ये सब लोग स्नेहवश मेरे पीछे आये हैं। ये सब के सब यशस्वी और मेरे भक्त हैं। अतः ये सब मेरे अनुग्रह के पात्र हैं।' तब ब्रह्मा ने उस जनसमुदाय को सन्तानक लोक में भेज दिया (१२३ अध्याय)।

इस प्रकार के किसी दिव्य रूप में स्थित होने का वर्णन करने की अपेक्षा

महाभारत में राम के चार प्रकार की प्रजाओं के साथ स्वर्गलोक जाने मात्र का उल्लेख है (चतुर्विधाः प्रजा रामः स्वर्गं नीत्वा दिवं गतः) । महाभारत के रामोपाख्यान में राम के देवत्वापादान का कोई वर्णन नहीं है।

मैंने ऊपर के स्थलों के जिन अनेक श्लोकों के प्रक्षिप्त होने का सन्देह किया है उनकी स्वयं भाष्यकारों की टीकाओं से भी पुष्टि होती है जो मूल को अनेक स्थलों पर प्रक्षिप्त मानते हैं। इस प्रकार किष्किन्धा काण्ड के ४३ वें अध्याय (कल०) के ४६ और वाद, पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है : इतः उत्तरम् केचिद् "रमन्ते सहितास् तत्र नारीभिः भास्वर-प्रभाः" (श्लो० ५०) इत्य् अन्ताः श्लोकाः प्रक्षिप्ताः प्राचीन पुस्तकेष्व् अनुपलम्भाद् इति कतकः। "कतक (एक पूर्ववर्ती भाष्यकार) का कथन है कि इस (४६ वें श्लोक) के वाद के कुछ श्लोक जो 'वे सूर्य के समान कान्तिमान सदा नारियों के साथ क्रीडा-विहार करते हैं' आदि शब्दों से समाप्त होते हैं (५० वाँ श्लोक) वे प्रक्षिप्त हैं और प्राचीन पुस्तकों में नहीं मिलते।"

उत्तरकाण्ड के २३ वें अध्याय के अन्त में भाष्यकार यह टिप्पणी करता है : इतः परम् पञ्च-सर्गाः प्रक्षिप्ता बोध्याः। "इसके वाद के पाँच सर्गों को प्रक्षिप्त मानना चाहिये।" इन पाँच सर्गों (२४ वें से २८ वें) पर वह कोई टीका नहीं करता। २४ वें सर्ग के श्लो० ४२ में कंस का उल्लेख है।

इसी काण्ड के ४२ वें सर्ग या अध्याय के अन्त में भाष्यकार इस प्रकार एक तार्किक आलोचना करता है : एतद् उत्तरम् बालि सुग्रीवोत्पत्ति-प्रतिप्रा रावणस्य श्वेतद्वीपगमनेति हासश् च कपतियैः (कतिपयै ?) सर्गैर् अगस्त्योक्तितया क्वचित् पुस्तकेषु दृश्यते। तत् पूर्व-सर्गान्ते एव अगस्त्यस्य आश्रम-गमन-कथनासंगतेः कतक-तीर्थाद्य्-अनादृतत्वाद् मयाऽपि न व्याख्यताः। उत्तरे बहवः सर्गा प्रक्षिप्ताः। "इसके वाद जो आता है—अर्थात् वलि और सुग्रीव के जन्म की प्रतिष्ठा तथा रावण की श्वेतद्वीप की यात्रा—वह कुछ प्रतियों में मिलता है, जैसा कि अनेक सर्गों में अगस्त्य ने वर्णन किया है। परन्तु यतः इन सर्गों पर कतक, तीर्थ आदि ने कोई टीका नहीं की है, क्योंकि इनकी पिछले सर्ग (४१ वें, श्लो० ५१,५८ और वाद) में वर्णित अगस्त्य के आश्रम चले जाने के विवरण के साथ कोई सगति नहीं है, अतः मैंने भी इन्हें प्रक्षिप्त मान कर इनकी व्याख्या नहीं की है।" फलस्वरूप ४३–४७ सर्ग बिना किसी व्याख्या या टीका के मिलते हैं।

पुनः, ६९ वें सर्ग के अन्त में यह टिप्पणी की गई है : एतद्-अग्रे प्रक्षिप्तत्वात् कतक-तीर्थाभ्यां न व्याख्यातम् एतद् उत्तरं गृध्रोलूकाख्यानञ्च क्वचिद् दृश्यते। "इसके आगे जो आता है उसके प्रक्षिप्त होने के कारण उसकी

कतक और तीर्थ ने व्याख्या नहीं की है। और आगे जो गृध्र-उलूक-आख्यान आता है वह केवल कुछ प्रतियों में मिलता है।" ७०–७२ सर्गों पर भी कोई व्याख्या नहीं है : और वास्तव में ७३ वें सर्ग का आरम्भ ६९ वें सर्ग के अन्त से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि रामायण में सुरक्षित अनेक स्थलों को व्याख्याकार प्रक्षिप्त मानते थे क्योंकि ऐसे स्थल या तो उन व्याख्याकारों को उपलब्ध प्राचीनतम पाण्डुलिपियों में नहीं थे, अथवा इनमें कुछ ऐसे विवरण निहित थे जिनकी उस प्रसंग के साथ कोई संगति नहीं थी जिनके अन्तर्गत इनका समावेश मिलता था। इसमें सन्देह नहीं कि इन भाष्यकारों का निर्णय ठीक है, विशेषतः इसलिये कि ये लोग उस आदत से भली भाँति परिचित रहे होंगे, जिसे हम इनके समय में निर्विवाद रूप से भारत में प्रचलित मान सकते हैं, क्योंकि अन्तर्साक्ष्य इस बात को सिद्ध कर देता है कि अनेक शताब्दियों पूर्व से ही भारत में उन पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रक्षेपों के समावेश का प्रचलन था जिनकी शैलीगत सरलता अनुकरण के लिये अत्यन्त सुविधाजनक थी। परन्तु जिस प्रकार के प्रक्षेपों का भाष्यकारों ने अपने समय में संकेत किया है, उन्हें यदि स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानना स्वाभिक होगा कि भाष्यकारों के पहले के समय में भी वैसे प्रक्षेप किये गये होंगे · और महाभारत का उदाहरण इस मान्यता की पुष्टि करता है।

मैने राम के दिव्यत्व की चर्चा करने वाले जिन स्थलों को ऊपर उद्धृत किया है,[८७] उनमें से अधिकांश ऐसे स्थलों की, जो गोरेसियो के संस्करण में मिलते हैं, विवेचना करने के बाद गोरेसियो यह टिप्पणी करते हैं (भाग १०, भूमिका पृ० XVII और बाद) : "इस सबसे हम क्या निष्कर्ष निकालें? प्रस्तुत उद्धरणों के विपरीत भी मैं इस समस्या पर (अर्थात् इस पर कि विष्णु के अवतार के रूप में राम की धारणा महाकाव्य की मौलिक कल्पना है अथवा प्रक्षिप्त) कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सकता। उद्धृत स्थल केवल इतना ही सिद्ध करते हैं कि प्रक्षेप, यदि हैं तो, अत्यधिक गहन अध्ययन के बाद

---

[८७] रामा० ६.११९,१ और बाद (ऊपर पृ० १५८ पर उद्धृत) पर गोरेसियो यह मत व्यक्त करते हैं : "यहाँ वर्णित विष्णु के नामो मे से अनेक की प्रकृति अत्यन्त सन्दिग्ध है। उदाहरण के लिये 'कृष्ण' नाम, जिसे मैं महाकाव्य मे अन्यत्र नही देख पाया हूँ। इसके अतिरिक्त भी इस सर्ग मे ऐसा कुछ नहीं जो इसे कथा-प्रसग से सम्बद्ध करे, अत. इसे काव्य को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये विना ही निकाल दिया जा सकता है।"

और अत्यन्त कलापूर्ण ढग से ही किये गये हैं। परन्तु इस समस्या की पूरी तरह व्यारया के लिये हमें ऐसे अन्य प्रमाणों का आश्रय लेना होगा जो इस महाकाव्य में नहीं मिलते। अतः हमारा निर्णय तत्काल अपूर्ण ही रहेगा।"

महाभारत में भी राम का आख्यान मिलता है जिसका वनपर्व में मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर से वर्णन किया है। इस आख्यान में संक्षेप में यह कहा गया है (३.२७४,१ और वाद) कि दशरथ के, उनकी तीन रानियों से उत्पन्न चार पुत्र थे। रावण तथा उसके भ्राताओं के जन्म-वृत्तान्त का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है (३.२७५,१ और वाद) और यहाँ अनेक ऐसे विवरण दिये गये हैं जो रामायण के आरम्भिक अंशों में तो नहीं परन्तु उत्तरकाण्ड में कुछ समान रूप से मिलते हैं। महाभारत के आख्यान के अनुसार ब्रह्मा के एक पुलस्त्य नामक पुत्र हुये, और पुलस्त्य के वैश्रवण नामक पुत्र हुआ। वैश्रवण अपने पिता को छोड़कर ब्रह्मा के पास आये। ब्रह्मा ने उन्हें अमरता का वरदान देकर धनाधिपति बना दिया और लङ्का को उनकी राजधानी निश्चित करते हुये उन्हें पुष्पक विमान भी दिया। पिता, पुलस्त्य, उनके इस प्रकार चले जाने पर अत्यन्त क्रुद्ध हुये और उन्होंने विश्रवा नामक एक दूसरा पुत्र उत्पन्न किया। यह विश्रवा, वैश्रवण के प्रति वैर-भाव रखने लगा। अपने पिता[४६] को प्रसन्न करने की इच्छा से वैश्रवण ने तीन राक्षसकन्याओं को परिचारिकाओं के रूप में उनके लिये नियुक्त कर दिया (३.२७५,३ और वाद)। इन राक्षसियों का नाम पुष्पोत्कटा, मालिनी, और राका था। पुष्पोत्कटा से रावण और कुम्भकर्ण, मालिनी से विभीषण, और राका से खर तथा शूर्पणखा उत्पन्न हुये। ये सभी पुत्र पराक्रमी, वैदिक कर्मों में पारङ्गत, और धर्माचारी थे; परन्तु वैश्रवण की समृद्धि को देखकर इन सबको ईर्ष्या होने लगी। फलस्वरूप इन सबने ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये घोर तपस्या आरम्भ की। एक सहस्र वर्ष पूर्ण होने पर रावण ने अपना मस्तक काट कर अग्नि में उसकी आहुति दे दी (३.२७५,२०)। तब इन सबको तप से विरत करने तथा वर देने के लिये ब्रह्मा स्वयं प्रगट हुये। ब्रह्मा ने ये वर दिये: रावण इच्छानुसार मस्तक और रूप धारण कर सकेगा, तथा मनुष्यों को छोड़कर अन्य समस्त भूतों से अवध्य रहेगा। कुम्भकर्ण को उसकी इच्छानुसार ही दीर्घ कालतक सोने का वर दिया[४७] (स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्त–चेतन.)। विभीषण ने यह वर माँगा कि उसके मन में पाप का विचार कभी न उठे, और

---

[४७] यह रामायण के इस विवरण के विपरीत है कि वह शाप के कारण दीर्घकाल तक निद्रालीन रहता था।

बिना सीखे ही उसके हृदय में ब्रह्मास्त्र के प्रयोग और उपसंहार की विधि स्फुरित हो जाय।[४८] इस प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करके रावण ने वैश्रवण (कुबेर) को लङ्का से बहिष्कृत कर दिया। विभीषण ने अपने भाई,[४९] कुबेर का ही अनुसरण किया (३.२७५,२६) और उनके साथ गन्धमादन पर्वत पर आकर रहने लगे (श्लो० ३३)। रावण ने जब अपनी शक्ति से प्रजा को त्रस्त करना आरम्भ किया तब ऋषिगण ब्रह्मा की शरण में आये (३.२७६,१ और बाद)। ब्रह्मा ने उन लोगों को बताया कि रावण देवों और असुरों से अवध्य है, अतः योद्धाओं में श्रेष्ठ चतुर्भुज विष्णु उसके विनाश के लिये भूतल पर अवतार ले चुके हैं (तद्-अर्थम् अवतीर्णोऽसौ मन्-नियोगाच् चतुर्भुजः। विष्णुः प्रहरता श्रेष्ठः स तत् कर्म करिष्यति)। फिर भी, न तो उस प्रक्रिया का कोई वर्णन दिया गया है जिसके अनुसार विष्णु को दशरथ के एक या अधिक पुत्रों के रूप में अवतार लेना था; और न तो उस विधि का ही संकेत है जिसके अनुसार यह कार्य सम्पन्न हुआ। ब्रह्मा ने इन्द्र और देवताओं को यह भी आदेश दिया कि वे ऋक्षिणियों और वानरियों से ऐसे पुत्र उत्पन्न करें जो विष्णु की सहायता करें। देवताओं ने तदनुसार इस कार्य को सम्पन्न किया। ब्रह्मा ने दुन्दुभी नामक एक गन्धर्वी को मन्थरा के रूप में जन्म लेने के लिये कहा। इस मन्थरा ने ही भ्रमित करके कैकेयी को दशरथ से अपने पुत्र भरत के लिये राज्य माँगने की प्रेरणा दी (३.२७७,१६ और बाद)।

आख्यान के उस अंश का, जिसमें रावण के पूर्व-इतिहास तथा ब्रह्मा द्वारा उसके विनाश के लिये अपनाये गये माध्यमों का वर्णन है महाकाव्य का मौलिक अंश होना आवश्यक नहीं, यद्यपि बाद में इस बात का एक उल्लेख आता है कि राम की सेना को देवताओं ने उत्पन्न किया था। सागर ने स्वयं, राम के समक्ष प्रगट होकर इस प्रकार कहा : (महा० ३.२८३,४१): अस्ति तत्र

---

[४८] 'अशिक्षितञ्च भगवन् ब्रह्मास्त्रम् प्रतिभातुमे।'

[४९] ३ २८०,६७ मे यह कहा गया है कि विभीषण श्वेत छत्र धारण किये, और श्वेत पुष्पो की माला से अलंकृत हो श्वेत पर्वत पर चार मन्त्रियो सहित आरूढ हैं, जब कि उसके कुम्भकर्ण आदि राक्षस भाई सर मुंडाये, लालचन्दन लगाये, लाल पुष्पो की माला पहने, नग्न होकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहे हैं। ३ २८३,४६ मे यह उल्लेख है कि विभीषण श्रीराम के पास आया, परन्तु यह नही बताया गया है कि किधर से आया। परन्तु आरम्भ मे इस पर सन्देह प्रगट किये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह लका से आया, जैसा कि ५ ८९,४३ (गोरे०) और ६ १७,१ (कल०) मे स्पष्ट उल्लेख है।

नलो नाम वानरः शिल्पि-सम्मतः। त्वष्टुर् देवस्य तनयो बलवान् विश्व-कर्मणः। "तुम्हारी सेना में नल नामक एक वानर है जो शिल्पियों के लिये भी आदरणीय है। बलवान् नल देवशिल्पी विश्वकर्मा का पुत्र है।"

जहाँ तक मैंने देखा है, इस आख्यान की प्रमुख घटनायें रामायण के अनुकूल है, यद्यपि कहीं-कहीं छोटी-मोटी बातों का अन्तर हो सकता है। उदाहरण के लिये रामायण में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि मन्थरा एक गन्धर्वी का अवतार थी, यद्यपि कलकत्ता संस्करण के भाष्यकार ने इन शब्दों में इसका संकेत किया है: अथ सीताया लङ्का-पुर-प्रवेशं विना रावण-बधस्याशक्यतया तत्-सिद्धये देवैः प्रेरितायाः कृत-कुब्जा-वेषया मन्थराया रामाभिषेक-विघ्न-प्रवृत्तिम् ...वक्तुम् उपक्रमते। "अब, यतः सीता के लङ्कापुरी में प्रवेश किये बिना रावण का वध होना सम्भव नहीं था, अतः इस कार्य को पूर्ण करने के लिये कवि यह वर्णन आरम्भ करता है कि मन्थरा ने, जिसे देवों ने भेजा था और जो एक कुब्जा के रूप में अवतरित हुई थी, किस प्रकार राम के राज्याभिषेक में विघ्न उत्पन्न किया, इत्यादि।" पुनः, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, रामायण में यह कहा है कि ब्रह्मा के शाप के कारण कुम्भकर्ण दीर्घकाल तक निद्रित रहता था, परन्तु प्रस्तुत उपाख्यान के अनुसार यह शाप नहीं वरन् स्वयं उसी के द्वारा ब्रह्मा से माँगा गया वरदान था।[५०] नीचे महाभारत से जो विवरण प्रस्तुत किया जायगा, वह इन दोनों वक्तव्यों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास प्रतीत होता है। भाष्यकार द्वारा उल्लिखित एक अन्य अन्तर का ऊपर नोट ३२७ में संकेत किया जा चुका है।

महाभारत में इस कथा के एक परवर्ती विवरण में यह कहा गया है कि रावण-वध के बाद जब देवों ने उपस्थित होकर राम से अपनी पत्नी सीता को ग्रहण करने का आग्रह किया, तब ब्रह्मा ने राम से कोई भी वर माँगने के लिये

[५०] रम्भा की कथा का भी यहाँ केवल इन शब्दो मे सक्षिप्त उल्लेख है (महा० ३.२८०,५९) नलकूबर-शापेन रक्षिता ह्य् असि नन्दिनि। शप्तो ह्य् एष पुरा पापो वधू रम्भाम् परामृषन्। न शक्नोत्य् अवशा नारीम् उपैतुम् अजितेन्द्रिय। "नलकूबर ने रावण को शाप दे रक्खा है उसी से तुम सदा सुरक्षित रहोगी। कुछ समय पहले की बात है, इस पापी रावण ने अपनी पुत्रवधू तुल्य रम्भा का स्पर्श किया था, इसी से इसे शाप प्राप्त हुआ था। यद्यपि यह रावण जितेन्द्रिय नही है, तथापि किसी अवशा नारी के पास नही जा सकता।"

कहा। उस समय राम ने यह वर माँगा कि उनकी धर्म में सदैव प्रवृत्ति रहे और वे शत्रुओं से कभी पराजित न हों। राम ने यह भी निवेदन किया कि राक्षसों द्वारा मारे गये सम्पूर्ण वानर पुनः जीवित हो उठें (३.२९१, ४२ और बाद)। जो कवि राम को इस प्रकार ब्रह्मा से वर माँगता हुआ प्रस्तुत करता है वह राम को परमात्मा कदाचित ही मानता रहा होगा, यद्यपि रामायण के अनेक स्थलों पर, जैसा कि हम देख चुके हैं, राम को ऐसा माना गया है।[५१]

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, रामायण के उत्तरकाण्ड में रावण तथा उसके भ्राताओं के जन्म तथा पूर्व इतिहास का ऐसा वर्णन है जो महाभारत से कुछ दृष्टियों से भिन्न है। हमें बताया जाता है कि राम के अयोध्या लौट आने पर महर्षियों ने उपस्थित होकर राम को आशीर्वाद दिया। तदनन्तर श्रीराम के पूछने पर महर्षि अगस्त्य ने उनके राक्षस-शत्रुओं की उत्पत्ति आदि का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि कृतयुग में पुलस्त्य नामक एक तेजस्वी ब्रह्मर्षि हुये। पुलस्त्य ब्रह्मा के पुत्र थे। वे जिस आश्रम में रहते थे वहाँ कन्यायें प्रतिदिन आकर क्रीडा किया करती थीं। इससे उनकी तपस्या में विघ्न पड़ता था अतः क्रुद्ध हो कर उन्होंने उन कन्याओं को यह शाप दे दिया कि 'जो कन्या मेरे दृष्टिपथ में आयेगी वह निश्चित रूप से गर्भ धारण कर लेगी।' इस शाप को राजर्षि तृणबिन्दु की कन्या ने नहीं सुना और वह एक दिन पुलस्त्य के आश्रम में उनके सम्मुख पड़ कर शापवश गर्भवती हो गई (७.२,१४ और बाद)। घर लौटने पर जब उस कन्या के पिता ने उसकी दशा देखा तब वह उसे पुलस्त्य के पास लाये। पुलस्त्य ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया और कालान्तर में उसी से विश्रवा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया (श्लो० ३२–३३)। विश्रवा अपने पिता के समान ही समदर्शी, व्रत और आचार का पालन करनेवाले तथा तपस्वी हुये। विश्रवा का भरद्वाज मुनि की पुत्री से विवाह हुआ। इसी पत्नी से विश्रवा ने एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका ब्रह्मा ने वैश्रवण = कुबेर,

[५१] प्रो० एम० विलियम्स की एक पुस्तिका द्वारा, जो अभी प्रेस मे हैं, मेरा ध्यान महाभारत के एक अन्य स्थल की ओर भी आकर्षित हुआ है जहाँ राम का उल्लेख है। वहाँ (७ ५९,१–२५) राम की अत्यन्त आलंकारिक भाषा मे प्रशस्ति की गई है, जैसे उन्हें समस्त प्राणियो, ऋषियो देवो और मनुष्यो से श्रेष्ठ कहा गया है। फिर भी, उनके दिव्यत्व का कोई सकेत नही प्रतीत होता। श्लोक १९ मे उनके लिये व्यवहृत 'ईश्वर' शब्द का केवल 'अधीश्वर' अर्थ प्रतीत होता है, 'देवता' नहीं।

नाम रक्खा (७.३,१ और बाद)। वैश्रवण ने भी वन में रहकर सहस्रों वर्षों तक कठोर नियमों में बँधकर भीषण तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें एक लोकपाल [इन्द्र, वरुण, और यम के समान] नियुक्त करते हुये अक्षय निधियों का स्वामी भी बनाया (श्लो० ११ और बाद)। वैश्रवण ने अपने पिता, विश्रवा, से अपने निवास-स्थान के सम्बन्ध में पूछा। विश्रवा के परामर्श से वैश्रवण ने उस लङ्का को अपना निवास बनाया जिसका राक्षसों के लिये लिये विश्वकर्मा ने निर्माण किया था परन्तु विष्णु के भय से राक्षसों के भाग जाने के कारण जो अब निर्जन थी (श्लो० २३ और बाद)। यह सुन कर राम ने कहा (सर्ग ४) कि उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि लङ्का पहले भी राक्षसों का देश था, क्योंकि वह राक्षसों को पुलस्त्य का वंशज ही जानते थे; जब कि अब उन्हें यह पता चला कि पहले के राक्षस पुलस्त्य वंशी नहीं थे। इसलिये राम ने पुछा कि उन पहले के राक्षसों का पूर्वज कौन था और किस दोष के कारण विष्णु ने उन सबको लङ्का से भगाया था। अगस्त्य उत्तर देते हैं (श्लो० ९ और बाद) कि ब्रह्मा ने जब जलों की सृष्टि की तब उन्होंने कुछ अन्य प्राणियों की भी उन जलों की रक्षा करने के लिये रचना की। उन्हीं प्राणियों का राक्षस नाम पड़ा। प्रथम राक्षस-राजाओं का नाम हेति और प्रहेति था (श्लो० १४)। हेति ने काल की बहन से विवाह करके उससे विद्युत्केश नामक पुत्र उत्पन्न किया (श्लो० १७)। विद्युत्केश ने लङ्कटङ्कटा से विवाह किया जो सन्ध्या की पुत्री थी (श्लो० २१)। इससे विद्युत्केश ने सुकेश नामक एक पुत्र उत्पन्न किया परन्तु इसने उस पुत्र का परित्याग कर दिया। उस समय अपनी पत्नी पार्वती के साथ उधर से जाते हुये शिव ने उस पुत्र को देखा और उसे उसकी माता की अवस्था के समान नवयुवक और अमर बनाकर उसे रहने के लिये एक आकाशचारी नगराकार विमान भी दे दिया। तत्पश्चात् पार्वती ने भी यह वरदान दिया कि राक्षसियाँ शीघ्र गर्भ धारण कर लेंगी और शीघ्र ही ऐसे बालक का प्रसव करेंगी जो तत्काल बढ़कर माता के समान अवस्थावाले हो जाया करेंगे (श्लो० ३०-३१)। सुकेश ने देववती नामक एक गन्धर्वी से विवाह करके (७.५,३) उससे माल्यवान, सुमाली और माली नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये (श्लो० ६)। इन तीनों पुत्रों ने घोर तपस्या की (श्लो० ९), जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने इन्हें दर्शन देकर अजेयता तथा चिरजीवन का वरदान दिया (श्लो० १५)। वर पाकर इन सब ने देवों और असुरों को अत्यन्त पीड़ित करना आरम्भ किया (श्लो० १७)। विश्वकर्मा ने इनके लिये त्रिकूट पर्वत पर स्थित लङ्का नामक एक नगर का निर्माण किया

जो इन्द्र की अमरावती को भी लज्जित करनेवाला था। यह दक्षिण समुद्र के तट पर स्थित था (श्लो० २१ और बाद)। इन सब ने नर्मदा नामक गन्धर्वी की तीन कन्याओं से विवाह किया। माल्यवान की पत्नी, सुन्दरी, ने वज्रमुष्टि, विरूपाक्ष, दुर्मुख, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, मत्त, उन्मत्त, नामक सात पुत्र और अनला नाम एक पुत्री को जन्म दिया (श्लो० ३५ और बाद)। सुमाली की पत्नी, केतुमती, ने प्रहस्त, कम्पन, विकट, कालिकामुख, धूम्राक्ष, दण्ड, सुपार्श्व, सह्रादि, प्रघस्, तथा भासकर्ण नामक पुत्रों और राका, पुष्पोत्कटा, कैकसी, तथा कुम्भीनसी नामक पुत्रियों को जन्म दिया। (श्लो० ३९ और बाद)। माली की पत्नी, वसुदा, ने अनल, अनिल, हर और सम्पाति नामक चार पुत्र उत्पन्न किये (श्लो० ४३)। माल्यवान तथा उसके भाई, ये तीनों राक्षस, तब देवों, ऋषियों आदि को त्रस्त करने लगे जिससे वे सब महादेव (जो जगत के स्रष्टा, और संहारक, अजन्मा, अव्यक्त, और सम्पूर्ण जगत के आधार हैं) की शरण में आये (७.६,१ और बाद)। महादेव ने सुकेश (माल्यवान आदि के पिता) के प्रति घनिष्ठता रखने के कारण देवों से कहा कि वे उन राक्षसों का वध नहीं करेंगे (श्लो० १०)। फिर भी, महादेव ने देवों आदि को विष्णु की शरण में जाने के लिये कहा (श्लो० १२)। तदनन्तर देवता आदि विष्णु के पास आये (श्लो० १२)। विष्णु ने उन राक्षसों का वध करने का आश्वासन दिया (श्लो० २१)। इस बात का पता लगने पर तीनों राक्षस-राजों ने आपस में परामर्श करके (श्लो० २३ और बाद) देवों पर आक्रमण करने के लिये स्वर्गलोक की ओर प्रस्थान किया (श्लो० ४६)। विष्णु ने भी इनके आक्रमण का प्रतिरोध करने की तैयारी की (श्लो० ६३)। विष्णु और इन राक्षसों के युद्ध का ७ वें सर्ग में वर्णन है। विष्णु ने राक्षसों का भीषण संहार करते हुये माली का वध कर दिया जिससे भयभीत हो कर सब राक्षस लङ्का भाग आये (श्लो० ४२)। जब विष्णु ने पलायन कर रहे राक्षसों का भी वध करना आरम्भ किया तब माल्यवान ने विष्णु की भर्त्सना करते हुये उन पर यह आक्षेप किया कि उनका व्यवहार क्षात्र-धर्म के विपरीत है। साथ ही माल्यवान ने पुन. युद्ध करने का आह्वान भी किया (७.८,३ और बाद)। विष्णु ने कहा कि राक्षसों के वध का देवों को दिया अपना वचन वह अवश्य पालन करेंगे, अतः यदि राक्षस पाताल में भी भाग जाँय तब भी वह उन्हें नष्ट करके ही छोड़ेंगे (श्लो० ७ और बाद)। इस पर पुनः भीषण संग्राम छिड गया, किन्तु अन्ततः माल्यवान और सुमाली भाग कर लङ्का चले आये (श्लो० २०)। यहाँ भी विष्णु का प्रतिरोध करने में असफल होने के कारण

वे पुनः पाताल चले गये (श्लो० २२)। अगस्त्य ने बताया कि वे राक्षस रावण की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान थे और उनका अविनाशी और सनातन नारायण देव, अर्थात राम, के अतिरिक्त अन्य कोई वध नहीं कर सकता था (श्लो० २४ और बाद)। अपने परिवार के साथ सुमाली बहुत समय तक पाताल में निवास करता रहा, जब कि लङ्का में कुबेर रहते थे (श्लो० २९)। ९ वें सर्ग में यह वर्णन किया गया है कि एक बार पृथिवी पर आने पर सुमाली ने कुबेर को अपने विमान में बैठ कर अपने पिता विश्रवा से मिलने जाते हुये देखा। इससे उसके (सुमाली के) मन में यह विचार आया कि वह भी किसी प्रकार आपने खोये वैभव को प्राप्त करेगा। फलस्वरूप उसने अपनी पुत्री, कैकसी, को विश्रवा के पास उनकी सेवा के लिये भेजा (श्लो० १२)। विश्रवा ने भी कैकसी को स्वीकार करके उससे भयंकर रावण (श्लो० २९), विशाल कुम्भकर्ण (श्लो० ३४), शूर्पणखा, तथा धर्मात्मा विभीषण को उत्पन्न किया (श्लो० ३५)।[५२] वन में ही इन बालकों का पालन-पोषण हुआ। कुम्भकर्ण इधर-उधर जा कर ऋषि-मुनियों का भक्षण कर जाता था (श्लो० ३८)। एक दिन कुबेर अपने पिता से मिलने आये (श्लो० ४०)। उस समय कैकसी ने अपने पुत्र, रावण, से कहा कि वह भी अपने भाई, कुबेर, के समान वैभवशाली बने। रावण ने उसको वचन दिया (श्लो० ४५)। तदनन्तर रावण अपने अन्य भाइयों को लेकर गोकर्ण तीर्थ में तपस्या करने चला गया (श्लो० ४७)। १० वें सर्ग में रावण आदि की घोर तपस्या का वर्णन है। एक सहस्र वर्ष व्यतीत हो जाने पर रावण ने अपना मस्तक काट-कर अग्नि में आहुति दे दी (श्लो० १०)। इस प्रकार प्रत्येक सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर वह अपने एक-एक मस्तक की आहुति देने लगा। जब वह अपने दसवें मस्तक की आहुति देने को उद्यत हुआ तब ब्रह्मा उसके समक्ष प्रगट हुये (श्लो० १२) और उससे वर माँगने के लिये कहा। रावण ने अमरत्व का वरदान माँगा परन्तु ब्रह्मा ने इसे अस्वीकार कर दिया (श्लो० १७)। तब रावण ने मनुष्यों को छोड़ कर अन्य सब प्राणियों से अवध्य होने का वर माँगा जो ब्रह्मा ने उसे प्रदान किया (श्लो० २२)। ब्रह्मा ने साथ ही साथ रावण के सभी मस्तकों को पूर्ववत् करते हुये उसे इच्छानुसार रूप धारण कर सकने का भी वरदान दिया। विभीषण ने (ऊपर महाभारत की भाँति)

[५२] यह विवरण ऊपर महाभारत से उद्धृत विवरण से भिन्न है क्योंकि उसके अनुसार इन पुत्रों की मातायें अलग-अलग हैं, और खर का यहाँ उल्लेख नहीं है यद्यपि वह भी विश्रवा का ही पुत्र था।

यह वर माँगा : 'बड़ी से बड़ी आपत्ति पड़ने पर भी मेरी बुद्धि धर्म में ही स्थित रहे, और बिना सीखे ही मुझे ब्रह्मास्त्र का ज्ञान हो जाय' (परमापद्-गतस्यापि धर्मे मम मतिर् भवेत्। अशिक्षितञ्च ब्रह्मास्त्रम् भगवन् प्रतिभातु मे[53])। ब्रह्मा ने विभीषण को यह वरदान देते हुये उसे अमरत्व भी प्रदान किया। जब ब्रह्मा कुम्भकर्ण को वर देने के लिये उन्मुख हुये तब देवताओं ने हस्तक्षेप करते हुये ब्रह्मा से बताया कि कुम्भकर्ण ने सात अप्सराओं, इन्द्र के दस अनुचरों, तथा अनेक ऋषियों और मनुष्यों का भक्षण कर लिया है। अतः देवताओं ने ब्रह्मा से कहा कि वह वर की अपेक्षा कुम्भकर्ण को मोह प्रदान करें। तब ब्रह्मा ने सरस्वती का स्मरण किया। सरस्वती ने आकर ब्रह्मा की आज्ञा से (वाणि त्व राक्षसेन्द्रस्य भव वाग्-देवतेप्सिता) कुम्भकर्ण के मुख में प्रवेश किया। उनके प्रभाव में आकर कुम्भकर्ण ने यह वर माँगा कि वह अनेकानेक वर्षों तक सोता रहे, जो ब्रह्मा ने उसे प्रदान भी किया (श्लो० ४५)।[54] फिर भी, जब सरस्वती उसके मुख से निकल गईं और उसका मोह दूर हो गया तब वह पश्चाताप और चिन्ता करने लगा (श्लो० ४७)। अपने पिता के परामर्श पर कुबेर ने लङ्कापुरी को रावण को दे दिया (७.११,२९ और बाद)।

हनमान् के चरित्र का वर्णन करते हुये उत्तरकाण्ड में उनके विद्या आदि गुणों का इस प्रकार उल्लेख है (७.३६,४५ और बाद) : असौ पुनर् व्याकरणं ग्रहीष्यन् सूर्योन्मुखः प्रष्टु-मनाः कपीन्द्रः। उद्यद्-गिरेर् अस्त-गिरि जगाम ग्रन्थम महद् धारयन् अप्रमेयः। ४६. स-सूत्र वृत्त्य्-अर्थ-पदम् महार्थं स-सग्रहं सिद्ध्यति वै कपीन्द्र'। न ह्य् अस्य कश्चित् सदृशोऽस्ति शास्त्रे वैशारदे छन्द-गतौ तथैव। सर्वासु विद्यासु तपो-विधाने प्रस्पर्धतेऽयं हि गुरु सुराणाम्। "ये असीम शक्तिशाली कपिश्रेष्ठ (हनुमान्) व्याकरण का अध्ययन करने के लिये शंकायें पूछने की इच्छा से सूर्य की ओर मुँह रख कर महान् ग्रन्थ धारण किये उनके आगे-आगे

---

[53] भाष्यकार ने इन अन्तिम शब्दों की इस प्रकार व्याख्या की है. "अशिक्षित सद्-गुरुपदेशं विनापीत्य् अर्थ.। ब्रह्मास्त्रम् ब्रह्म-विद्या। एतद् वरणम् अशेष ब्रह्म-विद्या-सिद्धि-प्रतिबन्धक निवृत्तये।"

[54] भाष्यकार ने यहाँ इस प्रकार टीका की है "एवम् इत्य् अत्र षण् मासाद अर्वाक् जागरण नेति नियम। तद्-अधिकम् अपि निद्रा तु भवत्य् एवेति वर-स्वरूपम् बोध्यम्। अत एव षण्-मासान् स्वपितीति पूर्वं विभीषणोक्त्या वर्षाण्य् अनेकानीति कुम्भकर्णोक्त्या च पूर्वोक्तस्य।

उदयाचल से अस्ताचल तक जाते थे। इन्होंने, सूत्र, वृत्ति, वार्त्तिक, महाभाष्य और संग्रह—इन सब का अच्छी तरह अध्ययन किया था। अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञान तथा छन्दःशास्त्र के अध्ययन में भी इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई विद्वान नहीं है।"

इस स्थल का भाष्य इस प्रकार है : उद्यद्-गिरेर् महद् ग्रन्थं धारयन् अर्थतः पाठतश् च गृह्णन्। धारयन् अप्रमेय इति नुड्-अभाव आर्षः। सूर्य-साम्मुख्यार्थ तावद् गमनम। ४६. कोऽसौ ग्रन्थस् तत्राह स-सूत्रेति। सूत्रम् अष्टाध्यायी लक्षणम्। वृत्तिस् तात्कालिक-सूत्र-वृत्तिः। अर्थ-पदम् सूत्रार्थ-बोधक-पद-वद् वार्त्तिकम् महार्थम् महाभाष्यम् पतञ्जलिकृतम्। स-संग्रहम् व्याडि-कृत-सग्रहाख्य ग्रन्थ-सहितम्। सिध्यति वै सिद्धो भवति शास्त्रान्तरेष्व् अपीत्य् अर्थः। तद् एवाह। न ह्य् अस्य शद्दसः शास्त्रे कश्चित् छन्द-गतौ पूर्वोत्तर-मीमांसा-मुखेन वेदार्थ-निर्णये वैशारदे वैदुष्ये। विशिष्य नवम-व्याकरण-कर्त्ता हनूमान् इति प्रसिद्धिर् इति कतकः। अय गुरुम् प्रस्पर्धते। "उदयगिरि से, उस महान् ग्रन्थ को धारण किये हुये तथा उसके अर्थ तथा आशय को ग्रहण करते हुये। 'धारयन् अप्रमेयः' में 'नुड्' का अभाव आर्ष प्रयोग है। वह सूर्य के साम्मुख्य के लिये गये। ४६. 'सत्रों के साथ' आदि शब्दों में यह बताया गया है कि उनके पास कौन-सा ग्रन्थ था। सूत्रों से अष्टाध्यायी का तात्पर्य है। वृत्ति उसकी तात्कालिक सूत्र-वृत्ति है। 'अर्थ-पद' से उस वार्त्तिक का, उस महाभाष्य का तात्पर्य है जिसमें पतञ्जलि द्वारा रचित सूत्रों की व्याख्या करनेवाले पद हैं। 'संग्रहसहित' से व्याडि रचित संग्रह का तात्पर्य है। 'वे सिद्ध हैं' इससे यह तात्पर्य है कि वे अन्य शास्त्रों में भी सिद्ध हैं, क्योंकि लेखक आगे कहता है कि शास्त्रों का आशय समझने तथा पूर्व और उत्तर-मीमांसा के मुख से वेदार्थ का निर्णय करने में उनके समान अन्य कोई विद्वान नहीं है। 'वैदुष्य में' अर्थात् विद्वत्ता में। यह सुविदित है कि हनुमान् व्याकरण के नवें रचयिता हैं; ऐसी कतक की व्याख्या है।"

अन्य आठ वैयाकरणों का कोलब्रुक ने अपने एसेज़, २.३९.४८ में उल्लेख किया है।

पृ० १७०, पंक्ति ९

'आखण्डल' शब्द ऋग्वेद ८.१७,१२ में भी आता है जिसे निरुक्त ३.१० में 'आखण्डल प्र हूयसे' के रूप में उद्धृत किया गया है। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में इसका 'विनाशक' अर्थ किया गया है।

पृ० २२३, नीचे से चौथी पंक्ति

जब दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही युद्ध में सहायता प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण के पास आये तब उन्होंने दोनों की सहायता करने का वचन देते हुये पहले अर्जुन को ही सहायता माँगने का अवसर दिया : महा० ५.७, १८ और बाद : मत्-संहनन-तुल्यानां[५५] गोपानाम् अर्बुदम् महत्। नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्राम-योधिनः। ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्व् एकस्य सैनिकाः। अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्त-शस्त्रोऽहम् एकतः। आभ्याम् अन्यतरम् पार्थ यत ते हृद्यतरम् मतम्। तद् वृणीताम् भवान् अग्रे प्रवार्यस् त्वं हि धर्मतः। "मेरे पास दस करोड गोपों की विशाल सेना है जो सबके सब मेरे जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले है। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्ध में डट कर लोहा लेनेवाले हैं। एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्ध के लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओर अकेला मैं रहूँगा; परन्तु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा। हे पार्थ! इन दोनों में से कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मन को अधिक प्रिय हो, तुम पहले चुन लो क्योंकि धर्म के अनुसार पहले तुम्हे ही अपनी मनचाही वस्तु चुनने का अधिकार है।"

अर्जुन स्वयं कृष्ण को ही चुनते हैं जो 'साक्षात् शत्रुहन्ता, अजन्मा और स्वेच्छा से मनुष्यों में अवतीर्ण हुये थे (नारायणम् अमित्रघ्नं कामाज् जातम् अजं नृषु)। दुर्योधन ने नारायणी सेना का वरण किया।

पृ० २४१, नोट २०१ की अन्तिम पंक्ति

सागर के फेन से इन्द्र द्वारा नमुचि का वध करने की कथा का महाभारत के शल्यपर्व में भी उल्लेख है : ९.४३,३४ और बाद : नमुचिर् वासवाद् भीतः सूर्य्य-रश्मि समाविशत्। तेनेन्द्रः सख्यम् अकरोत् समय चेदम् अब्रवीत्। "न चार्द्रेण न शुष्केण न रात्रौ नापि चाहनि। वधिष्याम्य् असुर-श्रेष्ठ सखे सत्येन ते शपे"। एवं स कृत्वा समयं दृष्ट्वा नीहारम् ईश्वरः। चिच्छेदास्य शिरो राजन् अपाम् फेनेन वासवः। तच् छिरो नमुचेश् छिन्नं पृष्ठतः शक्रम अन्वियात्। भो भो मित्रहन पापेति ब्रुवाणं शक्रम् अन्तिकात्। एवं स शिरसा तेन चोद्यमानः पुनः पुनः। पितामहाय सतप्त एतम् अर्थ न्यवेदयत्। तम् अब्रवीत् लोक गुरुर् अरुणाया यथा-विधि। इष्टोपस्पृश देवेन्द्र तीर्थे पापभयापहे। "इन्द्र के भय से नमुचि सूर्य की किरणों में समा गया था। तब इन्द्र ने उसके साथ मित्रता कर ली

[५५] 'सहनन' शब्द द्रोणपर्व मे भी आता है।

और यह प्रतिज्ञा की : 'असुरश्रेष्ठ ! मैं न तो तुम्हें आर्द्र अस्त्र से मारूँगा, और न शुष्क अस्त्र से। न दिन में मारूँगा और न रात में। सखे ! मैं सत्य की सौगन्ध खाकर यह बात तुम से कहता हूँ।' राजन् ! इस प्रकार प्रतिज्ञा करके भी देवराज इन्द्र ने चारों ओर कुहरा छाया हुआ देख पानी के फेन से नमुचि का सर काट दिया। नमुचि का वह कटा हुआ सर इन्द्र के पीछे लग गया और उनके पास जा कर बारम्बार कहने लगा : 'ओ मित्रघाती पापात्मा इन्द्र ! तू कहाँ जाता है।' इस प्रकार उस मस्तक के द्वारा बार बार पूर्वोक्त बात पूछी जाने पर अत्यन्त संतप्त हुये इन्द्र ने ब्रह्मा से यह सम्पूर्ण समाचार बताया। तब लोकगुरु ब्रह्मा ने उनसे कहा : 'देवेन्द्र ! अरुणा तीर्थ पाप-भय को दूर करनेवाला है। तुम वहाँ विधिपूर्वक यज्ञ करके अरुणा के जल में स्नान करो'।"

पृ० २६६, पंक्ति १९

"नो···पुरुषतः" इत्यादि। भाष्यकार ने इन शब्दों की एक भिन्न व्याख्या की है : जरासन्धेन अभागः अस्वीकृतः। पुरुषतः मूर्धाभिषिक्तेषु। पुरुषेषु तेन सर्वे वशीकृताः इत्य् अर्थः। "अभागः" का अर्थ जरासन्ध द्वारा 'अस्वीकृत' है। 'पुरुषतः' का 'अभिषिक्त राजाओं में से' अर्थ है। आशय यह है कि सभी को इसने अपने वश में कर लिया था।"

पृ० २७४, पक्ति ४

तुकी० ऋग्वेद ८.२२,१४।

पृ० ३१७, पंक्ति १८

'रुक्म-वेदि-निभाः'। रामायण ३.३२,५, में रावण का 'रुक्म-वेदि-गतम' के रूप में वर्णन है। भाष्यकार इसकी इस रूप में व्याख्या करता है : रुक्म-वेदिम् प्राप्तं हिरण्येष्टक-चितां वेदिम् प्राप्तम्।

पृ० ४२०, पक्ति ६

रावण के लिये विलाप करते हुये (रामा० ६.११२, कल०) उसकी महारानी मन्दोदरी रावण के अन्यान्य गुणों की चर्चा करते हुये उसके लिये यह भी कहती है (श्लो० ४९) : जेतारं लोकपालानां क्षेप्तारं शङ्करस्य च। "लोकपालों पर विजय प्राप्त करनेवाला और शङ्कर को उठा लेने वाला।' फलस्वरूप इन पंक्तियों के लेखक ने शंकर को परमेश्वर नहीं माना हो सकता। फिर भी, ऊपर उद्धृत नन्दीश्वर की कथा से यह स्पष्ट है कि रावण शङ्कर की कोई समता नहीं कर सकता था।

पृ० ३७२, पंक्ति १७

रामायण के आरम्भिक अंशों में मुझे लिङ्ग का कोई उल्लेख नहीं मिल सका है, किन्तु उत्तर काण्ड, ३६, ४२ और बाद, में ये पंक्तियाँ आती हैं : यत्र यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः। जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते। ४३. बालुका-वेदि-मध्ये तु तल् लिङ्गं स्थाप्य रावणः। अर्चयामास गन्धैश् च पुष्पैश् चामृत-गन्धिभिः। "राक्षसराज रावण जहाँ-जहाँ भी जाता था, वहाँ-वहाँ एक सुवर्णमय शिवलिङ्ग अपने साथ लेता जाता था। रावण ने बालू की वेदी पर उस शिवलिङ्ग को स्थापित कर दिया और चन्दन तथा अमृत के समान सुगन्धवाले पुष्पों से उसका पूजन किया।"

भाष्यकार ४३ वें श्लोक पर यह टिप्पणी करता है : ऐश्वर्य कामनया सौवर्णलिङ्ग-पूजा [यास् ?] तन्त्रेपूक्तेः। "तन्त्रों में यह कहा गया है कि ऐश्वर्य-प्राप्ति करने के लिये सुवर्ण-लिङ्ग का पूजन करना चाहिये।"

पृ० ३७८, पक्ति २३

'२६ वाँ श्लोक' के स्थान पर '२८ वाँ श्लोक' पढ़िये। मनु ७.३८ में यह श्लोक आता है : वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेद-विदः शुचीन्। वृद्ध-सेवी हि सततं रक्षोभिर् अपि पूज्यते। "वृद्ध, वेदज्ञाता और शुद्ध हृदयवाले उन ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा करनेवाले की राक्षस भी पूजा करते हैं।" क्या इस स्थल से अतिकाय को 'वृद्ध-सेवी' कहे गये होने का (रामा० ६.७१,२६) भी सन्दर्भ हो सकता है ? यदि ऐसा है तो मनुस्मृति का यह स्थल रामायण से बाद का होगा। अथवा क्या अतिकाय को मनुस्मृति के इस श्लोक के अनुसार ही 'वृद्ध-सेवी' कहा गया है ? अथवा इन दोनों स्थलों का कोई सम्बन्ध नहीं है ? कम से कम यह उक्तिसाम्य कौतूहलवर्धक है।

पृ० ३८३, नोट ३२६

युद्धकाण्ड के २७ वें और उसके बाद के अध्यायों में मिलनेवाली इन्द्र और इन्द्रजित की कथा का सारांश इस प्रकार है : रावण सेना-सहित इन्द्रलोक में आया। उससे भयभीत होकर इन्द्र विष्णु की शरण में गये (२७,६)। इन्द्र ने विष्णु को स्रष्टा और विश्वसंहारक दोनों कहकर उनकी स्तुति की (श्लो० ७ और बाद)। विष्णु ने इन्द्र से कहा कि वह उस समय रावण का वध नहीं कर सकते। विष्णु ने कहा : 'मेरा यह स्वभाव है कि मैं संग्राम में शत्रु का वध किये बिना पीछे नहीं लौटता, परन्तु इस समय रावण वरदान से सुरक्षित है।...परन्तु समय आने पर मैं ही रावण की मृत्यु का कारण

बनूँगा' (श्लो० १७–२०)। तदनन्तर राक्षसों और देवों के बीच युद्ध आरम्भ हो गया (श्लो० २६)। आठवें वसु, सावित्र, ने युद्ध करते हुये सुमाली का वध कर दिया। उस समय सुमाली की न तो हड्डी का पता चला और न मस्तक तथा शरीर का (श्लो० ३४,४३)। इन्द्रजित् ने राक्षसों की सेना को पुनः संगठित करके युद्ध आरम्भ किया जिससे त्रस्त होकर देवगण पलायन करने लगे। उस समय इन्द्र के पुत्र जयन्त युद्ध करने के लिये आये। प्रत्यक्षतः जयन्त की मृत्यु हो जाने पर—वास्तव में जयन्त मरे नहीं बल्कि अदृश्य हो गये थे—स्वयं इन्द्र ने उपस्थित होकर रावण से भीषण युद्ध किया (श्लो० २३ और बाद): मेघनाद (रावणपुत्र) ने, जो बाद में इन्द्रजित के नाम से विख्यात हुआ, माया द्वारा अदृश्य होकर युद्ध करते हुये इन्द्र को बाँध लिया (श्लो० २९)। ब्रह्मा को आगे करके देवगण लङ्का आये, जहाँ ब्रह्मा ने मेघनाद के पराक्रम की प्रशंसा करते हुये उसे इन्द्रजित नाम दिया। ब्रह्मा ने तब इन्द्र को मुक्त करने के लिये कहा, किन्तु इन्द्रजित ने इन्द्र को छोड़ने के पहले अमरत्व का वरदान माँगा। ब्रह्मा ने ऐसा वर देने में असमर्थता प्रगट की। तब इन्द्रजित ने इस प्रकार दूसरा वर माँगा : 'जब मै मन्त्रयुक्त हव्य की आहुति से अग्निदेव की पूजा करूँ तो उस समय अग्नि से मेरे लिये एक ऐसा रथ प्रगट हो जिस पर बैठे रहने के समय मैं अवध्य रहूँ। यदि युद्ध के निमित्त किये जानेवाले जप और होम को पूर्ण किये बिना ही मैं समराङ्गण में युद्ध करने लगूँ तभी मेरा विनाश हो।' (३०,११–१४)। ब्रह्मा ने उसे यह वर देकर इन्द्र को मुक्त करा दिया। तब ब्रह्मा ने इन्द्र से बताया कि अहल्या के, जिसे ब्रह्मा ने महर्षि गौतम को दे दिया था, साथ बलात्कार करने के कारण ही उनकी यह दुर्गति हुई है। फिर भी गौतम के कथनानुसार विष्णु के रामावतार के समय अहल्या पुनः पवित्र हो जायगी। ब्रह्मा ने इन्द्र को भी उस पाप के प्रायश्चित के लिये वैष्णव यज्ञ करने का परामर्श दिया। नीचे मैं उन श्लोकों को उद्धृत कर रहा हूँ जिनमें ब्रह्मा ने अहल्या की सृष्टि का वर्णन किया है (७.३०,१९ और बाद): अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास् तथा प्रभो। एक-वर्णाः समाभाषा एका-रूपाश् च सर्वशः। तासां नास्ति विशेषो हि दर्शने लक्षणेऽपि वा। ततोऽहं एकाग्रमनास् ताः प्रजाः समचिन्तयम्। सोऽहं तासां विशेषार्थं स्त्रियम् एकां विनिर्ममे। रूप-गुणैर् अहल्या स्त्री विनिर्मिता। "प्रभो! देवराज! पहले मैंने अपनी बुद्धि से जिन प्रजाओं को उत्पन्न किया था उन सबकी अङ्गकान्ति, भाषा, रूप, और अवस्था सभी बातें एक जैसी थीं। उनके रूप और रंग आदि में परस्पर कोई विलक्षणता नहीं थी। तब मैं एकाग्रचित्त होकर उन प्रजाओं के विषय में

विशेषता लाने के लिये कुछ विचार करने लगा। तत्पश्चात् उन सब प्रजाओं की अपेक्षा विशिष्ट प्रजा को प्रस्तुत करने के लिये मैंने एक नारी की सृष्टि की। प्रजाओं के प्रत्येक अंग में जो-जो अद्भुत विशिष्टता थी उसे मैंने उसके अंगों में प्रगट किया। उन अद्भुत रूप-गुणों से उपलक्षित जिस नारी का मेरे द्वारा निर्माण हुआ था उसी का नाम अहल्या हुआ।"

पृ० ३९२, नोट ३४१

प्रो० आफरेख्त और मूलर ने कृपापूर्वक मुझे उस दुर्गा-स्तव अथवा रात्रि-सूक्त के मूल पाठ से अनुगृहीत किया है जो ऋग्वेद की पाण्डुलिपियों में रात्रि को समर्पित एक सूक्त के बाद (१०,१२७) आता है। पहले मैं रात्रिसूक्त (ऋग्वेद १०.१२७) को उद्धृत करके उसका अनुवाद दूँगा, और उसके बाद परिशिष्ट को उद्धृत करूँगा :

ऋग्वेद १०.१२७,१ : रात्री वि अख्यद् आयती पुरुत्रा देवी अक्षभिः। विश्वाः अधिश्रियोऽधित। २. आ उरु अप्राः अमर्त्या निवतो देवी उद्वतः। ज्योतिषा बाधते तमः। ३. निर् ऊ स्वसारम् अस्कृत उषसम् देवी आयती। अप इद् उ हासते तमः। ४. सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन् अविक्ष्महि। वृक्षे न वसतिं वयः। ५. नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। निश्येनासश् चिद् अर्थिनः। ६. यावय वृक्य वृकं यवय स्तेनम् ऊर्म्ये। अथा नः सुतरा भव। उप मा पेपिशत् तमः कृष्णं व्यक्तम् अस्थित। उषः ऋणा इव यातय। ८. उप ते गाः इव आ अकरं वृणीष्व दुहितर् दिवः। रात्रि स्तोमं न जिग्युषे। "आती हुई रात्रि देवी चारों ओर विस्तृत हुई है। उन्होंने नक्षत्रों के द्वारा निःशेष शोभा पाई है। २. दीप्तिशालिनी रात्रि देवी ने अतीव विस्तार प्राप्त किया है। जो नीचे रहते हैं और जो ऊपर रहते हैं, उन सबको वे आच्छन्न करनेवाली हैं। प्रकाश के द्वारा उन्होंने अन्धकार को नष्ट किया है। ३. रात्रि ने आकर उषा का, अपनी भगिनी के समान, परिग्रहण किया। उन्होंने अन्धकार को दूर किया। ४ जैसे चिड़ियाँ पेड़ पर रहती हैं, वैसे ही जिनके आने पर हम सोये थे, वे रात्रिदेवी हमारे लिये शुभकरी हों। ५. सब ग्राम निस्तब्ध हैं पादाचारी, पक्षी, और शीघ्रगामी श्येन आदि निस्तब्ध होकर सो गये हैं। ६. हे रात्रि! वृक और वृकी को हमसे अलग कर दो। चोर को दूर ले जाओ। हमारे लिये तुम विशेष रूप से शुभंकरी होओ। ७. कृष्णवर्ण अन्धकार दिखाई दे रहा है। मेरे पास तक सब ढक गया है। उषा देवी! जैसे मेरे ऋण का परिशोध कर ऋण को हटा देती हो, वैसे ही अन्धकार को नष्ट करो। ८. आकाश की कन्या रात्रि!

तुम जाती हो। गाय के समान तुम्हें यह स्तोत्र मैं अर्पित करता हूँ : ग्रहण करो।

१. (= निरुक्त ४.२९; अवे० १९.४७,१; और वाज० सं० ३४,३२) आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुर् अप्रायि धामभिः। दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठसे आ त्वेषं वर्तते तमः। २. (अवे० १९.४७,३) ये ते रात्रि नृचक्षसो युक्तासो[५६] नवतिर् नव। अशीतिः सन्त्व् अष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः। ३. रात्रिम् प्रपद्ये जननीं सर्व-भूत-निवेशनीम्[५७]। भद्राम् भगवतीं कृष्णां विश्वस्य जगतो निशाम्। ४. संवेशणीं संयमनीं ग्रह-नक्षत्र-मालिनीम्। प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीम् भद्रे पारम् अशीमहि भद्रे पारम् अशीमहि ओं नमः। ५. स्तोष्यामि प्रयतो देवीं शरण्याम् बह्वृच-प्रियाम्। सहस्र-सम्मितां दुर्गां जातवेदसे सुनवाम सोमम्। ६. शान्त्य्-अर्थं तद् द्विजातीनाम् ऋषिभिः सोमपा श्रिताः (समुपाश्रिता ?)। ऋग्वेदे त्वं समुत्पन्नाऽरातीयतो निदहाति वेदः। ७. ये त्वां देवि प्रपद्यन्ते ब्राह्मणा-हव्य-वाहनीम्। अविद्या बहुविद्या वा स नः पर्षद् अति दुर्गाणि विश्वा। ८. अग्निवर्णां शुभां सौम्या कीर्तयिष्यन्ति ये द्विजाः। तान् तारयति दुर्गाणि नावेव सिन्धुं दुरिताऽत्य् अग्निः। ९. दुर्गेषु विषमे घोरे संग्रामे रिपु सकटे। अग्नि-चोर-निपातेषु दुष्ट-ग्रह-निवारणे। १०. दुर्गेषु विषमेषु त्वां संग्रामेषु वनेषु च। मोहयित्वा प्रपद्यन्ते तेषाम् मे अभय कुरु तेषाम् मे अभयं कुरु ओं नमः। ११. केशिनीं सर्व-भूतानाम् पञ्चमीति च नाम च। सा माम् समा निशा देवी सर्वतः परिरक्षतु सर्वतः परिरक्षतु ओं नमः। [१२ श्लो० वैसा ही है जैसा प्रो० देवर ने उद्धृत किया है और 'ताम् अग्नि वर्णम्' इत्यादि शब्दों से आरम्भ होता है।] १३. दुर्गा दुर्गेषु स्थानेषु श नो देवीर् अभिष्टये। य इमं दुर्गा-स्तवम् पुण्यम् रात्रौ रात्रौ सदा पठेत्। रात्रिः कुशिकः सौभरो रात्री-स्तवो गायत्री। रात्रि सूक्तं जपेद् नित्य तत्कालम् उपपद्यते।

इस उद्धरण के भ्रष्ट पाठ को शुद्ध करने तथा इसके कुछ अंशों की व्याख्या करने में मैं प्रो० आफरेख्त का आभारी हूँ।

१. हे रात्रि ! पार्थिव अन्तरिक्ष तुम्हारे पिता की रश्मियों से परिपूर्ण था : हे शक्तिशाली ! तुम दिव्य सदनों को व्याप्त करती हो, और चारों ओर

---

[५६] 'युक्तास' के स्थान पर अवे० मे 'द्रष्टारः' पाठ है।

[५७] प्रो० आफरेख्त के अनुसार यह ऋग्वेद १ ३५,१ का अनुकरण है : 'रात्री' जगतो निवेशनीम्।'।

घोर अन्धकार छा जाता है। २. हे रात्रि! तुमसे संयुक्त देखनेवाले जो गण हैं[५८] वह ९९, ८८, अथवा ७७ हों। ३. मैं उस रात्रि माता के निकट जाता हूँ जो समस्त प्राणियों के लिये निवास देती है; जो दयालु, दिव्य, कृष्णवर्ण, और सम्पूर्ण जगत की रात्रि है। ४. मैं उस कल्याणकारी रात्रि के निकट जाता हूँ जो मनुष्यों को घरों में प्रवेश कराती है, जो सबका नियन्त्रण करती है, और जो ग्रह-नक्षत्रों की माला से युक्त है। हे कृपालु रात्रि! हम उस पार पहुँचे! हम उस पार पहुँचें! ५. प्रयत्न कर के मैं दुर्गा देवी की स्तुति करता हूँ जो शरण देती हैं, जो बह्वृचों की प्रिय और एक सहस्र के बराबर हैं। हम जातवेदस् के लिये सोम निकालें। ६. द्विज मनुष्यों की शान्ति के लिये ऋषिगण तुम्हारी शरण में जाते हैं। तुम्हारी ऋग्वेद से उत्पत्ति हुई है। जो हमें क्षति पहुँचाता है उसकी सम्पत्ति को अग्निदेव भस्म कर देते हैं। ७. बहुविज्ञ अथवा अविज्ञ ब्राह्मण, जो, हे देवि! हव्यवाहिनी! तुम्हारी शरण में जाते हैं वह हमें कठिनाईयों से पार ले जायँ। ८.१०. अग्निदेव समस्त दुर्गम कठिनाईयों से उसी प्रकार तारते हैं जैसे नौका सागर से तारती है—उन द्विजातीय मनुष्यों को जो अग्निवर्ण, शुभ और सौम्य दुर्गा देवी की स्तुति करते हैं। ९. विषम और घोर परिस्थितियों, सग्राम, शत्रु-सकट, अग्निकाण्ड, चोर, और दुष्टग्रहों के निपात से उत्पन्न विषम और घोर स्थितियों, संग्रामों, और वनों के निवारणार्थ मनुष्य तुम्हारी शरण में जाते हैं। हमें इन वस्तु से रक्षा प्रदान करो, हमारी इन वस्तुओं से रक्षा करो। ११. मैं उस पञ्चमी देवी की स्तुति स्तुति करता हूँ जो सभी प्राणियों में लम्बे केशोंवाली है। यह देवी प्रति रात्रि को हमारी सब प्रकार से रक्षा करे। (१२. वेबर के अनुसार, देखिये ऊपर पृ० ३९२, पंक्ति २३)। १३. दुर्गा देवी कठिन स्थानों में हमारा हित और कल्याण करें। जो प्रति रात्रि सदैव इस पवित्र दुर्गा-स्तव का पाठ करता है, जो रात्रि सूक्त का सदैव जप करता है, वह तत्काल उपस्थित होता है।"

यह देखा जा सकता है कि इस उद्धरण के कुछ अंशों का आशय स्पष्ट नहीं है, किन्तु आशय का निर्धारण बहुत महत्त्व भी नहीं रखता।

पृ० ३९४ पंक्ति १५

मार्कण्डेय पुराण ९९, ५२ और बाद, में भी अग्नि को समर्पित एक सूक्त में अग्नि की इन्हीं जिह्वाओं का उल्लेख है : या जिह्वा भवतः काली कालनिष्ठा-कारी प्रभो। भयान् [तया ?] नः पाहि पायेभ्यः ऐहिकाच्च महाभयात्। ५३. कराली नाम या जिह्वा महा प्रलय-कारणम्। तया

[५८] अथवा अवे० के अनुसार 'तुम्हारे मनुष्यो को देखनेवाले', इत्यादि।

न पाहि इत्यादि । ५४. मनोजवा च या जिह्वा लघिमा-गुण-लक्षणा । तथा इत्यादि । ५५. करोति कामम् भूतेभ्यो या ते जिह्वा सुलोहिता । तया इत्यादि । ५६. सुधूम्र-वर्णा या जिह्वा प्राणिनां रोग-दायिका । तया इत्यादि । ५७. स्फुलिङ्गिनी च या जिह्वा यतः (?) सकल-पुद्गला । तया इत्यादि । ५८. या ते विश्वा सदा जिह्वा प्राणिना शर्मदायिनी । तया इत्यादि । "तुम्हारी जो [जगत का] अन्तिम विनाश करनेवाली काली (नामक) जिह्वा है उससे पापों तथा ऐहिक महाभयों से हमारी रक्षा करो । ५३. तुम्हारी जो महाप्रलय की कारणभूता कराली (नामक) जिह्वा है, उससे इत्यादि । ५४. तुम्हारी लघिमा गुण लक्षणा मनोजवा (नामक) जिह्वा है, उससे इत्यादि । ५५. सभी प्राणियों की कामना पूर्ण करनेवाली तुम्हारी जो सुलोहिता (नामक) जिह्वा है, उससे इत्यादि । ५६. तुम्हारी जो रोगदायिनी सुधूम्रवर्णा जिह्वा है उससे इत्यादि । ५७. तुम्हारी जो सर्वसुन्दर, स्फुलिङ्गिनी नामक जिह्वा है, उससे इत्यादि । ५८. तुम्हारी जो समस्त प्राणियों को आशीर्वाद देनेवाली विश्वा (नामक) जिह्वा है, उससे इत्यादि ।"

अग्नि को समर्पित इस सूक्त में अग्नि को आठ प्रकार से कल्पित कहा गया है (श्लो० ४१) : त्वाम् अष्टधा कल्पयित्वा यज्ञम् आद्यम् अकल्पयन् । "उन लोगों ने तुम्हारी अष्टधा कल्पना करके आदि-यज्ञ को सम्पन्न किया ।" क्या इससे ब्राह्मणों के उस आख्यान का तात्पर्य है जिसे ऊपर पृ० ३०६ और बाद, पर उद्धृत किया जा चुका है ? इस सूक्त के ७० वें श्लोक में अग्नि से सम्बद्ध कुछ उक्तियाँ हमें शतरुद्रिय के २ और ११ वें श्लोकों का स्मरण दिलाती है : यत् ते वह्ने शिवम् रूप ये च ते सप्त-हेतयः । तैः पाहि नः स्तुतो देव पिता पुत्रम् इवात्मजम् । "स्तुत होने पर, हे अग्ने ! तुम अपने कल्याणकारी रूप में और अपने सात बाणों से उसी प्रकार हमारी रक्षा करो जैसे एक पिता अपने पुत्रों की रक्षा करता है ।"

श्लोक ६३ में अग्नि को 'सम्पूर्ण विश्व को फैलानेवाला, तथा अनेक रूपों में विद्यमान कहा गया है (त्वया तत विश्वम् इद चराचरम् हुताशनैको बहुधा त्वम् अत्र) ।

पृष्ठ १२३, पंक्ति ६ पर अतिरिक्त टिप्पणी

कलकत्ता संस्करण के २९ वें सर्ग में इसका पाठ भिन्न है, क्योंकि 'कश्यपोऽब्रवीत्' के बाद ये शब्द आते हैं : अदित्या देवतानाञ्च मम चैवानुयाचितम् । वरं वरद सुप्रीतो दातुम् अर्हसि सुव्रत । "अदिति, देवों और मेरे द्वारा निवेदित वरदान प्रदान करने की कृपा करें । हे निष्पाप देवता ! अदिति के पुत्र बनें", इत्यादि । इसके बाद 'शोकार्त्तानां तु देवानां साहाय्यम् कर्त्तुम् अर्हसि' के बाद (श्लोक १८) इस प्रकार है : अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात् ते भविष्यति । सिद्धं कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्न् इतः । १६. अथ विष्णुर् महातेजा आदित्यां समजायत । वामनं रूपम् आस्थाय वैरोचनिम् उपागमत् । २०. त्रीन् पदान् अथ भिक्षित्वा इत्यादि । " 'देवेश्वर ! भगवन् ! आपकी कृपा से यह स्थान सिद्धाश्रम के नाम से विख्यात होगा । अब आपका तपरूप कार्य सिद्ध हो चुका है, अतः यहाँ से उठिये ।' तदनन्तर महातेजस्वी भगवान् विष्णु अदिति के गर्भ से प्रगट हुये और वामन रूप धारण करके विरोचनकुमार बलि के पास गये । उन्होंने तीन पग भूमि की याचना करके", इत्यादि । यह देखा जा सकता है कि यहाँ कश्यप और अदिति के गर्भ से विष्णु के जन्म लेने के आख्यान को वामन अवतार की कथा के साथ, श्लेगेल के संस्करण की अपेक्षा अधिक घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है, क्योंकि यहाँ कश्यप द्वारा सिद्धाश्रम का इस रूप में उल्लेख कराया गया है जैसे वे स्वय वहाँ उपस्थित रहे हों, जब कि श्लेगेल के संस्करण में ऐसा कुछ नहीं है, और दूसरे, कश्यप और अदिति के पुत्र के रूप में विष्णु के जन्म को वामन अवतार की कथा के साथ अधिक कुशलता से सम्बद्ध किया गया है क्योंकि यहाँ 'एवम् उक्तः सुरैर् विष्णुः' ('देवों के इस प्रकार कहने पर विष्णु', इत्यादि) शब्दों को, जो श्लेगेल के सस्करण (श्लो० १७) में हमें श्लोक ८ के निकट पहुँचा कर बीच की बातों की उपेक्षा करते हैं, यहाँ छोड़ दिया गया है । यह भी देखा जा सकता है कि विष्णु को किये गये कश्यप के सम्बोधन के आरम्भ में एक और श्लोक रक्खा गया है जिसमें कश्यप के साथ देवों को भी निवेदन करनेवालों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यह परिवर्तन भी प्रक्षिप्त अंशों से मूल कथा के अवतरण को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिये ही किया गया प्रतीत होता है ।

फिर भी, यह द्रष्टव्य है कि इस सर्ग के आरम्भ में भी कलकत्ता सस्करण का पाठ श्लेगेल के संस्करण से अनेक दृष्टियों से भिन्न है ।

प्रमुख नामों और विषयों की अनुक्रमणिका